महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र

भारतीय दर्शन

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

हिन्दी समिति प्रभाग ग्रंथांक - १०

भारतीय दर्शन

लेखक

महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र

एम.ए., डी.लिट्.

पूर्व उप कुलपति, कामेश्वर सिंह संस्कृत

विश्वविद्यालय, दरभङ्गा

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी समिति प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति और परम्परा को 'सत्य की खोज की सनातन परम्परा' के रूप में माना जाता है। आदिकाल से अनेकानेक अलौकिक प्रश्नों से भारतीय चिंतन मनन करता रहा है और जिस अनेकता में एकता के लिए भारत की आज विशिष्ट पहचान है, उसके आदि अंकुर इसी दार्शनिक परम्परा के बीच प्रस्फुटित हुए हैं। भारतीय दर्शन और परम्परा की अनेकानेक शाखाएँ और क्षेत्र विकसित होते रहे। इस व्यापक चिंतन ने भारतीयता को अतुलनीय पहचान दी और स्वाभाविक रूप से सारा विश्व आज इसमें अपने अस्तित्व की खोज करता है, उससे प्रेरणा लेता है, सा प्रतीत होता है।

जितने व्यापक सरोकार होते हैं, उतना ही कठिन होता है उन्हें संक्षेप में संजोना और शब्द देना। भारतीय दर्शन को एक दृष्टि में देखने-समझने के लिए काफी समय से किसी उपयोगी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है। यह सुखद है कि आजादी के तत्काल बाद डॉ. उमेश मिश्र जैसे उद्भट विद्वान ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपनी सेवाएँ दीं और 'भारतीय दर्शन' पुस्तक के रूप में अत्यन्त उपयोगी, सारगर्भित और प्रेरणाप्रद रचना का प्रणयन हो सका। उन्होंने इस पुस्तक को १६ अध्यायों में विभक्त कर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को एक जगह संजोने का अत्यन्त सराहनीय प्रयास किया है। इन अध्यायों में भारतीय दर्शन के स्वरूप, वेदों के दार्शनिक विचार, भगवतगीता और उपनिषद आदि के उद्दात चिंतन, चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, वैष्णव और शैव दर्शन तथा समग्रता में भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ सभी छः दर्शनों की सविस्तार चर्चा है।

सरल सम्प्रेषणीय शब्दों में दर्शन जैसे गूढ़ विषय को प्रतिपादित करने में विद्वान लेखक को जो सफलता मिली है, इनकी प्रस्तुति में जिस तरह उन्होंने सभी पाठक वर्गों तक सफलतापूर्वक सभी जरूरी जानकारियाँ पहुँचाने का मूलभूत लक्ष्य ध्यान में रखा है, उससे इस पुस्तक की उपादेयता बढ़ जाती है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की हिन्दी समिति प्रभाग की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत इस

महत्वपूर्ण पुस्तक 'भारतीय दर्शन' के छठे संस्करण का प्रकाशन हमारे लिए अत्यन्त हर्ष और गौरव का विषय है।

भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों का वास्तविक आधार भारतीय दर्शन ही है। अस्तु 'भारतीय दर्शन' के रूप में इस पुस्तक की उपादेयता और उपयोगिता स्वतः प्रमाणित है। विश्वास है कि पुस्तक के पूर्व संस्करणों की भांति यह छठा संस्करण भी विद्वानों, शोधार्थियों और समर्पित पाठकों आदि सभी के लिए समान रूप से उपयोगी होगा।

डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

मनुष्य की जीवन-यात्रा और उसके निरन्तर विकासक्रम का प्रमुख कारण यह है कि वह हर क्षेत्र में चिंतन-मनन और उसे नई से नई पहचान देने के लिए हमेशा समर्पित रहा। एक ओर जहाँ उसने स्थूल जीवन की हर पल की जरूरतों के बेहतर निष्पादन के लिए निरंतर प्रयास किये, वहीं वह अलौकिक प्रश्नों से भी हमेशा जूझता रहा। हम कहाँ से आये हैं और हमें कहाँ जाना है, ईश्वर और आत्मा हैं या नहीं, हैं तो उनका क्या स्वरूप है - निराकार या साकार जैसे अनेकानेक प्रश्न आदिकाल से उसके अवचेतन को झिंझोड़ते रहे हैं। तभी दर्शन शास्त्र जैसा गूढ़ विषय लम्बे कालक्रम में वृहद आकार ले सका।

दुनिया की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं में दर्शन की उदात्त परम्परा उपलब्ध है और भारतीय संस्कृति में तो इसकी ऊँचाइयाँ गर्व करने योग्य हैं। विभिन्न अलौकिक प्रश्नों पर निरन्तर चिंतन-मनन की वृहद परम्परा है। यह क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, परन्तु आम आदमी तक इस जानकारी को सहज ढंग से पहुँचाना कठिन कार्य है। इस कठिन कार्य को अत्यन्त सरल ढंग से जागरूक पाठकों और शोधार्थियों के लाभ के लिए महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र ने पूर्ण किया जो 'भारतीय दर्शन' पुस्तक के रूप में हमारे सम्मुख है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के हिन्दी समिति प्रभाग के प्रारम्भिक प्रकाशनों में एक है। १९५७ में इसका पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। तब से निरन्तर इस पुस्तक की उपादेयता बनी हुई है और इसी क्रम में अब इसका छठा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

इस पुस्तक के लेखक डॉ. उमेश मिश्र की भारतीय संस्कृति और दर्शन पर कितनी गहरी पकड़ रही है, उन्होंने इस अत्यन्त जटिल और व्यापक क्षेत्र में कितना अवगाहन किया है। भारतीय दर्शन के स्वरूप, प्राचीनतम वेदों के दार्शनिक विचार, उपनिषद और गीता आदि के उदात्त चिंतन, चार्वाक, जैन, बौद्ध और भारतीय दर्शन की सनातन परम्परा के प्रतिनिधि दर्शनों वैशेषिक, न्याय,

सांख्य, योग, अद्वैत और मीमांसा आदि पर डॉ. उमेश मिश्र ने अधिकारपूर्वक और विद्वता के साथ तथ्यों को संक्षेप में इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। आशा है कि भारतीय दर्शन की महान परम्परा को समर्पित इस ग्रन्थ का यह छठा संस्करण भी विद्वतजनों, शोधार्थियों और जागरूक पाठकों आदि सभी के लिए समान रूप से उपयोगी, संग्रहणीय और प्रेरणाप्रद होगा।

उदय प्रताप सिंह

कार्यकारी अध्यक्ष

प्रथम संस्करण का आमुख

अनन्तगुणसम्पन्नमखण्डं चिन्मयं शिवम् ।
जयदेवाख्यजनकं ध्यात्वा सुगाख्व मातरम् ॥१॥
ज्ञाननिष्ठं परं नत्वा गोपीनाथगुरुं सदा ।
उमेशस्तनुते श्रेयो भारतीयं हि दर्शनम् ॥२॥

दर्शनशास्त्र बहुत ही कठिन विषय है। इसी में भारतवर्ष की मानसिक निधि सुरक्षित है। अनादि काल से ज्ञानियों ने इस निधि की खोज की है और समय-समय पर सुन्दर तथा बहुमूल्य रत्नों को इससे निकाल कर भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया है। आज भी समस्त संसार में इसी बहुमूल्य दर्शनशास्त्र की विचारधारा के ही लिए भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा है।

पढ़ने के समय से ही मेरे मन में दर्शनशास्त्र का शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने की तथा वैज्ञानिक दृष्टि से मनन करने की उत्कट अभिलाषा थी। पूज्य पितृचरण महामहोपाध्याय पण्डित जयदेव मिश्र तथा गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज जी के उपदेश एवं आशीर्वाद से वह अभिलाषा पूर्ण हुई। संस्कृत-भाषा में लिखे हुए दर्शनशास्त्र के आकर ग्रन्थों के आधार पर विशुद्ध भारतीय दार्शनिक भावना के अनुसार किसी भी भाषा में लिखे हुए उत्तम ग्रन्थ को न देखकर मन में खेद था, अतएव इस प्रकार के एक ग्रन्थ को लिखने की बहुत दिनों से उत्कट इच्छा थी। उत्तर-प्रदेश-शासन द्वारा आयोजित 'हिन्दी-प्रकाशन-योजना' के अधिकारियों की कृपा से आज वह इच्छा कार्यरूप में परिणत हुई। इससे मुझे बहुत सन्तोष है। इसके लिए मैं उन अधिकारियों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

भारतीय दर्शन के तत्त्व बहुत गूढ़ हैं। जिस प्रकार 'जीवन' को समझने के लिए उसके सभी अंगों का व्यष्टि, समष्टि एवं समन्वय-रूप में (synthetically) ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों को व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय-रूप में समझना नितान्त आवश्यक है। इनके अनुभवों

को पृथक्-पृथक् टुकड़े-टुकड़े कर देने से 'आत्मा' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और न तो इसमें कोई आनन्द ही मिल सकता है। अतएव सभी दर्शनों का व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय-रूप में अध्ययन करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कार्य को सम्पादित करने के लिए सैद्धान्तिक रूप में कुछ बातों को प्रारम्भिक अवस्था में जिज्ञासु को स्वीकार कर लेना आवश्यक है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर इन सैद्धान्तिक प्रतिज्ञा-वाक्यों (premisses) का समाधान स्वयं हो जाता है—

(१) **वट-बीज-न्याय** की तरह संसार और कर्म की गति में अनादि सम्बन्ध है। ये दोनों स्वयं अनादि हैं।

(२) कर्म के बिना एक क्षण के लिए भी कोई नहीं रह सकता।

(३) कर्म करने वाले को कायिक, वाचिक तथा मानसिक, अपने प्रत्येक कर्म का, किसी न किसी रूप में, भोग करना ही पड़ता है। इन भोगों के लिए एक या अनेक जन्म लेने पड़ते हैं।

(४) 'जीवन' तथा 'दर्शन', इन दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है। उस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए 'दर्शन' **सैद्धान्तिक** तथा 'जीवन' **व्यावहारिक** रूप है। दोनों में परस्पर एक घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसको समझने से आनन्द प्राप्त होता है।

(५) 'कारण' के बिना छोटी से छोटी भी घटना नहीं होती। हाँ, 'कारण' का ज्ञान सबको सदा न होना स्वाभाविक है।

(६) 'आप्तवचन' या 'आगम' को आधाररूप में विचार के लिए मान लेना चाहिए।

इस पुस्तक में भारतीय दर्शन की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखायी गयी हैं--

(१) इस ग्रंथ के सभी अंश दर्शनशास्त्र के संस्कृतभाषा में लिखे हुए **आकर ग्रन्थों के आधार पर लिखे** गये हैं।

(२) भारतीय दर्शनों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है। **सभी दर्शनों में समन्वय अर्थात् सामञ्जस्य** है। एक ही सूत्र में सब दर्शन बँधे हुए हैं। ज्ञान के तथा बाह्य-जगत् के क्रमिक विकास के साथ-साथ दर्शनशास्त्र

का भी विकास हुआ है। उस विकास के क्रम को दार्शनिक विचारों के द्वारा इस ग्रन्थ में दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

(३) भारतीय **जीवन** तथा भारतीय **दर्शन** में **सर्वथा ऐक्य है**—एक **व्यावहारिक** है, दूसरा **सैद्धान्तिक** है।

(४) **सभी दर्शन एक ही उद्देश्य से**, अर्थात् दुःख की चरम निवृत्ति या परमानन्द की प्राप्ति के लिए, प्रवृत्त होते हैं, अतएव एक ही मार्ग के सभी पथिक हैं।

(५) प्रत्येक दर्शन इसी दर्शन-मार्ग का एक-एक विश्राम-स्थान है। प्रत्येक विश्राम-स्थान से स्वतन्त्र रूप में परम तत्त्व की खोज की गयी है। अतएव एक दर्शन दूसरे दर्शन से भिन्न भी है। दृष्टिकोण के भेद से परस्पर भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु परस्पर इनमें वैमनस्य नहीं है। सोपान की परम्परा में एक आगे है और एक पीछे। भेद तो स्थूल दृष्टिवालों के ही लिए है।

(६) बहुत-से लोगों की धारणा है कि भारतीय दर्शन के केवल छः विभाग हैं, इसी लिए दर्शनों की संख्या के विचार के समय **'षड्दर्शन'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। ये छः दर्शन कौन-से हैं इसमें विद्वानों का एक मत नहीं है। प्राचीन काल से ही विद्वानों ने दर्शन की छः से कहीं अधिक संख्या का भी पूर्ण विचार किया है और कहीं छः से कम संख्या भी स्वीकार की है। वस्तुतः चरम लक्ष्य को ध्यान में रखकर मूढ़तम अवस्था से आरम्भ कर, ज्ञान के विकास के क्रम के अनुसार विचार करने से, यह स्पष्ट मालूम होगा कि दर्शनों की संख्या सीमित नहीं है, और न हो ही सकती है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक सर्वांगपूर्ण विचारधारा ही एक 'दर्शन' है जो अपने-अपने विश्राम-स्थान में सर्वथा एक दूसरे से भिन्न है।

(७) मूढ़दृष्टि वाले स्थूलतम भौतिक सिद्धान्तों को मानने वाले जिज्ञासु को, स्थूल जगत् के तत्त्वों के संबंध में दार्शनिक विचार आरम्भ कर, चिन्मय जगत् में पहुँच कर, स्थूल जगत् में जो जड़ था उसे भी सूक्ष्म जगत् में चेतन देखकर, भारतीय दर्शन की पूर्णता का स्पष्ट परिचय मिलता है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन',** इन श्रुतिवाक्यों का साक्षात् अनुभव इन दर्शनों के अध्ययन से होता है।

यही भारतीय दर्शन की **पूर्णता** या **अखण्डत्व** तथा **सामरस्य** है और अद्वैतवाद का स्वरूप है।

(८) भारतीय दार्शनिक तत्त्वों को विकसित करने में सभी दर्शन प्रयत्नशील हैं। अपने-अपने स्थान से तत्त्वों का विचार सबने किया है। अपने विचारों को अपने स्थान में सुदृढ़ रखने के लिए तथा जिज्ञासु को अपने तत्त्वों का विशुद्ध परिचय देने के लिए, दर्शनों में परस्पर खण्डन-मण्डन देख पड़ता है, न कि किसी द्वेष-बुद्धि से। अतएव प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही उसका अध्ययन करना उचित है। अध्ययन के समय में एक ही दार्शनिक विचारधारा पर ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा दृष्टि के विक्षिप्त हो जाने पर कोई भी दर्शन समझ में नहीं आयेगा।

(९) आजकल आरम्भ से ही तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी चल पड़ी है। इसके सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए सबसे प्रथम आवश्यक है कि जिनसे जिनकी तुलना की जाती है, उनके सिद्धान्तों को स्वतन्त्र एवं विशुद्ध स्वरूप में पृथक्-पृथक् जान लेना चाहिए, जिससे तुलना करने के समय में किसी के मत को स्पष्ट करने में पहले भ्रान्ति न हो जाय। इसलिए मैंने इस ग्रन्थ में प्रत्येक दर्शन के विशुद्ध रूप को स्पष्ट करने का ही केवल प्रयत्न किया है। प्रत्येक परिच्छेद के आदि और अंत में प्रत्येक दर्शन में परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए कहीं-कहीं साधारण रूप से तुलनात्मक विचार भी किया गया है, किन्तु वास्तविक तुलना पूर्ण रूप से पश्चात् की जायगी। अभी तो प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण को लोग अच्छी तरह समझें, इस विचार से ही यह ग्रन्थ लिखा गया है।

'आत्मा' को देखने का प्रयत्न करते हुए ऋषियों ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न समय में उपासना के द्वारा प्राप्त अपने-अपने अनुभवों को शब्द के द्वारा नियमबद्ध किये। उन अनुभवों को उनके विषय के अनुसार संकलित कर और उन्हें भिन्न भिन्न नाम देकर, आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दर्शनों को प्रवर्तित किया। इन दर्शनों की संख्या अनियत है और अनन्त हो सकती है।

'आत्मा' तथा उसके 'गुणों' के क्रमिक विकास के अनुसार क्रमबद्ध एक श्रृङ्खला में, गोपुच्छाकार सूत्रबद्ध 'जपमाला' के समान, उन विकसित रूपों को, गूँथ कर

इस ग्रन्थ में रखने का प्रयत्न किया गया है। जिज्ञासुओं को 'आत्मदर्शन' की खोज में, जो उनका परम ध्येय है, इस प्रणाली से अग्रसर होने में सौकर्य प्राप्त होगा और उत्साह बढ़ेगा।

दर्शनों को इस सोपान-परम्परा में संकलित देखकर जिज्ञासु को यह कभी नहीं समझ लेना उचित है कि इसी सोपान-परम्परा में इन दर्शनों की अभिव्यक्ति हुई है। 'आत्मदर्शन' के क्रमिक विकसित रूप को ध्यान में रखकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिज्ञासु के सौकर्य के लिए ही, दर्शनों को इस सोपान-परम्परा में यहाँ रखने का प्रयत्न किया गया है।

दर्शनशास्त्र बहुत व्यापक और गम्भीर विषय है। आत्मा या गुरुजनों के अनुग्रह से ही दर्शनों के चरम लक्ष्य का दर्शन या ज्ञान हो सकता है, तथापि साधारण रूप से इसको समझने तथा दूसरों को लिखकर समझाने के लिए पर्याप्त साधन और समय की अपेक्षा होती है। इसलिए यह ग्रन्थ अनेक अंशों में अपूर्ण है। इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

गुरुजनों के अनुग्रह से साक्षात् स्वानुभव से जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके आधार पर दार्शनिक तत्त्वों का विचार करने में मैंने कहीं-कहीं निष्पक्ष दृष्टि तथा विशुद्ध हृदय से दार्शनिकों के विचारों की समालोचना की है, कुछ अभिनव बातों की भी खोज की है, जिन्हें हमने तथ्य समझा है। विद्वानों से विनीत प्रार्थना है कि आवेश में आकर प्राचीन परम्परा को ही एकमात्र मापदण्ड समझ कर मेरे प्रयत्न को तिरस्कृत न करें। स्वस्थ चित्त से, तत्त्वैकमात्रदृष्टि से, विचार करें, तथापि यदि दोष हो, तो मुझपर अनुग्रह कर सूचित करें। मनुष्य की कृति में दोष होना तो स्वाभाविक ही है।

इति शम्

'तीरभुक्ति' **उमेश मिश्र**

प्रयाग

सं० २०१४ वि०

दूसरे संस्करण

की

भूमिका

आज मुझे बहुत ही हर्ष है कि इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण अपेक्षित है। जिज्ञासु पाठकों को, विशेष कर विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ से लाभ हुआ, आनन्द हुआ, उन्होंने इसे आदर दिया, यह जानकर मुझे बहुत सन्तोष है। इसके लिए मैं सभी का कृतज्ञ हूँ।

भारतीय दर्शन जीवन, धर्म तथा ज्ञान के चरम लक्ष्य को साक्षात् चक्षु से ही दिखाने का एकमात्र साधन है। वस्तुतः प्रत्यक्ष ही एकमात्र तत्त्व को दिखा सकता है और अन्य प्रमाण तो केवल व्यावहारिक साधन हैं। इसी लिए प्रत्यक्ष को ही सभी प्रमाणों का मूल समझना उचित है। अतएव भर्तृहरि ने भी कहा है—**'आगतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते'**। भूत और भविष्य सभी प्रत्यक्ष ही हैं। जो अभी प्रत्यक्ष है वही एक क्षण के पश्चात् भूत हो जाता है और वही पुनः कालचक्र में पड़कर भविष्य होकर पुनः प्रत्यक्ष-कोटि में आता है। यह कालचक्र अनादि है और इसी पर सभी ज्ञान आश्रित हैं।

अनेक दृष्टिकोण से तथा इस मध्य जो कुछ गुरुकृपा से अनुभव प्राप्त हुआ है उसके आधार पर इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों में परिवर्धन तथा संशोधन मैंने किया है। आशा है, पाठकों को इनसे अधिक लाभ होगा। इति शम्।

उपकुलपतिभवन,
संस्कृत विश्वविद्यालय,
दरभङ्गा

उमेश मिश्र

व्यासपूर्णिमा, १८८४ शकाब्द

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

त्रयोदश परिच्छेद

चतुर्दश परिच्छेद

पञ्चदश परिच्छेद

षोडश परिच्छेद

सप्तदश परिच्छेद

अष्टादश परिच्छेद

एकोनविंश परिच्छेद

‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’

प्रथम परिच्छेद

भारतीय दर्शन का स्वरूप

दार्शनिक विचार के लिए उपयुक्त देश

भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति, इसका नातिशीतोष्ण जलवायु, घने छायादार जंगलों का आधिक्य, अनेक प्रकार का प्राकृतिक सौन्दर्य, यहाँ की नदी-मातृक और देवमातृक उपजाऊ भूमि, कंद-मूल एवं फल-फूलों तथा सुस्वादु खाद्य पदार्थों का स्वल्प ही परिश्रम से पर्याप्त मात्रा में मिल जाना, आदि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति ने यहाँ के रहने वालों को अनादि काल से शान्त और गंभीर बना रखा है। इन्हीं कारणों से ये लोग अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओं को, मृत्यु के रहस्य को, मरने के बाद जीवात्मा की बातों को, दैवी शक्ति को तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने और अज्ञानियों को समझाने में लगा सके। यही कारण हो सकते हैं जिनसे भारतीयों का प्रत्येक कार्य अलौकिक तथा आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। मनुष्य के जीवन के नियमानुकूल कार्य तथा दर्शन-शास्त्रों में सिद्धान्त-रूप में कहे गये आधि-भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत हैं कि एक दूसरे से कभी भी पृथक् नहीं हो सकते। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवन का सादापन, उच्च विचार में प्रेम, अन्तःकरण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, संसार को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनों को सुधारने में तत्परता, परम सुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह, आदि गुण साधारण रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते हैं। जीवन की झंझटों से बच कर सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस्, निःश्रेयस् और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड़, सुख और दुःख, आदि तत्त्वों

के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि के आरम्भ से ही भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियों को लगाते चले आ रहे हैं। इसके लिए वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य साक्षी हैं। इसलिए भारतवर्ष की पुण्य भूमि में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की, विचार-धारा बहती चली आ रही है, यह कहना अनुपयुक्त न होगा।

दार्शनिक वातावरण का प्रभाव

यद्यपि उपर्युक्त आध्यात्मिक परिस्थिति का प्रभाव समस्त भारतवर्ष पर अवश्य पड़ता था तथापि इससे सभी मनुष्य एक-सा लाभ नहीं उठा सके होंगे। कारण यह है कि किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिए ग्राहक में उसके उपयुक्त योग्यता की भी आवश्यकता होती है। सूर्य की किरण का प्रभाव यद्यपि मणि तथा मिट्टी के ढेले के ऊपर एक-सा ही पड़ता है, किन्तु इसका प्रतिफल भिन्न-भिन्न होता है। सूर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर किसी प्रदेश को प्रकाशित करने के लिए ग्राहक में भी तेजस् की मात्रा अपेक्षित होती है। मणि में तेजस् की मात्रा है, किन्तु मिट्टी के ढेले में नहीं। इसी कारण इस जगत् में रहते हुए भी अन्तःकरण की शुद्धि के तारतम्य के अनुसार जीवन के प्रधान लक्ष्य की ओर मनुष्य अग्रसर होता है। इसी तारतम्य के कारण एक सुखी है तो दूसरा दुःखी है, एक धनी है तो दूसरा दरिद्र है, एक ज्ञानी है तो दूसरा अज्ञानी है। देश और काल से परिच्छन्न इस जगत् में 'आकस्मिकवाद' का किसी भी अवस्था में वस्तुतः कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक घटना के लिए कोई न कोई कारण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, वर्तमान रहता ही है। यद्यपि सभी घटनाओं के कारणों को सभी नहीं ढूँढ़ निकाल सकते, किन्तु फिर भी 'उच्छृङ्खलवाद' का अवलम्बन न कर ज्ञानियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही चलने से कल्याण है। उच्छृङ्खलता के कारण सन्मार्ग पर भी लोग फिसल जाते हैं और जीवन के लक्ष्य से दूर हो जाते हैं। जीवन के अनुभवों में तारतम्य को देखकर संसार के अनादित्व में तथा 'कर्मवाद' के रहस्य में हमें विश्वास करना पड़ता है। यह केवल विश्वास ही नहीं है, यह तो वास्तव में जीवन की एक अनुभूति है। 'कर्मवाद' के सभी रहस्यों को तो बड़े-बड़े ऋषियों ने भी साक्षात् न किया होगा। सचमुच में कर्म की गति वहुत ही गहन है, फिर भी 'कर्मवाद' के सिद्धान्तों को सभी को स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस संसार में आये हुए सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति वहिर्मुखी है, और यही उचित भी है, क्योंकि सांसारिक सुख-दुःख के भोग के लिए ही तो जीव इस संसार में आता

है और इस भोग के लिए बहिर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता है। परन्तु सभी प्रकार के भोगों का अनुभव करता हुआ जीव भी अपने जीवन के चरम लक्ष्य की खोज करने में व्यग्र रहता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ परम सुख को पाने के लिए, आनन्द की प्राप्ति के लिए, विविध प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, जीव सदैव चेष्टा करता रहता है। अतएव उस परमानन्द की प्राप्ति के लिए, अपने स्वरूप को, अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को एवं इस व्यावहारिक जगत के सूक्ष्म पदार्थों को समझने के लिए जिज्ञासु को सबसे प्रथम आन्तरिक दृष्टि करना भी नितान्त आवश्यक है। अतएव अपनी शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य सभी बाह्य क्रियाओं से अपने मन को हटा कर उसे साक्षात् या परम्परा या जीवन के परम लक्ष्य के चिन्तन में लगाना चाहिए। जीवन के चरम लक्ष्य को तथा दर्शन-शास्त्र के तत्त्वों को अच्छी तरह समझने के लिए परिशुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता होती है। अतएव हमें बहिर्मुखी भावनाओं से अपने मन को हटा कर, आधुनिक जगत के वातावरण से पृथक् होकर, केवल तत्त्वजिज्ञासु के रूप में भारतीय दर्शन की विचारधाराओं के क्रमिक विकास तथा ज्ञान और विज्ञान के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव करने के लिए तत्त्व-ज्ञान के मार्ग का पथिक बनना चाहिए।

जीव की बहिर्मुखी प्रवृत्ति

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता

दर्शन की परिभाषा

'दर्शन' शब्द से हमें क्या समझना चाहिए, इसका विचार यहाँ आवश्यक है। 'दर्शन' शब्द 'दृश्' (देखना) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगा कर बना है। इसका अर्थ है 'जिस के द्वारा देखा जाय'। यहाँ इतना और भी विचार करना उचित है कि 'देखा जाय' इस पद का साक्षात् अर्थ 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' भी हो सकता है, या नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय हैं, किन्तु सबसे निश्चित, अर्थात् विश्वसनीय उपाय है, 'प्रत्यक्ष' (आँख से देखना)। प्रत्यक्ष के भी इन्द्रियों के भेद से पाँच भेद हैं, जिनमें चक्षुरूप इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान सब से बढ़ कर प्रामाणिक होता है। इसलिए जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढ़ता के सम्बन्ध में विशेष जोर देना है वहाँ 'दर्शन' शब्द का ही प्रयोग उचित है और 'जिसके द्वारा देखा जाय'

दर्शन शब्द का अर्थ

अर्थात् जो आँख से देखा जाय, यही उसका साक्षात् अर्थ करना उचित है। देखना चक्षु के ही द्वारा हो सकता है, अन्य इन्द्रियों से नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृतिक या बौद्धिक या आध्यात्मिक जगत् के बहुत से तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उन्हें चक्षु के द्वारा देखना असंभव है। इसलिए 'दर्शन' शब्द का 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' यही अर्थ करना उचित है। प्रतिवादी का कहना कुछ अंश में तो सत्य है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ दर्शन-शास्त्र के विषय हैं और परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक आदि स्थूल दृष्टि वाले दर्शनों में स्थूल पदार्थों के तथा सांख्य, योग वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टि वाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थों के देखने के लिए उपाय कहे गये हैं। किन्तु यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सूक्ष्म पदार्थों के देखने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष चक्षु होता है, जिसे साधारणतया 'प्रज्ञाचक्षु', 'ज्ञानचक्षु', आदि लोग कहते हैं। गीता में भी विश्वरूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'दिव्यचक्षु' ही दिया था। बहुत ही तपस्या करने पर, या भगवान् के अनुग्रह से, इस का उन्मीलन होता है और जब एक बार यह चक्षु खुल जाता है तो फिर उस व्यक्ति को इस चक्षु के द्वारा सभी सूक्ष्म पदार्थ हथेली पर आँवले की तरह प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। 'दर्शन' के लिए हमें दोनों प्रकार के चक्षुओं की अपेक्षा होती है। स्थूल तत्त्वों को स्थूल नेत्र से तथा सूक्ष्य तत्त्वों को सूक्ष्म नेत्र से हम देखते हैं। यही कारण है कि उपनिषदों ने 'दृश्' धातु का ही प्रयोग किया है, और यही भाव 'भारतीय दर्शन' के 'दर्शन' शब्द में भी है। बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के किसी भी तत्त्व का ज्ञान निश्चित रूप से नहीं हो सकता है।

दर्शन का प्रधान लक्ष्य

अब मन में जिज्ञासा होती है कि 'देखा जाय', तो 'क्या देखा जाय'? उपर्युक्त प्रश्न के समाधान करने के पूर्व हमें यह विचार करना उचित है कि किसी वस्तु को देखने के लिए पहले जिज्ञासा ही क्यों उत्पन्न होती है? बिना किसी कारण के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। अतः वह कौन-सा कारण है जो मनुष्य को किसी वस्तु को देखने के लिए प्रेरित करता है? यह पहले कहा गया है कि जीव सुख और दुःख के भोग करने के लिए संसार में आता है। दुःख से सर्वथा पृथक्

जीवन दुःखमय है

न होने के कारण वस्तुतः शुद्ध सुख इस संसार में नहीं है। अतः यह संसार केवल दुःखमय है और जितने जीव यहाँ आते हैं, सभी किसी न किसी प्रकार के दुःख से आजीवन चिन्तित रहते हैं। इस संसार में दुःख से छुटकारा किसी भी जीव को नहीं है। इसी के साथ-साथ यह भी सत्य है कि दुःख किसी को प्रिय नहीं है एवं सभी सदैव एकमात्र दुःख से छुटकारा पाने के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं और जब तक दुःख से सर्वथा छुटकारा नहीं मिल जाता, तब तक जीव का प्रयत्न चलता ही रहता है, चाहे इसके लिए जीव को अनेक बार जन्म लेना पड़े। इसी के साथ-साथ यह भी निश्चित है कि जिस क्षण जीव को दुःख से सर्वथा एवं सदा के लिए छुटकारा मिल जायगा, उसी क्षण जीव की समस्त क्रियाएँ स्थगित हो जायेंगी तथा वह जीव सदा के लिए जन्म और मरण से मुक्त हो जायेगा। यही जीव का चरम लक्ष्य है, यही दर्शन-शास्त्र का परम तत्त्व है, जिसके स्वरूप के प्रतिपादन के लिए एवं जिस पद की साक्षात् अनुभूति के लिए भारतीय दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है।

जीवन का चरम लक्ष्य

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि हमारे 'जीवन' का तथा 'भारतीय-दर्शन' का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ये दोनों ही एक ही लक्ष्य को सामने रख कर एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक हैं। इन दोनों की सत्ता एक ही कारण पर निर्भर है। उस चरम तत्त्व का सैद्धान्तिक रूप हमें दर्शन-शास्त्रों में मिलता है, किन्तु व्यावहारिक रूप तो अपने जीवन में ही मिलता है और ये दोनों ही रूप मिल कर हमें उस परम तत्त्व के पूर्ण रूप का अनुभव कराते हैं। दुःख का आत्यन्तिक नाश या जन्म और मरण से सदा के लिए मुक्त होना ही तो सभी का चरम लक्ष्य है। अतएव जितने कार्य, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े, हम करते हैं, वे सब इसी एकमात्र लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही करते हैं। इसी प्रकार हमारे दर्शनों में जितनी बातें कही गयीं हैं वे सब एकमात्र इसी चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। इनके द्वारा ही हमें उस परम पद का साक्षात्कार होता है। इसी लिए इन को हम 'दर्शन' या 'दर्शन-शास्त्र' कहते हैं।

जीवन और दर्शन का सम्बन्ध

उपर्युक्त कथन को उदाहरण के द्वारा समझना अनुपयुक्त न होगा। जब से जीव अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग इस संसार में आरम्भ करता है, अर्थात् माता के गर्भ में प्रवेश करता है, उसी समय से उस जीव का एक-

मात्र ध्येय है सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति। गर्भ में प्रवेश करते ही जिन वस्तुओं को वह जीव नहीं पसन्द करता, उन्हें यदि माता खाती है, तो उससे वह जीव व्याकुल हो जाता है और माता को भी कष्ट देता है। बाह्य-जगत् के मेघ के अत्यन्त कठोर गर्जन को सुनकर गर्भ में रहने वाला जीव चौंक पड़ता है और बहुत कष्ट का अनुभव करता है। गर्भ से बाहर होते ही धाय की अंगुलियों का कठोर स्पर्श, सूर्य का तीक्ष्ण प्रकाश, वायु का प्रबल वेग, आदि के सम्पर्क में इस जन्म में प्रथम बार आने के कारण तथा भूख-प्यास से उसका कोमल शरीर दुःख पाता है और रो-रो कर वह जीव उस दुःख को प्रकट करता है। इनका प्रतीकार होने पर उसे सुख मिलता है और वह शान्त हो जाता है। जीवन-यात्रा में अग्रसर होने के साथ-साथ उस जीव की आकांक्षाएँ भी बढ़ने लगती हैं, अर्थात् जिन बातों से कुछ ही दिन पूर्व उसे आनन्द मिलता था, उनसे अब उसे आनन्द नहीं मिलता और उनसे अधिक आनन्द देने वाले पदार्थों को पाने के लिए उसकी इच्छा होने लगती है और उन्हीं के लिए वह तब चेष्टा करता है। जब तक वे पदार्थ उसे नहीं मिलते, तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। उस जीव को अब केवल लेटे रहने से आनन्द नहीं मिलता, अब वह खिसक कर अपने हाथ-पैर को चला कर आनन्द पाना चाहता है। क्रमशः आकाश के चन्द्र को देख कर या सुन्दर मिट्टी के खिलौने से उसे अब आनन्द नहीं मिलता है, वह तो किसी चिरस्थायी आनन्द देने वाले पदार्थ की खोज में व्यग्र रहता है। अपनी प्रत्येक साधारण से साधारण क्रिया में वह आनन्द ढूँढ़ता रहता है, जिससे उन वस्तुओं को न पाने के कारण जो उसके मन में दुःख है, उसका नाश हो। साथ ही साथ वह जीव भिन्न-भिन्न आनन्दों में तारतम्य का अनुभव करता रहता है। जिस क्रिया में जीवन को थोड़ा-सा अधिक आनन्द मिलता है या मिलने की आशा होती है, उसी को पाने के लिए वह जीव चेष्ट करता रहता है। इस प्रकार जीवमात्र किसी न किसी दुःख से पीड़ित होकर, उससे छुटकारा पाने के लिए और आनन्द को प्राप्त करने के लिए सदैव चिन्तित रहता है और जब तक दुःख से सब दिन के लिए छुटकारा नहीं पाता तथा परमानन्द की प्राप्ति उसे नहीं होती तब तक वह इस भवचक्र में घूमता ही रहता है और जन्म-मरण के पाश से छुटकारा नहीं पाता।

यही बातें दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। दर्शन-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक दर्शन में कहे गये तत्त्वों के ज्ञान को प्राप्त करने में भी जीव उसी परम आनन्द को ढूँढ़ता रहता है। जिस प्रकार कोरक से क्रमशः फूल का विकास होता

है, उसी प्रकार मूढ़ अवस्था से क्रमशः ज्ञान का भी विकास होता है। खान में छिपे हुए रत्न का कुछ भी मूल्य नहीं होता, किन्तु शाण पर चढ़ाकर उसके स्वरूप को क्रमशः विकसित करने से वही रत्न अमूल्य हो जाता है। ज्ञान की मूढ़ावस्था से आरम्भ कर, जिसका विवेचन करने वाले 'चार्वाक' कहलाते हैं, क्रमशः उस परंपरा की अनेक सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् वही ज्ञान पूर्ण विकसित होकर परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किञ्चन', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**, आदि उपनिषद् के वाक्यों में कहा गया अद्वितीय तत्त्व हो जाता है, जिसका शंकराचार्य ने तथा काश्मीरीय शैव-दर्शन ने प्रतिपादन किया है। इस अद्वितीय तत्त्व अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर वह जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। यही है जीवात्मा तथा परमात्मा का अभेद। किसी घर की चारों दिवालों के गिर जाने से जिस प्रकार घर के अन्दर घिरा हुआ आकाश घर के बाहर के आकाश के साथ एक हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा के अविद्यारूपी आवरण के दूर होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है और 'पूर्ण', या 'अखण्ड' कहा जाता है, और तब इन दोनों में जो अविद्या के कारण भेद रहता है उसका नाश हो जाता है। इस अखण्ड एवं पूर्ण स्वरूप का नाश नहीं होता। इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् जीव का कभी अधःपतन नहीं होता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन तथा दर्शन दोनों का मुख्य उद्देश्य एक ही है और वह है 'परमानन्द' या उसकी प्राप्ति। इसे ही चरम दुःख-निवृत्ति या 'मोक्ष' कहते हैं। इसी को परमात्मा, परब्रह्म, आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। यही है 'देखने का विषय'। अतएव श्रुति में कहा गया है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'**

परम तत्त्व को देखने का उपाय

इसलिए संसार के लौकिक तथा वैदिक साधनों से दुःख की चरम निवृत्ति को न पाकर दुःख के नाश के अन्य साधनों को ढूँढ़ता हुआ जिज्ञासु जब किसी ज्ञानी से पूछता है कि वह कौन-सी वस्तु है जिसके देखने से, अर्थात् पाने से सब दिन के लिए दुःख से छुटकारा मिल जाता है ? तो उसके उत्तर में ज्ञानी कहता है—'अरे ! आत्मा को देखो', और उसके देखने का उपाय है 'श्रवण', 'मनन' तथा 'निदिध्यासन'। तत्त्वज्ञानी से, या श्रुतियों के द्वारा, आत्मा के सम्बन्ध में सभी बातें अनेक बार सुननी चाहिए। पूर्व-जन्म या इस जन्म की साधना के कारण जिस किसी का अन्तःकरण भाग्यवश परिशुद्ध हो गया

दुःखनाश के साधन

हो और उसमें पूर्ण श्रद्धा हो, तो उसे उसी क्षण परम तत्त्व की प्राप्ति हो जायगी। विलम्ब होने का तो कोई कारण ही नहीं है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—**'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'**। किन्तु ऐसे श्रद्धालु अत्यन्त विरल हैं। अतः श्रुति के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में सुनी हुई बातों के ऊपर युक्तियों के द्वारा 'तर्क' करना चाहिए। कुतर्कों से दूर रहना चाहिए। श्रुति के द्वारा सुनी हुई बातों को सत्तर्क से प्रमाणित करना चाहिए और जब श्रवण तथा मनन इन दोनों साधनों के द्वारा जिज्ञासु एक ही निर्णय पर पहुँचता है तभी ज्ञानी के उपदेश में उसे विश्वास होता है और जिज्ञासु अपनी खोज में विश्वासपूर्वक अग्रसर होता है।

परम तत्त्व के साक्षात्कार से मुक्ति

परन्तु यह पहले भी कहा गया है कि वस्तुतः 'प्रत्यक्ष' ही एकमात्र प्रमाण है जिसके द्वारा हमें यथार्थ में परम तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। 'तर्क' भले ही युक्तियों से समर्थित हो, फिर भी 'तर्क' तो केवल 'बुद्धि' पर निर्भर है। बुद्धि की इयत्ता न होने के कारण किसी भी तर्क को एक अन्य सूक्ष्म तर्क करने वाला व्यक्ति अपनी सूक्ष्म बुद्धि के बल से खण्डन कर उसे अप्रमाणित सिद्ध कर सकता है और उसके स्थान में भिन्न प्रकार के दूसरे सिद्धान्तों की स्थापना कर सकता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए पाश्चात्य देश के वैज्ञानिक या दार्शनिक, तर्कमात्र पर स्थिर किसी भी सिद्धान्त को हम ले सकते हैं, जो केवल तर्क के ऊपर निर्भर होने के कारण एक के बाद दूसरे तार्किकों से खण्डित कर दिया गया है और अब भी खण्डित किया जाता है। न्यूटन के ऐटोमिक सिद्धान्त का आज क्या स्थान है और कौन कह सकता है कि आइनस्टाइन के भी सिद्धान्त कब तक अपने स्थान को स्थिर रख सकते हैं? जिस दिन कोई इनसे अधिक बुद्धिमान् तार्किक उत्पन्न होगा, सम्भव है, वह अपनी तीक्ष्णतर बुद्धि से पहले के सिद्धान्तों को अप्रमाणित सिद्ध कर एक दूसरा ही सिद्धान्त उनके स्थान में स्थापित कर दे। इससे यह स्पष्ट है कि केवल 'तर्क' के द्वारा किसी वास्तविक परम तत्त्व तक पहुँचने में हम समर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए कठोपनिषद् में कहा गया है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

इसी बात को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।।'

यही सिद्धान्त **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** इत्यादि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भी प्रतिपादित किया है।

उपर्युक्त कथन से यह निश्चित कर लेना कि परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए 'तर्क' का कोई भी प्रयोजन नहीं है, अत्यन्त अनुचित है। 'तर्क' का एक स्वतंत्र स्थान है। उसके द्वारा प्रमाणों की पुष्टि होती है। इसलिए श्रवण और मनन के द्वारा प्राप्त सिद्धान्त का 'निदिध्यासन', अर्थात् 'सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा परीक्षा' या साक्षात्कार कर लेना परम आवश्यक है। यदि उपर्युक्त तीनों साधनों के द्वारा एक ही निर्णय पर हम पहुँचें, तो उस निर्णय को हमें प्रामाणिक मानना चाहिए। इन्हीं तीनों उपायों के द्वारा हमें आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार होता है और तभी हम अपने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचते हैं। यही तो भारतीय दर्शन-शास्त्र का भी परम ध्येय है। इन्हीं तीनों साधनों को हम क्रमशः 'आगम' या 'आप्तवाक्य', 'तर्क' तथा साक्षात् 'अनुभव' कहते हैं।

तर्क की आवश्यकता

अधिकारी बनने की आवश्यकता

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शन का परम ध्येय है—परमानन्द की प्राप्ति। क्या सभी सब अवस्थाओं में इसकी प्राप्ति कर सकते हैं? उत्तर में यह कहना पड़ता है कि सभी जीव इसकी प्राप्ति करने के 'अधिकारी' नहीं हैं। प्राप्त करना तो बहुत दूर है, दुःख से व्याकुल रहने पर भी साधारण तौर पर भी लोगों की दृष्टि इस परम पद की ओर नहीं जाती। विरले ही ऐसे भाग्यवान् हैं जो इस पद को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं। यही बात कठोपनिषद् में कही गयी है—

अधिकारी को ज्ञान या परमानन्द की प्राप्ति

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'

अतएव उस परम पद को पाने के लिए हमें उसका 'अधिकारी' बनना चाहिए। जब तक जीव वास्तविक अधिकारी नहीं बनेगा, तब तक उस ज्ञान की प्राप्ति वह नहीं कर सकता। उसकी रक्षा करना तो दूर की बात है। जिस प्रकार अच्छी तरह परिष्कृत किये हुए खेत में ही बीज बोया जाता है, और फिर सभी खेत सभी प्रकार के बीज के लिए उपयुक्त भी नहीं होते, तथापि यदि बलात् एक अनुपयुक्त खेत में बीज बोया जाय तो उसमें अंकुर ही न निकलेगा, उसी प्रकार साधक

के लिए सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण को परिशुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। परिशुद्ध तथा योग्य अन्तःकरण में ही जिज्ञासु बीजरूपी उपदेश को धारण करने में समर्थ हो सकता है और तभी उससे लाभ उठा सकता है, अन्यथा ज्ञानी के उपदेश ऊसर भूमि में बोये हुए बीज के समान नष्ट हो जायँगे। अधिकारी बनने के नियमों का पालन करने से जीव राग-द्वेष आदि दोषों से विमुक्त होकर परम तत्त्व को पाने का अधिकारी हो जाता है। अधिकार के अनुसार ही उपदेश देने से या शास्त्र की बातों को समझाने से, जिज्ञासु को वास्तविक लाभ होता है, उपदेश भी निरर्थक नहीं होता एवं उपदेश देनेवाले ज्ञानी को भी सन्तोष होता है। दिन-रात एक साथ रहते हुए भी भगवान् ने कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में उपस्थित होने के पूर्व, अधिकारी न रहने के कारण ही, अर्जुन को श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का उपदेश न दिया। युद्ध के क्षेत्र में खड़े हुए अर्जुन ने जब अपने अहंकार का परित्याग कर **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**—भाव को भगवान् के प्रति प्रकट किया, अर्थात् वस्तुतः अधिकारी बने तभी भगवान् ने अर्जुन को पारमार्थिक तत्त्व का उपदेश किया।

आक्षेप और उनका परिहार

भारतीय दर्शन का लक्ष्य

हमारा वर्त्तमान जीवन कितना भी घृणित और दुःखी क्यों न हो, फिर भी हम सन्मार्ग पर चलते हुए जिस प्रकार अपने भविष्य के जीवन को उज्ज्वल और सुखमय बनाने की आशा करते हैं और इसी कारण विविध धार्मिक कार्य करते हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन संसार के दुःखमय जीवन से विरक्ति को दिखाता हुआ क्रमशः भविष्य के प्रकाश और आनन्दमय अवस्था के मार्ग में हमें अग्रसर करता है। ज्यों-ज्यों इस मार्ग में हम अग्रसर होते हैं, त्यों-त्यों हमारे अन्तःकरण का अनादि कर्म और वासनाओं से उत्पन्न मल दूर होता जाता है और क्रमशः ज्ञान विकसित होने लगता है तथा परम आनन्द का आभास मिलने लगता है।

इस मार्ग में निराशा का कोई स्थान नहीं है, प्रयत्न में विफल होने की कोई आशंका नहीं है तथा एक जन्म में प्रयत्न करने पर भी परम पद की प्राप्ति नहीं हुई और बीच ही में मर गये तथा जो कुछ प्राप्त किया था वह भी चला गया, अग्रिम जन्म में पुनः इसी जन्म की तरह दुःखी होना पड़ेगा, इत्यादि दुर्भावनाओं का भी कोई स्थान नहीं है। अपने अधिकार के अनुसार साधन के द्वारा जो कुछ ज्ञान

जीव एक जन्म में प्राप्त कर लेता है, उसका नाश मरने से नहीं होता। वह ज्ञान तो जीवात्मा के साथ-साथ एक जर्जर शरीर को छोड़ कर दूसरे नवीन शरीर में चला जाता है और दूसरे जन्म में वह जीव पूर्व जन्म के उस संचित ज्ञान के आगे ज्ञान के मार्ग में अग्रसर होता है। यह तो ज्ञानियों का अनुभूत विषय है। भगवान् ने भी गीता में कहा है—

'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'।
'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन'॥(६।४३)

कुछ लोगों का आक्षेप है कि भारतीय दर्शन में 'अन्धविश्वास' का ही प्राधान्य है और दार्शनिक विद्वान् आँख मूँद कर जो कुछ वेद या अन्य प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है, उसे ही मानना अपना ध्येय रखते हैं। उससे थोड़ा-सा भी विचलित होना परम अनुचित समझते हैं। अतः भारतीय दर्शन में मौलिकता नहीं है और न कहीं युक्ति का ही स्थान है।

अन्धविश्वास

यह आक्षेप निर्मूल है। पहले कहा गया है कि दार्शनिक तत्त्वों को समझने के साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। इन तीनों में 'मनन' का स्थान किसी प्रकार संकुचित नहीं है। श्रुति तथा तत्त्व-ज्ञानियों का साग्रह और सानुरोध आदेश है कि युक्तियों के द्वारा जब तक किसी उपदेश या आगम या आप्तवाक्य के सम्बन्ध में पूर्ण विचार कर निर्णय न कर लिया जाय तब तक किसी भी कथन को स्वीकार न करना चाहिए। जो कुछ हमें वेद में या शास्त्र में उपदेशरूप में या सिद्धान्त के रूप में मिलता है, अथवा जो कुछ हम अपने गुरु के मुख से साक्षात् सुनते हैं, उसे तभी स्वीकार करना उचित है जब हमें उसके तथ्य के सम्बन्ध में कोई भी शंका न रह जाय। राग, द्वेष, आवेश या दुराग्रह को छोड़कर सत्तर्क के नियमों के अनुसार उस कथन पर पूरा विचार करना चाहिए। हाँ, इसमें एक बात है कि पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह हम केवल तर्क पर ही निर्भर नहीं रह सकते, जैसा पहले कहा जा चुका है। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में स्नातक को उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं—'हे स्नातक! हमने जो-जो अच्छे कर्म किये हैं, उन्हीं का तुम अनुसरण करना। मेरे निन्दनीय कर्मों का अनुसरण कभी न करना।' क्या इससे यह स्पष्ट नहीं है कि जिज्ञासु को अन्ध होकर किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने

से आचार्य मना करते हैं ? उपनिषदों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि उपनिषदों की मुख्य देन है—'तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अच्छे प्रकार से 'तर्क' करना'। हमारे शास्त्र में राग-द्वेष-रहित 'तर्क' का बहुत ऊँचा स्थान है। शास्त्रों में सिद्धान्तरूप से तत्त्वों का प्रतिपादन तो है, किन्तु प्रत्येक जिज्ञासु के लिए साधनों के द्वारा उन तत्त्वों का साक्षात् अनुभव करना आवश्यक है। दृष्टिकोण के भेद से एक अनुभव दूसरे अनुभव से भिन्न होता है, यह तो उचित ही है।

तत्त्वों का साक्षात् अनुभव

ऋषियों के सिद्धान्तों से हमें केवल परम पद के मार्ग का पता लगता है, किन्तु ज्ञान या परम पद की प्राप्ति तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो तभी होगी, जब हम उस मार्ग पर चल कर उस परम पद का साक्षात् अनुभव प्राप्त करें। श्रुतियों में कहा गया है कि 'आत्मा' व्यापक, नित्य, चित् और आनन्द है। जिज्ञासु इसे प्रतिज्ञा-वाक्य की तरह स्वीकार कर उसका साक्षात्कार करने के लिए आगे बढ़ता है। इस प्रक्रिया से इतना लाभ होता है कि जिज्ञासु प्रत्येक पद पर स्वयं समझ सकता है कि वह कितना अग्रसर हुआ है और कितनी दूर अभी और उसे जाना है, अन्यथा वह केवल विचार-समुद्र में तथा निविड़ अन्धकार में भटकता ही रह जायगा और किसी निश्चित तत्त्व का कुछ भी पता न लगा सकेगा। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन पूर्ण 'प्रगतिशील' होता हुआ भी ज्ञान-मार्ग में स्थिर होकर अपने अधिकार के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ता है।

भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता

दर्शनों का वर्गीकरण

अनादि काल से संसार में दुःख है और दुःख की निवृत्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषियों ने बहुत तपस्याएँ की हैं। बाह्य और आभ्यन्तर साधनों के द्वारा ज्ञानी लोग अपनी-अपनी तपस्या में सफल भी हुए हैं। परम तत्त्व के ज्योतिर्मय स्वरूप का उन लोगों ने साक्षात्कार किया है। अपने-अपने अनुभवों को शब्दों के द्वारा लोगों के कल्याण के लिए उन्होंने अपनी शिष्य-परम्परा को सिखलाया है। एक व्यक्ति-विशेष की दृष्टि के अनुसार जिस शास्त्र या ग्रन्थ में परम तत्त्व का साक्षात् प्रतिपादन किया गया हो तथा उस अनुभूति के साधन-मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही एक 'दर्शन-शास्त्र' है। जिस व्यक्ति-विशेष ने अपनी दृष्टि से जिस स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया, वह दृष्टि-

दर्शन-शास्त्र का स्वरूप

कोण तथा उसका साधन उस व्यक्ति-विशेष के या उस सावन के नाम से सम्बद्ध हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

दर्शनों में समन्वय

ऋषियों की ये अनुभूतियाँ व्यक्तिगत होने के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं। ये भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से अनुभूत हैं। परन्तु हैं तो सभी एकमात्र परम तत्त्व के सम्बन्ध की; अतएव इनको समन्वय की दृष्टि से देखने से इनमें एक प्रकार से सोपान-परम्परा के रूप में परस्पर सम्बन्ध देख पड़ता है। ये विभिन्न अनुभूतियाँ हमें उपनिषदों में मिलती हैं। उपनिषद् ही भारतीय ज्ञान का तथा दार्शनिक विचारधाराओं का मूल ग्रन्थ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिज्ञासु लोग अपनी-अपनी शंकाओं को लेकर ऋषियों के समीप आते थे और ऋषि लोग एक-एक करके उनकी शंकाओं को तर्क-वितर्क तथा अपनी अनुभूतियों के द्वारा दूर कर देते थे, तभी परम तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का परिचय उन लोगों को मिलता था। ये विचारधाराएँ उपनिषदों के विषय हैं, ये ही उनकी विशेषताएँ हैं। ये शंकाएँ तथा इनके समाधान किसी एक क्रम से नहीं होते थे। इसलिए उपनिषदों में परवर्ती शास्त्रों की तरह कोई भी विचारधारा हमें एक किसी क्रम से नहीं मिलती। तत्त्व के स्वरूप का विभिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से, प्रतिपादन तो सभी उपनिषदों में हमें मिलता है।

उपनिषदों की विशेषता

माया की विक्षेप-शक्ति का विस्तार प्रायः उन दिनों इतना अधिक नहीं था। अतएव जिज्ञासुओं का अन्तःकरण इतना मलिन न था जितना प्रायः आधुनिक काल में है। यही कारण मालूम होता है कि उपनिषदों के समय में जिज्ञासुओं को तत्त्व के सभी स्वरूपों को स्वयं समझने में कोई विशेष बाधा न होती थी। वे उन्हें आसानी से समझ लेते थे। अतएव उपनिषदों में सभी विचारधाराओं के रहने पर भी विचारों के क्रमबद्ध वर्गीकरण की अपेक्षा न हुई। उन्हें तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टि से किये गये आक्षेपों के समाधान करने का तथा प्रतिपक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने का कोई विशेष अवसर न मिला। इसलिए उपनिषदों में कहे गये तत्त्व के स्वरूपों का विश्लेषण कर भिन्न-भिन्न क्रम से पृथक्-पृथक् उनके वर्गीकरण का प्रयोजन पहले नहीं हुआ। विषयों का वर्गीकरण तभी होता है, जब उनके समझने में कठिनाई होती है अथवा अन्य भी कोई प्रयोजन हो। जिस प्रकार घर में अनेक प्रकार के

दर्शनों के वर्गीकरण की आवश्यकता

युद्ध की सामग्री के रहने पर भी कोई युद्ध-काल के बिना उन वस्तुओं को एक क्रम से सुसज्जित नहीं करता और सभी सामग्री बिना किसी क्रम के अनेक स्थानों में पड़ी रहती है, उसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोण से साक्षात् देखे हुए हमारे सभी तत्त्व तब तक उपनिषदों में ही छिन्न-भिन्न रूप में पड़े थे, जब तक कि प्रतिपक्षियों का सामना हमें नहीं करना पड़ा।

प्रतिपक्षियों के कारण वर्गीकरण

किन्तु यह परिस्थिति बहुत दिनों तक न रह पायी। एक तो क्रमशः जिज्ञासुओं की भी बुद्धि मलिनतर हो चली थी तथा साथ-साथ बड़े कट्टर और तर्क-प्रवीण प्रतिपक्षियों का उदय हुआ। वेद के ऊपर आक्षेप होने लगे। वैदिक धर्म के विरुद्ध जनता में उपदेश दिये जाने लगे। प्रलोभन में पड़ कर समाज विचलित हो चला। इन विघ्नों को देख कर समय के अनुकूल वेद तथा वैदिक धर्म की रक्षा के लिए उपनिषदों में से तत्त्वों को खोज कर आक्षेपों के समाधान के लिए भिन्न-भिन्न सामग्री एकत्र की गयी। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से तत्त्वों को शृंखलाबद्ध करने का प्रयत्न होने लगा। तत्त्वों के विचारों को समन्वय की दृष्टि से, सोपान-परम्परा के रूप में शृंखलाबद्ध बना कर, प्रतिपक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए सब तरह से आयोजन किया गया। ये सभी बातें एक प्रकार से पुनः उपनिषदों के पश्चात् क्रमशः देखने में आने लगीं। इस रूप में तत्त्वों को समझने में जिज्ञासुओं को विशेष आयास नहीं करना पड़ा। परवर्ती दार्शनिक सूत्रों के निर्माण का यही कारण हुआ। इसी संघर्ष के समय में दर्शनों का पुनः वर्गीकरण हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद और सनत्कुमार के संवाद से यह स्पष्ट है कि बहुत पूर्व-काल में ही, उपनिषदों के पहले भी, शास्त्रों का वर्गीकरण अवश्य था, अन्यथा नारद शास्त्रों को पृथक्-पृथक् किस प्रकार गिना सकते थे? किन्तु उन शास्त्रों का क्या स्वरूप था इसका कुछ भी परिचय इस समय हमें नहीं मिलता। इस समय जितने दार्शनिक शास्त्र हैं उनका वर्गीकरण तो उपनिषदों के पश्चात् ही हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है। बौद्धों के साथ तर्क करने के लिए अक्षपाद गौतम ने 'न्यायसूत्र' की रचना की तथा वैदिक मन्त्रों के अभिप्राय को सुरक्षित रखने के लिए जैमिनि ने 'मीमांसा-सूत्र' की रचना की। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों की भी रचना हुई होगी, ऐसा मालूम होता है।

उपनिषदों के पूर्व का वर्गीकरण

अब प्रश्न यह है कि इस वर्गीकरण में कितने और कौन-कौन-से 'दर्शन' बने ? इस सम्बन्ध में **'षड्दर्शन'** का नाम हम लोग सुनते आ रहे हैं। परन्तु **'षड्दर्शन'** के अन्तर्गत कौन-कौन-से दर्शन गिने जाते हैं और जा सकते हैं, इसमें किन्हीं भी दो विद्वानों का एक मत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह **'षड्दर्शन'** शब्द बहुत पुराना नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि दर्शनों की संख्या न तो कभी नियत रही और न नियत हो सकती है। जिस विद्वान् को जिन दर्शनों से प्रेम या विशेष परिचये था उन्होंने उन्हीं दर्शनों को **'षड्दर्शन'** के अन्तर्गत मान कर या अनियत संख्या में ही गिना कर, उनका विचार किया है। उदाहरण के लिए मैं कुछ विद्वानों के मतों का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ।

दर्शनों की संख्या का निर्णय

पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में सांख्य, योग, पाशुपत मत तथा वैष्णव; कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में सांख्य, योग तथा लोकायत; हयशीर्षपञ्चरात्र तथा गुरुगीता में गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, व्यास तथा जैमिनि; 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' में शंकराचार्य ने लोकायत, आर्हत, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक), वैशेषिक, न्याय, भाट्ट और प्राभाकर मीमांसा, सांख्य, पतञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त; ग्यारहवीं सदी के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, आर्हत, बौद्ध तथा चार्वाक; बारहवीं सदी के हरिभद्रसूरि ने अपने 'षड्दर्शन-समुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि; तेरहवीं सदी के जिनदत्तसूरि ने अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव तथा नास्तिक; चौदहवीं सदी के राजशेखरसूरि ने जैन, सांख्य, जैमिनि, योग (न्याय), वैशेषिक तथा सौगत; प्रसिद्ध काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा कणाद; 'सर्वमतसंग्रह' के रचयिता ने मीमांसा, सांख्य, तर्क, बौद्ध, आर्हत तथा लोकायत; माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश-पाशुपत, शैव, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातञ्जल और शंकर; मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' तथा 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' की टीका में न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीरक-मीमांसा, पातञ्जल, पञ्चरात्र, पाशुपत, बौद्ध, दिगम्बर, चार्वाक, सांख्य और औपनिषद, इन दर्शनों के सम्बन्ध में नामोल्लेखपूर्वक विचार किया है।

दर्शनों की संख्या-परम्परा

दर्शनों की इन परिगणनाओं में न तो नामों में और न संख्या में ही हमें कहीं एक मत देख पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'षड्दर्शन' शब्द से क्या समझा जा सकता है? वस्तुतः इस शब्द का कोई भी विशेष अर्थ नहीं है। एक भी प्रामाणिक सिद्धान्त इस 'षड्दर्शन' शब्द के आधार पर हम स्थिर नहीं कर सकते। विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से स्वीकृत तर्क के नियमों के अनुसार तथा निदिध्यासन के नियमों के सहारे परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक, उपक्रम और उपसंहार के सहित जो विचारधारा होगी, उसीको हमारा 'दर्शन' कहा जा सकता है। हमें तो एकमात्र विषय ध्यान में रखना चाहिए कि 'जिसके द्वारा परम तत्त्व को देखा जाय', वही 'दर्शन' है। इस प्रकार दृष्टि के भेद से अनेक 'दर्शन' हो सकते हैं। इनकी संख्या नियत नहीं हो सकती है।

दर्शन-संख्या का नियम

दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि दर्शनों का एकमात्र लक्ष्य है दुःख की परम निवृत्ति या परम आनन्द की प्राप्ति। इसके लिए एक ही मार्ग है, दूसरा नहीं। इसीलिए जितने दर्शन हैं और हो सकते हैं, वे सब एक ही ज्ञान के पथ हैं। प्रत्येक दर्शन उस मार्ग की एक-एक सीढ़ी है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक सीढ़ी को पार करना ही होगा। आगे की सीढ़ी पर पैर रखने के लिए, पैर उठाने के पूर्व, पहली सीढ़ी पर दोनों पैरों को स्थिर कर लेना अत्यावश्यक है। एक सीढ़ी पर अपने पैरों को स्थिर करने के समय में चञ्चल दृष्टि से इधर-उधर के प्रलोभन में पड़कर यदि कोई जिज्ञासु जरा-सा भी हिल-डुल जाय, तो पैर फिसल जाने का पूरा भय है और फिर भविष्य अन्धकारपूर्ण है, इसे जिज्ञासु को कभी नहीं भूलना चाहिए। ये सीढ़ियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। नीचे की सीढ़ी पर स्थित जिज्ञासु ऊपर की सीढ़ी को देख नहीं सकते, किन्तु ऊपर वाले तो नीचे की सीढ़ी को आसानी से देख सकते हैं और उनके सम्बन्ध में विशेष आलोचना भी कर सकते हैं। किन्तु फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि ऊपर की सीढ़ी नीचे की सीढ़ियों के आधार पर ही तो स्थित है, अतएव ऊपर वालों को नीचे वालों का तिरस्कार करना उचित नहीं। नीचे के आधार को दृढ़ रखने के लिए तथा जिज्ञासु चञ्चल होकर आगे चलने के प्रलोभन में फँस कर नींव को दृढ़ बनाने में असमर्थ न हो जाय, इस आशंका से नीचे की सीढ़ी पर रहने वाले भी ऊपर के सम्बन्ध में विशेष आलोचना

दर्शनों में समन्वय

करें तो कोई अनुचित नहीं है, किन्तु साथ ही साथ यह न भूलना चाहिए कि जाना तो है ऊपर की सीढ़ियों पर भी।

दर्शनों में क्रम

प्रत्येक सीढ़ी तत्त्व-ज्ञान के, अर्थात् परम पद के जिज्ञासुओं की बुद्धि का क्रमिक विकास और ज्ञान-मार्ग में पद-विन्यास का क्रम है। अपने-अपने अधिकार के अनुरूप जिज्ञासु भिन्न-भिन्न दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों को ही अपना आपेक्षिक लक्ष्य मान लेता है और जब उस आपेक्षिक तत्त्व का साक्षात् अनुभव उस जिज्ञासु को हो जाता है, तब वह उसमें परम पद को, अपने चरम लक्ष्य को, न पाकर पुनः उसकी खोज में आगे बढ़ता है और पहले से सूक्ष्मतर तत्त्व में पहुँचता है। इसी क्रम से यदि जिज्ञासु बढ़ता जाय तो किसी-न-किसी दिन परम पद पर पहुँच ही जायगा और उसके आगे गन्तव्य पद के न रहने के कारण, जीव वहीं स्थिर हो जायगा। वहाँ से पुनः उसे लौटने की कोई आवश्यकता नहीं, अतः वहाँ से जीव लौटता ही नहीं। यही मोक्ष है, यही आनन्द है, इसे ही दुःख की चरम निवृत्ति कहते हैं। यही हमारे दर्शनों का परम ध्येय है।

दर्शनों में सापेक्षता

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हमें यह मालूम होता है कि ये सभी दर्शन, चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, परस्पर सापेक्ष हैं और इन में आगे की तरफ एक के बाद दूसरे का स्थान है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक दर्शन की नितान्त अपेक्षा है और ये सभी दर्शन एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं। एक दूसरे के बिना अपने अस्तित्व का समर्थन ही नहीं कर सकते। आगे की अवस्था को समझने के लिए पूर्व-पूर्व की अवस्था का पूर्ण परिचय रखना नितान्त आवश्यक है। इस

दर्शनों में दृष्टि-कोण के भेद से भेद

प्रकार प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ समन्वय है। इन सब में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं है तथापि एक दर्शन दूसरे दर्शन से अत्यन्त भिन्न है। दो दर्शन कभी भी एक ही मत का प्रतिपादन नहीं करते और न करना उचित ही है। फिर भी स्थूल दृष्टि वालों को दर्शनों में जो परस्पर विरोध मालूम होता है, उसका पहला कारण है समझने वालों का 'अज्ञान' और दूसरा है 'दृष्टिकोण का भेद'। पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में दार्शनिक विचार को कितने सुन्दर शब्दों में कहा है—

'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

इन बातों से यह स्पष्ट है कि सभी दर्शनों में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है और परमानन्द की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के सहायक हैं। इन बातों के स्पष्टीकरण के लिए एक-दो उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

सब से प्रथम उदाहरण के लिए 'आत्मा' के सम्बन्ध में जो कतिपय दर्शनों का विचार है, उसे हम अपने पाठकों के समक्ष रखते हैं। 'आत्मा' को सबसे ऊँचा स्थान लोग देते हैं। चैतन्य आत्मा का ही गुण या स्वरूप माना जाता है। हमारी क्रियाएँ या चेष्टाएँ सभी आत्मा के अधीन मानी जाती हैं। आत्मा स्वतन्त्र है, किसी के अधीन नहीं है। ये बातें प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में 'आत्मा' के स्वरूप का क्रमिक विकास किस प्रकार हमारे दर्शनों में, समन्वय के रूप में एक सूत्र में परस्पर सम्बद्ध हमें मिलता है, उसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

अत्यन्त मूढ़ बुद्धि वाले जीव, जिनके ज्ञान का एक प्रकार से अभी कुछ भी विकास नहीं हुआ है, अपने स्थूल शरीर से भी भिन्न अपने 'धन' को या 'पुत्र' को, **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** इस कथन के अनुसार , 'आत्मा' मानते हैं। उस धन या पुत्र की वृद्धि या सुख में अपने को सुखी तथा विघटन या दुःख में दुःखी मानते हैं, यहाँ तक कि धन के नाश होने पर या पुत्र के मर जाने पर अपने को भी मृतवत् समझते हैं।

चार्वाक-दर्शन के अनुयायी 'आत्मा' का पूर्ववत् पृथक् अस्तित्व न मान कर कोई तो 'स्थूल शरीर' को, कोई उससे सूक्ष्म 'इन्द्रिय' को, कोई उससे भी सूक्ष्म 'प्राण' को और कोई 'मन' को ही 'आत्मा' मानते हैं। इन सब के मत में 'आत्मा' है तथा जड़ है, और भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण से उसमें 'चैतन्य' उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कुछ द्रव्यों के एकत्र करने से उस मिश्रित पदार्थ में एक प्रकार की मादकता-शक्ति उत्पन्न होती है, यद्यपि उस मिश्रित पदार्थ के प्रत्येक द्रव्य में पृथक् रूप से किसी एक में भी वह शक्ति न थी, उसी प्रकार उस भौतिक पदार्थ में चैतन्य उत्पन्न होता है। 'चैतन्य' आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नहीं है। जैसे कत्था, चूना और पान के पत्तों में प्रत्येक में लाल रंग उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, किन्तु उनके

चार्वाक-भूमि

एक विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और आकाश इन पाँचों पदार्थों के एक विशेष सम्मिश्रण से 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है और इस सम्मिश्रण में विघटन होते ही उसमें चैतन्य नहीं रहता और वह आत्मा भी नहीं रहता।

जिस प्रकार कोरक से क्रमशः विकसित होकर फूल बाहर देख पड़ता है, उसी प्रकार अन्तःकरण से क्रमशः विकसित होकर हमें 'ज्ञान' बाहर देख पड़ता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तर के साथ-साथ हमारे दृष्टिकोण का भी क्रमिक भेद होता है। क्रमशः विकसित ज्ञान का प्रत्येक स्तर ही एक 'दर्शन' है। अतएव इन्हीं स्तरों पर समन्वय की दृष्टि से विचार करने से हमें भारतीय दर्शन के पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इन्हीं स्तरों में प्रारम्भिक अवस्था में 'चार्वाक-दर्शन' का स्थान है। यह दर्शन अपनी सीमा के अन्तर्गत स्थूल शरीर से लेकर क्रमशः सूक्ष्म की तरफ अग्रसर होता हुआ इन्द्रिय, प्राण और मनस्-पर्यन्त पहुँच सका। यहीं तक इस दर्शन की सीमा है। अतएव स्थूल भौतिक स्वरूप को छोड़ कर तत्त्वों के सूक्ष्म स्वरूप का विचार चार्वाक-दर्शन में नहीं मिल सकता।

समन्वय-दृष्टि से भारतीय दर्शनों का ज्ञान

ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ जिज्ञासु को चार्वाक के सिद्धान्त से सन्तोष नहीं होता। इस सिद्धान्त से दुःख की चरम निवृत्ति नहीं हो सकती। साथ-साथ उन्हें यह भी अब मालूम होने लगा कि 'आत्मा' भौतिक पदार्थ से भिन्न है। इसका अस्तित्व स्वतन्त्र है। 'चैतन्य' आत्मा का एक स्वतन्त्र विशेष गुण है, यह भूतों से उत्पन्न नहीं हो सकता। इन भावनाओं को लेकर जिज्ञासु जब आगे खोज करता है, तब उसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'आत्मा' एक भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इस स्तर पर पहुँच कर जिज्ञासु को स्वतन्त्र रूप में आत्मा के 'सत्' रूप का प्रथम बार ज्ञान होता है। इस स्तर के प्रतिपादन करने वाले 'नैयायिक' तथा 'वैशेषिक' कहलाते हैं और वह दर्शन 'न्याय-वैशेषिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

न्याय-वैशेषिक-भूमि

इतना होने पर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें चार्वाक के साथ न्याय-वैशेषिक का बहुत विशेष अन्तर नहीं मालूम होता। जैसे, द्रव्यों में पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से चैतन्य न होने पर भी, उन्हीं जड़ द्रव्यों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति चार्वाक मानते हैं, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक मत में 'आत्मा' एक भिन्न द्रव्य है और 'मनस्'

भी एक भिन्न द्रव्य है। इन दोनों में पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से चैतन्य नहीं है। वास्तव में ये दोनों द्रव्य 'जड़' हैं। फिर भी इन्हीं दोनों जड़ द्रव्यों के संयोग से 'चैतन्य' उत्पन्न होता है। हाँ, उस 'चैतन्य' का आश्रय 'आत्मा' है। मादकता-शक्ति या पान के राग के समान यह चैतन्य भी अधिक देर नहीं रहता। जिस प्रकार स्थूल शरीर का नाश होने के बाद, जिसे चार्वाक 'मोक्ष' कहते हैं, चैतन्य नहीं रहता, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के मत में मोक्ष की अवस्था में आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। इसीलिए श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' में नैयायिकों का उपहास किया है—

'गोतमो यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।'

इसी मत के समर्थन में किसी एक भक्त की प्राचीन उक्ति भी है—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन॥'

परम तत्त्व के जिज्ञासु को उपर्युक्त सिद्धान्तों से सन्तोष नहीं होता। इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर उसके मन में शंका होती है कि

सांख्य-भूमि

बिना कारण के कार्य नहीं होता। यदि आत्मा और मनस् में स्वभावतः चैतन्य नहीं है तो इन दोनों के संयोग से भी चैतन्य नहीं उत्पन्न हो सकता। फिर आत्मा और मनस् का संयोग होते ही आत्मा में चैतन्य कहाँ से आता है, इसे खोजना अत्यावश्यक है। इसका पता लगाने के लिए जिज्ञासु को सूक्ष्म दृष्टि की सहायता लेनी पड़ती है। बहिरिन्द्रिय के द्वारा इसका ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा जिज्ञासु बौद्धिक (Psychic) जगत् में प्रवेश करता है। वहाँ उसे स्पष्ट देख पड़ता है कि जिसे अभी तक, अर्थात् न्याय-वैशेषिक-भूमि में वह 'आत्मा' समझता था, वास्तव में वह प्रकृति के सत्त्वगुण का एक विकार है, जिसे 'बुद्धि' या 'महत्' कहते हैं। यह बहुत शुद्ध है इसलिए 'चैतन्य' का प्रतिबिम्ब, जो परम तत्त्व से आता है, इस पर स्पष्ट पड़ता है और इसके प्रभाव से यह 'बुद्धि' चेतन की तरह मालूम होती है। वस्तुतः चैतन्य तो एक भिन्न पदार्थ है जिसे 'पुरुष' कहते हैं। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। वास्तव में यही चैतन्य 'आत्मा' कहा जा सकता है और 'बुद्धि', जिसे स्थूल दृष्टि वाले 'आत्मा' समझते हैं, 'प्रकृति' का सात्त्विक विकार मात्र है और जड़ है।

यही सांख्य-दर्शन का क्षेत्र है। न्याय-वैशेषिक के जगत् से यह जगत् सूक्ष्म है और इसके अधिकांश तत्त्व चैतन्य से प्रतिबिम्बित बुद्धि के द्वारा जाने जाते हैं।

यहाँ इतना स्मरण करा देना अनुचित न होगा कि चार्वाक ने 'आत्मा' के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं माना, न्याय-वैशेषिक ने सब से प्रथम इसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर 'आत्मा' का 'सत्' होना जगत् को बताया और पश्चात् सांख्य ने उसके 'चित्' अंश का स्पष्टीकरण किया। यही ज्ञान के क्रमिक विकास का एक उदाहरण है। सांख्य-दर्शन का चरम सिद्धान्त है—'विवेक-बुद्धि के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति, अर्थात् 'प्रकृति' और 'पुरुष' में अज्ञान के कारण जो विपरीत बुद्धि थी उसे दूर कर, पुरुष को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त कर उसे अकेला कर देना ही' सांख्य का चरम उद्देश्य है। इसी को **'विवेक-ख्याति'** भी कहते हैं। इससे दुःख की निवृत्ति होती है। इस अवस्था में वास्तव में रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण अकेले पुरुष के साथ रह जाता है। इसी कारण कैवल्य प्राप्त करने पर भी अपने स्वरूप में स्थित द्रष्टा के समान 'पुरुष' प्रकृति को देखता है। **'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः'**—(सांख्यकारिका ६५) यह 'देखना' सत्त्वगुण का धर्म है। रजोगुण तथा तमोगुण से एक प्रकार से स्थूल रूप में अलग हो जाने के कारण इस सत्त्वगुण को 'शुद्धसत्त्व' या 'खण्डसत्त्व' कहते हैं। इसी सत्त्वगुण के संपर्क में रहने के कारण अभी भी पुरुष (आत्मा) के वास्तविक अखण्ड और अद्वितीय स्वरूप का ज्ञान जिज्ञासु को नहीं हुआ है। परन्तु यह अद्वितीय स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना सांख्य की भूमि के बाहर है। उसके लिए और भी सूक्ष्म स्तर में प्रवेश करना आवश्यक है।

शांकर वेदान्तभूमि

यही 'शुद्धसत्त्व' अब 'माया' के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यह भी तीनों गुणों से युक्त है। 'शांकर वेदान्त' में इसे 'विशुद्ध-सत्त्वप्रधाना माया' कहा है। इसके प्रभाव से अभी भी परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है। यह माया विचित्र है। न तो यह परम पुरुष 'ब्रह्म' के समान 'सत्' है और न खरहे के सींग की तरह 'असत्' है। इसलिए शांकर वेदान्त में इसे 'अनिर्वचनीय' कहा है। यह अपने वैचित्र्य के कारण समस्त जगत् की सृष्टि करती है। ऐसी स्थिति में भी यह शंकर के अद्वैत में बाधा नहीं करती। यह शंकर के लिए भले ही ठीक हो, परन्तु जिज्ञासु इस 'माया' के प्रभाव से 'ब्रह्म' के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता और इसी लिए दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति भी उसे नहीं मिलती है। अतएव वह इससे छुटकारा पाने के लिए 'माया' को अच्छी तरह से समझने के लिए और भी सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता है।

विशेष खोज करने पर जिज्ञासु को यह मालूम हो जाता है कि 'कला', 'विद्या', 'राग', 'काल' तथा 'नियति' इन पाँच तत्त्वों से 'माया' घिरी हुई है। ये माया के 'कञ्चुक' कहे जाते हैं। इनका भेद करने पर 'माया' से छुटकारा मिलता है और ब्रह्मरूप 'पुरुष' तब 'शुद्धविद्या' के रूप में रह जाता है। इस अवस्था में 'पुरुष' अपने को सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ बराबर का समझने लगता है, जैसे 'मैं यह हूँ'। यहाँ 'मैं' और 'यह' दोनों बराबर महत्त्व के हैं। अभी भी द्वैत स्पष्ट है। अतएव जिज्ञासु अद्वैत की खोज में पुनः अग्रसर होता है। इसके अनन्तर वह पुरुष उस सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ तादात्म्य बोध करता है और 'यह मैं हूँ', ऐसा जीव को अनुभव होने लगता है। इस परिस्थिति में 'यह' को प्राधान्य दिया गया है। इस अवस्था में उस पुरुष या आत्मा को 'ईश्वरतत्त्व' कहते हैं। अब धीरे-धीरे 'यह' अंश 'मैं' में लीन हो जाता है और 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति जीव की रह जाती है। फिर भी द्वैत का भान स्पष्ट है—'मैं' और 'हूँ'। इस अवस्था को 'सदा शिवतत्त्व' कहते हैं।

काश्मीरीय शैवदर्शन-भूमि

अब इस 'हूँ' को भी दूर करना आवश्यक है। इसके अनन्तर जिज्ञासु इससे भी सूक्ष्म भूमि में प्रवेश करता है तो उसे केवल 'अहं प्रत्यय' अर्थात् 'मैं' देख पड़ता है। इसे 'शक्ति-तत्त्व' कहते हैं। इसी अवस्था में परम तत्त्व का उन्मीलन होता है और जिज्ञासु को 'परम तत्त्व' के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। यहीं आत्मा के 'आनन्द' रूप का प्रथम बार भान होता है। यही शक्ति और शक्तिमान् की मिलनावस्था है। यह अवस्था द्वैत है या अद्वैत, यह कहना कठिन है। यह द्वैत भी है और अद्वैत भी है। यहीं परम पवित्र और परिशुद्ध केवल 'आनन्द' का बोध होता है। जिस समय 'आनन्द' का बोध होता है उस समय तो 'द्वैत' है, किन्तु जिस समय बोध नहीं रहता, वह अवस्था 'अद्वैत' है। इस आनन्द का आस्वादन मात्र होने पर भी उसका पता किसी को नहीं रहता। यह परम शान्त अवस्था है। अन्त में यह भी अवस्था परम तत्त्व में लीन हो जाती है और उसका 'परम शिवतत्त्व' के नाम से काश्मीरीय शैव-दर्शन में विचार किया गया है।

यहाँ पहुँच कर जिज्ञासु की जिज्ञासा की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी हो जाती है। यही 'गन्तव्य पद' है। यही 'परम तत्त्व' है और दर्शन-शास्त्र का तथा जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके आगे कुछ भी नहीं रह जाता। सूक्ष्म प्रपञ्च भी चिन्मय 'परम शिवमय' हो जाता है। इस

पद को प्राप्त कर जिज्ञासु का पृथक् अस्तित्व भी नहीं रहता। यहीं जीवन-यात्रा समाप्त होती है। अब जन्म-मरण कुछ भी नहीं रहता और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से कर्म की गति भी यहीं शान्त हो जाती है। यहीं 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' का सामञ्जस्य तथा सामरस्य है। यही भारतीय दर्शन, जीवन, धर्म और कर्म सभी का चरम लक्ष्य है। इसी के लिए भारतीय दर्शन और धर्म इतने व्यापक हैं और अनादि काल से अनेक आघातों को सहते हुए अब भी भारतीयों के हृदय में आदर्श का स्थान प्राप्त करते हैं।

इसी परम तत्त्व का 'माण्डूक्य उपनिषद्' में—

> **'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्, अदृश्यम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'**

इन शब्दों में निरूपण किया है। यहीं आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार होता है।

'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए किस प्रकार जिज्ञासु को स्थूल जगत् से क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम एवं चिन्मय जगत् में प्रवेश करना पड़ता है, यह उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है। ज्ञान के इस क्रमिक विकास में कहीं भी विरोध नहीं है और न शास्त्रों में वास्तविक परस्पर कोई वैमनस्य है। स्थूल दृष्टि वालों को तथा दृष्टिकोण के भेद को न समझने वालों को भेद और विरोध भले ही मालूम हो, किन्तु वस्तुतः कहीं भी भेद या विरोध नहीं है। सामञ्जस्यपूर्वक एक से दूसरे का निरवच्छिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। हाँ, दृष्टिकोण के भेद से तो भेद स्पष्ट है और इस भेद का रहना भी आवश्यक है। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर इस पद पर जो पहुँच जाता है वह फिर पीछे कभी भी नहीं लौटता। यही भारतीय दर्शन है। यही भारतीय जीवन-यात्रा है। इसे प्रत्येक जीव को चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्वयं अनुभव करना होता है, आँख से देखना पड़ता है।

अन्त में एक और बात कह देना आवश्यक है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत यद्यपि है तो 'दर्शन' का प्राधान्य, किन्तु ज्ञान के विकास के साथ-साथ परम पद तक पहुँचने के लिए 'कर्म' की भी पूर्ण अपेक्षा है। अन्तःकरण के मल को दूर कर उसे

पवित्र तथा निर्मल बनाना है, इसके लिए 'कर्म' की परम आवश्यकता है। 'कर्म" के बिना ज्ञान का उदय नहीं हो सकता और फिर ज्ञान के बिना उचित 'कर्म' भी नहीं हो सकता। ज्ञान और कर्म इन दोनों के सहारे जिज्ञासु अपनी यात्रा में सफल होता है। अतएव परम पद पाने के लिए 'दर्शन' के क्षेत्र में 'कर्म' का उतना ही महत्त्व है जितना 'ज्ञान' का। इसीलिए सदाचार का पालन करना, अपने कायिक, वाचिक तथा मानसिक विचारों को परम पद पाने के योग्य बनाना, शास्त्रों में कहे गये साधारण तथा असाधारण धर्मों का पालन करना, आहार को शुद्ध रखना, पीने की वस्तु को भी अपवित्र वस्तु के सम्बन्ध से दूषित न होने देना, इत्यादि सभी नियमों का परम पद की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु अवश्य पालन करें। इसी के साथ-साथ यह भी न भूलना चाहिए कि बिना 'भक्ति' के, बिना आत्मसमर्पण के न तो ज्ञान ही प्राप्त होता है और न कर्म करने में प्रवृत्ति ही होती है। अतएव तत्त्व-जिज्ञासु को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों में पूर्ण सामञ्जस्य रखना परम आवश्यक होता है। इस प्रकार 'दर्शन' को समझने के लिए हमें संसार के सभी विषयों को जानना पड़ता है। इसीलिए दर्शनों में स्थूल 'जगत्' का भी विचार है।

इसी स्वरूप को विभिन्न दर्शनों में हम देखते हैं। अब भारतीय शास्त्रों के आदि ग्रन्थ 'वेद' से प्रारम्भ कर क्रमशः दर्शनों के विकास पर हम आगे विचार करेंगे।

द्वितीय परिच्छेद

वेद में दार्शनिक विचार

भारतवर्ष में 'दर्शन' अर्थात् दार्शनिक विचारधारा की उत्पत्ति किस समय हुई, इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः दुःख-निवृत्ति के उपाय ही तो दर्शन में बतलाये गये हैं। सृष्टि के आदि से ही दुःख है और उसकी निवृत्ति के उपायों को भी उसी समय से लोग ढूंढ़ने लगे होंगे। अतएव सृष्टि के साथ-साथ दार्शनिक विचारधारा की भी उत्पत्ति माननी पड़ती है। यह आज भी हमें स्पष्ट देख पड़ता है कि माता के गर्भ में प्रवेश करते ही जीव सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है और यह भी सत्य है कि सुख और दुःख का अनुभव करना ही तो सृष्टि है। इसलिए भारतीय दर्शन की उत्पत्ति दुःख के अनुभव के समय से, अर्थात् सृष्टि के साथ-साथ, हुई होगी, यह अनुमान होता है। दुःख के अनुभव के साथ ही साथ उसकी निवृत्ति के उपायों की खोज भी होती ही रही है। यही हमारे दर्शनों का विषय है। जिस प्रकार दुःख में और उसकी निवृत्ति के साधनों में क्रमिक तारतम्य होता है, उसी प्रकार दर्शनों में भी तारतम्य है।

उपक्रम

इसके लिए हमें लिखित प्रमाण भी मिलते हैं। भारतवर्ष में सबसे प्राचीन तथा विश्वसनीय लिखित प्रमाण 'वेद' है। 'वेद' का अर्थ है, 'ज्ञान' जिसे ऋषियों ने तपस्या के द्वारा 'अभय-ज्योति' के रूप में साक्षात्कार किया था और शब्दों के द्वारा जिसे मन्त्र-रूप में प्रकाशित किया था। ऋषियों के साक्षात् प्रत्यक्षगोचर होने के कारण इन मंत्रों में कहीं भी असत्य या अविश्वास का कोई स्थान नहीं है। ये मन्त्र परमात्मा के स्वरूप हैं और नित्य 'अभय-ज्योति' के रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'अपौरुषेय' कहे जाते हैं। अतएव इनके सत्य होने में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता। वेद 'श्रुति' कहलाता है और अलिखित रूप में ही अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहा है। शब्दों के द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना असम्भव है, तथापि शब्द

प्राचीनतम प्रमाण

ही एक मात्र साधन है जिसके द्वारा अपने आन्तरिक अनुभवों का वर्णन किसी प्रकार किया जा सकता है।

शब्द की अवस्थाएँ

शब्द की चार अवस्थाएँ हैं। इसके सूक्ष्मतम स्वरूप का नाम 'परा' है। इसका प्रत्यक्ष, साधारण मनुष्यों की बात तो दूर रही, बड़े-बड़े ऋषियों को भी नहीं होता। उससे स्थूल स्वरूप 'पश्यन्ती' है। इस स्वरूप में शब्द की प्रथम अभिव्यक्ति होती है। यह भी ज्ञानस्वरूप, नित्य, अविनाशी, आदि गुणों से युक्त है। ऋषियों को इस स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है। यह चिन्मयस्वरूप है। शब्द के अव्यक्त रूप को 'परा वाक्' और व्यक्त रूप को 'पश्यन्ती वाक्' या 'वेद' कहते हैं। ऐसे वेद के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान तो साधारण लोगों में नहीं मिलता, तथापि वेद के 'वैखरी' रूप का ज्ञान तो विद्वानों को है। यद्यपि वेद में दुःख को दूर करने के निमित्त भिन्न-भिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रधान रूप से मनुष्यों के द्वारा की गयी स्तुतियाँ ही मिलती हैं, फिर भी दार्शनिक विचारों का अभाव नहीं है।

वेद दर्शन-ग्रन्थ नहीं

इस बात को ध्यान में सदा रखना चाहिए कि यथार्थ में ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद कोई वेदान्तसूत्र की तरह दार्शनिक ग्रन्थ तो है नहीं, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तन का ही समावेश हो। ज्ञान-भण्डार में लौकिक तथा अलौकिक सभी विषयों का संघटन रहता है और साक्षात् या परम्परा से ये सभी विषय परम तत्त्व की प्राप्ति में सहायक होते ही हैं। ऊपर कहा गया है कि बिना कर्म के ज्ञान नहीं और बिना ज्ञान के कर्म या भक्ति नहीं। धार्मिक आचरण, कायिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता, जिनके द्वारा बाह्य शुद्धि होती है और स्थूल तथा सूक्ष्म उपासनाएँ की जाती हैं, सभी 'कर्म' के अन्तर्गत हैं। इन सबों के द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है और इनसे जब

कर्म या उपासना दर्शन का अंग

अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो जाता है, तभी उसमें ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, तत्पश्चात् परम पद की प्राप्ति होती है। इस कारण 'कर्म' अर्थात् 'उपासना' भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक आवश्यक अंग है। सभी दर्शनों ने इसे स्वीकार किया है और इसमें कोई भी मतभेद नहीं है।

स्थूल दृष्टि के लिए तो 'वेद' चार हैं। शास्त्रों ने भी यही कहा है और इनके ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद, ये चार नाम भी हैं। परन्तु विचार करने

से यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि 'वेद' तो एक[1] ही है। जैसा कहा गया है, 'वेद' ज्ञानस्वरूप है। यह परा वाक् या पश्यन्ती वाक्-स्वरूप है।

वेद एक है

तत्त्व-जिज्ञासु ऋषियों ने 'आत्मा' के स्वरूप को साक्षात् देखने के लिए तपस्या की। उसके फलस्वरूप उन्हें एक तेजोमय स्वरूप का दर्शन हुआ। उसी तेजोमय स्वरूप की ऋषियों ने स्तुति की। उसी स्तुति की अव्यक्त अवस्था 'परा वाक्' तथा व्यक्त अवस्था 'पश्यन्ती वाक्', उससे स्थूल अवस्था 'मध्यमा वाक्' तथा स्थूलतम अवस्था, जिसे मनुष्य लोग बोलते हैं, 'वैखरी वाक्' के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में ही एक मन्त्र है--

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'[2]

जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। 'वैखरी' अवस्था में भी मन्त्रों में वह शक्ति निहित है जो 'परा' रूप में है, अन्तर इतना ही है कि वह 'वैखरी' में स्थूल रूप में है और 'सुप्त' है। विधिपूर्वक अभ्यास के द्वारा उसे जगाना पड़ता है। जिन ऋषियों ने उस तेजःस्वरूप का दर्शन किया और स्तुति की, वे अपनी-अपनी स्तुति के 'ऋषि' कहे जाने लगे और उस तेजोमय स्वरूप का जिस रूप में जिसे भान हुआ, वह स्वरूप उस स्तुति का 'देवता' कहा जाने लगा। तेजःस्वरूप तो एक ही है और नित्य है, इसलिए 'वेद' एक ही है और नित्य है।

वेदमन्त्रों के ऋषि और देवता

ये स्तुतियाँ 'मन्त्र' कहलाती हैं। इनमें कुछ मन्त्र छन्दोबद्ध हैं और उच्च स्वर से पढ़े जाते हैं। उन्हें 'ऋच्' कहते हैं और ऐसे मन्त्रों के संकलन को 'ऋग्वेद' कहते हैं। कुछ मन्त्र प्रधान रूप से गद्य में हैं और वे धीरे-धीरे पढ़े जाते हैं, उन्हें 'यजुस्' कहते हैं और इनके संकलन को 'यजुर्वेद' कहते हैं। कुछ मन्त्र छन्दोबद्ध हैं और गाये जाते हैं, उन्हें 'साम' कहते हैं और उनके संकलन को 'सामवेद' कहते हैं। प्रत्येक मन्त्र का एक 'देवता' और एक 'ऋषि' है इन मन्त्रों के द्वारा उन देवताओं की स्तुति की गयी और उससे देवता-

वेदों का नामकरण

---

१ वायुपुराण, ६१-१०४; महाभारत, शान्तिपर्व; २३१-५६-५८; सनत्सुजातवचन; वाक्यपदीय, १--५।

२ १-१६४-४५।

ओंने प्रसन्न होकर स्तुति करने वालों की कामना की पूर्ति की, यह अनुमान किया जाता है। इस प्रकार बाद में भी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए स्तुति की जाने लगी। उन्हीं मन्त्रों में कुछ मन्त्र ऐसे हैं जो गाये जा सकते हैं। अतएव उन स्तुतियों के गान द्वारा साधकों ने देवताओं को प्रसन्न कर अपनी कामना की पूर्ति की होगी। कुछ मन्त्र ऐसे थे जो सीधे पढ़े जा सकते थे। मन्त्रों को शुद्ध स्वरूप में रखने के लिए तथा आनुपूर्विक परम्परागत पाठ की रक्षा के लिए आठ प्रकार के विधान हैं, जिन्हें 'विकृति' कहते हैं। ये आठ विकृतियाँ क्रमशः जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ तथा घन नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव घनान्त वेद का पाठ लोग कण्ठस्थ रखते आये हैं।

यह अनुमान किया जाता है कि स्तुतियों के द्वारा मनुष्यों ने अपनी कामनाओं की पूर्ति की। सम्भव है, यह भी उसी समय ध्यान में आया हो कि स्तुतियों के द्वारा देवताओं को यज्ञों में आहूत कर, उन्हें हविष् का भाग देकर प्रसन्न कर अपनी कामनाओं को सफल करें। अतएव लोग यज्ञ करने लगे और उन्हीं मन्त्रों से देवताओं को आहूत किया और वे सभी मन्त्र 'यजुर्वेद' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

यही कारण है कि सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्र ऋग्वेद में मिलते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्तुति करने वाले साधक इन मन्त्रों में से अधिकांश मन्त्रों का सांसारिक सुखभोग के लिए तथा अपने शत्रुओं के नाश के लिए प्रयोग करते थे। ऐसी स्थिति में शत्रु भी तो साधकों से बदला लेने के लिए तत्पर अवश्य रहे होंगे, ऐसा अनुमान होता है। ये शत्रु मायावी थे और इनकी चाल बहुत विचित्र थी। किस रूप में साधकों पर हमला करेंगे, यह कहना कठिन था। अतएव साधकों को इन शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिए संसार के समस्त विषयों का ज्ञान रखना आवश्यक था और उन्हीं बातों के अनुकूल वे स्तुतियाँ भी करते थे। ये सभी मन्त्र और संसार की सभी वस्तुओं के ज्ञान का भण्डार 'अथर्ववेद' के मन्त्रों में निहित है। विशेष कर इसमें शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेष, उच्चाटन तथा मारण इन षट्कर्मों तथा अन्य अभिचार कर्मों के लिए भी विधान के मंत्र हैं। इस प्रकार वस्तुतः एक ही वेद के चार विभाग हुए, जिनकी परम्परा आज तक पृथक् रूप में चली आयी है। इन चारों प्रकार के मन्त्रों का बाद में वेदव्यास ने पृथक्-पृथक् संकलन किया, जो 'संहिता' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। परन्तु वस्तुतः ये सब हैं एक ही। एक ही आत्मस्वरूप

एक ही वेद से चार वेद

की, तेजोमय रूप की, स्तुति के रूप में ये तेजःस्वरूप वेदमन्त्र प्रसिद्ध हैं। अतएव सनत्सुजात ने कहा है—

'एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः'

एक वेद को न समझे जाने के कारण उन्होंने बहुत से वेद कर दिये।

निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी लिखा है—

'वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वात् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः।' निरुक्त १,२०,२

वेद तो एक ही है, किन्तु बहुत बड़ा है और पढ़ने में बहुत कठिन है। इसलिए व्यास ने इसे अनेक शाखाओं में विभक्त किया जिससे सुखपूर्वक लोग इसे पढ़ सकें और समझ सकें।

ऋग्वेद को इक्कीस, यजुर्वेद को एक सौ, सामवेद को हजार तथा अथर्ववेद को नौ शाखाओं में बाँट दिया गया।

सायणाचार्य ने भी अपनी 'ऋग्वेदभाष्य-भूमिका' में इस विषय का उल्लेख किया है और शास्त्र में भी इसके अनेक प्रमाण हैं। जो लोग पहले से ही वेद चार थे, इनकी चर्चा वेद में ही है, ऐसा कहते हैं उन्हें समझना चाहिए कि तेजःस्वरूप, अभय-ज्योति-स्वरूप 'वेद' एक ही है। उसी के वर्गीकरण करने से चार भाग हुए। यही नीचे कहा भी गया है।

इन चारों संहिताओं के ऋत्विकों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। 'होता' ऋग्वेद के, 'उद्गाता' सामवेद के, 'अध्वर्यु' यजुर्वेद के तथा 'ब्रह्मन्' अथर्ववेद के पुरोहित कहे जाते हैं। इन चारों का उल्लेख ऋग्वेद में ही एक ही स्थान में हमें मिलता है। (२.१.२.१०.९१.) इन बातों से यह स्पष्ट है कि चारों संहिताएँ एक ही समय की हैं और स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत एक ही ग्रन्थ के चार स्वरूप हैं, जो परस्पर सम्बद्ध हैं। यही कारण है कि अन्य तीनों संहिताओं के मन्त्र ऋक्संहिता में हमें मिलते हैं।

ऋग्वेद में चारों वेदों के नाम

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ही चारों वेदों के नामों का भी उल्लेख है—

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।' ऋग्वेद, १०.९०.९।

इस मन्त्र में 'ऋच्ः' से 'ऋग्वेद', 'सामानि' से 'सामवेद', 'छन्दांसि' से 'अथर्ववेद' एवं 'यजुष्' से 'यजुर्वेद' समझा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी 'छन्दांसि' पद

से 'अथर्ववेद' का ग्रहण किया गया है। अतएव सभी संहिताएँ एक ही वेद के अन्तर्गत हैं, केवल कार्यभेद से वे भिन्न-भिन्न कही जाती हैं।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि वेद की अभिव्यक्ति ऋषियों की तपस्या के कारण हुई थी। ऋषियों की तपस्या के काल में भेद होने के कारण इन मंत्रों की अभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न समय में हुई होगी। वस्तुतः अभिव्यक्ति का कोई निश्चित समय हो नहीं सकता। यह तो 'आत्मा' के अनुग्रह पर निर्भर है जब वह अपने भक्तों को अपनी इच्छा से अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहे—**'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।'** (कठ० २।२३)। वेद एक ही है और तेजःस्वरूप है। वेद अनादि है और चारों संहिताएँ एक ही वेद के अंग होकर एक ही समय में थीं, इत्यादि।

वेद को स्थूल दृष्टि से विद्वानों ने 'कर्मकाण्ड' और 'ज्ञानकाण्ड', इन दो भागों में विभक्त किया है। कर्मकाण्ड में उपासनाओं का तथा ज्ञानकाण्ड में आध्यात्मिक चिन्तनों का विशेष कर विचार है। अतएव कर्मकाण्ड के नियमों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से जिज्ञासु को सबसे पहले सदाचार का पालन और अन्तःकरण की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। इनके बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता और न तो जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति ही हो सकती है। वेद में जितने प्रकार के उपासना के भेदों का निरूपण है, वे सभी सब के लिए आवश्यक नहीं हैं। इन कर्मों में कुछ तो 'नित्यकर्म' हैं, जिनके करने से कोई पुण्य या अपूर्व वस्तु नहीं मिलती, कोई धर्म नहीं होता, किन्तु न करने से पाप होता है, जैसे, संध्योपासना आदि; और कुछ 'काम्य' तथा 'नैमित्तिक कर्म' होते हैं, जिनके करने से उन कर्मों का फल मिलता है, और न करने से कोई अनुचित या पाप भी नहीं होता, जैसे, अश्वमेधयज्ञ करना, आदि। काम्य तथा नैमित्तिक कर्म अपने-अपने अधिकार के भेद से करना उचित है और सभी कर्म को करने की योग्यता या अधिकार सबको नहीं है। अतएव अपने अधिकार के अनुसार उपासना करने से ही सफलता मिलती है, अन्यथा विघ्न होता है और जिज्ञासु के प्रयत्न विफल हो जाते हैं। यह बात आजकल भी उसी प्रकार सत्य है और सभी को स्वीकार करनी चाहिए। किसी कार्य के योग्य यदि कोई व्यक्ति न हो, तो उस पर उस कार्य का भार कभी भी न सौंपा जाना चाहिए।

अधिकार भेद का विचार

किसी प्रकार की उपासना हो, अपने अधिकार के अनुसार जिज्ञासु को अवश्य करनी चाहिए। अन्यथा उसके अन्तःकरण के मल दूर नहीं होंगे और उसमें ज्ञान

का उदय भी नहीं होगा तथा परम पद की प्राप्ति भी नहीं होगी। इसी से यह स्पष्ट है कि 'कर्मकाण्ड' भी दर्शन-शास्त्र की विचारधारा के अन्तर्गत ही है। अतएव उक्त भावना के अनुसार समस्त वेद भी दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत हैं, यह कहना भी अनुचित न होगा। ऐसा मानने पर भी इस स्थान पर हम विशेष रूप से साक्षात् आध्यात्मिक विचारों को ही दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं। इसलिए दार्शनिक, अर्थात् आध्यात्मिक विचारधारा की चर्चा इस प्राचीनतम ग्रन्थ में किस प्रकार हुई है, उसी का निरूपण यहाँ हम करते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि आध्यात्मिक विचारों का लिखित प्रमाण भारतवर्ष में कितना प्राचीन है।

अभय-ज्योति के रूप में आत्मा की खोज

सांसारिक साधनों के द्वारा अपने दुःख को दूर करने में असमर्थ जिज्ञासु देवता की स्तुति करता है—"हे आदित्य ! मुझे दाहिने और बायें का ज्ञान नहीं है; मैं पूर्व और पश्चिम दिशाओं को नहीं जानता। मेरा ज्ञान परिपक्व नहीं है और (ज्ञान के बिना) में मूढ़ और हतोत्साह हो गया हूँ। यदि आप की कृपा हो, तो मैं अवश्य ही उस 'अभय-ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ।[1]" इसके अनन्तर ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में भी इसी 'अभय-ज्योति' के लिए साधक ने प्रार्थना की है।[2] इन मन्त्रों में परम तत्त्व को जानने के लिए जिज्ञासु ने आत्म-समर्पण किया है। बिना आत्म-समर्पण के ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता। हम लोग भगवद्गीता में स्पष्ट पढ़ते

ज्ञान के लिए आत्मसमर्पण

हैं कि अर्जुन दिन-रात प्रत्येक अवस्था में परब्रह्मस्वरूप भगवान् कृष्ण के साथ रहने पर भी ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सके, किन्तु युद्ध-क्षेत्र में पहुँच कर सेना को देखकर अर्जुन को विषाद ने घेर लिया और उन्होंने युद्ध करने से अपने को सर्वथा असमर्थ बताया।

परन्तु इसी के साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि अर्जुन ने अपने अभिमान का परित्याग किया। हार मान गये और अहंकार को दूर कर अपने को कृष्ण भगवान्

ज्ञान के लिए अभिमान का परि-त्याग

के चरणों में समर्पित कर दिया। अहंकार के परित्याग से एवं आत्मसमर्पण से बिना किसी बाधा के भगवान् ने उन्हें उसी क्षण ज्ञान का उपदेश दिया और अर्जुन का मोह दूर हो गया। यही तो अहंकार की पराजय तथा परा भक्ति की महिमा है।

---

[1] ऋग्वेद, २. २७. ११। [2] ऋग्वेद, २. २७.१४।

वैदिक संहिताओं को पढ़ने से यह मालूम होता है कि उस समय के लोग सांसारिक बातों से पूर्ण अभिज्ञ थे। उन्हें क्षिति, जल, तेजस् तथा वायु के गुणों का पूर्ण परिचय था। उन्हें मृत्यु का बहुत भय था। वे दीर्घ जीवन के लिए देवताओं से विशिष्ट शक्ति की प्रार्थना करते थे।[१] किस प्रकार की उपासना से कौन-सी शक्ति प्रसन्न होती थी, यह भी उन्हें मालूम था। उनमें बड़ों के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति थी। शत्रुओं के प्रति द्वेष था। उपासना के द्वारा मनोरथ की सिद्धि में उन्हें पूर्ण विश्वास था।[२] सुख-दुःख का, ज्ञान-अज्ञान का, नित्य-अनित्य का, अभय, अमर तथा अजर का, इस लोक एवं परलोक का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। यही कारण था कि वे लोग अभय-ज्योतिःस्वरूप उस परमात्मा के ज्ञान के लिए देवताओं की स्तुति करते थे। देवताओं की उपासना में अपने अभिमान का तिरस्कार एवं

परम सुख की प्राप्ति का साधन

अहंकार का नाश स्वीकार करना है, परम सुख की प्राप्ति के लिए लौकिक उपायों की असफलता को मानना है। अन्त में उपासनाओं में भी जो सूक्ष्म रूप से अहंकार विद्यमान है, उसे भी अन्तःकरण से सर्वथा निकालना है और दैवी शक्ति के बिना ये सब सफल हो नहीं सकते। ये सभी बातें वैदिक समय के जिज्ञासुओं को अच्छी तरह मालूम थीं। उपासनाओं के अवसर पर साधक साध्य के साथ एक बन जाता था,[३] अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा के अभेद या ऐक्य-ज्ञान से ही चरम उद्देश्य की सिद्धि होती है, यह भी वे लोग जानते थे और इस ऐक्य का साक्षात् अनुभव करते थे। ये सभी भावनाएँ तत्त्व-जिज्ञासुओं के अन्तःकरण में स्पष्ट रूप से विद्यमान थीं। इन बातों से यह स्पष्ट है कि दार्शनिक विचारधारा भारतवर्ष में सृष्टि के आदि से ही विद्यमान है और जिज्ञासु दुःख की निवृत्ति के लिए तेजःस्वरूप देवताओं के साथ उपासनाओं के द्वारा एक हो जाने के लिए तत्पर रहते थे।[४] ये तो साधारण बातें हुईं! अब हम कुछ विशेष बातों का उल्लेख यहाँ करते हैं।

वेद में जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार हैं।

---

[१] ऋग्वेद, १०. १६४. ४; अथर्ववेद, ३. २. ४ तथा २०. ९६. ९।

[२] ऋग्वेद, ८. १३. ६।

[३] यजुर्वेद, १–५,१०।

[४] यजुर्वेद, १–५, १०।

'अग्नि' से जगत् की उत्पत्ति कही गयी है, पश्चात् 'सोम' से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिन, रात, जल तथा औषधियों की उत्पत्ति मानी गयी है। 'त्वष्टा' ने समस्त जीवों को उत्पन्न किया। 'इन्द्र' ने समस्त पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया। इन्होंने ही तीनों लोकों को तथा जीवों को उत्पन्न किया। इसी प्रकार कभी विश्वकर्मा, कभी वरुण, आदि संसार की सृष्टि करने वाले कहे गये हैं।

वेद में सृष्टि का विचार

इन विभिन्न मतों का अभिप्राय ऐसा मालूम होता है कि ये सभी अर्थवादमात्र हैं। साधकों को अपने कार्य की सिद्धि के लिए जिस किसी देवता की अपेक्षा हुई, उन्हें साधक ने सब से बड़ा बनाया, यहाँ तक कि उन्हें जगत् का स्रष्टा ही बना दिया। यह स्वाभाविक है। जिससे कार्य लेना है, उसकी स्तुति में किसी प्रकार की त्रुटि करने से कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए इन बातों से समय-समय पर भिन्न-भिन्न कार्य के लिए भिन्न-भिन्न शक्ति की प्रधानता स्पष्ट है। इसी के साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि **'एकं सत् बहुधा विप्रा वदन्ति'** इस मन्त्र के अनुसार इन देवताओं में अभेद है, ऐसा उन लोगों का विश्वास था। इस प्रकार की अभेद-बुद्धि ऋग्वेद के मन्त्रों में ही स्पष्ट है। **(ऋग्वेद, १-७, १६४. ४६; ८.५८।)**

'असत्' को विश्व का उपादान कारण माना गया है।[1] विश्वकर्मा ने बिना किसी की सहायता से विश्व की रचना की। सायणाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि परमात्मा ने अपनी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड को रचा। इसी शक्ति को 'माया' कहते हैं, किन्तु यह देव-शक्ति है, नित्य है। शांकर-वेदांत की 'माया' की तरह यह 'अनिर्वचनीय' नहीं है।[2] यही बात तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी स्पष्ट कही गयी है।

नासदीय-सूक्त[3] तो दार्शनिक सूक्त ही है। इसमें सृष्टिप्रक्रिया का विशद वर्णन है। सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में न 'असत्', न 'सत्'; न 'अन्तरिक्ष' और न 'व्योम' था। मृत्यु का भी भय नहीं था। केवल वह 'एक' था, उसके अतिरिक्त कोई भी नहीं था। अंधकार मात्र सर्वत्र था। जल था, प्रकाश नहीं था। वह 'एक' 'तपस्' से उत्पन्न हुआ, इत्यादि सृष्टि के सम्बन्ध में ऋग्वेद में विचार मिलता है। इस सूक्त से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ में एक कोई अव्यक्त चेतन था, जिससे कालान्तर में सृष्टि के वैचित्र्य अभिव्यक्त हुए। उस अव्यक्त चेतन

---

[1] ऋग्वेद, १०. ७२. २-४। [2] ऋग्वेद, २. ८. ९। [3] ऋग्वेद, १०.१२९।

को 'तपस्' कहा गया है। वस्तुतः यही सर्वव्यापी शक्ति है, इसी से ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। यही भावना ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भी स्पष्ट है।[१]

एक व्यापक शक्ति का वर्णन हमें वेद में स्पष्ट मिलता है। इसी से समस्त सृष्टि होती है। यही भाव यजुर्वेद के 'पुरुषसूक्त'[२] में भी स्पष्ट है। वेद में इन्द्र सबसे बड़े देवता माने गये हैं। यही इन्द्र, सायणाचार्य के विचार में, कभी अग्नि, कभी सूर्य और कभी वायु के रूप में वेद में वर्णित हैं। अन्तरिक्ष के सभी नक्षत्र इन्हीं इन्द्र के रूप हैं। इसीलिए वेद ने कहा है—**'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**[३] अर्थात् अपनी शक्तियों के द्वारा इन्द्र बहुत-से रूपों को धारण कर लेते हैं। यही कारण है कि साधक अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिस देवता की स्तुति करे, किन्तु वे स्तुतियाँ सभी इन्द्र के प्रति होती हैं।[४] यही बात बाद को भगवद्गीता में भी भगवान् ने कही है।[५] इन बातों से यह स्पष्ट है कि वेद में अद्वितीय, सर्वव्यापक, अव्यक्त उस 'एक' का वर्णन है, जो सर्वशक्तिमान् है, जो दुष्टों का दमन करता है तथा सज्जनों की रक्षा करता है।[६] यही 'एक' शक्ति 'विश्वकर्मा' के भी रूप में वेद में वर्णित है।[७]

एक व्यापक शक्ति

इसी व्यापक परम शक्ति का भिन्न-भिन्न नाम से वेद ने वर्णन किया है। इसी का 'अभयं ज्योतिः',[८] 'परम व्योमन्'[९] 'परम पद'[१०], 'अव्यक्त', आदि नाम से वर्णन किया गया है। जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का परिचय ऋग्वेद के प्रसिद्ध **'द्वासुपर्णा सयुजा'**[११] इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट है। इसी परमात्मा का साक्षात्कार करना भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य है। इसी से दुःख की चरम निवृत्ति होती है। यही यजुर्वेद ने कहा है—**'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'**।[१२] यजुर्वेद में अनेक मन्त्र हैं जिन में परमेश्वर का वर्णन है जो जगत् में अनेक रूप से

व्यापक शक्ति

---

[१] ऋग्वेद, १. ३. १०-१२। [२] यजुर्वेद, १६ अध्याय। [३] ऋग्वेद, ६. ४७.से१८।
[४] ऋग्वेद, १. ७। [५] गीता, ९-२३।
[६] ऋग्वेद, ९. २३; ३. ४६; गीता ४. ८।
[७] ऋग्वेद, १०. ८१. १। [८] वही, २. २७. ११। [९] वही, १. १४३. २।
[१०] ऋग्वेद, १. २२. २०-२१। [११] वही, १०. १६४. २०। [१२] वही, ३१. १८।

अभिव्यक्त होते हैं तथा जिन के ज्ञान से जिज्ञासु को चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है और वह सर्वज्ञ हो जाता है।[1]

यद्यपि किसी दार्शनिक विषय का सांगोपांग विचार एक किसी स्थान में वेद में नहीं मिलता और न वह मिल ही सकता है, किन्तु छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े तत्त्वों के स्वरूप का साक्षात् दर्शन तो ऋषियों को हुआ था और वे सब अनुभव वेद में व्यक्त रूप में वर्णित हैं। उसमें लौकिक तथा अलौकिक सभी बातें हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूप से भिन्न-भिन्न तत्त्वों का परिचय वेद के अध्ययन से हमें प्राप्त होता है।

वेद का विषय

बाद के न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के समान वेद का अपना कोई एक प्रतिपाद्य मत नहीं है। ऋषियों की तपस्या के फलस्वरूप आत्मतत्त्व का अपना-अपना साक्षात् अनुभव ही 'वेद' है अथवा ज्योतिःस्वरूप आत्मा ही तो वेद है। किसी एक विषय के सम्बन्ध में यह कोई एक ग्रन्थ तो है ही नहीं। अतएव इसका अपना न कोई 'दर्शन' है और न कोई मन्तव्य। यह तो साक्षात् प्राप्त ज्ञान के स्वरूपों का संकलन है, भण्डार है। इसी से तत्त्वों को निकाल कर बाद में विद्वानों ने अपने-अपने विचार के लिए एवं दर्शनों के निर्माण के लिए ज्ञान का संचय किया है।

आचार का निरूपण

वेद में सदाचार पालन

यह कहा जा चुका है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्म की आवश्यकता है। बिना पवित्र कर्म के अन्तःकरण के मल दूर नहीं हो सकते और अन्तःकरण के शुद्ध हुए बिना अहंकार दूर नहीं होगा और न ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। अतएव जिस वेद में ज्ञान का इतना विचार है, उसमें पवित्र आचरण तथा शुद्ध कर्मों के लिए विचार न हो, यह सर्वथा असम्भव है। ऋषियों की तपस्या का वर्णन तथा देवताओं के प्रति की गयी स्तुतियों का वर्णन वेद में है। ये तपस्याएँ तथा स्तुतियाँ पवित्र कर्म ही हैं, शुद्ध आचार हैं। इनमें सफलता प्राप्त करने के लिए ऋषियों को अपने छोटे तथा बड़े आचरणों को पवित्र रखना अत्यावश्यक था। परम तत्त्व की

---

[1] यजुर्वेद, १. १७. ९।

प्राप्ति के लिए पवित्र आहार, शुद्ध पान तथा निश्छल पवित्र विचार, ये सभी बहुत ही आवश्यक हैं। इनके बिना जिज्ञासु या ऋषि भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते।

सामूहिक प्रार्थना में वे लोग विशेष सामर्थ्य मानते थे।[१] साधक लोग दुष्टों का दमन करने के लिए तथा साधुओं की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति करते थे। वे लोग 'ऋत' को 'ज्योतिष्पतिः' कहते थे और उसे बहुत ऊँचा स्थान देते थे।[२] पाप से बहुत डरते थे और उससे बचने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे। असत्य बोलना बड़ा पाप समझा जाता था। ये लोग 'सूनृता वाक्' अर्थात् सत्य और प्रिय वचन बोलते थे।[३] असत्य बोलने वालों से तथा मनुष्यों की हत्या करने वालों से वे लोग घृणा करते थे।[४] लोभ, छल, अभिमान, क्रोध, क्रूरता आदि निन्दनीय कर्मों से तथा अच्छे कर्म में विघ्न देने वाले, देवनिन्दक, चोर, दूसरों की उन्नति को न सहने वाले, ब्राह्मणों के द्वेषी तथा कृपण आदि एवं दुष्ट कर्म करने वालों से वैदिक ऋषि लोग घृणा करते थे।[५]

जो देवता उपर्युक्त पवित्र आचरण रखते थे वे 'धृतव्रत', 'नासत्या', 'सत्यपरायण', 'सत्यधर्मा', 'सत्कर्मपालक', 'सुरूपक्रत्नु', आदि विशेषणों से सम्मानित किये जाते थे।[६] साधक लोग देवताओं की स्तुति करते थे, क्योंकि वे लोग हिंसा, द्वेष आदि दुर्गुणों से दूर रहा करते थे।[७] दुष्ट आचरण रखने के कारण राक्षसों से ये लोग घृणा करते थे।[८] ये लोग गाय, घोड़ा, आदि जीवों पर दया रखते थे तथा सभी जीवों की भलाई के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे। ऐन्द्रजालिक, अभिचार, चरित्र को नष्ट करने वाली चेष्टा तथा व्यभिचार आदि कर्मों से ये लोग बहुत घृणा करते थे और इन सब कर्मों के करने वालों को 'नारकीय जीव' कहते थे।[९] वे लोग स्वयं बड़े सदाचारी और धार्मिक नियमों का कट्टर पालन करने वाले होते थे।

---

[१] ऋग्वेद, १-१७-९। [२] ऋग्वेद, १-२३-५।
[३] ऋग्वेद, १-८-८; १-२३-९, २२। [४] ऋग्वेद, १-१२५; ६-६१।
[५] ऋग्वेद, १-१५-६; १-९०२; १-९४-९; १-११५-६ इत्यादि।
[६] ऋग्वेद, १-१-५; १-१२-७; १-१५-६; २-२९-१; १-४-१०; १-४-१ इत्यादि।
[७] ऋग्वेद, १-४-४; १-१८-३ इत्यादि। [८] ऋग्वेद, १-२२-५।
[९] ऋग्वेद, ४-५-५।

यज्ञादि विशेष कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अनुचित कर्म करने से नरक को जाना पड़ता है, इन सिद्धान्तों में उन्हें पूरा विश्वास था।

इस प्रकार आचार-पालन में वे सदैव तत्पर रहते थे।

कर्मवाद

अच्छे कर्म करने से पुण्य होता है और कालान्तर में उससे सुख की प्राप्ति होती है तथा अनुचित कर्म करने से पाप और दुःख मिलता है, इस जन्म के पूर्व तथा पश्चात् भी जीव का अस्तित्व रहता है और जीवनकाल में पूर्व-पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के फलों को भोगने के ही लिए बराबर इस संसार में जीव का आना होता है, मरने पर जीव 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग से दूसरे लोकों में जाता है, इत्यादि सिद्धान्तों के मूल में 'कर्म की गति' है। वैदिक काल के सभी लोग थोड़ा-बहुत कर्म की गति को जानते थे, अन्यथा उपर्युक्त सिद्धान्तों को वे नहीं स्वीकार कर सकते थे। दार्शनिक विचार में कर्म की गति की बडी महिमा है। वास्तव में संसार की सभी घटनाएँ, जीवों की सभी चेष्टाएँ, यहाँ तक कि स्वयं यह जगत्, कर्म की ही गति का फल है। देवता लोग भी कर्म के बन्धनों से परे नहीं हैं। अवतार लेने पर भगवान् भी कर्म के गतिचक्र में घूमने लगते हैं। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। इसके आदि-अन्त को जानना सरल नहीं है। सत्य ही कहा गया है—**'गहना कर्मणो गतिः'**।

पुण्य और पाप

कर्म की गति की चर्चा

कुछ लोगों की धारणा है कि वैदिक संहिता-ग्रन्थों में कर्मवाद का उल्लेख नहीं है। हो सकता है कि 'कर्मवाद', 'कर्मगति' आदि शब्द वेद में न हों, परन्तु संहिताओं में कर्मवाद का उल्लेख ही नहीं है, यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। इसलिए 'कर्मवाद' के सम्बन्ध में ऋग्वेद-संहिता में जो मन्त्र हैं, उनका यहाँ संकेत करना आवश्यक है।

'शुभस्पतिः' (अच्छे कर्मों के रक्षक), 'धियस्पतिः' (अच्छे कर्मों के रक्षक), 'विचर्षणिः' तथा 'विश्वचर्षणिः' (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा), 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मों के आधार) आदि पदों का देवता लोगों के विशेषण में वेद में प्रयोग हुआ है। यज्ञादि कर्मों का वेदों में, विशेषतया यजुर्वेद में, अनेक प्रकार से विधान है। इन यज्ञों के करने से यज्ञ करने वाले को उसी समय फल मिलता था,—या मरने के बाद ? स्वर्ग

कर्मवाद का उल्लेख

आदि साधक यज्ञों की समाप्ति होते ही उनका फल नहीं मिलता था, किन्तु मरने के बाद ही यजमान दूसरा शरीर धारण कर पूर्व-जन्म में किये गये कर्मों का भोग करता था। कई मन्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्मों के करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जीव अनेक बार इस संसार में अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त करता है। वामदेव ने पूर्व के अपने अनेक जन्मों का वर्णन किया है।[1] पूर्व-जन्म के दुष्ट कर्मों के कारण लोग पाप-कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं,[2] इत्यादि वेदों के मंत्रों में स्पष्ट है।

कर्मफल

इन सभी प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि कर्म का फल होता है और एक जन्म में जो कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है तथा साधारणतया कर्म करने वाले जीव को ही अपने किये हुए उस कर्म के फल का भोग करना पड़ता है। इसी से 'आत्मा' नित्य और व्यापक है, यह भी प्रमाणित हो जाता है।

पूर्व-जन्म के किय हुए पाप-कर्मों से छुटकारा मिल जाय[3], इसलिए मनुष्य देवताओं से प्रार्थना करता है। संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन मन्त्रों में है।[4] 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग का वर्णन और किस प्रकार अच्छे कर्म करने वाले लोग 'देवयान' के द्वारा ब्रह्मलोक को तथा साधारण कर्म करने वाले चन्द्रलोक को 'पितृयान' मार्ग से जाते हैं, इन सभी का वर्णन मन्त्रों में है।[5] जीव पूर्व-जन्म के नीच कर्मों के भोग के लिए किस प्रकार वृक्ष, लता, आदि स्थावर-शरीर में प्रवेश करता है, यह भी ऋग्वेद में हमें मिलता है।[6] **'मा वो भुजेमान्यजातमेनो'**[7], **'मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम'**,[8] आदि मन्त्रों से यह भी मालूम होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों का भोग किसी प्रकार कर सकता है, जिससे बचने के लिए उक्त मन्त्रों में साधक ने प्रार्थना की है। सत्य संकल्प से आजकल भी इस प्रकार कर्मकर्ता अपने

दूसरे के किये हुए कर्मों का भोग

---

[1] ऋग्वेद, ४-२६-२७।

[2] ऋग्वेद, ७-८६-६। [3] ऋग्वेद, ६-२-११।

[4] ऋग्वेद, ३-३८-२; १-१६४-२०। [5] ऋग्वेद, ३-५५-१५; ७-३८-८।

[6] ऋग्वेद, ७-९-३; ७-१०१-६; ७-१०-२-२।

[7] ऋग्वेद, ७-५२-२। [8] ऋग्वेद, ६-५१-७

कर्म के भोग्य फल को दूसरे किसी को देता है और पाने वाला उस फल का भोग करता है।

इन उपर्युक्त प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि 'कर्मवाद' के प्रत्येक स्वरूप से साधक लोग वैदिक काल में पूर्ण रूप से परिचित थे। यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि साधारण रूप से जो जीव कर्म करता है, वही जीव उस कर्म के फल का भोग भी करता है, किन्तु विशेष शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग कर सकता है, इत्यादि बातों से हमें यह कहने में उत्साह होता है कि वैदिक संहिताओं में कर्म-गति के सभी पहलुओं को लोग जानते थे।

इन सभी बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न अंगों का साधारण तथा कहीं-कहीं विशेष रूप में भी वर्णन हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ में स्पष्ट रूप में मिलता है। संहिता के मन्त्रों को हम लोग अपौरुषेय तथा अनादि कहते हैं और इन मन्त्रों में दार्शनिक विचार पूर्ण रूप में मिलते हैं, अतएव यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के विचार भी अनादि काल से हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वेद में कोई भी विचार वर्गीकृत नहीं है। इसकी आवश्यकता ही उस समय नहीं थी। भारतीयों का जीवन ही तो दार्शनिक है। दोनों का उद्देश्य एक है और चरम लक्ष्य तक पहुँचने का साधन भी एक ही है। भारतीय जीवन-स्रोत में अन्य किसी धारा का मिलन नहीं था। किसी के साथ विरोध नहीं था। अतएव शान्त रूप में भारतीय दर्शन-विचारधारा, या भारतीय जीवन-स्रोत, सभी परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए अविच्छिन्न रूप से अनादि काल से बहती चली आती थी। ये सभी बातें हमें वेद के मन्त्रों में मिलती ह।

दर्शन की विचार-धारा

देवता को ही 'आत्मा' समझ लेना

संसार-रूपी दावानल से दग्ध जिज्ञासु के दुःख की निवृत्ति का एक मात्र साधन 'आत्मा का दर्शन' है, यह उपदेश गुरु-मुख से सुन कर वह 'आत्मा' को ढूँढने लगता है। प्रारम्भिक अवस्था में देवताओं की उपासनाओं के द्वारा तथा स्तुतियों के द्वारा दुःख की निवृत्ति देखकर जिज्ञासु इन्द्र, वरुण, पूषन्, आदि देवताओं को ही 'आत्मा' समझने लगे। वेद की संहिताओं के अध्ययन से तो इतना ही विशेष रूप में मालूम होता है। उसके बाद

उपासना से दुःख-निवृत्ति

वेद का दूसरा भाग 'ब्राह्मण' है, उसमें यज्ञ के विधान का विशेष विचार है। प्रत्येक वेद का अपना-अपना ब्राह्मण है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त दार्शनिक विचारों का विशेष वर्णन नहीं देख पड़ता, फिर भी उनका अभाव नहीं है। अतएव 'आत्मा' की खोज में विशेष प्रगति ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की तरह प्रत्येक वेद का अपना-अपना 'आरण्यक'-ग्रन्थ है। ये ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों के सहायक हैं और यज्ञों के रहस्यों को स्पष्ट करते हैं। इन ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों का विशेष वर्णन है। यही कारण है कि कतिपय

ब्राह्मण तथा आरण्यक

महत्त्वपूर्ण 'उपनिषद्' आरण्यक ग्रन्थों के ही भाग हैं। जैसे 'ऐतरेय उपनिषद्' ऐतरेय आरण्यक का, 'महानारायण उपनिषद्' तैत्तिरीय आरण्यक का, 'कौषीतकि उपनिषद्' कौषीतकि आरण्यक का भाग है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्थ काण्ड का कुछ भाग 'आरण्यक' कहलाता है और इसी आरण्यक के अन्तिम छः अध्याय 'बृहदारण्यक' नाम की महत्त्वपूर्ण उपनिषद् हैं। इसी प्रकार 'छान्दोग्य उपनिषद्' भी आरण्यक से मिला हुआ ग्रन्थ है। यही कारण है कि दार्शनिक अध्ययन के लिए आरण्यकों का अध्ययन आवश्यक है।

यद्यपि देवताओं की स्तुति से एवं यज्ञ आदि क्रियाओं से दुःख की निवृत्ति किसी अंश में तो होती है, किन्तु संहिताओं में बहुत-से ऐसे भी मन्त्र हमें मिलते हैं,

साधक की अतृप्ति

जिनसे यह मालूम होता है कि जिज्ञासु इस प्रकार की दुःख-निवृत्ति से संतुष्ट नहीं हैं। एक भक्त आदित्य से प्रार्थना करता है कि—

'न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो॰ अभयं ज्योतिरश्याम्॥'

'न मुझे दाहिने का और न बायें का ज्ञान है, न मैं पूर्व दिशा को और न पश्चिम दिशा को जानता हूँ। मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं है और मैं हताश तथा व्याकुल हूँ। यदि आप मुझे पथ का प्रदर्शन करें तो मुझे उस प्रसिद्ध 'अभय-ज्योति' का ज्ञान हो जायगा।'[1]

एक दूसरे मन्त्र में भक्त अदिति, मित्र, वरुण तथा इन्द्र से प्रार्थना करता है—

---

[1] ऋग्वेद, २-२७-११।

'अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद् वो वयं चकृमा कच्चिदागः ।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मानो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ॥'

'हे देव ! आप लोगों के प्रति मैंने बहुत अपराध किया है, उसे क्षमा करें और मुझे उस 'अभय ज्योति' का वरदान दें, जिससे हमें अज्ञान क्लेश-दायक न हो' ।[1]

दूसरी बात यह देखी जाती है कि संहिताओं में अनेक देवताओं का वर्णन है। उनमें प्रत्येक को सबसे महान् कहा गया है । सभी देवता वस्तुतः एक-से महान् तो हो नहीं सकते, फिर सबसे बड़े देवता कौन हैं ? यह शंका भक्त के मन में उत्पन्न हुई होगी । अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण जो देवता होंगे, वही वास्तविक 'आत्मा' होंगे, इस प्रकार की भावना साधक के मन में रही होगी । इससे स्पष्ट है कि तत्त्व-जिज्ञासा की निवृत्ति अभी भी नहीं हुई है और संहिताकाल में जिज्ञासा की प्रगति बढ़ती ही रही होगी ।

'एक' की खोज

तीसरी बात यह मालूम होती है कि दुःख-निवृत्ति के लिए यज्ञ सबसे महत्त्वपूर्ण साधन समझा जाने लगा । यज्ञ के अनेक भेद थे, किन्तु वे सभी भेद क्रमशः एक 'विष्णु-रूप' में स्थिर हो गये और 'विष्णु' को ही 'यज्ञ' मान कर[2] उन्हीं की उपासना से जिज्ञासु लोग चरम पद की प्राप्ति समझने लगे । विष्णु ही अब सर्वव्यापक देवता हो गये और अन्य देवता लोग विष्णु के ही परायण बन गये ।[3] केनोपनिषद् के यक्ष तथा देवताओं के संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं से 'आत्मा' भिन्न है तथा देवताओं की शक्ति 'ब्रह्म' की दी हुई है । देवताओं में स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सामर्थ्य नहीं है ।[4] अतएव केनोपनिषद् में कहा गया है कि जिस 'आत्मा' की खोज भक्त लोग करते हैं, वह देवताओं से भिन्न है ।[5]

यज्ञ और विष्णु का अभेद

'ब्रह्म'-भावना का उदय

इस प्रकार 'ब्रह्म-तत्त्व' का परिचय हमें सब से प्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता

---

[1] ऋग्वेद, २-२७-१४ ।

[2] जैमिनीय ब्राह्मण, २-६८; 'यज्ञो वै विष्णुः'—तैत्तिरीय संहिता, १-७-४ ।

[3] तैत्तिरीय आरण्यक, १-८ ।

[4] खण्ड ३-४ ।

[5] १-५-९ ।

है। पहले मित्र, बृहस्पति, वायु तथा यज्ञ, इनको ही साधक लोग 'ब्रह्म' कहने लगे।[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थ में 'ब्रह्म' और 'आत्मा'

बाद को मालूम होता है कि भक्तों ने 'ब्रह्म' से ही देवताओं की उत्पत्ति मानी। इस प्रकार 'ब्रह्म-तत्त्व' व्यापक रूप में हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'आतमा' और 'ब्रह्म' ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व समझे जाते थे। 'ब्रह्म' देवताओं से अभिन्न तथा उनको उत्पन्न करने वाला था। वह देवस्वरूप, सर्वव्यापक एक स्वतन्त्र तत्त्व था। 'आतमा' को देवताओं से भिन्न एक विशेष तत्त्व माना जाता था। अब जिज्ञासु के लिए ये ही दो तत्त्व खोज के लिए थे, जिनके दर्शन से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती थी।

आरण्यकों में 'ब्रह्मन्' के तीन स्वरूप कहे गये हैं। पृथ्वी आदि के रूप में 'स्थूल', मनस् आदि के रूप में 'सूक्ष्म' तथा प्रणव के रूप में 'शुद्ध'।[2] ज्ञानियों के लिए

आरण्यक में ब्रह्म की भावना

यह 'ब्रह्म' 'सत्' और अज्ञानियों के लिए 'असत्' है।[3] प्रणव-स्वरूप 'ब्रह्म' में समस्त जगत् लय हो जाता है और उसी से पुनः स्थावर और जंगम-रूप में समस्त जगत् उत्पन्न होता है।[4] यह सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[5] परम आकाश में यह अभिव्यक्त होता है और इसी के दर्शन से मुक्ति मिलती है।[6]

आरण्यक के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'ब्रह्मन्' वेदान्त के 'ब्रह्म' के समान क्रमशः समझा जाने लगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवता के रूप में जो

वेदान्त के ब्रह्म की भावना

इस ब्रह्म की भावना थी, वह आरण्यक में नहीं देख पड़ती। अब तो वह शुद्ध वेदान्त के 'ब्रह्म' के समान देख पड़ने लगा। संहिता से लेकर आरण्यक तक 'ब्रह्म' के स्वरूप का यह क्रमिक विकास है।

---

[1] शतपथ ब्राह्मण, ९-३-२-४।
[2] तैत्तिरीय आरण्यक, ७-६-८।
[3] तैत्तिरीय आरण्यक, ७-८।
[4] तैत्तिरीय आरण्यक, ८-६।
[5] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१।
[6] तैत्तिरीय आरण्यक, ८-२।

ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थों में 'ब्रह्म' के स्वरूप से भिन्न 'आत्मा' का स्वरूप देख पड़ता है। 'आत्मा' के स्वरूप के साथ देवता के स्वरूप का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। 'आत्मा' के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप अपने-अपने ज्ञान के विकास के अनुसार लोगों ने माना है। 'शतपथ ब्राह्मण' में मनुष्य के शरीर के मध्यम भाग के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है[1] और पुनः त्वक्, शोणित, मांस और अस्थि के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] उसी ग्रन्थ में बाद को मनस्, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त के लिए भी 'आत्मा' शब्द आया है।[3] क्रमशः जीवन की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय, इन चारों अवस्थाओं के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग उसी ग्रन्थ में हमें मिलता है।[4] बाद को यह आकाश के साथ अभिन्न माना गया है[5] और इस प्रकार 'आत्मा' की एक पृथक् सत्ता स्वीकृत हुई।

आत्मभावना का उदय

आरण्यक-ग्रन्थों में भी 'आत्मा' के स्वरूप के सम्बन्ध में उपर्युक्त भावना के अतिरिक्त 'प्राण' के साथ 'आत्मा' के अभेद की भावना है।[6] इसके अतिरिक्त 'आत्मा' को 'विज्ञानमय' तथा 'आनन्दमय' भी आरण्यक में कहा गया है।[7] इसके अनन्तर अन्त में आत्मा को 'आनन्द' ही कह कर[8] आरण्यक ने 'आत्मा' के परम स्वरूप का परिचय दिया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में द्यावा पृथिवी के बीच के आकाश के साथ 'आत्मा' को अभिन्न कहा गया है।[9] 'ऐतरेय आरण्यक' में 'आत्मा' के स्वरूप का पूर्ण परिचय दे दिया गया है। 'आत्मा' से ही लोकों की सृष्टि बतायी गयी और उसके निरुपाधि तथा उपाधि-सहित स्वरूप का भी वर्णन किया गया है। बाद को चिद्-रूप पुरुष या 'ब्रह्मन्' के साथ इस 'आत्मा' को अभिन्न भी 'ऐतरेय आरण्यक' में कहा गया है।[10] यह भी इसी आरण्यक में स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध चैतन्य को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ जगत् में नहीं है। यही 'आत्मा' सभी देवता हैं तथा स्थावर और जंगम जो कुछ भी इस

ब्रह्म और आत्मा का अभेद

---

[1] ७-१-१। [2] ७-१-१। [3] ७-१-१-१८।
[4] ७-१-१-१८। [5] जैमिनीय ब्राह्मण, २-५४।
[6] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१। [7] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१।
[8] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१।
[9] १-३-८। [10] २-४-१, ३।

जगत् में है, सभी 'आत्मा' ही है। इसी 'आत्मा' से सृष्टि होती है, इसी में सभी पदार्थ स्थित हैं तथा इसी में अन्त में लीन भी हो जाते हैं।[1]

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट होता है कि 'आत्मा' का स्वरूप, ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ, अभिव्यक्त हुआ है। 'आत्मा' के स्थूलतम तथा परिच्छिन्न रूप से प्रारम्भ कर सर्वव्यापक एवं सूक्ष्मतम स्वरूप का वर्णन हमें आरण्यकों में देख पड़ता है। देहात्मभावना से लेकर आनन्द-स्वरूप पर्यन्त ज्ञान की सभी अवस्थाओं का निरूपण ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थों में स्पष्ट है। एक अव्यक्त अवस्था से जगत् की सृष्टि होती है और पुनः उसी अव्यक्त रूप में वह लीन हो जाता है। इस प्रकार 'आत्मा' एक व्यापक परिशुद्ध दार्शनिक तत्त्व है यह स्पष्ट रूप से श्रुतियों में कहा गया है।

ज्ञान के विकास के साथ आत्मभावना का उदय

ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार हैं। बहुतों ने एक व्यापक 'प्रजापति' की भावना की। इनका स्वरूप बहुत स्थूल माना गया, जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच वायु, पाँच भूत तथा मनस् के मिश्रण से बना हुआ था। पश्चात् इन्हें अग्नि के साथ अभिन्न और सर्वव्यापक बतलाया गया। सृष्टि करने के अनन्तर इनका शरीर नष्ट हो गया और इससे अन्न उत्पन्न हुआ।[2] किसी ने 'ऋत' से 'प्रजापति' की सृष्टि मानी और 'ऋत' का अर्थ यास्क ने 'यज्ञ' माना है[3] और बाद को यही 'ऋत' ब्रह्मन् के साथ अभिन्न भी बतलाया गया है।[4] कहीं 'असत्' से सृष्टि और कहीं 'जल' से भी सृष्टि कही गयी है। तैत्तिरीय आरण्यक में असत् से सत् की उत्पत्ति मानी गयी है। 'आत्मा' ने बिना किसी की सहायता से आकाश, वायु, अग्नि आदि सभी पदार्थों को उत्पन्न किया। ऐतरेय आरण्यक ने कहा है कि सभी पदार्थों में मनुष्य की ही ऐसी सृष्टि हुई, जिसमें 'आत्मा' की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है, अतएव सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य में ही उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि उत्पन्न होने

ब्राह्मण तथा आरण्यक में सृष्टि-विचार

मनुष्य में ही आत्मा की अभिव्यक्ति

---

[1] २-६-१।
[2] शतपथब्राह्मण, ७-१-४-१७, २३; ७-१-२-१, ६; ८-१-१-२३।
[3] निरुक्त, ४-१९-९।
[4] तैत्तिरीय आरण्यक, १-२३ सायणभाष्य।

वाला जीव पिता के शरीर में 'शुक्र' के रूप में वर्तमान है। जिस समय पिता उस बीज-रूप 'शुक्र' को माता के गर्भ में रखने की इच्छा करता है, उस समय पिता के समस्त शरीर से एकत्रित होकर वह 'शुक्र' हृदय में आ जाता है। एक प्रकार से पिता ही अपनी स्त्री के उदर में 'शुक्र' के रूप में प्रवेश कर प्रथम बार जन्म लेता है और माता उसकी नौ या दस मास उदर में रक्षा करती है। उसके बाद वह जीव गर्भ से बाहर निकल आता है। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी सृष्टि का वर्णन है।

आरण्यक में पाकज-प्रक्रिया

'तैत्तिरीय आरण्यक' में 'पाकज-प्रक्रिया' का भी वर्णन है।[१] जल में विद्युत्-शक्ति की चर्चा भी आरण्यक में है, 'विद्युत्' जल का एक रूप है।[२] प्रत्यक्ष, आदि प्रमाणों का निरूपण, मृत्यु के अनेक भेद, उनके कारण, आदि भी तैत्तिरीय आरण्यक में विस्तृत रूप में दिये गये हैं। इन्द्रियों के कार्य तथा उनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया का विशेष रूप से वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में है।[३] इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों के समय में भारतीय दर्शन की विचारधारा पूर्ण रूप से लोगों में प्रसिद्ध थी। ज्ञानियों के लिए

दार्शनिक विचार

तो ज्ञान की सभी बातें संहिता से लेकर आरण्यक पर्यन्त श्रौत ग्रन्थों में स्पष्ट रूप में मिलती हैं। उनके लिए क्रमिक विकास की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अज्ञानियों के लिए तो क्रमशः ज्ञान के प्रत्येक स्वरूप का स्वयं अनुभव करना अत्यावश्यक है। 'आत्मा' के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना

आचार पालन का निर्देश

ही तो मुख्य लक्ष्य है। उसके लिए हर तरह से अधिकारी बनना होगा, अन्यथा आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए जिज्ञासु को आचार का पालन भी बहुत कठोर रूप से करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ में भी कहा गया है।[४]

---

[१] १-२।

[२] १-२४-१।

[३] तैत्तिरीय आरण्यक, १-२; १-८; ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ३१८, ३९२; १३९; ३१-३२; १५४, १२ आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज संस्करण।

[४] ऐतरेय ब्राह्मण १-१-६; पृ० १९२; ऐतरेय आरण्यक, पृ० १४४; शतपथ ब्राह्मण, २-५-२-२०; ९-५-१-१६; २-५-२-२०; ऐतरेय ब्राह्मण १८३-८८; १८२-८८; ४१; १५४।

उपनिषदों में दार्शनिक विचार

पहले कहा गया है कि संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रधान रूप से उपासना के ग्रन्थ हैं। ये दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, उपासना भी तो दर्शन का ही अंग है। इसके बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती, फिर ज्ञान का उदय ही नहीं हो सकता है। उपासना और ज्ञान का उदय, अर्थात् आत्मा का दर्शन, इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए कर्मकाण्ड का विचार करते हुए संहिता आदि ग्रन्थों में 'आत्मा' के सम्बन्ध में साक्षात् तथा परम्परारूप में अनेक विषयों का विचार मिलता है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। यही कारण है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थों में उपासना के विचार के साथ-साथ आध्यात्मिक विचार भी मिलते हैं तथा उपनिषदों में 'आत्मा' के विचार के साथ-साथ उपासनाओं का भी विचार हमें मिलता है।

उपासना दर्शन का अंग

वैदिक मंत्रों के चार विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। ये सभी 'श्रुति' कहे जाते हैं और इनकी प्रामाणिकता तथा सत्यता पर सभी को विश्वास है। प्रथम तीन भागों में प्रधानतया स्तुति, यज्ञ एवं उपासना का वर्णन है। गुरु के मुख से कोई उपदेश इन भागों में नहीं है। ज्ञान की बातें साधारण रूप से हैं। इनमें तर्क का कोई स्थान नहीं है। किसी विषय पर तर्क-वितर्क के द्वारा विचार नहीं किया गया है।

वैदिक मन्त्रों के विभाग

उपनिषदों में प्रधान रूप से तर्क का स्थान है। युक्ति के द्वारा 'आत्मा' के स्वरूप का परिचय कराया गया है। उपासना का विचार भी उपनिषदों में है, किन्तु गौण रूप से, तथा वह भी 'आत्मा' के साक्षात्कार करने के लिए है। गुरु-शिष्य के कथनोपकथन के रूप में ज्ञान की बातें सिखायी गयी हैं। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में 'ब्रह्म' और 'आत्मा' पृथक् तत्त्व देख पड़ते हैं, 'ब्रह्म' आधिदैविक तत्त्व मालूम होता है, किन्तु उपनिषदों में ये दोनों तत्त्व अभिन्न दिखाये गये हैं। ब्राह्मण तथा आरण्यक में देवताओं का प्राधान्य है, किन्तु उपनिषदों में 'आत्मा' या 'ब्रह्म-तत्त्व' की प्रधानता है। ब्राह्मण तथा आरण्यक में 'भेद में अभेद' का प्रतिपादन है और उपनिषदों में 'अभेद की साक्षात् अनुभूति' दिखायी गयी है। ब्राह्मण और आरण्यक के विचार के अनुसार लौकिक तथा पारलौकिक अस्थायी सुख और

उपनिषद् की विशेषता

अभेद की साक्षात् अनुभूति

शान्ति मिलती है, उन ग्रन्थों में अद्वितीय परमात्मा का वर्णन है, आभास है, परन्तु सभी बहिरंग की बातें हैं। उपनिषदों में परमात्मा के साक्षात्कार की अनुभूति है, उनके उपदेशों के द्वारा चिरस्थायी परम सुख, शान्ति और परम-अखण्ड-आनन्द का अनुभव होता है और अपने में ही 'आत्मा' का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों का इन ग्रन्थों में निरूपण है।[1]

उपनिषद् शब्द का अर्थ

'उपनिषद्' शब्द 'उप' एवं 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर बना है। 'सद्' धातु का अर्थ है नाश, गति और शिथिल करना। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नि' का अर्थ है 'निश्चयपूर्वक'। वह विद्या, या शास्त्र या विषय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से 'अविद्या' का निश्चित रूप से नाश हो; जो मोक्ष की इच्छा करने वाले को ब्रह्म या विद्या के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे; और जो संसार के बन्धनों को शिथिल कर दे, ये सभी अर्थ 'उपनिषद्' शब्द से निकलते हैं। परन्तु विचार करने पर यह मालूम हो जायगा कि ये सभी अर्थ वस्तुतः एक ही विषय का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन करते हैं।

इसी अर्थ से यह भी स्पष्ट है कि उपनिषदों में 'अविद्या' के नाश के उपाय कहे गये हैं और 'विद्या' या 'परब्रह्म' या 'परमात्मा' के स्वरूप का निरूपण है तथा किस

अविद्यानाश के उपाय

प्रकार उस परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है तथा दुःख की चरम निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, ये सभी बातें उपनिषद् के ध्येय विषय हैं। इसमें शिष्यों को समझाने के लिए युक्तियाँ दी गयी हैं तथा उन्हें उन युक्तियों का प्रामाण्य भी बतलाया गया है। इस से यह भी स्पष्ट है कि उपनिषद् की बातों की शिक्षा देने वाले आचार्य ब्रह्मज्ञानी थे तथा शिष्य ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थे। ये सभी बातें कठोपनिषद् में यमराज एवं नचिकेता के कथोपकथन से स्पष्ट होती हैं।

उपनिषदों के अध्ययन से यह मालूम होता है कि ब्रह्मज्ञान के लिए जितनी शंकाएँ जिस प्रकार के अधिकारियों को होती थीं, उन सभी शंकाओं का समाधान आचार्य

शिष्यों की शंकाओं की निवृत्ति

के मुख से किया गया है। इन शंका-समाधानों में कोई क्रम नहीं है। कभी बहुत ही स्थूल विषयों का प्रतिपादन है और उसके बाद ही बहुत ही सूक्ष्म तत्त्व का विचार है और पुनः किसी अन्य स्थूल भाव को लेकर तत्त्व का विवेचन है। इस प्रकार उपनिषदों में बिना

[1] उमेश मिश्र-हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ९५-९७।

किसी एक विशेष क्रम के तत्त्वों का विचार है। सूक्ष्म उपासनाओं के द्वारा तथा युक्तियों के द्वारा साक्षात् या परम्परा-रूप में अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का विचार उपनिषदों में प्रधान रूप में है। ज्ञान की सभी बातें, स्थूल तथा सूक्ष्म, इन ग्रन्थों में मिलती हैं। बाद के दर्शन-शास्त्रों के जितने रूप हैं उन सबों का मूल तत्त्व उपनिषदों में है। किसी विशेष शास्त्र के समान तत्त्वों के विचारों का वर्गीकरण उपनिषद् में नहीं है। इसीलिए उपनिषद् का कोई भिन्न अपना दर्शन नहीं है। चार्वाक-दर्शन का भी मत उसी प्रकार उपनिषद् में कहा गया है, जिस प्रकार वेदान्त का या शून्यवादी बौद्धों का। यही कारण है कि चार्वाक से लेकर अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादन करने वाले सभी, अपने विचारों के समर्थन के लिए, उपनिषदों के वाक्यों का सहारा लेते हैं। सभी उसे प्रमाण मानते हैं। वास्तव में ज्ञान की बातों की यह खान है।

उपनिषद् में तत्त्वविचार

ऊपर कहा गया है कि आस्तिक तथा नास्तिक सभी अपने-अपने विचार के लिए उपनिषदों को मूल ग्रन्थ मानते हैं। हर प्रकार के विचार इन ग्रन्थों में मिलते हैं। वास्तव में उपनिषदों में भिन्न-भिन्न स्तर से स्थूल और सूक्ष्म रूप में एक ही परम तत्त्व का प्रतिपादन तथा विचार है, इसलिए इनमें सभी प्रकार के विचार हैं। ये विचार यद्यपि बाद में एक प्रकार से दृष्टि-कोण के भेद से परस्पर विरुद्ध मत के होने के कारण परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं, परन्तु उपनिषदों में किसी प्रकार इनमें कोई विरोध नहीं है। किसी एकमत का खण्डन और दूसरे का मण्डन उपनिषदों में नहीं है। सभी तत्त्वों के विचारों के प्रति उपनिषदों का समान आदर है। सभी श्रुति-वाक्य हैं। सभी वाक्यों में एक-सा प्रामाण्य है। हाँ, एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न ज्ञान की विचारधारा भिन्न-भिन्न अधिकारी के लिए है तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से 'आत्मा' के ही स्वरूप का साक्षात् या परम्परा-रूप में प्रतिपादन है। अतः जब श्रुति कहती है—

सभी दर्शनों का मूल

अधिकारभेद का विचार

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति'

अर्थात् इन्हीं भूतों से जड़ पदार्थ से चैतन्य उत्पन्न होता है, स्थूल शरीर ही या इन्द्रिय ही या प्राण ही 'आत्मा' है, मरने के बाद कुछ भी—मैं उनका पुत्र हूँ, मेरा यह खेत है, मेरा यह धन है, मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ, इस प्रकार विशेष संज्ञा, अर्थात् भेद नहीं रहता है,[1]

[1] बृहदारण्यक उपनिषद्, २-४-१२

इत्यादि, तब यह समझना उचित है कि ये बातें स्थूलतम दृष्टिकोण से देखी हुई हैं। पुनः जब श्रुति कहती है कि यद्यपि 'आत्मा' में 'ज्ञान' नहीं, 'चैतन्य' नहीं; 'चैतन्य' आत्मा का आगन्तुक धर्म है, अतएव एक प्रकार से 'आत्मा' जड़ तो है, किन्तु फिर भी यह पृथ्वी आदि अन्य द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है; तत्पश्चात् पुनः उपनिषदों में ही कहा गया है कि आत्मा चैतन्य-स्वरूप है, किन्तु उसमें कोई आनन्द नहीं है, इत्यादि, तब यह समझना उचित है कि ये सभी परस्पर विरुद्ध मत के प्रतिपादन नहीं हैं, प्रत्युत उसी एक अद्वितीय, अखण्ड परब्रह्म का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार हैं। इस प्रकार उपनिषदों में दार्शनिक विचारधारा व्यापक रूप में वर्तमान है।

उपनिषदों का ध्येय

ऊपर यह कहा गया है कि उपनिषदों का कोई अपना दर्शन नहीं है, कोई विशेष प्रतिपाद्य विषय नहीं, सभी विचारों के प्रति समान आदर है, तथापि विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि दर्शन-शास्त्र का चरम लक्ष्य, अर्थात् अद्वितीय अखण्ड सत्, चित्, आनन्द परमात्मा का विचार या साक्षात्कार ही उपनिषदों का चरम ध्येय है। वास्तव में ज्ञान तथा विज्ञान का परम लक्ष्य तो वही एक अखण्ड परम तत्त्व है, वही जीवन का भी मुख्य लक्ष्य है और उसी की प्राप्ति की अनुभूति से दुःख की चरम निवृत्ति होती है, जिज्ञासा की पूर्त्ति होती है तथा जन्म-मरण से सदा के लिए मुक्ति मिलती है। यहीं भेद में अभेद की, जीवात्मा में परमात्मा की, साक्षात् अनुभूति होती है।

उपनिषदों का वर्गीकरण

वेदों की परम्परा

ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थों की तरह ये उपनिषदें भी भिन्न-भिन्न संहिताओं से सम्बद्ध हैं। कारण यह है कि यद्यपि 'वेद' एक है, किन्तु क्रिया के भेद से ये चार भिन्न-भिन्न प्रकार के हुए। प्रत्येक मन्त्र का उसी आधार पर संकलन हुआ और उसके आचार्य भी भिन्न-भिन्न हुए। शिष्य लोग भी भिन्न-भिन्न हुए, प्रत्येक 'वेद' की एक प्रकार से अपनी स्वतन्त्र परम्परा चल पड़ी। प्रत्येक परम्परा में भिन्न-भिन्न विचार, व्यवहार, आचार, उपासना, सभी बातें भिन्न-भिन्न हो गयीं। यद्यपि परम लक्ष्य एक ही है, वहां तक जाने का मार्ग भी एक ही है, तथापि उस परब्रह्म परमात्मा के अनन्त रूप होने के कारण अनन्त प्रकार से भक्तों की दृष्टि उन पर पड़ी। अतएव दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक, हर बात में ऋग्वेदीय, सामवेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय विभाग हो गये। न केवल कर्मकाण्ड में, अपितु ज्ञानकाण्ड में भी दृष्टि-भेद हो गये। अतएव

ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थों की तरह ऋग्वेद के आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के विचार वाली उपनिषदें 'ऋग्वेदीय उपनिषद्' कही जाने लगीं, इसी प्रकार सामवेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय उपनिषदों का भी वर्गीकरण हो गया।

वेदों की उपनिषदें

इसी परम्परा के अनुसार 'ऐतरेय' तथा 'कौषीतकि' ऋग्वेदीय उपनिषद् हैं; 'तलवकार' या 'केन' तथा 'छान्दोग्य' सामवेदीय; 'संहिती', 'वारुणी', 'महानारायण', 'कठ', 'श्वेताश्वतर' तथा 'मैत्रायणी' कृष्ण-यजुर्वेदीय; 'बृहदारण्यक' तथा 'ईशावास्य' शुक्ल-यजुर्वेदीय उपनिषद् हैं। अथर्ववेद की लगभग सत्ताईस उपनिषदें हैं, जिन में 'मुण्डक', 'प्रश्न', 'माण्डूक्य' तथा 'जाबाल' विशेष महत्त्व की हैं। परम्परा से अनेक उपनिषदों के होने पर भी, केवल 'ईश', 'केन', 'कठ', 'प्रश्न', 'मुंड', 'मांडूक्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय', 'छान्दोग्य' तथा 'बृहदारण्यक' ये ही दस मुख्य एवं प्राचीन उपनिषदें मानी जाती हैं। सब में साक्षात् या परम्परा से एक मात्र तत्त्व 'ब्रह्म' का प्रधान रूप से वर्णन है।

इसी प्रकरण में इन दस उपनिषदों का सारांश अति संक्षेप में कह देना अनुपयुक्त न होगा—

ईश

'ईश' उपनिषद् का पूरा नाम 'ईशावास्य' है। प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ के अक्षरों को लेकर ही यह नामकरण किया गया है। इसमें केवल १८ मन्त्र हैं। दर्शन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ज्ञानोपार्जन के साथ-साथ कर्म करने की भी आवश्यकता है, इस विषय का प्रतिपादन 'ईश' में है। यही मत 'ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वाद' के नाम से बाद को प्रसिद्ध हुआ है। वस्तुतः भारतीय दर्शन में इसी विचार का प्राधान्य है।

केन

'केन' उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का वर्णन है। ब्रह्म का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता। ब्रह्म की शक्ति से सभी देवताओं में शक्ति आती है। ब्रह्म ही सर्वव्यापी एक मात्र तत्त्व है।

कठ

'कठ' बहुत रोचक तथा महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। यमराज तथा नचिकेता के संवाद से आत्म-ज्ञान की महिमा, संसार के विषयों की तुच्छता, आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शिष्य की परीक्षा तथा अन्त में आत्म-ज्ञान का उपदेश एवं आत्मा के स्वरूप का निरूपण, ये सभी विषय बहुत ही रोचक तथा सरल मन्त्रों के द्वारा इसमें वर्णित हैं। किसी न किसी रूप में इसके बहुत-से मन्त्र 'गीता' में पाये जाते हैं।

'प्रश्न' उपनिषद् गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में है। मुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणी, कौसल्य, वैदर्भी और कबन्धी, ये ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु पिप्पलाद ऋषि के समीप हाथ में समिधा लेकर उपस्थित होते हैं और उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं, जो परम्परा से या साक्षात् ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में हैं। आचार्य सभी प्रश्नों का क्रमशः उत्तर देकर शिष्यों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं।

प्रश्न

'मुण्ड' उपनिषद् को 'मुण्डक' भी कहते हैं। इसके मन्त्र बहुत रोचक और सरल हैं। इसमें 'सप्रपंच ब्रह्म' का निरूपण है। अनेक लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा ब्रह्म के सर्वव्यापी होने का वर्णन इस उपनिषद् में बहुत ही युक्तिपूर्ण और मनोहर है।

मुण्ड

'माण्डूक्य' सब से छोटी उपनिषद् है। इसमें मनुष्य की चारों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय) का वर्णन है। समस्त जगत् 'प्रणव' से ही अभिव्यक्त होता है। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान, सभी इसी 'ॐकार' के रूप हैं। आत्मा के चार पाद हैं, जिनके नाम— 'जागरितस्थान', 'स्वप्नस्थान', 'सुषुप्तस्थान' तथा 'सर्वप्रपञ्चोपशमस्थान' हैं। प्रथम में 'प्रज्ञा' बहिर्मुखी है, दूसरे में अन्तर्मुखी तथा तीसरे में एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दमय है और चेतोमुखी है। चतुर्थ का वर्णन करना असम्भव है। न अन्तर्मुखी, न बहिर्मुखी, न दोनों, न प्रज्ञानघन और न प्रज्ञा है एवं न अप्रज्ञा है। इस अवस्था में सभी शान्त हैं। इसे ही शिवम्, अद्वैतम्, आदि शब्दों के द्वारा वर्णित किया गया है।

माण्डूक्य

इस 'उपनिषद्' का महत्त्व विशेष रूप से शंकराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य के द्वारा इस पर लिखी गयी कारिकाओं के कारण है। कहा जाता है कि गौडपादाचार्य के अद्वैत वेदांत का सारांश गौडपाद ने अपनी इन कारिकाओं में बहुत ही सुन्दर रूप में लिखा है। शंकराचार्य ने कारिका के भाष्य के आरंभ में लिखा है—**वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतम् प्रकरण-चतुष्टयमिदम्।** इससे यह मालूम होता है कि गौडपादकारिका भिन्न-भिन्न समय पर वेदान्त-सम्प्रदाय के आचार्यों के द्वारा लिखी कारिकाओं का एक संग्रहग्रन्थ है, इसीलिए इन कारिकाओं में पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। कतिपय विद्वानों का कहना है कि गौडपाद ने बौद्ध मत से प्रभावित होकर इन कारिकाओं को लिखा है, और यही कारण है कि उनका अनुकरण करने वाले शंकराचार्य को भी कुछ लोगों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। अद्वैत वेदान्त के आचार्य तथा बौद्ध मत के आचार्य,

गौडपाद-कारिका

सबों ने उपनिषदों से ही मौलिक तत्त्व का ग्रहण किया है। शून्यवाद तथा अद्वैतवाद, दोनों के स्वरूप में ज्ञान का वास्तविक भेद नहीं के बराबर है। दोनों ने ही चरम तत्त्व का प्रतिपादन किया है। अतएव इनमें शाब्दिक तथा आर्थिक अनेक प्रकार के साम्य मालूम होते हैं। परन्तु इसमें किसी एक का प्रभाव किसी दूसरे पर कहना उचित नहीं है। वस्तुतः दोनों पर उपनिषद् का ही प्रभाव है।

तैत्तिरीय

'तैत्तिरीय' उपनिषद् भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस के तीन खंड हैं—पहला 'शिक्षाध्याय' है। इसमें वर्ण तथा स्वर के सम्बन्ध में उपदेश है। पुनः ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है और वेद की शिक्षा के अन्त में 'अन्तेवासी' शिष्य को आचार्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपदेश इसमें है। प्रत्येक विद्यार्थी तथा आचार्य को इन पंक्तियों को कण्ठस्थ रखना चाहिए तथा अपने जीवन में इसके उपदेश को कार्य में परिणत करना चाहिए। ब्रह्मज्ञान को पाप्त करने के पहले नियमपूर्वक श्रौत-स्मार्त कर्मों को अवश्य करना चाहिए। यही उपदेश प्रत्येक स्नातक को कण्ठस्थ रखना आवश्यक है। दूसरा खण्ड 'ब्रह्मानन्दवल्ली' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है। पंच कोषों का इस खंड में वर्णन है। इस के बहुत-से मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं तथा शास्त्र में समय-समय पर उल्लिखित होते हैं। इन्हें भी कण्ठस्थ करना आवश्यक है। तीसरा खण्ड है—'भृगुवल्ली'। भृगु के पिता वरुण ने अपने पुत्र को उदाहरणों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का जो उपदेश दिया है, वही इस खण्ड का विषय है।

ऐतरेय

'ऐतरेय' उपनिषद् के प्रारम्भ में सृष्टि का वर्णन है कि पहले यही एक आत्मा थी, और कुछ नहीं था। इसी की इच्छा से लोकों की सृष्टि हुई एवं क्रमशः अन्य वस्तुओं की भी सृष्टि हुई। दूसरे अध्याय में मनुष्य के जन्म के क्रम का निरूपण है कि किस प्रकार माता के गर्भ में जब जीव प्रवेश करता है तभी उसका प्रथम जन्म, गर्भ से बाहर आना उसका दूसरा जन्म तथा अपनी सन्तान को घर का भार सौंप कर जब वृद्धावस्था में वह मरता है, तो उसका तीसरा जन्म होता है। तीसरे अध्याय में आत्मा के ज्ञान का विचार है और विज्ञान के भिन्न-भिन्न रूपों का भी निरूपण है, जिससे ज्ञान के मार्ग का क्रमिक परिचय लोगों को होता है।

'छान्दोग्य' एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा बड़ी उपनिषद् है। इसमें सूक्ष्म उपासना के द्वारा ब्रह्म के सर्वव्यापी होने का उपदेश प्रारम्भ में है। अनेक दृष्टान्तों

के द्वारा, छोटी-छोटी कहानियों का उल्लेख कर ज्ञान की महिमा का इसमें निरूपण है। ब्रह्मज्ञान के स्वरूप का वास्तविक परिचय इसमें दिया गया है। महावाक्यों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करने की विधि का वर्णन युक्ति तथा अनुभव के आधार पर बड़ी रोचकता के साथ इसमें किया गया है। इस उपनिषद् के पूर्व भी भारत में अनेक विद्याएँ थीं, जिनका उल्लेख नारद तथा सनत्कुमार के संवाद में हमें प्राप्त होता है। नारद ने कहा—

छान्दोग्य

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि'। (छा० उ० ७. १. २)

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण जो पाँचवाँ वेद है, वेदों का वेद, अर्थात् व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, उत्पातज्ञानशास्त्र, महाकाल आदि निधियों के ज्ञान का शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदों की विद्या, अर्थात् शिक्षा-कल्प-छन्दस्-चिति, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुडशास्त्र, अर्थात् सर्पविद्या, गान्धर्व, नृत्य-गीत-वाद्य-शिल्पादि विज्ञान, इतने शास्त्र नारद ने पढ़े थे, अर्थात् छान्दोग्य के पूर्व उपर्युक्त शास्त्र भारत में पढ़े जाते थे।

इस उपनिषद् के बहुत-से मन्त्र इतने प्रसिद्ध हैं कि वे वेदान्त के सभी ग्रन्थों में अद्वैत के प्रतिपादन के लिए उद्धृत किये जाते हैं। बृहदारण्यक के समान यह भी बहुत ही प्राचीन तथा प्रामाणिक उपनिषद् है।

'बृहदारण्यक' सबसे बड़ी उपनिषद् है। अरण्य में कहा गया इसलिए 'आरण्यक' और बहुत बड़ा होने के कारण 'बृहत्' कहा गया है। सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण भी है। आरम्भ में कर्मकाण्ड का विचार तथा उपासना के सूक्ष्म रूप का वर्णन है, पश्चात् सृष्टि के क्रम का भी निरूपण इसमें है। अनेक लौकिक कहानियों तथा दृष्टान्तों के द्वारा आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तथा उसके सर्वव्यापी होने का निरूपण इसमें है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण भाग 'याज्ञवल्क्य-कांड' है, जिसमें याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री को ज्ञान का जो उपदेश दिया है, उसका वर्णन है। इसमें न केवल अद्वैत का ही निरूपण है, किन्तु चार्वाक-दर्शन से लेकर ज्ञान के सभी सोपानों का भी विशेष वर्णन है। इतना महत्त्वपूर्ण भाग किसी भी अन्य उपनिषद् में नहीं है। ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का भी प्रतिपादन इसी उपनिषद् में पहले-पहल

बृहदारण्यक

मिलता है। विदेह जनक की सभा में याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता का परिचय इसी उपनिषद् में हम पाते हैं। अनेक आचार्यों को तथा जिज्ञासुओं को दिये गये उपदेशों का सुन्दर वर्णन भी इस उपनिषद् में है।

इसमें गायत्री मंत्र की महत्ता का विशेष विचार है। सभी वैदिक छन्दों में 'गायत्री' प्रधान है। एक मात्र यही अपने उपासकों के प्राण को त्राण करने में समर्थ है। सभी छन्दों का यही प्राण है यही आत्मा है। इसी की उपासना से उच्चतम ब्राह्मणकुल में लोग जन्म लेते हैं। गायत्री की उपासना से ब्रह्मतेज प्राप्त होता है।

उपनिषदों का रचनाकाल

उपनिषत्काल

उपनिषदों की रचना कब हुई तथा किस क्रम से हुई, यह कहना अत्यन्त कठिन है। किसी आधुनिक अति तुच्छ दार्शनिक मत का वर्गीकरण तो उपनिषद् में है नहीं तथा अन्य कोई आधुनिक ऐतिहासिक अन्तरंग प्रमाण भी नहीं है जिस के आधार पर रचनाकाल का निर्णय किया जा सके। भारतीय आस्तिक लोगों का कहना है कि वेद या श्रुति की संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक विभागों के समान उपनिषद् भी तो वेद का एक विभाग है। अतएव उन तीनों के समान ही यह भी प्राचीनतम विचारात्मक तथा उपदेशात्मक ग्रन्थ है। यही कारण है कि उन्हीं के समान इसे भी 'श्रुति' कहा जाता है और उतनी ही प्रामाणिकता इस में है, जितनी संहिता आदि में है। इस में कोई सन्देह नहीं कि उपनिषदों में जो तत्त्व की बातें हैं, वे तो त्रैकालिक सत्य हैं तथा उनके प्रवक्ता ऋषि लोग जिनके नाम इन में हैं, वे सब आधुनिक ऐतिहासिक काल के बहुत पूर्व के हैं। कोई तत्कालीन बहिरंग भी प्रमाण नहीं है जिससे उनके काल के निर्णय के लिए कुछ सहायता मिल सके। अतएव उपनिषद् के काल का निर्णय करने में यथार्थ में हम समर्थ नहीं हैं। बहुत-से पाश्चात्य तथा यहाँ के भी विद्वानों ने इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान किया है, किन्तु वह प्रामाणिक नहीं और न सर्वमान्य ही है। हाँ, बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषदें बौद्ध काल के पूर्व की अवश्य हैं। बुद्ध का जन्म ईसा के पूर्व छठी सदी में माना जाता है। अतएव ये उपनिषदें छठी सदी के पूर्व की अवश्य हैं। इन उपनिषदों में 'छान्दोग्य,' 'बृहदारण्यक', 'केन', 'ऐतरेय,' 'तैत्तिरीय', 'कौषीतकि' तथा 'कठ' को विद्वानों ने प्राचीनतम स्वीकार किया है।

यहाँ एक बात और कही जा सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता को आस्तिक भारतीय परम्परा में 'उपनिषद्' कहते हैं। 'गीता' महाभारत का अंश है। संभवतः महाभारत के रचनाकाल में 'उपनिषद्' शब्द का पूर्ण व्यवहार रहा होगा। अतएव महाभारत से पूर्व ही उपनिषदों की रचना हुई होगी। महाभारत के युद्ध का समय ईसा से पूर्व तीन हजार वर्ष के लगभग कतिपय विद्वानों ने निश्चय किया है। इस स्थिति में तो उपनिषद् का काल अवश्य तीन हजार वर्ष ईसा से पूर्व होगा, ऐसा कहा जा सकता है। इसी के आधार पर आरण्यक, ब्राह्मण तथा संहिताओं का भी काल-निर्णय किसी प्रकार किया जा सकता है।

महाभारत से पूर्व उपनिषदों की रचना

परन्तु इसी के साथ-साथ यह भी विचार करना आवश्यक है कि वेद के ये चारों अंग 'श्रुति' कहे जाते हैं और प्रारम्भ में हजारों वर्षों तक लिखित नहीं थे। गुरु-शिष्य की परम्परा में ये सुरक्षित थे। इनके पाठों को शुद्ध रखने के लिए अनेक प्रकार के यत्न विद्वानों ने किये थे, यह भी प्रमाणसिद्ध है। अतएव यद्यपि संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त सभी उसी अनादि काल में ऋषियों के द्वारा प्रवर्त्तित हुए होंगे, तथापि ये लिपिबद्ध बहुत बाद में हुए हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। फिर भी बौद्ध काल के पूर्व से ही इनका लिपिबद्ध होना आरम्भ हो गया होगा, ऐसा कहा जा सकता है।

श्रुतियों का लिपिबद्ध होना

उपनिषद् के विषय

'उपनिषद्' वेद के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं। उपासना के लिए भी किसी-किसी उपनिषद् में उपदेश है, किन्तु वह ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का परिचय देने के लिए है। जैसा पहले कहा गया है, उपनिषदों में बिना किसी क्रम के दार्शनिक विचार भरे हैं। इन्हीं को मूल मान कर बाद के ज्ञानियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से दार्शनिक शास्त्र बनाये। 'वादरायण-सूत्रों' का तो आधार साक्षात् उपनिषद् ही है। प्रत्येक सूत्र एक-एक उपनिषद्-वाक्य का संक्षिप्त रूप है। यही कारण है कि वादरायण-सूत्र, 'वेदान्त-सूत्र' तथा उसके आधार पर रचा गया शास्त्र 'वेदान्त-दर्शन' कहलाता है और इसी लिए उपनिषद् को भी 'वेदान्त' कहते हैं। चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन का भी मूल तत्त्व उपनिषदों में है। उन्हीं के आधार पर अपने-अपने दार्शनिक विचारों को विद्वानों ने पल्लवित किया, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भिन्न-भिन्न दर्शन ज्ञान के भिन्न-भिन्न सोपान हैं और उपनिषद्

दार्शनिक सूत्रों का मूल

ज्ञान का भण्डार है। अतएव जितने प्रसिद्ध दर्शन हैं एवं अन्य भी जो बनाये जा सकते हैं, सभी के मूल तत्त्व इन्हीं उपनिषदों में बिखरे हुए मिल सकते हैं।

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' है। संहिता से लेकर आरण्यक पर्यन्त जो 'ब्रह्म' आत्मा से भिन्न रूप में प्रतिपादित है, वह उपनिषद् में उससे अभिन्न माना गया है।[1] वास्तव में इन दोनों के अभिन्न होने से अर्थात् दैवी तथा आध्यात्मिक, इन दोनों शक्तियों के एक होने से, 'आत्मा' के अतिरिक्त विश्व में अब और कोई सत्-पदार्थ ही नहीं रहा। अब यह तत्त्व पूर्ण है। अतएव द्रष्टा और दृश्य दोनों में अब कोई भेद नहीं रहा। 'आत्मन्' ही सर्वव्यापी है और विश्व के सभी पदार्थ इसी के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। इससे बहिर्भूत कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि 'बृहदारण्यक उपनिषद्' ने कहा है[2]—

उपनिषद् का मुख्य विषय

'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः इत्यादि।'

इसी से यह स्पष्ट है कि संसार के जितने स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं, सभी 'आत्मा' या 'ब्रह्म' के ही रूप हैं। जितनी वस्तुएँ संसार में हैं, सभी का सार 'आत्मा' ही है। उपनिषदों में सब से विशेष महत्त्व 'आत्मा' को ही दिया गया है। कारण यह है कि इसके समान प्रिय वस्तु दूसरी नहीं है।[3]

आत्मा सब से प्रिय तत्त्व

इस प्रकार के 'ब्रह्म' या 'आत्मा' का लक्षण देना एक प्रकार से असम्भव है, तथापि ऋषियों ने अनेक प्रकार से इसके स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में किया है। यही 'आत्मा' या ब्रह्म प्राण, अपान, व्यान, उदान, इन वायुओं के रूप में हमारे शरीर की रक्षा करता है। यही 'आत्मा' है, जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मरण से हमारा उद्धार करता है। इसी के ज्ञान से पुत्र की, धन की तथा स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति की इच्छा से विरक्त होकर मनुष्य परिव्राजक या संन्यासी का जीवन व्यतीत करता है।[4] आत्मा पूर्ण और अखण्ड है। यही कारण है कि सत्-असत्, छोटा-बड़ा, समीप-दूर, अन्तः-बहिः, आदि सभी विरुद्ध धर्मों

आत्मा का स्वरूप

---

[1] बृहदारण्यक, २-५-१९। [2] वही ४.४.५।
[3] बृहदारण्यक, ४-५-६। [4] वही, ४-५।

का यह आधार है। इसके पूर्ण और अखण्ड होने के ही कारण समान या विरुद्ध धर्मों का इसमें कोई भी विचार नहीं हो सकता। अतएव सभी दर्शनकारों ने इसी परम तत्त्व को विभिन्न रूप में अपना-अपना मूल तत्त्व मान कर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रों की रचना की है।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान सब से पहले क्षत्रियों में था और बाद को ब्राह्मणों ने इसे प्राप्त किया। इससे यह स्पष्ट है कि कोई भी इस ब्रह्म को जान सकता है, यदि वह सर्वथा अपनी तपस्या के अनुसार इस को पाने का अधिकारी है। वस्तुतः यह 'आत्मा' वेद के अध्ययन द्वारा प्राप्त नहीं होती और न अच्छी धारणाशक्ति के ही द्वारा। साधक जिस 'आत्मा' का वरण करता है, उस 'आत्मा' से ही यह प्राप्त की जा सकती है। उसके प्रति यह 'आत्मा' अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति कर देती है। यही उपनिषद् में कहा गया है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥"[1]

यह आत्मा न तो प्रवचन से, न मेधा से और न बहुत अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। जिस किसी को यह वरण करती है उसे ही यह मिलती है। उसे ही, अपने शरीर का ही यह आत्मा वरण करती है। यह परमात्मा का अपना ही अनुग्रह है। परन्तु 'आत्मा' का ज्ञान अन्तःकरण की परिशुद्धि के ही द्वारा प्राप्त होता है।[2]

ब्रह्म के रूप

'ब्रह्म' के मूर्त और अमूर्त ये दो रूप हैं। यह मर्त्य और अमर्त्य, स्थिर तथा अस्थिर (यत्), सत् (स्वलक्षण) तथा त्यत् (अवर्णनीय) है।[3] इसे ही 'परमात्मा' भी कहते हैं। यही 'परमात्मा', अविद्या के कारण बन्धन में पड़कर 'जीवात्मा' कहलाता है, पूर्व-जन्म के कर्म के अनुसार सुख और दुःख के भोग के लिए इस संसार में आता है और जन्म-मरण से युक्त रहता है। संसार में आने के समय अपने भोग के अनुकूल सर्वांगपूर्ण स्थूल शरीर को

जीवात्मा का स्वरूप

धारण करता है। अपने भोग के अनुकूल रहन-सहन, खाद्य और पेय आदि सभी आवश्यक सामग्री से युक्त होकर ही आता है। यह इस लोक और परलोक में घूमता है और स्वप्नावस्था में दोनों लोकों का एक साथ ज्ञान प्राप्त करता है। स्वप्न में भी इसे सुख और दुःख का अनुभव

---

[1] कठोपनिषद्, १. २. २३। [2] बृहदारण्यक, ४-४-१९।
[3] बृहदारण्यक, २-३-१।

होता है। स्वप्न में यह स्वप्न के विषयों को देखने के योग्य एक दूसरा शरीर धारण कर लेता है, जो इसके स्थूल शरीर से भिन्न है। उपनिषद् का कहना है कि यह जीव अपने भोग के लिए स्वप्न में स्वयं नवीन-नवीन विषयों की सृष्टि कर लेता है।[1] परन्तु वस्तुतः स्वप्न की भी सृष्टि ब्रह्म की ही है। जीवात्मा और ब्रह्म तो एक ही है।

स्वप्नावस्था

जिस प्रकार स्थूल शरीर के अंगों की शक्ति के क्षीण होने पर जाग्रत् अवस्था से स्वप्नावस्था में जीव प्रवेश करता है, उसी प्रकार अपने जर्जर स्थूल शरीर को छोड़ कर अविद्या के प्रभाव से वह दूसरा नूतन शरीर धारण करता है। इसी शरीर के छोड़ने को 'मरण' कहते हैं। जीव के मरण के समय की अवस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहती है कि जीव दुर्बल और संज्ञारहित हो जाता है और हृदय में अवस्थित होता है। सबसे पहले उसका 'रूप' का ज्ञान नष्ट हो जाता है। अन्य इन्द्रियों के साथ-साथ अन्तःकरण भी शिथिल हो जाता है। तब हृदय के ऊपर का भाग प्रकाशित हो उठता है। उसी प्रकाश के सहारे जीव अपने कर्म के प्रभाव के अनुसार शरीर के भिन्न-भिन्न छिद्रों से बाहर निकल पड़ता है। उसके साथ-साथ उसकी 'जीवनी शक्ति' भी रहती है। उस समय भी जीव में 'वासना' स्पष्ट रूप से भासित होती है। इसी 'वासना' के प्रभाव से जीव के भावी दूसरे जन्म के स्वरूप का निर्णय होता है।[2]

मरणकाल में जीव का स्वरूप

वासना से दूसरे जन्म का निर्णय

इस समय जीव ने, जैसा अपने जीवन में, कर्म किया है, उसी के अनुसार उसका भविष्य जीवन भी होगा। अतएव इस स्वरूप को अच्छा बनाने के लिए जीवित अवस्था में उसे शुभ कर्म करना चाहिए, ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए, एवं उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[3] इस प्रकार अच्छे कर्म करने से मरने पर जीव अच्छे स्वरूप को, अच्छे देश को तथा अच्छे शरीर को प्राप्त करता है। इसी से यह स्पष्ट है कि जीव इस लोक से परलोक जाता है और अपने कर्म के अनुसार सर्वत्र भोग करता है। तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से

कर्मानुसार भविष्य जीवन

---

[1] 'स्वयं निर्माय'—बृहदारण्यक, ४-३-९।

[2] बृहदारण्यक, ४-४-२। [3] शांकरभाष्य—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४-४-२।

तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति जीवित अवस्था में ही यदि किसी जीव को हो जाय, तो उसके ज्ञान के प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, क्रियमाण कर्म का नाश हो जाता है एवं सञ्चित कर्म भी शक्तिहीन हो जाता है। यह 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था है।

जीवन्मुक्ति

इस अवस्था में प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीव का स्थूल शरीर स्थिर रहता है और पश्चात् प्रारब्ध का नाश हो जाने पर शरीर का पतन हो जाता है और जीवात्मा अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है। उसके बाद चरम पद की प्राप्ति होती है।[1]

सृष्टि की प्रक्रिया भी उपनिषद् में वर्णित है। उसके अनुसार सृष्टि के आदि में कुछ भी नहीं था। केवल मृत्यु थी। बाद को मन, जल, तेजस्, पृथ्वी और

उपनिषद् में सृष्टि-प्रक्रिया

अन्त में प्रजापति की सृष्टि हुई। इसके पश्चात् सुर और असुर हुए।[2] एक दूसरे स्थान में यह भी कहा गया है कि सबसे प्रथम पुरुष का और बाद को स्त्री का स्वरूप उत्पन्न हुआ और इन दोनों से विश्व की सृष्टि हुई।[3] इसी बात को **'द्यावा-भूमि जनयन् देव एकः'** इस मन्त्र में कहा गया है। आकाश से सृष्टि होती है और उसी में जगत् का लय भी होता है।[4] इस प्रकार अनेक रूपों में सृष्टि का वर्णन है। सभी के अध्ययन से यही मालूम होता है कि सब से पहले एक अव्यक्त रूप था और और उसी से व्यक्त रूप में जगत् की सृष्टि हुई है। यह अव्यक्त रूप ही तो 'परब्रह्म' है और समस्त जगत् इसी से उत्पन्न होता है एवं अन्त में इसी में लय को प्राप्त करता है। यही उपनिषद् में कहा गया है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'[5]

अतएव ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों कारण है।

उपनिषदों में भी कर्म की गति का सविस्तार वर्णन है। 'देवयान' तथा

उपनिषद् में कर्म विचार

'पितृयान' मार्ग का वर्णन है। पुण्य-कर्मों से अच्छी योनि में तथा पाप-कर्मों से कुत्सित योनि में जीव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

आत्मा के साक्षात्कार के लिए तथा ब्रह्मज्ञान के लिए जीव को कायिक, वाचिक

---

[1] **उमेश मिश्र—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ११२-११५।**

[2] **बृहदारण्यक, १-३-१; छान्दोग्य, २-१-१-९।**

[3] **बृहदारण्यक, १-४-१।** [4] **छान्दोग्य, १-९-१।** [5] **तैत्तिरीय उपनिषद् ३-१।**

तथा मानसिक संयम करना अत्यावश्यक है। सत्य का पालन करना, किसी की वस्तु का अपहरण न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना, हिंसा से विरक्त रहना, माता, पिता तथा अतिथियों का देवता के समान आदर करना, निन्दनीय कर्मों को न करना, संसार के विषयों को ब्रह्मज्ञान का शत्रु समझना, इत्यादि कर्मों के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए अपने अन्तःकरण को हर तरह से पवित्र रखना अत्यावश्यक है।

आत्मसाक्षात्कार के उपाय

कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुद्धि के द्वारा 'प्रत्यक्-चेतन' जो अपने में 'अहम्'-भाव के रूप में है, उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए 'निदिध्यासन' की आवश्यकता है। अतएव योगशास्त्र के साधन की प्राप्ति करनी चाहिए। इसके लिए सब से पहले 'श्रद्धा' होनी चाहिए, पश्चात् गुरु के प्रति आत्मसमर्पण आवश्यक है। इसी के साथ-साथ 'अहम्भाव' की पराजय होती है और इसके अनन्तर ही ज्ञान का उदय होता है। ऐसा होने पर ही **'तत् त्वम् असि'**[1] का उपदेश जिज्ञासु को आचार्य देते हैं। अन्तःकरण शुद्ध होने के कारण 'जहत्' और 'अजहत्' लक्षणाओं के द्वारा साधक को 'तत्' (आत्मा) और त्वम् (जीवात्मा) के ऐक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् साधक अपने ही शरीर में **'अहम् ब्रह्म अस्मि'**[2] या **'सः अहम्'** आदि उपनिषद्-महावाक्य के उपदेश को गुरुमुख से सुनकर स्वयं अपनी ही आत्मा में 'ब्रह्म' का अनुभव करने लगता है। इस वाक्य के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर जीव **'अयम् आत्मा ब्रह्म'**[3] इस महावाक्य का अनुभव करने का अभ्यास करता है।

योगाभ्यास की अपेक्षा

आत्मज्ञान की अनुभूति-प्रक्रिया

इस अवस्था में पहुँच कर साधक को क्रमशः 'तत्' 'त्वं', 'अहम्' और 'अयम्' इन सभी भावनाओं का अपनी आत्मा के साथ अपने ही शरीर के भीतर ऐक्य का अनुभव हो जाता है। इस प्रकार जीव अपने स्वरूप का साक्षात्कार आत्मा के रूप

---

[1] छान्दोग्य, ६-८-७।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद्, १-४-१०।

[3] बृहदारण्यक उपनिषद्, २-५-१९।

में करने के अनन्तर, **'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति'**[1] इस उपनिषद् महावाक्य के अनुसार, वह साधक सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[2] की अनुभूति स्वयं कर लेता है। यही उपनिषदों का रहस्य है, उपदेश है तथा चरम लक्ष्य है। इसी की अपरोक्षानुभूति से साधक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को प्राप्त करता है। वह बाद में संसार-बन्धन से मुक्ति पाकर जन्म-मरण के पाश से सब दिन के लिए छुटकारा पाकर उस अनामय, सच्चिदानन्द परात्पर परम पद को प्राप्त कर इस संसार में पुनः नहीं आता।[3] इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्व एक ही है और उसी से समस्त संसार की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और पुनः अन्त में उसी में लीन हो जाती हैं। इसीलिए श्रुति ने कहा है—**'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**।[4]

---

[1] पञ्चब्रह्मोपनिषद् २९-३०।

[2] छान्दोग्य, ३-१४-१।

[3] गीता, ८-२१; १५-६।

[4] छान्दोग्य, ६-१-४-६।

तृतीय परिच्छेद

भगवद्गीता में दार्शनिक विचार

उपनिषदों के द्वारा ज्ञान का विस्तार होता था। अधिकारी लोग इनके उपदेशों को आचार्यों के मुख से सुनकर उन पर तर्क-वितर्क के द्वारा मनन कर परम पद तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। किन्तु उपनिषद् के मन्त्र रहस्यपूर्ण हैं, इनके अर्थ को सभी सुगमता से नहीं समझ सकते और न तो सभी इन उपदेशों के समझने के पूर्ण अधिकारी ही हैं। इसलिए इनसे आपामर जनता को विशेष लाभ नहीं होता। परन्तु ज्ञान की प्राप्ति से कोई वञ्चित रह जाय, यह इष्ट नहीं है। इसलिए सरल रूप में उपनिषद् की ज्ञान की बातें 'गीता' के उपदेशों के द्वारा जनता को प्राप्त होती हैं।

उपक्रम

उपनिषदों के उपदेशों के प्रचार के पश्चात् महाभारत का युद्ध हुआ। पाण्डवों के मुख्य योद्धा अर्जुन थे। कृष्ण भगवान् अर्जुन के रथ के सारथी थे। अर्जुन बहुत ही पराक्रमी थे। इनके समान वीर दूसरा कोई उन दिनों नहीं था। इनमें शक्ति, उत्साह, पौरुष और साधन, सभी पर्याप्त मात्रा में थे, जिनके सहारे महाभारत के युद्ध में इनकी जय निश्चित थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा कृष्ण के रूप में इनके सारथी थे। पुनः जय प्राप्त करने में शंका ही क्यों हो सकती थी ? इन बातों का अभिमान भी अव्यक्त रूप में अर्जुन में अवश्य रहा होगा।

अर्जुन का अभिमान

परन्तु अभिमान की मात्रा अत्यधिक बढ़ गयी और युद्ध-क्षेत्र में सुसज्जित रथ पर पहुँचते ही मोह ने अर्जुन को अभिभूत कर लिया। जिन-जिन साधनों पर उन्हें पूरा भरोसा था, वे सभी इनका साथ छोड़ गये। इनका प्रिय धनुष 'गाण्डीव' शक्तिहीन हो गया। अतएव पौरुषहीन हो कर, अपने अहंकार की पराजय मान कर भगवान् के प्रति अर्जुन ने आत्मसमर्पण किया।

अर्जुन का मोह और आत्मसमर्पण

अर्जुन की विरक्ति

अर्जुन के मन में एक मात्र भय और मोह था कि उनके अत्यन्त निकट के सम्बन्धी युद्ध में मारे जायेंगे। वे असंख्य लोगों की मृत्यु के भय से व्याकुल हो गये थे। अपन प्रियजनों के मरणजन्य वियोग के दुःख को वह नहीं सह सकते थे। अतएव वह युद्ध नहीं करना चाहते थे।[1]

भगवान् का उपदेश

भगवान् कृष्ण भक्तवत्सल हैं। उनके प्रिय मित्र अर्जुन ने जब उनके प्रति आत्मसमर्पण किया, अपनी हार मानी, अर्थात् अपने अभिमान का तिरस्कार किया और अपने को उनका शिष्य बताया[2]—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम् प्रपन्नम्'**, तव भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान का उचित उपदेश दिया। उपदेश का मुख्य विषय तो एक मात्र यह है कि 'मृत्यु' कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। कोई मरता नहीं है। 'आत्मा' अजर और अमर है। जिस प्रकार पुराने फटे हुए वस्त्र को छोड़कर मनुष्य नवीन वस्त्र को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा जर्जर और अकर्मण्य एक शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर का ग्रहण करता है और उससे पुनः तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ता है।[3] अतएव अर्जुन को मृत्यु का भय करना सर्वथा अनुचित है। मृत्यु से डरना अर्जुन का अज्ञान है। इसी उपदेश के साथ-साथ और भी अनेक ज्ञान की बातें भगवान् ने अर्जुन से कहीं। इनके उपदेश को सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया और वे अपने कर्त्तव्य के मार्ग पर आगे बढ़े।[4] उपदेश सुनने के अनन्तर अर्जुन ने कहा—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥'

यही अति संक्षेप में भगवद्गीता का सारांश है।

ज्ञान और कर्म का उपदेश

इन बातों से स्पष्ट है कि उपनिषद् और गीता, इन दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' के स्वरूप का निरूपण ही है। दोनों में ज्ञानप्राप्ति के उपदेश के साथ-साथ कर्म करने का उपदेश है। गीता में विशेषता है—निष्काम कर्म करने की। भक्ति के स्वरूप का विवेचन विशेष रूप से गीता में है। ये बातें उपनिषदों में भी हैं, किन्तु गीता में सरल

---

[1] गीता, अध्याय १ ।
[2] गीता, २-७ ।
[3] गीता, अध्याय २ ।
[4] गीता, १८-७३ ।

तथा स्पष्ट शब्दों में इनका वर्णन है, जिससे साधारण जनता भी इन बातों को समझ सके। वस्तुतः जितनी बातें उपनिषदों में हैं, वे सब गीता में भी हैं। अतएव कहा गया है—

उपनिषद् और गीता

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥'

इसी लिए एक प्रकार से गीता भी 'उपनिषद्' कहलाती है। लोगों के लिए यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक ग्रन्थ है, जितना उपनिषद्। हर तरह के लोगों के लिए हर तरह के उपदेश गीता में हैं। एक मात्र यही एक ग्रन्थ है, जिसके अध्ययन से शान्ति मिलती है और इसके उपदेश के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी हो जाती है। यही तो भगवान् ने स्वयं कहा है—

गीता का महत्त्व

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'[१]

अर्थात् सभी धर्मों को छोड़कर एक मात्र मुझ में आत्मसमर्पण करो, मेरी शरण ग्रहण करो, और मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूंगा। कोई चिन्ता न करो। इस ग्रन्थ के महत्त्व के सम्बन्ध में भगवान् ने स्वयं कहा है—

जो कोई मुझ में पराभक्ति रखकर इस परम गोपनीय गीता को मेरे भक्तों को सुनायेगा, वह निश्चय मुझको प्राप्त करेगा। उसके अतिरिक्त मनुष्यों में मेरा प्रिय करने वाला दूसरा कोई नहीं है और न हो सकता है। धर्म से युक्त जो भी हम दोनों के इस संवाद को, अर्थात् गीता को, पढ़ेगा उसका मैं इष्ट हूँ। जो कोई इस गीता के पाठ को श्रद्धा से और ईर्ष्यारहित होकर सुनेगा वह अवश्य ही मुक्त होकर दिव्य लोक को प्राप्त करेगा।[२] यही कारण है कि सभी लोग इस ग्रन्थ को साक्षात् भगवान् का उपदेश मानते हैं और अपनी-अपनी जीवन-यात्रा को सफल बनाने के लिए तथा चरम पद तक पहुँचने के लिए इसे पढ़ते हैं। इस ग्रन्थ को पढ़ने से लौकिक तथा अलौकिक ज्ञान को लोग प्राप्त करते हैं।

---

[१] गीता, १८-६६।

[२] गीता, १८-६८-७१।

महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश 'गीता' है (अध्याय २५–४२)। महाभारत को शास्त्रों में 'पञ्चम वेद' कहा गया है। वस्तुतः जनसाधारण के लिए तथा विद्वानों के लिए भी महाभारत, उपयोगिता की दृष्टि से, वेदों से भी विशेष महत्त्व का समझा जाता है और इसके वचन को श्रुति के समान ही सभी प्रामाणिक मानते हैं। यही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें समस्त ज्ञान भरा है और जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है। इस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकार सभी वर्णों को, स्त्री तथा पुरुष को एवं म्लेच्छों को भी समान रूप से है।[1]

महाभारत का महत्त्व

इसकी रचना के समय के सम्बन्ध में बहुत-से विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। चिन्तामणि विनायक वैद्य, करन्दिकर, आदि विद्वानों का कहना है कि महाभारत की लड़ाई दिसम्बर ११, ३१०२ ईसा से पूर्व को आरम्भ हुई थी। प्रोफेसर अथवले का मत है कि ३०१८ ई० पू० में लड़ाई आरम्भ हुई, प्रोफेसर तारकेश्वर भट्टाचार्य का कहना है कि १४३२-३१ ई० पू० में लड़ाई आरम्भ हुई। ऐसी स्थिति में गीता की भी रचना महाभारत के समय में ही हुई होगी।

महाभारत का रचनाकाल

महाभारत के साथ-साथ गीता के उपदेश को भी व्यास ने ही इस रूप में लिखा। सञ्जय ने धृतराष्ट्र को युद्ध की बातें सुनाने के अवसर पर अर्जुन को दिये गये गीता के उपदेश को भी उन्हें सुनाया। अतएव महाभारत के युद्ध के पश्चात् व्यास ने अपनी दिव्य शक्ति से महाभारत की लड़ाई की सभी बातों को जानकर इस ग्रन्थ की रचना की, चाहे वह १९०० ई० पू० या ३०१८ ई० पू० में हुई हो।

गीता के प्रति आक्षेप

कुछ लोगों के विचार से 'गीता' के आधुनिक पाठ के सम्बन्ध में अनेक संशय हैं—(१) गीता की रचना महाभारत के पश्चात् हुई और बाद को महाभारत में उसे जोड़ दिया गया। (२) गीता के उपदेश बहुत संक्षेप में थे, बाद को उनका विस्तार किया गया। (३) गीता में ७०० श्लोक हैं, यह सम्भव नहीं है कि इतने श्लोक पहले रहे होंगे। इसके प्रमाण में भोज-पत्र पर लिखी हुई गीता की पुस्तक का उल्लेख किया जाता है। गीता की वर्तमान

गीता-ग्रंथ

---

[1] देखिए परिशिष्ट।

पुस्तक में जो उपदेश हैं, वे युद्ध क्षेत्र में, सेनाओं के बीच में तथा इतने थोड़े समय में देने के योग्य नहीं हैं। वे तो एकान्त में, किसी शान्त आश्रम में ही बैठकर दिये जा सकते हैं।

इस प्रकार के आक्षेपों के समाधान में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

आक्षेपों के समाधान

युद्ध-क्षेत्र में आने के पहले अर्जुन को इस प्रकार का मोह, जैसा कि 'गीता' में कहा गया है, कभी नहीं हुआ था। उनमें अभिमान भरा हुआ था और उन्हें अपने कर्तव्यपथ को दिखाने के लिए किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं थी। अपने पौरुष पर उन्हें पूर्ण विश्वास था। इसलिए युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित होने के पूर्व, सर्वदा एक साथ रहते हुए भी, कृष्ण से अर्जुन ने पौरुष-प्रदर्शन के निमित्त किसी प्रकार की सहायता न माँगी। अन्य की सहायता की माँग तो अपनी पराजय स्वीकार करनी थी। अभिमान के रहते हुए अर्जुन ने कृष्ण से ज्ञान की बातों की माँग कभी भी नहीं की। परन्तु युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित होते ही अर्जुन का पौरुष हार मान गया, अहंकार की पराजय हुई

अर्जुन की याचना

और मोह के वश में आकर अपने कर्तव्यपथ का निर्णय करने में असमर्थ अर्जुन ने कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया और शिष्य के रूप में कृष्ण से ज्ञान के उपदेश की याचना की।[1]

युद्ध-क्षेत्र में ही गीता का उपदेश

अहंकार के रहते हुए ज्ञान का उदय नहीं होता, गुरु की कृपा नहीं होती तथा उपदेश ग्रहण करने की योग्यता नहीं होती। अतएव ज्यों ही अहंकार दूर हो गया, अर्जुन ज्ञान के उपदेश को सुनने तथा मनन करने के अधिकारी हो गये, उसी क्षण कृष्ण भगवान् ने उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया। इसमें एक क्षण भी विलम्ब नहीं किया जा सकता है। यह अवस्था तो युद्ध-क्षेत्र में ही उपस्थित हुई, पहले नहीं। अतएव 'गीता' का उपदेश भगवान् ने अर्जुन को वहीं, अर्थात् युद्धक्षेत्र ही में दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

एक और बात कही जा सकती है। सम्भव है कि एक साथ रहते हुए इन दोनों में इतनी घनिष्ठता हो गयी हो, जिसके कारण अर्जुन को कृष्ण भगवान् के शुद्ध स्वरूप का भान नहीं हुआ या वे उसे भूल गये थे। संस्कृत में एक कहावत है कि **'अतिपरिचयाद् अवज्ञा'**। इसीकारण युद्ध-क्षेत्र में जाने के पूर्व कृष्ण के स्वरूप

---

[1] गीता, २-६-७।

का पूर्ण ज्ञान अर्जुन को नहीं था, यदि होता तो वह कुछ ज्ञान उनसे अवश्य प्राप्त कर लेते। यह बात अर्जुन ने स्वयं स्वीकार की है—

'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।'

कृष्ण की महिमा का ज्ञान

तुम्हारी महिमा को न जानते हुए या तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रेम के कारण तथा अज्ञान के कारण मैंने जो तुम्हें बिना सोचे समझे हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, आदि शब्दों से सम्बोधित किया एवं जो हँसी की बातें अकेले में तथा लोगों के सामने खेल में, सोने के समय तथा भोजन के काल में. मैंने तुम्हारे साथ कीं, हे अच्युत ! उन सब को आप क्षमा करें। आप स्थावर और जंगम सभी के पालक हैं, पूज्य हैं, श्रेष्ठ हैं, गुरु हैं। आप के समान इन तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं है। आप का प्रभाव अतुलनीय है। अतएव साष्टांग प्रणाम कर आप से प्रार्थना करता हूँ कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के, स्वामी अपनी स्त्री के अपराधों को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरे अपराधों को भी क्षमा कर दें।[1]

भगवान् की प्रतिज्ञा

ऐसे अवसर पर ही भगवान् की प्रतिज्ञा है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।'[2]

---

[1] गीता, ११-४१-४४ ।
[2] गीता, १८-६६ ।

७

परम पवित्र ज्ञान का उपदेश देने के पूर्व शिष्य की परीक्षा करना अत्यावश्यक है। जब तक शिष्य सर्वात्मना ज्ञान प्राप्त करने की अपनी उत्कट इच्छा न प्रकट करे, अहंकार को दूर न करे, आत्मसमर्पण न करे, यथार्थ में शिष्य न बने, तब तक गुरु का उपदेश उसे प्राप्त न होगा और उपदेश देना भी न चाहिए। यही बात हमें 'कठोपनिषद्' में यमराज और नचिकेता के दृष्टान्त में मिलती है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित होने पर ही वह सुअवसर उपस्थित हुआ, जब भगवान् अर्जुन को 'आत्मा' के अमर और अजर होने का उपदेश दे सकते थे।

उपदेश ग्रहण करने की योग्यता

आत्मोपदेश के लिए उचित स्थान

एक और बात है——कृष्ण भगवान् ने भी इस अवसर को अपने हाथ से जाने न दिया। जिस प्रकार गुरु का मिलना कठिन है, उसी प्रकार सच्चे शिष्य का मिलना भी कठिन है। अतएव भगवान् ने उसी क्षण ज्ञान का उपदेश देना उचित समझा, क्योंकि सच्चे अधिकारी बन कर अर्जुन उपदेश ग्रहण करने के लिए हर तरह से उसी समय प्रस्तुत थे। सम्भव है कि इस अवसर का सदुपयोग न करने से, पुनः कोई आपत्ति आ सकती थी और कृष्ण उपदेश न दे सकते। इन बातों को मन में रखकर भगवान् ने भी इसी अवसर पर अपना उपदेश देना उचित समझा।

उपदेश के लिए सुअवसर

रहा प्रश्न समय की अल्पता का। उसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि कृष्ण साक्षात् परमात्मा के स्वरूप हैं। इनके ही बनाये जगत् के समस्त विषय हैं। इन की आज्ञा से नक्षत्र और तारे चमकते हैं। ये ही काल-स्वरूप हैं, अर्थात् देश और काल के निर्माता हैं। अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय इन्होंने विश्वरूप-दर्शन में एवं अन्यत्र भी अनेक प्रकार से दिया है। अतएव एक क्षण को अनन्त काल में तथा अनन्त काल को एक क्षण में परिवर्तित करने की सामर्थ्य तो इन्हीं में है। इसलिए कौन कह सकता है कि 'गीता' के उपदेश के लिए भगवान् को कितना समय लगा होगा। उसकी माप करने वाले भी तो वही भगवान् हैं। अतः यह प्रश्न हमारे विचार में कोई बाधा नहीं दे सकता और यह प्रश्न भगवान् के स्वरूप को न जानने वाले ही कर सकते हैं, अन्य नहीं।

उपदेश के लिए समय

इन बातों को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान बहुत ही सरल है। 'गीता' जिस स्वरूप में हमारे सामने परम्परा से चली आती है, वही विश्वसनीय 'गीता' की पुस्तक है और उन्हीं सात सौ श्लोकों में 'गीता' के उपदेश दिये गये हैं।

गीता के मुख्य उपदेश

अर्जुन को अपने कर्त्तव्य, अर्थात् दुष्टों का नाश करने के लिए युद्ध करने का उपदेश भगवान् ने तीन प्रकार से दिया है—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक।

कर्तव्यपालन

'पारमार्थिक-दृष्टि' से कोई मरता नहीं है। 'आत्मा' अव्यक्त, अचल, अजर, अमर, सत्य, नित्य, अचिन्त्य, व्यापक है। जर्जर पुराने शरीर को त्यागना 'मरण' है और दूसरे अच्छे शरीर को स्वीकार करना 'जन्म' है। इस संसार में किसी का नाश नहीं होता। 'आत्मा' का नाश किसी प्रकार से नहीं होता।[1] इन बातों को ध्यान में रखने से यह विश्वास करना चाहिए कि कौरवों का नाश नहीं होगा, केवल उनका स्थूल शरीर बदल जायगा। अतएव युद्ध करने में कोई दोष नहीं है।

वस्तु का नाश नहीं होता

'व्यावहारिक-दृष्टि' से मान लिया जाय कि सभी जीव मरते और उत्पन्न होते हैं, फिर भी ये सभी कौरव एक न एक दिन अवश्य मरेंगे और इस समय तुम इनके नाश में एक निमित्त मात्र होते हो; और भी एक बात है, हे अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो। क्षत्रियों के लिए धार्मिक युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कल्याणप्रद कर्म नहीं है। इस प्रकार के युद्ध को पाकर क्षत्रिय लोग सुखी होते हैं। अतएव ऐसे युद्ध से विमुख हो जाना तुम्हारे लिए अधर्म है, अयशस्कर है और पाप है। तुम्हारी निन्दा होगी। इससे तो मरना ही अच्छा है। फिर मरने के लिए ऐसे युद्ध से अन्यत्र कौन-सा अच्छा स्थान तुम्हें मिलेगा? इस युद्ध में मरने से तुम्हें स्वर्ग मिल जायगा। इन बातों को सभी दृष्टिकोणों से सोचकर तुम्हें युद्ध करना उचित है।[2]

परम पद के जिज्ञासु को अपने कर्मों के फल की इच्छा कभी न करनी चाहिए। अनासक्त होकर कर्म को करते रहना चाहिए। यद्यपि 'गीता' में अन्त में ज्ञान को ही सबसे श्रेष्ठ कहा गया है[3] और ज्ञान की ही प्राप्ति से परम पद की प्राप्ति होती है, किन्तु कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। बिना परा भक्ति के ज्ञान भी नहीं प्राप्त किया जा सकता

अनासक्त कर्म

---

[1] गीता, २-११-२५।

[2] गीता, २-२६-३८।

[3] गीता, ४-३३।

और यह भी सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म किये बिना भक्ति नहीं मिलती। इन तीनों का परस्पर अति घनिष्ठ और एक प्रकार से अविनाभाव सम्बन्ध है।

भक्ति और भक्त की महिमा

भक्त और भक्ति की महिमा गीता में स्वयं भगवान् ने अपने मुख से अनेक रूपों में दिखायी है। भगवान् ने कहा है कि 'वह परम पुरुष, जिसके अन्दर सभी भूत हैं और जिसने समस्त विश्व का विस्तार किया है, केवल अनन्य भक्ति से मिलता है'।[१] 'जो भक्ति-पूर्वक मेरी सेवा करते हैं, उनके हृदय में मैं निवास करता हूँ और वे भी मेरे हृदय में रहते हैं।'[२] भगवान् के प्रति भक्ति होने के कारण ही अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन पाया।[३] इसी तरह से अनेक प्रसंगों में भगवान् ने भक्त और भक्ति की महिमा का वर्णन किया है।[४] भगवान् अपने भक्त का समस्त भार अपने ऊपर ले लेते हैं[५]—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

अनासक्त कर्म की महिमा 'गीता' में बहुत अच्छी तरह कही गयी है।[६] किसी भी दशा में कर्म से च्युत न होना चाहिए, किन्तु अनासक्त होकर ही कर्म करना चाहिए।[७]

साधक को काम, क्रोध, लोभ तथा मोह से दूर रहना चाहिए।[८] सुख और दुःख में समान रूप से रहना चाहिए।[९] अपनी इन्द्रियों को तथा अन्तःकरण को अपने

---

[१] गीता, ८-२२।
[२] गीता, ९-२९।
[३] गीता, ११-५४।
[४] गीता, १४-२६; ११-२९।
[५] गीता, ९-२२।
[६] गीता, २-५५, ७१, ७२; ३-१९; ४-१९-२१।
[७] अध्याय, ४, ५, १२, १७, १८; उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ १४७-१५०।
[८] गीता, ४-१०; ५-२६; १८-५३।
[९] गीता, ४-२२।

वश में रखना चाहिए।[1] भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। भगवान् की ही प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। भगवान् में ही आत्मसमर्पण करना चाहिए।

साधक के कर्तव्य

ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए और भगवान् के साथ अपने को एक समझना चाहिए। जिज्ञासु या साधक पवित्र होकर एकान्त म वास करे। थोड़ा आहार करे। कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम करे और

भगवान् का स्मरण

भगवान् को छोड़ अन्य किसी वस्तु में आसक्त न हो। अपने शरीर को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि जिससे अन्तकाल में केवल उन्हीं भगवान् का स्मरण हो।[2] इसके लिए जीवन भर प्रयत्न करना चाहिए और स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के अन्तिम क्षण में जो भावना हृदय में उत्पन्न होगी, वही आगे के जीवन को बनायेगी[3]—

'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥'

शोक और मोह से जब लोग पीड़ित होते हैं, तब उन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं

शोक-मोह की निवृत्ति

रहता और वे अपने कल्याण के लिए कुछ भी नहीं सोच सकते, जैसा अर्जुन को हुआ था। उसी शोक और मोह को दूर करने के लिए 'गीता' के उपदेश हैं। यह बात भगवान् और अर्जुन के श्नोत्तर से प्रमाणित होती है। उपदेश देने के अनन्तर भगवान् ने अर्जुन से पूछा—

> हे पार्थ ! क्या तुमने एकाग्र-चित्त से यह सब सुना ? क्या तुम्हारा मोह दूर हो गया ?

अर्जुन ने उत्तर में कहा—

> हे अच्युत ! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया। मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। मेरे मन में कुछ भी संशय नहीं रहा। तुम्हारे कथन के अनुसार मैं कार्य करूँगा।[4]

---

[1] गीता, २-६०-६१।
[2] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ १४१-४२
[3] गीता, ८-६।
[4] गीता, १८-७२-७३।

लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्राण और अन्तःकरण दोनों को एक साथ मिल कर साधना करनी पड़ती है। यौगिक साधनाओं का अभ्यास आवश्यक है, जिसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, आदि अष्टांग योग की प्रक्रिया का अभ्यास नियम पूर्वक करना चाहिए।[१] यही संक्षेप में गीता के उपदेश हैं। इन्हें जान लेने से और कोई जानने का विषय रह ही नहीं जाता, यह भगवान् का अपना कथन है[२]—

योगाभ्यास की आवश्यकता

'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।'

निष्काम कर्म की महिमा बहुत बड़ी है। 'गीता' में इसी प्रकार के कर्म करने का उपदेश है। जो कामना और अहंभाव का परित्याग कर कर्म करता है उसे ही शान्ति मिलती है,[३] वही परमानन्द को प्राप्त करता है,[४] वही यथार्थ में पण्डित है,[५] वही वस्तुतः संन्यासी है और उसे कर्मजन्य बन्धन नहीं मिलता,[६] वह सभी पापों से मुक्त रहता है,[७] ऐसे ही कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है,[८] वही योग की सिद्धि को प्राप्त करता है,[९] वही सात्त्विक कर्म करने वाला होता है।[१०] अतएव जो कर्म किया जाय उसके फल के लिए कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए और वह कर्म केवल कर्तव्य की बुद्धि से ही करना चाहिए।[११] सत्त्व, रजस् और तमस् से बना हुआ मनुष्य का शरीर है। जब तक मनुष्य के शरीर में रजोगुण रहेगा, मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अपने कल्याण के लिए तथा लौकिक एवं पारलौकिक आनन्द की

निष्काम कर्म की महिमा

---

[१] गीता, ८-९-१३।
[२] गीता, ७-२।
[३] गीता, २-७१।
[४] गीता, २-७२।
[५] गीता, ४-१९।
[६] गीता, ४-२०।
[७] गीता, ४-२१।
[८] गीता, ५-११।
[९] गीता, ६-४।
[१०] गीता, १८-२३।
[११] गीता, १८-८।

प्राप्ति के लिए भगवान् की प्रीति के लिए मनुष्य को सदैव निष्काम भावना से एवं कर्तव्य-बुद्धि से ही सभी कर्म करना चाहिए।

मुक्ति की अवस्था

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जीव को प्रत्येक कर्म का भोग करना पड़ता है, चाहे वह भोग इस जन्म में हो, चाहे दूसरे जन्म में। जैसा कर्म होता है, वैसा ही उसका फल भी होता है। उचित और अनुचित कर्मों को पहचानने के लिए नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

उचित और अनुचित कर्म

मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है—आत्मा का साक्षात्कार करना, परम पद को पाना, परमानन्द को पाना, इत्यादि। इन सब का एक ही अर्थ है। इनकी प्राप्ति के लिए साधना करनी पड़ती है। अपने जीवन के सभी कार्यों को इसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नियन्त्रित करना उचित है। अतएव जिन-जिन कार्यों के, छोटे या बड़े, लौकिक या अलौकिक, करने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अग्रसर होता है, वे ही कार्य 'अच्छे' होते हैं, उन्हें ही 'पुण्य-कर्म' कहते हैं, उन्हें ही 'धार्मिक कर्म' कहते हैं और जिन कार्यों के करने से मनुष्य अपने लक्ष्य से दूर हटता है, वे 'अनुचित कर्म' हैं, 'पाप-कर्म' हैं तथा 'अधर्म के कार्य' हैं।

परा गति

इसके अनुसार जो लोग बहुत ही पवित्र कार्य करते हैं, जिन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है और जिनके कर्म 'ज्ञान' के तेज से दग्ध होकर भविष्य में फल देने में असमर्थ हैं, उन लोगों के मरने पर उनकी जीवात्मा 'देवयान मार्ग' से सूर्य की रश्मि को पकड़कर ऊपर की ओर जाती है और वहाँ से लौट कर पुनः इस संसार में नहीं आती है। उनके कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है और उन्हें मुक्ति मिल जाती है। इसे **'परा गति'** कहते हैं।

अपरा गति

जो लोग साधारण रूप से अपना कर्म करते हैं, कुछ पुण्य और कुछ पाप भी करते हैं, उनकी मृत्यु होने पर उनकी जीवात्मा 'पितृयान मार्ग' से 'चन्द्रलोक' को जाती है और कुछ समय तक वहाँ रहकर पुनः अवशिष्ट कर्म-वासनाओं का भोग करने के लिए इस संसार में लौट आती है। इसे **'अपरा गति'** कहते हैं। इस मार्ग के अनेक भेद हैं और भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार जीवात्मा भिन्न-भिन्न मार्गों से भिन्न-भिन्न लोकों में जाती है।

'परा गति' के भी कुछ भेद हैं। कोई जीव तो सीधे परम धाम में पहुँच जाते हैं और कोई अन्य लोकों से होते हुए अन्त में परम धाम पहुँचते हैं। इस मार्ग में जाने वाले जीवों को 'सद्योमुक्ति' मिलती है और किसी को 'क्रममुक्ति' भी मिलती है। इन जीवों का 'उत्क्रमण' होता है और ये सीधे ऊपर को ही जाते हैं।

परा गति के भेद

इनसे भिन्न कुछ जीव हैं जो ज्ञान प्राप्त करने पर भी इसी संसार में रहते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। ये 'जीवन्मुक्त' कहे जाते हैं। प्रारब्ध कर्म के अनुसार जब वर्तमान शरीर सभी भोगों को समाप्त कर लेता है, तब उस शरीर का क्षय होता है और तभी वह जीवन्मुक्त जीव स्वतन्त्र होकर अनन्तधाम में भगवान् में मिल जाता है। ऐसे जीव जब शरीर से रहित हो जाते हैं, तब वे 'विदेह मुक्त' कहे जाते हैं।

जीवन्मुक्ति

पदार्थों का विचार

'गीता' कोई दर्शनशास्त्र तो है नहीं, फिर भी उद्देश्य इसका भी वही है, जो हमारे दर्शनों का है। इसलिए उस परम पद की प्राप्ति के लिए 'गीता' में थोड़ा-सा मार्ग-प्रदर्शन है। इसमें उस परम लक्ष्य के स्वरूप का वर्णन तथा जगत् के विषयों का भी कुछ वर्णन है।

गीता में तीन प्रकार के तत्त्वों का वर्णन है—(१) क्षर, (२) अक्षर और (३) पुरुषोत्तम। इस संसार के सभी जड़-पदार्थ **'क्षर'** हैं। इसे ही 'अपरा प्रकृति', 'अधिभूत', 'क्षेत्र' और 'अश्वत्थ' भी कहते हैं। विकारों का, करणों का तथा भूतों का यह मूल कारण है। आकाश आदि पाँच भौतिक परमाणु तथा पाँच तन्मात्राएँ 'विकार' हैं। मन, अहंकार, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ 'करण' कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त इनसे उत्पन्न राग, द्वेष, सुख, दुःख, परमाणुओं का संघात, चेतना तथा धृति, ये **'क्षर'** हैं। इन में से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मनस्, बुद्धि और अहंकार, ये आठ भगवान् की 'अपरा प्रकृति' के रूप हैं।[1]

तीन प्रकार के तत्त्व

---

[1] गीता, ७-४-५।

यह 'अपरा प्रकृति' भगवान् के साथ अनादि काल से सम्बद्ध है। यह अविशुद्ध है। इससे बन्धन की प्राप्ति होती है। प्रलय के काल में समस्त भूत इसी में लीन हो जाते हैं और इसी से पुनः सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होते हैं।[1] इसी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मान कर भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं।[2] इसी लिए भगवान् ने इस प्रकृति को **'मम योनिर्महद्ब्रह्म'** और अपने को **'अहं बीजप्रदः पिता'**[3] कहा है। 'यह प्रकृति' भगवान् की 'माया' से सर्वथा भिन्न है। इसी लिए भगवान् ने स्वयं कहा है कि अपनी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मान कर अपनी 'माया' की सहायता से मैं संसार में अवतार लेता हूँ[4]—

अपरा प्रकृति

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।'

'अक्षर तत्त्व' को 'जीव', 'परा प्रकृति', 'अध्यात्मा', 'पुरुष' तथा 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं। यह 'अपरा प्रकृति' से ऊँचे स्तर का है और यही जगत् को धारण करता है।[5] भूतों का कारण,[6] भगवान् का अंश[7] तथा मरने पर एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने वाली और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने वाली यह भगवान् की दूसरी 'प्रकृति' है। केवल अविद्या के कारण यह तत्त्व भगवान् से भिन्न देख पड़ता है।[8] यह 'उपद्रष्टा', 'साक्षी', 'अनुमन्ता', 'भर्ता', 'भोक्ता', 'महेश्वर' और 'परमात्मा' भी कहलाता है। जीव और भगवान् में वास्तविक भेद न होने के कारण भगवान् के सभी गुण जीव में भी हैं, परन्तु अविद्या के प्रभाव से ये गुण जीवित-दशा में अभिव्यक्त नहीं होते।

परा प्रकृति

जीव और भगवान् में भेद

इनमें **'पुरुषोत्तम'** प्रधान तत्त्व हैं। इन्हें 'परमात्मा', 'ईश्वर', 'वासुदेव', 'कृष्ण', 'प्रभु', 'साक्षी', 'महायोगेश्वर', 'ब्रह्म', 'अधियज्ञ', 'विष्णु', 'परम पुरुष', 'परम

---

[1] गीता, ९-७।
[2] गीता, ९-८।
[3] गीता, १४३, ३-४।
[4] गीता, ४-६।
[5] गीता, ७-५।
[6] गीता, ७-६।
[7] गीता, १५-७।
[8] गीता, शंकरभाष्य, १५-७।

अक्षर', 'योगेश्वर', आदि भी कहते हैं। सभी भूतों को उत्पन्न तथा नष्ट करने वाले यही हैं। त्रिगुणमयी 'माया' इनकी 'दैवी शक्ति' है, जो सदैव इनके साथ रहती है।

'माया' भगवान् की शक्ति है

यह 'माया' अचिन्त्य है, अतएव इसे न 'सत्' और न 'असत्' कहा जा सकता है। यह 'पुरुषोत्तम' सर्वव्यापी' हैं। इन्हीं की प्रभा से अन्य सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। यह निर्गुण होते हुए सभी गुणों का भोग करने वाले हैं। यह साकार और निराकार दोनों ही रूप में गीता में दिखाये गये हैं। यह सभी के अति निकट होते हुए भी सबसे दूर हैं। अखण्ड होते हुए भी सभी जीवों में अलग-अलग विद्यमान हैं। यह ज्ञानस्वरूप हैं और ज्ञानी लोग इनका दर्शन पाते हैं। समस्त जगत् इनमें लीन होता है। भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो सार वस्तु है, वह इन्हीं का रूप है। त्रिगुणातीत होते हुए भी तीनों गुणों को उत्पन्न यही करते हैं। योगनिष्ठ ज्ञानी से यह अत्यन्त प्रेम करते हैं। वस्तुतः ज्ञानी इनके अपने ही स्वरूप हैं। गीता के सबसे विशिष्ट तत्त्व यही हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि मेरे इस स्वरूप को साक्षात् करने वाले भक्त मेरे भाव को प्राप्त करते हैं।[१] भगवान् का कहना है कि जगत् की सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ 'पुरुषोत्तम' के ही स्वरूप हैं। यही तो 'उपनिषद्' में भी कहा गया है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** और 'गीता' में भी कहा गया है—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।'[२]

'वासुदेवः सर्वमिति ।'[३]

इसी बात को 'गीता' में अनेक बार अनेक रूप से भगवान् ने कहा है।[४] प्रलयकाल में समस्त जगत् 'प्रकृति' में लीन हो जाता है और 'प्रकृति' भगवान् से अलग[५] होकर रहती है। यही भगवान् हैं और इन्हीं की विभूति अन्तः और बाह्य जगत् में सर्वत्र है। ज्ञान-दीप के द्वारा अपने भक्तों के अज्ञान का नाश कर उनके अपराधों को भगवान् क्षमा करते हैं।

---

[१] **गीता, १४-१९ ।**

[२] **गीता, ७-७ ।**

[३] **गीता, ७-१९ ।**

[४] **गीता, ६-२९-३०; ९-४ ।**

[५] **गीता, ९-४-७ ।**

गीता के दसवें अध्याय में भगवान् के स्वरूपों का जो वर्णन है, वह 'दिव्य' है, इसे 'विभूतियोग' के प्रदर्शन में उन्होंने स्वयं स्पष्ट बताया है। उन्होंने अर्जुन से स्पष्ट कहा है कि मेरा जन्म और कर्म, सभी दिव्य हैं। इसीलिए भगवान् ने अपने '**ऐश्वरं योगम्**' को देखने के लिए अर्जुन को 'दिव्य चक्षु' दिया था।[1]

दिव्य रूप

अपने अवतार के सम्बन्ध में भगवान् ने स्वयं कहा है—

अवतार का उद्देश्य

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥'[2]

अवतार के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस प्रकार प्रत्येक जीव को इस संसार में आने के लिए कर्म तथा पाँच भूतों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जब भगवान् अवतार लेने को होते हैं, तब उन्हें भी संसार में रहने के उपयुक्त एक शरीर ग्रहण करने के लिए साधुओं की रक्षा करने की, दुर्जनों का नाश करने की तथा धर्म को स्थिर करने की इच्छा-शक्ति एवं पाँच भूतों की सहायता की अपेक्षा होती है। यही बात उन्होंने स्वयं कही है—

अवतार के लिए दो वस्तुओं की आवश्यकता

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।'[3]

इसी कथन से यह भी स्पष्ट है कि 'प्रकृति' और 'माया' शब्द का गीता में भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है।[4]

इन्हीं बातों से यह भी स्पष्ट है कि भगवान् जगत् के स्रष्टा हैं, यह अपनी 'माया' से कभी भी अलग नहीं होते। यह स्वयं 'आप्तकाम' हैं, फिर भी यह कर्म करने

---

[1] गीता, ११-८।

[2] गीता, ४-७-८।

[3] गीता, ४-६।

[4] उमेश मिश्र—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० १७०-१७८।

से विरत नहीं होते। अपने कर्मों के द्वारा संसारी लोगों को कर्म करने की शिक्षा देने के लिए ही भगवान् स्वयं कर्म करते हैं। यही बात भगवान् ने अर्जुन से कही

भगवान् के कर्म करने का लक्ष्य

है—हे पार्थ ! इस जगत् में मुझे कुछ भी करने को नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ। क्योंकि मनुष्य मेरा ही अनुसरण करते हैं और मैं यदि निष्क्रिय होकर बैठ जाऊँ, तो सभी कर्म करना छोड़ देंगे, और संसार में अनर्थ हो जायगा। इससे उत्पन्न दोष मेरे ही होंगे, क्योंकि जो बड़े लोग करते हैं, वही अन्य लोग भी अनुकरण करते हैं।[1]

भगवान् स्रष्टा और साधुओं के रक्षक तथा धर्म के पालक हैं। वह सभी मनुष्यों को अच्छे कर्म करने का न केवल उपदेश देते हैं, अपितु अपने कर्मों के द्वारा आदर्श

भगवान् के कर्म

प्रस्तुत करते हैं। अतएव यह संसार के कल्याण के लिए मार्ग-प्रदर्शक भी हैं। भक्तों की रक्षा के लिए यह सर्वदा सब तरह से तैयार रहते हैं। ज्ञान के तो यह स्वरूप ही हैं। इस प्रकार पुरुषोत्तमरूप भगवान् 'कृष्ण' दार्शनिक परम तत्त्व हैं, सामाजिक सर्वश्रेष्ठ नियन्ता हैं तथा लौकिक जगत् को कल्याणपथ के प्रदर्शक हैं एवं धर्म के पालक तथा संस्थापक भी

गीता का अद्वैत तत्त्व

हैं। इन बातों से यह स्पष्ट है कि गीता के जो 'परम तत्त्व' हैं वे सक्रिय तत्त्व हैं, वेदान्त के ब्रह्म के समान 'अवाङ्मनसगोचर' नहीं हैं। इसी लिए अद्वैत का जो रूप गीता में है, वह एक स्वतन्त्र है और शांकर वेदान्त से सर्वथा भिन्न है।

गीता में **वासुदेव** 'परम तत्त्व' हैं। मनुष्यरूप में होते हुए भी यह 'दिव्य' हैं। एक ही समय में अखण्ड और पूर्ण ब्रह्म होने के कारण यह निर्गुण और सगुण दोनों ही

वासुदेव-तत्त्व

हैं। इन्हें अपनी शक्ति तथा स्वरूप का सदैव ज्ञान रहता है। अपने भक्त को ज्ञानमार्ग के तथा कर्तव्य के उपदेश देने के लिए सदैव यह तत्पर रहते हैं और अपने भक्तों के लिए कुछ छिपाते नहीं। यह उनके पिता हैं, मित्र हैं और सभी हैं। उनकी रक्षा और कल्याण का समस्त भार यह अपने ऊपर ले लेते हैं, वस्तुतः यह उनके साथ एक हो जाते हैं। इनके उपदेश उत्साहपूर्ण हैं और मनुष्य को कर्तव्यपथ पर विश्वासपूर्वक प्रेरणा करते हैं। कर्तव्य का पालन किस प्रकार करना चाहिए, इस बात को भगवान् स्वयं अपने कर्मों के द्वारा भक्तों को दिखा देते हैं।

---

[1] गीता, ३-२१-२४।

क्षत्रिय के लिए युद्ध करना अपना मुख्य कर्त्तव्य है, इस उपदेश से यह स्पष्ट है कि भगवान् 'वर्णाश्रमधर्म' के प्रतिपालक ह। दूसरों के धर्म का अनुसरण करना कितना भयंकर और अनर्थकारी है, यह भी भगवान् ने कहा है। अपने धर्म के लिए मरना भला है, किन्तु उसका त्याग नहीं करना चाहिए। भगवान् ने कहा है—

वर्णाश्रम धर्म

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥'[1]

'गीता' में 'वासुदेव' तथा 'भगवान्' के स्वरूप का वर्णन देखकर यह मालूम होता है कि 'गीता' प्राचीन 'भागवत सम्प्रदाय' से विशेष सम्बन्ध रखती है। अतएव इसे 'वैष्णव-आगम' का ग्रन्थ कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि महाभारत के 'नारायणीय खण्ड' के अन्तर्गत गीता का पाठ है। इन बातों से यह कहा जा सकता है कि जो 'अद्वैत मत' इस ग्रन्थ में वर्णित है, वह शांकर वेदान्त के 'अद्वैत' से भिन्न है।

गीता वैष्णवों का आगम

इस प्रकार यद्यपि गीता कोई दर्शन-शास्त्र नहीं, किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना इसका उद्देश्य नहीं, फिर भी कर्तव्यपथ को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भगवान् ने मनुष्य-जीवन के धर्म, अर्थात् कर्तव्य का तथा दर्शन के चरम लक्ष्य का एवं दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय का सुन्दर उपदेश इस ग्रन्थ में दिया है। निष्पक्षपात दृष्टि से इसके उपदेशों को पढ़ने से एवं मनन करने से यह मालूम होता है कि यह जीवन की झंझटों में फँसे हुए लोगों का उद्धार करने वाला एकमात्र ग्रन्थ है। यह वास्तविक तत्त्व का प्रतिपादन करता है। अतएव इसका किसी भी मत से सम्बन्ध नहीं है और फिर भी यह सभी को प्रसन्न करने वाला ग्रन्थ है। यह सभी स्तर के साधकों के लिए, ज्ञानियों के लिए, साधारण लोगों के लिए, एक अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमें सभी की श्रद्धा है, भक्ति है तथा विश्वास है। इस प्रकार का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ हमारे साहित्य में दूसरा नहीं है।

---

[1] गीता, ३-३५।

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक-दर्शन

पहले ही कहा गया है कि जीव की सभी क्रियाएँ केवल अपने दुःख को दूर करने के लिए होती हैं और यह सभी को मालूम है कि 'आत्मा के दर्शन' से ही दुःख की निवृत्ति होती है। यही कारण है कि सभी 'आत्मा' की खोज करते हैं और उसके दर्शन के लिए साधनों को ढूंढ़ते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी जीवों की बुद्धि एक-सी नहीं होती। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार लोग 'आत्मा' की खोज करते हैं। उद्देश्य तो सभी का एक है, मार्ग भी एक ही है, परन्तु बुद्धि के विकास के भेद से तथा रुचि के भेद से एक को खटाई खा कर, तो दूसरे को मिठाई से, तीसरे को तिक्त रस से आनन्द मिलता है और दुःख की निवृत्ति मालूम होती है। अतः जिससे दुःख की निवृत्ति मालूम होती है, उसे ही 'आत्मा' समझ लेना स्वाभाविक है।

उपक्रम

रुचि के अनुसार आत्मा का ज्ञान

परन्तु यह भी अनुभव का विषय है कि जिसको आज एक वस्तु से दुःख की निवृत्ति होती है, तो कल भी पुनः उसी से उसकी दुःख-निवृत्ति होगी, यह निश्चित नहीं है। इसी प्रकार जिसे प्रिय होने के कारण आज हमने 'आत्मा' समझा है, वह पुनः कल भी मुझे प्रिय होगा तथा उसे हम पुनः कल भी 'आत्मा' समझेंगे, यह भी निश्चित नहीं है। ज्ञान स्थिर नहीं रहता। कोरक में से जिस प्रकार पुष्प क्रमशः विकसित होता है, उसी प्रकार जीव में भी ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। इसलिए उस क्रमिक विकसित ज्ञान के प्रतिक्षण भिन्न होने के कारण हमारी दृष्टि भी प्रतिक्षण भिन्न होती रहती है। यह स्वाभाविक बात है। ऐसी स्थिति में भी 'चरम लक्ष्य' एक ही एवं स्थिर रहता है, यह नहीं भूलना चाहिए।

ज्ञान में परिवर्तन

इस प्रकार जीवन के विकास में एक निम्नतम स्तर है जहाँ हमारी बुद्धि अत्यन्त स्थूल है। उस बुद्धि के अनुसार अत्यन्त स्थूल ही वस्तु का ज्ञान हमें प्राप्त होता है।

हमारी बुद्धि सबसे नीचे की सीढ़ी पर खड़ी होकर 'आत्मा' की खोज में, सुख की प्राप्ति के लिए व्यग्र है। संसार में आने पर जीव का यह प्रथम अनुभव है और इस सीढ़ी पर खड़े हो कर जो कुछ उसे अनुभव होता है उसका दिग्दर्शन यहाँ हमें कराना है। इस स्थिति में जो ज्ञान है, उसी के अनुसार स्थलतम दृष्टि वाला दर्शन 'चार्वाक-दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार हमें केवल स्थूलतम वस्तुओं का ही ज्ञान होता है।

अति स्थूल दृष्टि

इस मत के आदि प्रवर्तक बृहस्पति कहे जाते हैं। शुक्राचार्य की अनुपस्थिति में दानवों को बृहस्पति ने इस मत का उपदेश दिया था। यह मत पहले सूत्रों में रचित था। अतएव इन सूत्रों को 'बार्हस्पत्य सूत्र' और इस दर्शन को 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी कहते हैं। किसी का कथन है कि 'चार्वाक' नाम के एक ऋषि ने, जिनकी चर्चा महाभारत में है, इस मत को चलाया। पुण्य, पाप तथा परोक्ष को न मानने वाला भी 'चार्वाक' का अर्थ है। मधुर वचन (चारु वाक्) वाला मत भी चार्वाक का अर्थ किया जाता है। 'लोकायत', 'लोकायतिक', 'बाह्य' नामों से भी यह दर्शन प्रसिद्ध है।

मत के प्रवर्तक

यह मत कब से चला, यह किसी लिखित प्रमाण के आधार पर नहीं कहा जा सकता, किन्तु जैसा पूर्व में कहा गया है, यह हमारे ज्ञान के विकास का सबसे प्रथम रूप है। ऐसी स्थिति में यह सब से प्राचीन मत है, ऐसा कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती। विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद में[1] इस मत की चर्चा है। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को इस मत का उपदेश दिया है कि इन्हीं पाँचों भूतों के मिलने से ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। मरने के पश्चात् ज्ञान नहीं रह जाता।[2]

चार्वाक मत का आरम्भ

श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति के कारण के सम्बन्ध में अनेक मत दिये गये हैं। इनमें से कुछ मत, जैसे 'कालवाद', 'स्वभाववाद', 'नियतिवाद' तथा 'यदृच्छावाद' 'भौतिकवाद' के ही प्रतिपादक हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस सिद्धान्त के अनेक रूप थे और व्यापक रूप में

प्राचीन रूप

---

[1] ७-८९-८।

[2] 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति' २-४-१२।

हमारे शास्त्रों में इसकी चर्चा भी पायी जाती है। इसी सम्बन्ध में उपर्युक्त 'वादों' का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना उचित मालूम होता है।

कालवाद

एक प्रकार से भाग्याधीन विचार वालों का यह 'कालवाद' सिद्धान्त है। हमारे जीवन की सभी घटनाएँ भाग्याधीन ही हैं, यही इनका कथन है। युक्ति या तर्क का तथा कार्यकारणभाव का स्थान इनके मत में नहीं है। शंकराचार्य ने तो यहाँ 'काल' का अर्थ 'स्वभाव' या 'प्रकृति' किया है। इसके अनुसार यह कहा जाता है कि सभी कार्य अपने-अपने स्वभाव से ही होते हैं, किसी कार्य के होने में किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। वरदराज मिश्र[1] आदि विद्वानों का कहना है कि सभी सामग्री के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, जब तक उस कार्य के होने का 'समय' नहीं आता। इसमें किसी युक्ति की तथा कार्यकारणभाव की अपेक्षा नहीं है। इस मत का उल्लेख ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्य-कारिका'[2] में, वात्स्यायन ने 'कामसूत्र'[3] में, गौड़पाद ने 'कारिका'[4] में, उद्योतकर ने 'न्याय-वार्त्तिक'[5] में किया है।

स्वभाववाद

'स्वभाव' का अर्थ शंकराचार्य ने **'पदार्थानां प्रतिनियतशक्तिः'**, अर्थात् 'प्रत्येक पदार्थ में निहित एक अपनी शक्ति', जैसे जल में शैत्य, अग्नि में उष्णत्व, किया है। शंकरानन्द का कहना है कि 'काल' भी स्वतन्त्र नहीं है। यदि अग्नि में दहन करने की शक्ति न हो तो क्या 'काल' अग्नि से किसी को जला सकता है? अतएव 'कालवाद' की अपेक्षा 'स्वभाववाद' में प्रगतिशील विचार है। इस मत में भी युक्ति का कहीं स्थान नहीं है।

'स्वभाव' की व्यापकता

एक बात इसमें विचारने की है कि यद्यपि 'स्वभाववाद' में युक्ति का स्थान नहीं है और दार्शनिकों ने इसका तिरस्कार भी किया है, तथापि यह देखा जाता है कि प्रारम्भ में 'स्वभाव' पर निर्भर हो जाना और 'कार्यकारणभाव को न मानना' अनुचित तथा अप्रगतिशील विचार अवश्य है, किन्तु मनुष्य की विचारशक्ति तो सीमित है और किसी

---

[1] कुसुमाञ्जलिबोधिनी, पृ० ८ (बनारस, सरस्वतीभवन संस्करण)।

[2] कारिका, ५०।

[3] २-३५-३७।

[4] गौड़पादकारिका, ८।

[5] ४-१-२१।

वस्तु के सम्बन्ध में विचार करते-करते अन्त में तो 'स्वभाव' की शरण लेनी ही **पड़ती है**। अतएव यह कम महत्त्व का सिद्धान्त नहीं है। प्राचीन काल में यह एक **बहुत व्यापक** सिद्धान्त था, इसका उल्लेख बौद्ध तथा जैनों के ग्रन्थों में भी पर्याप्त रूप में है।[१] भट्ट उत्पल ने 'बृहत्संहिता' की टीका[२] में भी इसकी चर्चा की है। उज्जवलदत्त ने तो इसके दो विभाग किये हैं—निसर्ग और स्वभाव।[३] 'न्यायसूत्र'[४] में भी इसका उल्लेख है। इस प्रकार यह मत एक समय में बहुत व्यापक था।

नियतिवाद—यह एक प्रकार से 'आकस्मिकवाद' का ही स्वरूप है। इस सिद्धान्त में 'कृति' और 'पुरुषकार' का कोई भी स्थान नहीं है। सभी घटनाएँ पूर्व से ही नियत हैं और वे ही होती रहती हैं। किसी के पौरुष की अपेक्षा नहीं है।

यदृच्छावाद—शंकराचार्य ने 'यदृच्छावाद' का आकस्मिक घटनाओं के साथ ऐक्य माना है। इस मत में भी कार्यकारणभाव नहीं माना जाता। अमलानन्द सरस्वती ने इसकी 'स्वभाववाद' से भिन्न अर्थ में व्याख्या की है।[५]

'महाभारत[६]' में 'देहात्मवाद' का, अर्थात् स्थूल शरीर ही 'आत्मा' है, इस मत का विस्तृत विचार है। इस मत वाले प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानते हैं। आगम

महाभारत और रामायण में भौतिकवाद

तथा अनुमान प्रमाणों का स्थान इनके मत में नहीं है। भूतों के संघटन से चैतन्य उत्पन्न होता है। स्मरणशक्ति भी भूतों के संघटन से उत्पन्न होती है। भोक्तृत्व भूतों में है। चार्वाक का नाम महाभारत में आया है।

'वाल्मीकीय रामायण'[७] में लोकायतिकों का उल्लेख है कि ये लोग असत्य बातों का प्रचार करते थे और अपने को ज्ञानी समझते थे। 'मनुसंहिता' तथा अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी इस मत का उल्लेख है।

---

[१] सरस्वतीभवनसंस्कृत स्टडीज, खण्ड २, पृ० ९७; उमेश मिश्र-हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ, २०३-२०५।

[२] १-७।

[३] न्यायकोश, पृ० ९७१ द्वितीय संस्करण।

[४] ४-१-२२।

[५] भामती-कल्पतरु, २-१-३३।

[६] शान्तिपर्व-मोक्षधर्म, २१८-२३-२९।

[७] अयोध्याकाण्ड, १००-३८-३९।

साहित्य

इस मत का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कहते हैं कि बृहस्पति ने इसके सिद्धान्तों को लेकर एक सूत्र-ग्रन्थ बनाया था, जिसके कुछ सूत्र हमें भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

बृहस्पति के सूत्र—

(१) **'अथातः तत्त्वं व्याख्यास्यामः'**—अब हम इस मत के तत्त्वों का निरूपण करेंगे।

(२) **'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि'**—पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व हैं।

(३) **'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा'**—इन्हीं भूतों के संघटन को शरीर, इन्द्रिय, तथा विषय नाम दिया गया है।

(४) **'तेभ्यश्चैतन्यम्'**—इन्हीं भूतों के संघटन से चैतन्य उत्पन्न होता है।

(५) **'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्'**[1]—जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के संघटन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इन भूतों के संघटन से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होता है।

(६) **'भूतान्येव चेतयन्ते'**—भूत ही 'चैतन्य' उत्पन्न करने का कार्य करते हैं।

(७) **'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'**—चैतन्य-युक्त स्थूल शरीर ही 'आत्मा' है।

(८) **जलबुद्बुद्वज्जीवाः**—जल के ऊपर जैसे बबूले देख पड़ते हैं और शीघ्र ही आप से आप वे नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव हैं।

(९) **'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः'**—परलोक में रहने वाले कोई नहीं होते, अतएव परलोक ही नहीं है।

(१०) **'मरणमेवापवर्गः'**—मरण ही मोक्ष है।

---

[1] 'विज्ञानम्' के स्थान पर 'चैतन्यम्' भी कहीं-कहीं पाठ है।

(११) **'धूर्तप्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्'**—स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलाप-जन्य सुख से भिन्न नहीं है, इसलिए स्वर्ग (सुख) को देने वाले तीनों 'वेद' वस्तुतः धूर्तों का प्रलाप ही हैं।

(१२) **'अर्थकामौ पुरुषार्थौ'**—अर्थ और काम ये दोनों पुरुषार्थ हैं।

(१३) **'दण्डनीतिरेव विद्या' (अत्र वार्ता अन्तर्भवति)**[1]—राजनीति ही एकमात्र विद्या है, इसी में कृषिशास्त्र भी सम्मिलित है।

(१४) **'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्'**—प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

(१५) **'लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः'**—साधारण लोगों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

इन्हीं बातों का उल्लेख पूर्वपक्ष के रूप में हमें शास्त्रों में मिलता है। भट्ट जयराशि के तत्त्वोपप्लव में इस मत का विशेष विचार है।

तत्त्वों का विचार

यद्यपि उपर्युक्त सूत्रों में ही इनके सिद्धान्तों की सभी बातें कह दी गयी हैं, तथापि इनकी व्याख्या की भी कुछ आवश्यकता है। अतएव इनके मन्तव्यों के सम्बन्ध में संक्षेप में विवेचना यहाँ की जाती है—

प्रमेय विचार

चार्वाक लोग स्थूलतम विचार वाले हैं। ज्ञान के विकास की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ कर ये लोग 'आत्मा' की खोज करते हैं। ऐसी स्थिति में स्थूल दृष्टि से जो पदार्थ इनके सामने आते हैं उन्हें ही ये लोग 'प्रमेय' मानते हैं। वास्तव में यही ठीक भी है। जो पदार्थ जिसकी दृष्टि में आता है, उसे ही तो वह सत्य मानेगा, फिर आँख की देखी हुई वस्तु को कोई कैसे न माने? आँख ही तो सबसे अधिक विश्वसनीय देखने की इन्द्रिय है। इसलिए इनके सिद्धान्त में पृथ्वी, जल, वायु तथा तेज ये ही चार पदार्थ संसार में 'प्रमेय' माने जाते हैं। इन्हीं से इस जगत् की प्रत्येक वस्तु बनती है।

किन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों में भी, एक ही सीढ़ी पर रहने पर भी, क्रमशः ज्ञान का विकास होता ही रहता है। अतएव इनके अन्तर्गत भी अनेक भेदान्तर हैं, जिनका विचार आगे किया गया है। यही कारण है कि इनके एक दूसरे दल

---

१. 'वार्त्ता दण्डनीतिर्द्वे विद्ये'—इति बार्हस्पत्याः—काव्यमीमांसा, पृ० ४।

ने आकाश, प्राण और मनस् को भी जगत् के पदार्थों में मान लिया। इनके मत में 'आकाश' को 'आवरण' का 'अभाव' कहते हैं। यह हमारे शरीर में नहीं रहता।[1] 'प्राण' और मनस्' उपनिषद् के अनुसार भौतिक पदार्थ हैं[2] और चार्वाक ने प्रायः इनके भौतिक होने के ही कारण इन्हें अपना पदार्थ स्वीकार किया है।

आवरण का अभाव आकाश

प्रमेयों का ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है। प्रमाण की संख्या प्रमेयों के स्वभाव पर निर्भर है। जितने ही प्रमाणों से प्रमेयों का ज्ञान हो जाय, उतनी ही संख्या में प्रमाणों को स्वीकार करना चाहिए। चार्वाकों में अति मूढ़ अवस्था वाले पृथ्वी, जल, वायु और तेज, ये ही चार 'प्रमेय' मानते हैं। इन चारों का ज्ञान एक मात्र 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के द्वारा होता है। जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, उनका अस्तित्व ये लोग नहीं मानते अथवा उनकी सम्भावना मात्र मानते हैं, परन्तु उनमें प्रामाण्य ज्ञान नहीं मानते। अतएव चार्वाक के लिए एक-मात्र प्रमाण 'प्रत्यक्ष' है। आकाश और मन को भी स्थूल बुद्धि से प्रत्यक्ष के द्वारा ये लोग जान लेते हैं।

प्रमाण

पहले ये केवल चक्षु से देखने को 'प्रत्यक्ष' कहते थे, किन्तु ज्ञान के क्रमिक विकास से अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी, अर्थात् कान, नाक, त्वक् तथा जिह्वा के द्वारा भी, 'प्रत्यक्ष' मानने लगे। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' पाँच प्रकार का माना जाने लगा।

प्रत्यक्ष के भेद

यद्यपि सभी शास्त्रकारों ने एक मात्र 'प्रत्यक्ष प्रमाण' मानने के कारण चार्वाकों की बहुत निन्दा की है और अनेक प्रकार से इनका खण्डन किया है, परन्तु उन लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से चार्वाक के स्थान को देख कर उनके मत का तिरस्कार किया है। दूसरी बात यह है कि अपने मत की पुष्टि के लिए और जिज्ञासुओं को श्रद्धापूर्वक अपने मत को समझाने के लिए दूसरे के मत का खण्डन करना पड़ता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जिस मत का खण्डन किया है वह मत वास्तव में अशुद्ध है। यदि

मतखण्डन का अभिप्राय

---

[1] सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ११९; चौखम्भा संस्करण।

[2] छान्दोग्य उपनिषद्, ६-५-१।

ऐसा न किया जाय तो जिज्ञासु का मन भिन्न-भिन्न दर्शनों की ओर चले जाने से विचलित हो जायगा और उसे किसी भी दर्शन का पूर्ण ज्ञान न हो सकेगा। वस्तुतः एक दर्शन का दृष्टिकोण दूसरे के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। अतएव दोनों के सिद्धान्त में भेद होना ही स्वाभाविक, उचित और सत्य है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

इन सब बातों के होने पर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि यथार्थ में सर्वथा एवं सबसे अधिक विश्वसनीय एक मात्र प्रमाण तो 'प्रत्यक्ष' ही है। जब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान नहीं होता, तब तक उस वस्तु के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है, वह सन्देह से मुक्त नहीं है। उसे केवल 'सम्भावित' कह सकते हैं, परन्तु विश्वसनीय तो प्रत्यक्ष होने पर ही हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा को 'देखने' के लिए वेद ने कहा है। 'देखने' का अर्थ है 'प्रत्यक्ष प्रमाण का गोचर करना'। बिना प्रत्यक्ष के, बिना साक्षात्कार के किसी वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। यही कारण है कि शंकराचार्य को भी ब्रह्म को जानने के लिए 'अपरोक्षानुभूति' ही माननी पड़ी।

प्रमाणों का आधार

इसी के साथ-साथ यह भी विचार करना उचित है कि 'अनुमान' और 'उपमान' स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं। ये 'प्रत्यक्ष' के ही आधार पर प्रमाण माने जाते हैं। 'आगम' या 'शब्द' प्रमाण तो वस्तुतः 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण है। ऋषियों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा साक्षात् अनुभव कर जो कुछ कहा है या लिपिबद्ध किया है, वही तो आज 'आगम प्रमाण' है। इस प्रकार विचारने से यह स्पष्ट है कि वस्तुतः 'प्रत्यक्ष' ही एक सबसे अधिक श्रद्धा के योग्य, प्रामाणिक, सर्वतन्त्र और विश्वसनीय प्रमाण है। यही बात लोक में भी देख पड़ती है।

उत्पत्ति की प्रक्रिया

स्रष्टा या ईश्वर

ये लोग प्रलय में विश्वास नहीं करते। अतएव इस संसार को उत्पन्न करने के लिए स्रष्टा आदि की इन्हें अपेक्षा ही नहीं है। सृष्टि आप से आप या माता-पिता की परम्परा से हो जाती है। इसके लिए किसी स्रष्टा या ईश्वरेच्छा या अदृष्ट आदि के मानने की आवश्यकता नहीं है। घट, पट, आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इनका कहना है कि क्षिति, जल आदि भूतों के सबसे छोटे-छोटे त्रसरेणु-रूप कणों के संस्थान-विशेष से घट आदि

पदार्थ बनते हैं। इनके मत में 'संयोग' या 'समवाय' के द्वारा कणों का अवयव-अवयवी-रूप में संघटन नहीं हो सकता, क्योंकि ये 'त्रसरेणु' क्षणिक हैं। एक क्षण के बाद ये नष्ट हो जाते हैं। अतएव इनसे 'अवयवी' नहीं बन सकता। त्रसरेणुओं के संस्थान-विशेष या केवल संघटन मात्र से ही वस्तुएँ बनती हैं। रूप, रस, गन्ध, आदि गुण भी पृथ्वी, जल, आदि भूतों के ही संस्थानों के द्वारा बनते हैं।[1]

संयोग तथा समवाय

शरीर में जो चैतन्य या प्राण है, वह भी भूतों के संस्थान-विशेष से ही उत्पन्न होता है। इनकी उत्पत्ति यदृच्छावश होती है, किसी कारण-विशेष से नहीं। जिस प्रकार दो-चार वस्तुओं के मिला देने से उनमें प्रत्येक में कोई मादकता शक्ति न रहने पर भी उनकी सम्मिलित अवस्था में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार भूतों के संघटन-विशेष में अचानक 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है। इसी से यह भी सिद्ध है कि जीवन के लिए उसके पूर्व-जीवन की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार वर्षा के समय में मेढ़क या छोटे-छोटे कीड़े मकोड़े आप से आप भूतों से उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि जीवों में भी 'चैतन्य' अचानक उत्पन्न हो जाता है।

चैतन्य और जीवन की उत्पत्ति

'त्रसरेणु' क्षणिक हैं, उनसे बने हुए पदार्थ या जीव के शरीर भी क्षणिक हैं, पुनः एक क्षण के बाद पूर्व-शरीर के न रहने पर पूर्व-शरीर-जन्य कार्यों का फल या स्मरण आदि 'संस्कार' के द्वारा माना जाता है।[2]

संस्कार के द्वारा स्मृति

आचार-शास्त्र के सम्बन्ध में इनका सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही सर्वथा निर्भर है। यही कारण है कि ये लोग 'ईश्वर', 'परलोक', 'मरने के बाद जीव का अस्तित्व', आदि नहीं मानते। इन्हें स्थूल शरीर की इन्द्रियों से तो ये देख नहीं सकते, फिर किस प्रमाण के आधार पर इनके अस्तित्व का विश्वास करें? अनुमान आदि प्रमाण विश्वसनीय नहीं हैं, अतएव ये ईश्वर आदि को नहीं मानते। इसीलिए इन्हें आस्तिक लोग 'नास्तिक' कहते हैं।

आचार-विचार

नास्तिक

---

[1] शंकरभाष्य भामती, ३-५४।

[2] न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४३७, ४३९।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये लोग ज्ञान की सोपान-परम्परा की प्रथम ही सीढ़ी पर अभी चढ़े हैं, इसलिए इनकी दृष्टि भी तो बड़ी स्थूल है। ये दूर तो देख नहीं सकते, फिर दूर की बातें करना भी इनके लिए अनुचित है। इस स्थिति में अपनी स्थूल बुद्धि के अनुसार जगत् का प्रत्यक्ष रूप में इन्हें जो अनुभव होता है, उसे ही ये प्रतिपादित करते हैं और उतना ही प्रतिपादन करना उचित भी है। जितना ज्ञान का विकास एक शिशु को है, उतना ही इन्हें भी है। शिशुओं को परलोक या ईश्वर का ज्ञान कहाँ होता है? उन्हें पुण्य या पाप का भी कुछ ज्ञान नहीं होता। उन्हें अच्छे भोजन से, अच्छे खिलौने से, लुभाने वाले अच्छे सुगन्धित फूलों से, अच्छे वस्त्र से जिस प्रकार स्वर्ग-सुख मिलता है, वैसे ही इन्हें भी इन्हीं अनुभवों में 'स्वर्ग' के सुख का ज्ञान होता है। शारीरिक एवं मानसिक दुःख ही इनके लिए 'नरक' है।

स्वर्ग और नरक

जिस प्रकार अति मूढ़ बालक 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' यही एक मात्र सिद्धान्त अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझता है, उसी प्रकार इनका भी—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥'

यही एक सिद्धान्त है। पूजा-पाठ करना, वेद आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करना, दान करना, तीर्थों में स्नान करना, सत्य बोलना, आदि सभी कर्म लोभ के कारण लोग करते हैं। ये लोभी पुरुषों के ढोंग हैं। इनसे कोई प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति नहीं है और अप्रत्यक्ष सुख तो कोई है ही नहीं। जीवन-सुख के लिए जो कर्म हो, उसे ही ये लोग सार्थक मानते हैं। ये लोग उस 'कर्म' को 'धर्म' कहते हैं, जिससे अपनी कामना की पूर्ति हो।[१] कृषि-कर्म, पशुपालन, व्यापार, राजनीति, ये सब जीवन-सुख के लिए हैं,[२] अतएव इन्हें करना चाहिए।

जीवन-सुख

आत्मा का विचार

जैसा ऊपर कहा गया है, जीवमात्र दुःख की निवृत्ति के लिए, आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति के लिए या 'आत्मा' के दर्शन के लिए ही व्याकुल है। एक मात्र उसी

---

[१] षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्न की टीका, कारिका ८६, पृ० ३०८।

[२] सर्वसिद्धान्तसंग्रह, लोकायतमत, कारिका ८-१६-१८।

लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीव की सभी क्रियाएँ होती हैं। 'आत्मा' के दर्शन से, साक्षात्कार से, दुःख की निवृत्ति होती है, यही तो वेद का एवं शास्त्रों का कहना है तथा ऋषियों का अनुभव भी है। अतएव सभी जीव 'आत्मा' की खोज में अपनी बुद्धि के अनुसार लगे रहते हैं।

आत्मा की खोज

शास्त्र के अध्ययन के अनुसार यह कहा जा सकता है कि चार्वाकों के मत में 'आत्मा' का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का होना चाहिए—'आत्मा' परतन्त्र न हो, सब से प्रिय वस्तु हो, चैतन्य रखने वाला हो, कर्म करने वाला हो, इत्यादि। यह भी सत्य है कि इनके मत में जो 'आत्मा' होगी, उसका प्रत्यक्ष अवश्य होगा। ऐसी स्थिति में 'आत्मा' भी कोई भूत या भूतों के संघटन से बना हुआ पदार्थ ही हो सकती है।

आत्मा का स्वरूप

इसी के साथ-साथ यह ध्यान में रखना चाहिए कि दर्शनों के विचार-विमर्श में 'आगम' 'तर्क' तथा 'अनुभव', इन तीनों का लोग ध्यान रखते हैं। यद्यपि चार्वाक-मत में एक प्रकार से आस्तिकों के आगम और तर्क का कोई भी स्थान नहीं है, फिर भी जो लोग आगम और तर्क को मानते हैं, उन्हें समझाने के लिए उनके ही आगम और तर्कों की सहायता चार्वाकों ने अपने मत के स्थापन के लिए स्वीकार की है। इनको तो अपने मत के स्थापन से ही इष्टसिद्धि है, चाहे वह किसी प्रकार हो। हाँ, यह ध्यान में सतत रखना है कि कोई विचार अपने सिद्धान्त के विरुद्ध न जाय। अतएव 'आत्मा' के स्वरूप के विचार में चार्वाकों ने आस्तिकों के आगम और तर्क का भी सहारा लिया है।

आगम, तर्क तथा अनुभव

संसार में **'लौकिक धन'** को ही कुछ लोग 'आत्मा' मानते हैं। सब से प्रिय उनके लिए ऐहिक 'धन' है। 'धन' के नष्ट होने से वे लोग शोक-ग्रस्त हो जाते हैं और मर जाते हैं। जीवन का सुख-दुःख 'धन' के होने और न होने पर ही निर्भर होता है। जिसके पास 'धन' होता है, वही स्वतन्त्र है, महान् है, सभी कर्म करने में समर्थ है, वही ज्ञानी कहलाता है, इत्यादि बातों को देख कर **'धन ही आत्मा'**[1] है, यह कहा जाता है।

धन ही आत्मा

---

[1] **बृहदारण्यक, १-४-८; वार्तिकामृत-सिद्धान्तबिन्दु में उद्धृत, पृ० २०४-२०५।**
वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात् तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः ॥—विवरण प्रमेयसंग्रह, १२।

इनसे कुछ अधिक ज्ञान वाले लोग कहते हैं कि 'धन' तो जड़ है, उसमें चैतन्य नहीं है। वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता है। इसलिए वस्तुतः 'पुत्र' ही 'आत्मा' है। श्रुति में भी कहा गया है—'**आत्मा वै जायते पुत्रः**'[1]। पुत्र के सुख से पिता सुखी है और दुःख से दुःखी है। पुत्र के मरने से वह स्वयं भी शोक-युक्त हो कर मर जाता है, यह संसार में कहीं न कहीं साक्षात् देख पड़ता है। इन बातों के आधार पर '**पुत्र ही आत्मा**' है, यह कहा जाता है।

पुत्र ही आत्मा

देखा गया है कि घर में आग लगने पर जलते हुए घर में 'पुत्र' को छोड़ कर अपने को लोग बचाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पुत्र से भी अधिक अपने 'शरीर' को लोग प्रिय मानते हैं। श्रुति भी कहती है—'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' इत्यादि। सभी क्रियाएँ तथा चैतन्य भी तो शरीर में ही है। इसीलिए चार्वाक-सूत्र में भी कहा गया है—

देहात्मवाद

'**चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः**'

शरीर में ही चैतन्य है। शरीर में ही क्रिया होती है। शरीर के मरने पर न तो उसमें चैतन्य रहता है और न क्रिया। श्रुति ने भी कहा है—

'**स वा एष अन्नरसमयः पुरुषः**'[2]

'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', 'मैं काला' या 'गौर वर्ण का हूँ', इत्यादि अनुभवों से भी '**शरीर ही आत्मा**' है[3], यही सिद्ध होता है। इसे '**देहात्मवाद**' कहते हैं। परन्तु यह भी मत ठीक नहीं है। 'इन्द्रियों' के अधीन 'शरीर' है। 'इन्द्रियाँ' ही क्रिया करती हैं। श्रुति में भी यही कहा गया है—

इन्द्रियात्मवाद

'**ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरं प्रेत्य ऊचुः**'[4]

अनुभव भी ऐसा ही है—'मैं अन्धा हूँ', 'मैं बहरा हूँ', इत्यादि। इन सभी अनुभवों में 'मैं' आत्मा के लिए ही आया है। इन बातों के आधार पर 'इन्द्रिय' को ही 'आत्मा' चार्वाकों के एक दल ने माना है। इसे '**इन्द्रियात्मवाद**' कहते हैं।

---

[1] कोषीतकि उपनिषद्, १-२।

[2] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-१-१।

[3] वेदान्तसार, पृ० ९४; जीवानन्दपुत्र-संस्करण।

[4] छान्दोग्य उपनिषद्, ५-१-७।

'इन्द्रियात्मवाद' में दो मत हैं—**'एकेन्द्रियात्मवाद'** तथा **'मिलितेन्द्रियात्मवाद'**। एक शरीर में एक ही किसी एक इन्द्रिय को 'आत्मा' मान लेना या सभी इन्द्रियों को मिला कर एक 'आत्मा' मान लेना।[१]

प्राणात्मवाद

क्रमशः ज्ञान के विकास के साथ-साथ इनकी दृष्टि भी सूक्ष्म की ओर जाती है और यह देखा जाता है कि वस्तुतः 'प्राणों' के अधीन इन्द्रियाँ हैं। शरीर में 'प्राणों' की प्रधानता है। 'प्राण' वायु के निकल जाने पर शरीर मर जाता है और इन्द्रियाँ भी मर जाती हैं और उसके रहने पर शरीर जीवित रहता है और इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। अनुभव भी ऐसा ही होता है—'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ', इत्यादि। भूख और प्यास 'प्राण' का धर्म है। श्रुति ने भी कहा है—

'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'[२]

इन बातों के आधार पर **'प्राण ही आत्मा'** है, यह भी किसी-किसी चार्वाकों का मत है। इसे **'प्राणात्मवाद'** कहते हैं।

आत्ममनोवाद

उक्त मत से सभी सहमत नहीं हैं। चार्वाकों के एक दल का कहना है कि शरीर के समस्त कार्य 'मन' के अधीन हैं। यदि 'मन' निद्रा की अवस्था में 'पुरीतत्' में लीन हो जाता है, तो शरीर कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। 'मन' स्वतन्त्र है। यही ज्ञान को देता है। श्रुति में भी यही कहा गया है—

'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'[३]

इन बातों से यह स्पष्ट है कि **'मन'** ही **'आत्मा'** है। इसे ही—**'आत्ममनोवाद'** कहते हैं।

आत्मा के सम्बन्ध में उपर्युक्त जितने सिद्धान्त कहे गये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि इनमें क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की तरफ इन लोगों की दृष्टि बढ़ती गयी है। धन, पुत्र,

---

[१] सिद्धान्तबिन्दु, पृ० १०७।

[२] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-२-१।

[३] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-३-१।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन, ये सभी एक न एक दृष्टिकोण से 'आत्मा' माने गये हैं और सूक्ष्मता के विचार से पूर्व-पूर्व कथित स्थूल मत का स्वयं निराकरण हो गया है। परन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ये सभी मत एक सीढ़ी पर रहने पर भी दृष्टिकोण के भेद से ही भिन्न हैं। एक सीढ़ी पर रहने वालों में भी क्रमिक ज्ञान का विकास तो होता ही रहता है। दूसरी सीढ़ी पर जाने की अव्यक्त मानसिक चेष्टा तो होती ही रहती है और लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सभी विकासों का ज्ञान आवश्यक है। सूक्ष्म स्थान पर पहुँच कर पहले वाला मत अवश्य स्थूल और सब से अधिक प्रामाणिक रूप में अग्राह्य मालूम होने लगता है, परन्तु हैं तो सभी ठीक।

यह 'भौतिकवाद' है। भूतों में ही इस मत के सभी विचार निहित हैं। भूतों के परे जाने में ये लोग असमर्थ हैं। ये तो अभी पहली ही सीढ़ी पर हैं। यही कारण है कि यद्यपि स्थूल दृष्टि से प्रत्यक्ष के द्वारा केवल चार ही भूतों का ज्ञान इनको हो सकता है, तथापि भौतिकवादी होने के कारण आकाश, प्राण और मन को भी पदार्थों में इन्होंने स्वीकार कर लिया है। 'प्राण' और 'मन' भी क्रमशः 'जलीय' पदार्थ तथा 'अन्न' से बने हैं, अतएव ये भी भौतिक हैं, यह छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है[1]—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते।

तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।'

'आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते।

तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।'

अतएव ज्ञान के विकास के अनुसार क्रमशः स्थूल भूत से सूक्ष्म भूत पर्यन्त इनके सिद्धान्त में स्वीकृत होता है। भूतों के परे ये लोग नहीं जा सकते। इनका ज्ञानक्षेत्र भूत पर्यन्त में ही सीमित है।

आलोचन

इस प्रकार चार्वाक-दर्शन का विचार यहाँ समाप्त हुआ। एक दर्शन की विचार-धारा का दूसरे दर्शन में हम खण्डन पाते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार की एक परि-

---

[1] ६-५-१।

पाटी चली आयी है, किन्तु जैसा पूर्व में हम कह चुके हैं, इस खण्डन का एक विशेष महत्त्व है। इस ग्रन्थ में हमारा उद्देश्य है भिन्न-भिन्न दर्शनों की विचारधाराओं का उन-उन दर्शनों के ही दृष्टिकोण से विचार करना, जिसमें हमें यह स्पष्ट ज्ञान हो जाय कि किस दर्शन का क्या मन्तव्य है। मुझे तो प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्तों का वास्तविक रूप में प्रतिपादन करना है। खण्डन करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः आजकल के विद्वानों के अनुसार खण्डन करना हम अनुचित तथा दर्शनशास्त्र के महत्त्व को भूल जाना समझते हैं। अपने-अपने स्थान से एवं अपने-अपने दृष्टि-कोण से सभी दर्शन परम तत्त्व ही को देखते हैं। मार्ग तो एक ही है। कोई आगे है, कोई पीछे और कोई बीच में। भेद तो यही है। फिर तो खण्डन किसका? एक ही मार्ग के तो सभी पथिक हैं। जो आज पहली सीढ़ी पर है, वही तपस्या के द्वारा ज्ञान के क्रमिक विकास को प्राप्त कर कल अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचता है, किन्तु सभी सीढ़ियाँ उसे अवश्य ही पार करनी पड़ती हैं। इसलिए चार्वाक-दर्शन का भी एक अपना स्वतन्त्र स्थान है। वस्तुतः यही तो बाद के दर्शनों की पृष्ठ-भूमि है। यदि शैशवावस्था न होती तो जरावस्था ही कहाँ से आती?

पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन

'ईश्वर' की अपेक्षा न रखने वाले दर्शनों में 'चार्वाक-दर्शन' के अनन्तर 'जैन-दर्शन' का स्थान है। जैनों के धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों में चार्वाक-मत का उल्लेख है।

ज्ञान के विकास में जैन-दर्शन का स्थान

दूसरी बात यह है कि चार्वाक-सिद्धान्त के अनुसार 'आत्मा' का स्वरूप भौतिक है। भूतों से पृथक् 'आत्मा' की सत्ता चार्वाकों ने नहीं स्वीकार की। किन्तु जैनों ने 'आत्मा' का पृथक् अस्तित्व माना है। 'आत्मवाद' का यह क्रमिक विकसित रूप है। अतएव यह स्पष्ट है कि जैन लोग ज्ञान के मार्ग में चार्वाकों की अपेक्षा कुछ अग्रसर हुए हैं। तथापि भौतिकवाद से सर्वथा मुक्त जैन नहीं हैं। इनकी 'आत्मा' अलौकिक गुणों से सम्पन्न होने पर भी भौतिकता से सम्बन्ध रखती है। जैन-दर्शन में 'आत्मा' 'मध्यम-परिमाण' की है, अर्थात् न तो यह (परम) 'अणु' परिमाण की है और न (परम) 'महत्' परिमाण की। आस्तिक-दर्शन में इन दोनों परिमाणों के अतिरिक्त परिमाण वाली वस्तुएँ अनित्य होती हैं, जैसे घट, पट आदि भौतिक पदार्थ। इसलिए जैनों की 'आत्मा' भी भूतों के गुण से सम्पन्न है। इसके अतिरिक्त जैनों की आत्मा 'परिणामी' भी है। तीसरी बात यह है कि इनके जीव 'अस्तिकाय' कहलाते हैं, अर्थात् जीव एक प्रकार का शरीरधारी है और यह छोटा और बड़ा होता रहता है एवं इसके टुकड़े भी किये जा सकते हैं। ये सब गुण तो भौतिक पदार्थों के ही हैं। अतएव यद्यपि जैन-दर्शन में 'आत्मा' का स्थान भूतों से पृथक् है, तथापि भौतिकता से सम्बद्ध रहने के कारण चार्वाक-मत के पश्चात् निकट में ही इस दर्शन का स्थान है, ऐसा मालूम होता है।

जैन-दर्शन एक नास्तिक दर्शन कहा जाता है और कुछ बातों में आस्तिक दर्शनों से इस का स्वाभाविक मतभेद भी है, तथापि यह भी उसी मार्ग का पथिक है जिससे

होकर आस्तिक दर्शनों की विचारधारा बहती है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति या परम सुख की प्राप्ति, इनका भी चरम लक्ष्य है। कठोर तपस्या, साधना, आदि के द्वारा कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण कर अन्तःकरण की शुद्धि करना एवं परमात्मा का साक्षात्कार करना, इनका भी चरम उद्देश्य है। इसी लिए जैन लोग 'सम्यक् दर्शन', 'सम्यक् ज्ञान' तथा 'सम्यक् चारित्र', इन तीन 'रत्नों' की प्राप्ति के लिए जीवन भर प्रयत्न करते हैं। ये सभी बातें आस्तिक दर्शनों में भी हैं। अतएव यद्यपि जैनों को आस्तिक लोग 'नास्तिक' कहते हैं, फिर भी दार्शनिक विचार में तथा ज्ञान के विकास में तो जैन दर्शन भी उसी सोपान-परम्परा पर चढ़ा है जिस पर आस्तिक लोग चढ़े हैं। भेद है स्वाभाविक दृष्टि-कोण का और एक ही मार्ग में आगे-पीछे रहने का।

आस्तिक दर्शनों के साथ सादृश्य

जैन सिद्धान्त के प्रवर्तक

महावीर से पूर्व का समय

जैन-सिद्धान्त के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं। इनके साथ अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि के भी नाम लोग लेते हैं। जैनों का कहना है कि ये नाम ऋग्वेद[1] में भी मिलते हैं। अतएव यह मत बहुत ही पुराना है। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है कि सभी दर्शनों का मूल सिद्धान्त हमारे उपनिषदों में है। उसी के आधार पर विद्वानों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार दार्शनिक विचारों को चलाया है।

जैनों के चौबीस महापुरुष हुए हैं, जिन्हें वे 'तीर्थङ्कर' कहते हैं। उनके नाम हैं—आदिनाथ (ऋषभदेव), अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ या मल्लीदेवी, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वर्धमान-महावीर। इसी आचार्य-परम्परा के द्वारा जैन-सिद्धान्त अनादि काल से सुरक्षित है।

आचार्य-परम्परा

---

[1] १-८९-६।

महावीर

वर्धमान, प्रसिद्ध महावीर, अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म ईसा से पूर्व ५९९ में हुआ था। यह तीस वर्ष की अवस्था में परिव्राजक हुए और 'केवल-ज्ञान' की प्राप्ति के लिए व्रतों का पालन करते हुए इन्होंने कठोर तपस्या की। इनका मनोरथ सफल हुआ और यह सर्वज्ञ हो गये। तभी से लोग इन्हें 'महावीर' कहने लगे। '**निर्ग्रन्थ**' नाम से प्रसिद्ध साधुओं का एक दल था, जिसका लक्ष्य था सभी बन्धनों से मुक्त होना। उस दल के नेता महावीर हुए।

महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ थे। उन्होंने बहुत-से कठोर नियमों का पालन कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अपने शिष्यों को उपदेश दिया था। उन्हीं उपदेशों के आधार पर महावीर ने अपना कर्तव्य-निश्चय किया। सर्वप्रथम इन्होंने कहा कि साधुओं को भी इन्द्रिय-निग्रह कर कठोर-रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा संसार से निर्लिप्त रहना चाहिए। अन्त में उन्होंने सब साधुओं को 'दिगम्बर' रहने का आदेश दिया। उन्होंने कहा कि जब तक साधु लोग वस्त्र का भी परित्याग नहीं कर देंगे, तब तक उनके मन से अच्छे तथा बुरे का विचार दूर नहीं हो सकेगा एवं वे लोग निर्लिप्त न हो सकेंगे।

महावीर के उपदेश

किन्तु यह सभी को पसन्द नहीं हुआ। अतएव साधुओं में दो दल हो गये—'**दिगम्बर**' तथा '**श्वेताम्बर**'। इस दलबन्दी से जैन-मत के बाह्यरूप में ही भेद हुआ, किन्तु तात्त्विक विचार में कोई परिवर्तन न हुआ।

अन्य ज्ञानियों के समान महावीर ने भी चित्तशुद्धि की बहुत आवश्यकता बतलायी, जिसके लिए उन्होंने पुनः सम्यक् चारित्र का सम्पादन करने का उपदेश दिया। 'केवल-ज्ञान' प्राप्त करने के लिए परिव्राजक होना, गृहस्थों से भिक्षा माँग कर जीवन का निर्वाह करना तथा निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक है—

पांच व्रत

अहिंसा, असत्यत्याग, अस्तेयव्रत (चोरी न करने का नियम), ब्रह्मचर्यव्रत तथा अपरिग्रह (किसी प्रकार के धन को न लेना और न रखना)। इन पाँचों व्रतों का अनेक रूप से पालन करना चाहिए।[1]

---

[1] यही तो मनु ने भी कहा है—
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ (१०।६३)

साधुओं को अभिमान नहीं करना चाहिए और कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टाओं पर नियन्त्रण (गुप्ति) रखना उचित है एवं मरण पर्यन्त कठिन से कठिन कष्ट को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिए।

गुण-स्थान

इस प्रकार शरीर, वचन तथा मन को वश में लाकर साधुओं को अपनी जीवात्मा को मोक्ष के मार्ग में अग्रसर करना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित चौदहों **'गुणस्थानों'** का अनुभव तथा उससे प्राप्त ज्ञान का साक्षात्कार करना आवश्यक है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए ऊर्ध्वगतिशील जीव के स्वरूप के एक अवस्था-विशेष को **'गुणस्थान'** कहते हैं। ये 'गुणस्थान' चौदह हैं—

(१) **मिथ्यात्व**—जैन के सिद्धान्त में मिथ्यात्व का विश्वास,

(२) **सासादन**—जैन-सिद्धान्तों में अश्रद्धा तथा जैनेतर सिद्धान्तों में विश्वास,

(३) **मिश्र**—जैन-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सत्य और असत्य दोनों भावनाओं की समानता रखना,

(४) **अविरत-सम्यक्त्व**—जैन-सिद्धान्तों में संशय से युक्त विश्वास का उदय,

(५) **देशविरति**—मनोनिग्रह में प्रगति,

(६) **प्रमत्त**—समय-समय पर असफल रहने पर भी अहिंसा, अस्तेय, आदि नियमों का पालन करना,

(७) **अप्रमत्त**—अहिंसा, आदि नियमों के पालन में पूर्ण सफल रहना,

(८) **अपूर्वकरण**—अननुभूतपूर्व आनन्द और सुख का अनुभव करना,

(९) **अनिवृत्तिकरण**—क्रोध, मान, माया तथा लोभ, इन चारों 'कषायों' में से तीसरे, अर्थात् 'माया' से रहित-सा होना,

(१०) **सूक्ष्मसाम्पराय**—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के अनुभवों से मुक्त होकर पीड़ा, भय, शोक, आदि से भी रहित होना,

(११) **उपशान्तमोह**—'मोहनीय' कर्मों को अपने अधिकार में लाना,

(१२) **क्षीणमोह**—'मोहनीय' कर्मों से तथा 'कषायों' से सर्वथा विमुक्ति की अवस्था में रहना,

(१३) **सयोगि-केवली**—सभी 'घातीय' कर्मों से विमुक्त होकर तीर्थंकर के पद की प्राप्ति के योग्य होना। इस अवस्था में जीव को अनन्त ज्ञान, अनवच्छिन्न अन्तर्दृष्टि, अनन्त सुख तथा असीमित शक्तियाँ मिलती हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर जीव परिव्राजक होकर लोगों को उपदेश देता है।

(१४) **अयोगि-केवली**—इस अवस्था को प्राप्त कर जीव सीधे विमुक्त होकर 'सिद्ध' कहलाने लगता है और ऊपर की ओर गति को प्राप्त करता है। ऊपर उठकर 'लोकाकाश' तथा 'अलोकाकाश' के बीच में स्थित 'सिद्ध-शिला' में 'जीव' वास करता है। मुक्त होने पर भी 'जीव' अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता ही है।

इन साधुओं में 'तीर्थंकर' का पद सब से बड़ा है। इस अवस्था को प्राप्त कर 'सम्यक् ज्ञान', 'सम्यक् वाक्', 'सम्यक् चारित्र', श्रद्धा, आदि से युक्त होकर जीव 'साधु' हो जाते हैं। किसी प्रकार का रोग एवं भय इन्हें नहीं सताता।

तीर्थंकर

वर्षाऋतु के चार मास ये किसी एक स्थान में अपने शिष्यों के साथ व्यतीत करते हैं, अवशिष्ट आठ मास ये एक स्थान से दूसरे स्थान में घूम कर लोगों को जैन धर्म का उपदेश देते हैं। इनमें 'घातीय' कर्म नहीं रहते और ये अनन्त शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।[1] इन में 'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान', 'अवधिज्ञान' एवं 'मनःपर्याय-ज्ञान' स्वभावतः होते हैं। कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाने पर 'केवल-ज्ञान' भी इन में हो जाता है।[2] जैनों के एक दल (दिगम्बरों) का कहना है कि स्त्री-जाति के लोग कभी तीर्थंकर नहीं हो सकते, उन्हें मुक्ति प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।[3]

इस प्रकार महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए राजगृह के समीप पावा में, ७२ वर्ष की अवस्था में, ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व, निर्वाण प्राप्त किया।

---

[1] द्रव्यसंग्रह, कारिका ५०।

[2] हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृष्ठ ३२-३३; पन्द्रह पूर्वभावों की भूमिका, भाग १, पृ० २४।

[3] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० २२८; हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ५६-५७।

महावीर के पूर्व २३ तीर्थंकर हुए थे, किन्तु जैन धर्म को एक नियत रूप देने का श्रेय महावीर को ही है। इनके शिष्यों में कुछ 'साधु' थे और कुछ 'गृहस्थ'। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही इस धर्म में दीक्षित होते थे। इन लोगों का एक 'संघ' होता था और ये लोग एक आश्रम में रहते थे, जिसे लोग 'अपासरा' कहते हैं।

'स्थविरावली' के अनुसार महावीर के नौ प्रकार के शिष्य थे जो 'गण' कहलाते थे। इनका एक निरीक्षक होता था, जिसे जैन लोग 'गणधर' कहते थे। ऐसे ११ 'गणधर' थे, जिनके नाम—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास थे। इनके अतिरिक्त गोशाल तथा जमालि भी महावीर के मुख्य शिष्यों में थे।

गणधर

महावीर की शिष्य-परम्परा

इन शिष्यों की परम्परा ३१७ ईसा के पूर्व तक चली। इनमें कतिपय शिष्यों ने 'संघ' का कार्य बहुत सुन्दर रूप से चलाया और वे बड़े प्रसिद्ध हुए। इन में 'भद्रबाहु' का नाम विशेष-रूप से उल्लेख्य है। ३१७ ईसा के पूर्व में इन्होंने 'संघ' का कार्य अपने हाथ में लिया और ३१० में मगध में बड़ा अकाल पड़ा। इसलिए 'स्थूलभद्र' के ऊपर 'संघ' का भार देकर समर्थ शिष्यों को साथ लेकर 'भद्रबाहु' दक्षिण देश को भिक्षाटन के लिए चल दिये। स्थूलभद्र ने इस मध्य में पाटलिपुत्र में साधुओं की एक महती सभा की जिसमें जैन धर्म के 'अंगों' का संग्रह करने का प्रयत्न किया गया। बहुत दिनों के बाद भद्र-बाहु लौटे और उन्हें उपर्युक्त सभा की कार्यवाही पसन्द न पड़ी तथा उनके परोक्ष में स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना भी आरम्भ कर दिया था, यह भी भद्रबाहु को अनुचित मालूम हुआ। भद्रबाहु फिर यहाँ नहीं ठहरे और अपने शिष्यों के साथ अन्यत्र चल दिये। इस प्रकार जैन साधुओं के दो दल हो गये—एक 'श्वेताम्बर' और दूसरा 'दिगम्बर'। भद्रबाहु ने २९७ ईसा के पूर्व में परलोक की यात्रा की। स्थूलभद्र २५२ ईसा पूर्व तक जीवित थे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर जैनों में परस्पर भेद

महावीर तथा भद्रबाहु के द्वारा चलाया हुआ 'दिगम्बर-सम्प्रदाय' लगभग ८२ ईसवी में आकर सर्वथा 'श्वेताम्बर-सम्प्रदाय' से भिन्न हो गया। दिगम्बरों के चार मुख्य विभाग हुए—'काष्ठासंघ', 'मूलसंघ', 'माथुरसंघ' तथा 'गोप्यसंघ'। इन चारों

में परस्पर बहुत ही साधारण भेद था। 'गोप्यसंघ' श्वेताम्बरों के विचार से बहुत सहमत था।

उपर्युक्त दोनों मुख्य दलों के प्रधान-भेद निम्नलिखित हैं —

(१) 'श्वेताम्बरों' के अनुसार उन्नीसवें तीर्थंकर 'मल्ली' स्त्री-जाति के थे; 'दिगम्बरों' का कहना है कि स्त्री-जाति इस पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती, अतएव वह तीर्थंकर भी पुरुष ही थे।

(२) 'दिगम्बरों' के अनुसार हिजड़े तथा स्त्रियों को मुक्ति नहीं मिल सकती है। उन्हें मरने के पश्चात् पुरुष का जन्म प्राप्त करने पर ही मुक्ति का अधिकार हो सकता है।

'श्वेताम्बरों' का कहना है कि तपस्या के प्रभाव से सम्यक् ज्ञान स्त्रियों को भी मिल सकता है, पुनः उन्हें भी मुक्ति क्यों नहीं मिलेगी ?

(३) 'श्वेताम्बरों' का कहना है कि महावीर विवाहित थे, 'दिगम्बर' इसे स्वीकार नहीं करते।

(४) 'दिगम्बरों' के मन में 'केवल-ज्ञान' प्राप्त करने पर 'साधु' कोई वस्तु नहीं खाते। 'श्वेताम्बरों' का इसमें विश्वास नहीं है।

(५) 'दिगम्बर' का कथन है कि साधुओं को वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। 'श्वेताम्बर' के अनुसार उन्हें श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए।

(६) 'दिगम्बरों' के अनुसार तीर्थङ्करों की मूर्ति को वस्त्र नहीं पहनाना चाहिए और न कोई आभूषण ही उन्हें देना चाहिए। 'श्वेताम्बरों' को यह पसन्द नहीं है।

(७) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के रचयिता 'उमास्वामी' नाम के जैन विद्वान् को 'दिगम्बर' लोग 'उमास्वाती' कहते थे और 'श्वेताम्बर' उन्हें 'उमास्वामी' कहा करते थे।

(८) 'दिगम्बरों' का कहना है कि पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र ने जो सभा की थी और जैन धर्म-ग्रन्थों का संग्रह किया था, वह सब किसी महत्त्व का नहीं है, क्योंकि उसके बहुत पूर्व ही जैन धार्मिक ग्रन्थों का, अर्थात् 'पुव्वों' और 'अंगों' का नाश हो चुका था। 'श्वेताम्बर' इसे नहीं स्वीकार करते।

(९) इन दोनों सम्प्रदायों में जैनों के धार्मिक ग्रन्थों के नामों में भेद हैं।

(१०) 'श्वेताम्बरों' का कहना है कि ५७ ईसा के पूर्व में सिद्धसेन दिवाकर ने राजा विक्रमादित्य को जैन धर्म में दीक्षित किया था, किन्तु 'दिगम्बरों' का विश्वास है कि यह दीक्षा १८७ से २७१ ईसा के पश्चात् काल में हुई थी।

(११) 'दिगम्बरों' का तथा कतिपय 'श्वेताम्बरों' का कहना है कि केवलियों में 'ज्ञान' और 'दर्शन' ये दोनों गुण एक ही साथ अभिव्यक्त होते हैं। 'श्वेताम्बरों' के मत में ये क्रमशः उत्पन्न होते हैं।

(१२) 'दिगम्बर' सम्प्रदाय के साधु लोग एकान्त-वास करते हैं, किन्तु 'श्वेताम्बर' सम्प्रदाय वाले साधु परिव्राजक होकर एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं।

इन भेदों के अतिरिक्त और भी अति साधारण बातों में इन दोनों सम्प्रदायों में कुछ न कुछ भेद है।[1] परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि इनके भेद नाममात्र के लिए हैं। वास्तविक व्यावहारिक एक मात्र भेद है—'वस्त्र का पहनना' और 'न पहनना'। इनकी बाह्य क्रियाओं में कुछ भेद है, किन्तु तात्त्विक भेद तो कुछ भी नहीं मालूम होता।

साहित्य

स्थूलभद्र के प्रयत्न से पाटलिपुत्र की सभा में धार्मिक ग्रन्थों का जो संग्रह हुआ था, वह सर्वमान्य नहीं हुआ, यह पूर्व में कहा गया है। अतएव ४५४ ई० में भावनगर (गुजरात) के समीप वलभी नाम के स्थान में दूसरी सभा देवर्धिगणि की अध्यक्षता में हुई और उसमें इन ग्रन्थों के संग्रह के लिए विचार किया गया। दुर्भाग्यवश पुनः इन लोगों में एकमत न हो सका, तथापि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निम्नलिखित आगमिक ग्रन्थों का संग्रह किया गया है, जिन्हें अंग भी कहते हैं। अंगों के नाम ये हैं—

१. आयारांगसुत्त (आचारांगसूत्र), २. सूयगडंग (सूत्रकृतांग), ३. थाणंग (स्थानांग), ४. समवायांग, ५. भगवतीसूत्र, ६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा),

---

[1] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ २४७-२५०।

७. उवासगदसाओ (उपासकदशाः), ८. अंतगड़दसाओ (अन्तकृद्दशाः), ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपादिकदशाः), १०. पण्हावागरणिआइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्), १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। अन्तिम ग्रन्थ 'दिट्ठिवाय' अब उपलब्ध नहीं है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम

पुव्व—'दिट्ठिवाय' में चौदह 'पुव्वों' का समावेश था जिनके नाम हैं—उत्पाद, अग्राणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्राणायुः, क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार।

इनके बारह 'उपांग' तथा दश 'प्रकीर्ण' हैं, जिनके नाम ये हैं—

उपांग—औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापणा, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निर्यावलिका, कल्पावतंसिकाः, पुष्पिकाः, पुष्पचूलिकाः तथा वृष्णिदशाः।

प्रकीर्ण—चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तार, तण्डुलवैतालिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणितविद्या, महाप्रत्याख्यान तथा वीरस्तव।

छेदसूत्र—इनमें निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, आचारदशाः, बृहत्कल्प तथा पञ्चकल्प, ये छः 'छेदसूत्र' हैं।

मूलसूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक तथा पिण्डनिर्युक्ति, ये चार 'मूलसूत्र' हैं।

चूलिकसूत्र—नन्दीसूत्र तथा अनुयोगद्वारसूत्र, ये दोनों 'चूलिकसूत्र' कहलाते हैं।

दिगम्बरों ने भी इन्हीं ग्रन्थों को अपनाया है। किन्तु उनके नामों में कहीं-कहीं भेद है। सम्भव है कि ग्रन्थों के विषयों में भी दिगम्बरों ने कुछ परिवर्तन कर लिया हो।

दार्शनिक तथा उनके ग्रन्थ

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्य

भद्रबाहु (प्रथम)—(४३३-३५७ ईसा के पूर्व) 'निर्युक्ति' के रचयिता थे। ज्यौतिषशास्त्र पर 'भद्रबाहुसंहिता' नाम के ग्रन्थ के रचयिता भी यही थे। **भद्रबाहु** (दूसरे) प्रथम शताब्दी में हुए थे। इन्होंने न्यायशास्त्र पर ग्रन्थ लिखा था।

उमास्वाती को दोनों सम्प्रदाय वाले बड़े आदर से देखते हैं। दिगम्बर लोग इन्हें उमास्वामी कहते हैं। ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी में इनका जन्म हुआ था। दिगम्बरों का कहना है कि यह कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। पाटलिपुत्र में रहकर इन्होंने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' तथा उसकी टीका की रचना की। जैन-दर्शन का यह प्रधान और सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। इसके ऊपर बड़े-बड़े विद्वानों ने टीका लिखी है। यह बहुत प्रसिद्ध तथा मान्य ग्रन्थ है।

कुन्दकुन्दाचार्य जैन-दर्शन के एक प्रमुख आचार्य थे। यह प्रथम शताब्दी में उत्पन्न हुए और इन्होंने 'समयसार', 'पञ्चास्तिकाय', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', आदि ग्रन्थों की रचना की। यह भद्रबाहु (द्वितीय) के शिष्य थे। इनके सभी ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में हैं। इनके अतिरिक्त ८४ 'पाहुड़', भिन्न-भिन्न विषयों पर, इन्होंने लिखे थे।

सिद्धसेन दिवाकर वृद्धवादिसूरि के शिष्य थे। यह छठी शताब्दी में हुए। इनको लोग 'क्षपणक' भी कहते थे। दर्शन के, विशेषकर न्यायशास्त्र के, यह बहुत बड़े विद्वान् थे। 'सम्मतितर्कसूत्र', 'न्यायावतार', आदि बत्तीस ग्रन्थ इन्होंने लिखे हैं, जिनमें इक्कीस अभी मिलते हैं।

सिद्धसेनगणि (६०० ई०) भास्वामी के शिष्य तथा देवर्धिगणि के समकालीन थे। इन्होंने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर एक उत्तम 'टीका' लिखी है।

हरिभद्रसूरि ७०५-७७५ ई० के मध्य उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत में सैकड़ों ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'षड्दर्शनसमुच्चय', 'दशवैकालिकनिर्युक्तिटीका', 'न्यायप्रवेशसूत्र', 'न्यायावतारवृत्ति', आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

इनके पश्चात् 'नयचक्र' के रचयिता **मल्लवादी**, 'वादमहार्णव'के कर्ता **अभयदेव** (१००० ई०), 'लघुटीका' के रचयिता **रत्नप्रभसूरि** (११वीं सदी), 'प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार' के निर्माता **देवसूरि** (१२वीं सदी), 'प्रमाणमीमांसा', 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका', आदि के रचयिता **हेमचन्द्र** (१२वीं सदी) हुए।

मल्लिषेणसूरि (१२९२ ई०) ने 'अन्ययोगव्यवच्छेद' के ऊपर 'स्याद्वादमंजरी' नाम की एक टीका लिखी। इसकी बड़ी प्रसिद्धि संस्कृत साहित्य में है। इसमें प्रमाण तथा सप्तभंगीनय के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर विचार है। इसकी रचना १२९२ ईसवी में हुई है।

मलधारि राजशेखरसूरि (१३४८ ई०) बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हुए थे। ये जिन-प्रभसूरि के शिष्य थे। 'प्रशस्तपादभाष्य' की टीका, 'न्यायकन्दली' के ऊपर 'पंजिका' नाम की टीका, 'षड्दर्शनसमुच्चय' आदि ग्रन्थ इन्होंने लिखे।

दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य

ज्ञानचन्द्र (१३५० ई०), **गुणरत्नसूरि** (१४०० ई०), **यशोविजयगणि** (१६०८-१६८८ ई०) आदि अनेक विद्वानों ने भी जैन-दर्शन पर ग्रन्थ लिखे।

इनके अतिरिक्त दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध **कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र,** 'अष्टशती', 'राजवार्तिक', 'न्यायविनिश्चय' आदि ग्रन्थों के रचयिता **अकलंकदेव** (७५० ई०) प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं।

विद्यानन्द, 'परीक्षामुखसूत्र' के निर्माता **माणिक्यनन्दिन्** (नवम शताब्दी), 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के रचयिता **प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्रसूरि, देवसेन भट्टारक, लघु-समन्तभद्र, अनन्तवीर्य,** आदि विद्वान् ९वीं-१०वीं सदी में हुए हैं।

'गोम्मटसार', 'लब्धिसार', 'द्रव्यसंग्रह', आदि ग्रन्थों के रचयिता **नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ११वीं सदी में बहुत प्रसिद्ध जैन-दार्शनिक थे। **श्रुतसागरगणि, धर्मभूषण,** आदि विद्वानों ने १६वीं सदी में जैनदर्शन पर, विशेषरूप से प्रमाण के सम्बन्ध में, ग्रन्थ लिखे। १७वीं सदी में **यशोविजयसूरि** ने अनेक ग्रन्थ लिखे।

जैन विद्वानों ने न्यायशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया था और इसी पर अपने विचारों को लिखा है। इधर दो-तीन सौ वर्षों में उल्लेखयोग्य कोई विद्वान् जैन सम्प्रदाय में प्रायः नहीं हुए और न कोई ग्रन्थ ही विशेष महत्त्व का प्रायः लिखा गया है।

तत्त्वों का विचार

जैनों ने विश्व के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक स्वरूपों का विचार कर सात प्रकार के मूल तत्त्वों का पता लगाया। इन्हीं तत्त्वों से जगत् की समस्त वस्तुओं का परि-णाम होता है। ये तत्त्व—'जीव', 'अजीव', 'आस्रव', 'बन्ध', 'संवर', 'निर्जरा', तथा 'मोक्ष' हैं। इनमें 'जीव' और 'अजीव' इन दोनों तत्त्वों को 'द्रव्य' भी कहते हैं।

१—जीवतत्त्व

आत्मा या चेतन को संसार की दशा में 'जीव' कहते हैं। इसमें 'प्राण' है। इसमें शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रिय-जन्य शक्ति है। शुद्धनय के अनुसार जीव में विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन, अर्थात् निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान, रहता है। किन्तु व्यवहार-दशा में कर्म की गति के प्रभाव से 'औपशमिक' (एक प्रकार का परिणाम है जिससे जीव के वास्तविक स्वरूप का आच्छादान हो जाता है), 'क्षायिक', 'क्षायोपशमिक', 'औदयिक' तथा 'पारिणामिक', इन पाँचों 'भावप्राणों' से 'जीव' युक्त रहता है, जिसके कारण 'जीव' का परिशुद्ध रूप छिप जाता है और पश्चात् वही 'भावदशापन्न प्राण' 'द्रव्य'-रूप में परिणत होकर 'पुद्गल'-रूप में व्यक्त हो जाता है और फिर वह जीव 'संसारी' कहलाता है।

जीव का स्वरूप

एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि जैन मत में प्रत्येक अवस्था के दो स्वरूप होते हैं—'भाव' और 'द्रव्य'। अव्यक्त की दशा को 'भाव' कहते हैं और व्यक्त की अवस्था में उसे ही 'द्रव्य' कहते हैं। इसी प्रकार इनके मत में प्रत्येक घटना का 'निश्चय' या 'विशुद्ध' दृष्टि से एवं 'व्यावहारिक' दृष्टि से विचार किया जाता है। जैन-दर्शन 'परिणामवादी' है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे स्वरूप को धारण करती रहती है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त 'धर्म' ये लोग मानते हैं और इसी कारण, धर्मों के भेद से, एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है।

'जीव' की सभी क्रियाएँ उसके अपने किये कर्मों के फलस्वरूप हैं। स्वभाव से शुद्ध दृष्टि के अनुसार 'जीव' में 'ज्ञान' तथा 'दर्शन' हैं, यह अमूर्त है, कर्ता है, अपने स्थूल शरीर के समान लम्बा-चौड़ा है, अपने कर्मफलों का भोक्ता है, सिद्ध है तथा ऊपर की ओर गतिशील है[1]। अनादि 'अविद्या' के कारण 'कर्म' जीव में प्रवेश करता है और इसी 'कर्म' के सम्बन्ध से जीव 'बन्धन' में रहता है। बन्धन की दशा में भी 'जीव' में चैतन्य रहता ही है। यह 'नित्य-परिणामी' है। इसमें 'संकोच' और 'विकास', ये दो गुण हैं, अतएव एक ही जीव हाथी के शरीर में प्रवेश करने से हाथी के बराबर का होता है और वही चींटी के शरीर में प्रवेश करने पर चींटी के समान छोटा भी हो जाता है। इसमें रूप नहीं है, इसलिए कोई आँख से इसे नहीं देख सकता, किन्तु इसका ज्ञान तो लोगों को होता ही है।

जीव के गुण

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा २।

जीव में 'सम्यक् दर्शन' सदा न रहे, किन्तु किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमें रहता ही है। बन्धन से मुक्त होने पर जीव का 'सम्यक् ज्ञान' अभिव्यक्त होता है। 'सम्यक् ज्ञान' से युक्त होने के ही कारण जीव मुक्ति की तरफ अग्रसर होता है। परिणाम के प्रभाव से या किसी विशेष शक्ति के अनुग्रह से जीव 'सम्यक् ज्ञान' को प्राप्त करता है।

अन्य द्रव्यों के समान जीव में 'प्रदेश' होते हैं। इसमें 'अवयव' भी होते हैं, इस लिए यह 'अवयवी' कहलाता है। इसके प्रदेशों को 'पर्याय' कहते हैं। इसी लिए जीव भी 'अस्तिकाय' (शरीरप्रदेशों से युक्त कहाने वाला) कहा जाता है।[1]

प्रतिक्षण परिणाम

जीव में प्रतिक्षण परिणाम होता है, अतएव उसमें एक क्षण में जो स्वरूप उत्पन्न होता है, वह दूसरे क्षण में बदल कर भिन्न धर्म को धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में भी जीव का जो एक अपना स्वाभाविक स्वरूप है, वह तो सभी क्षणों में स्वभावतः वर्तमान ही रहता है। इस प्रकार 'उत्पाद', 'व्यय' तथा 'ध्रौव्य' ये तीनों प्रतिक्षण जीव में भी रहते ही हैं। यह सब 'काल' के प्रभाव से होता है। अतएव 'जीव' भी एक प्रकार का 'द्रव्य' है।[2]

प्रत्येक जीव में स्वभाव से 'अनन्त ज्ञान', 'अनन्त दर्शन' तथा 'अनन्त सामर्थ्य', आदि गुण रहते हैं, किन्तु 'आवरणीय' कर्मों के प्रभाव से इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। 'जीव' के मुख्य गुण दो ही हैं—'चेतना' या 'अनुभूति' तथा 'उपयोग' (चेतना का फल)। 'उपयोग' के दो भेद हैं—'ज्ञानोपयोग' तथा 'दर्शनोपयोग'। 'ज्ञानोपयोग' को 'सविकल्पक' तथा दूसरे को 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जीव में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यायि तथा केवल, एवं तीन 'विपर्यय', अर्थात् कुमति, कुश्रुत तथा विभङ्गावधि, ये आठ सविकल्पक ज्ञान हैं। इनमें केवल-ज्ञान 'क्षायिक' कहा जाता है, क्योंकि यह कर्मों के नाश होने के बाद अभिव्यक्त होता है और यह शुद्ध ज्ञान भी है।

---

[1] द्रव्यसंग्रह, २३-२४—'जीव' में अन्य चार द्रव्यों के समान 'प्रदेश' होते हैं। 'लोकाकाश' के जितने अंश को एक पुद्गलरूप 'अणु' व्याप्त करता है, उसे ही 'प्रदेश' कहते हैं।

[2] पञ्चास्तिकाय, गाथा ९, १२, १३।

दिव्य, मानुष, नारकीय तथा तिर्यक् ये चार 'जीव' के परिणाम हैं, जिसे 'पर्याय' कहते हैं।[1] 'पर्याय' पुनः दो प्रकार का होता है—द्रव्यपर्याय तथा गुणपर्याय।

पर्याय

भिन्न-भिन्न द्रव्यों में जो ऐक्य-बुद्धि का कारण है, वह 'द्रव्य-पर्याय' है। जड़ द्रव्यों के संघटन से जो उत्पन्न होता है, उसे 'समानजातीय द्रव्यपर्याय' कहते हैं, जैसे 'स्कन्ध' आदि, एवं एक चेतन तथा दूसरा जड़, इन दोनों के संघटन से जो उत्पन्न होता है, जैसे मानुष शरीर, उसे 'असमानजातीय द्रव्यपर्याय' कहते हैं। इन सबों में जीव और पुद्गलों का संघटन होने के कारण, विशुद्धि नहीं है। ये 'द्रव्यपर्याय' हैं।

द्रव्यों के गुणों में जो परिणाम के कारण परिवर्तन हो, उसे 'गुण-पर्याय' कहते हैं, जैसे आम के रूप में। कच्चे आम का एक रूप होता है और पकने पर उसी आम का रूप बदल जाने पर वह दूसरा रूप हो जाता है, फिर भी वह 'आम' तो रहता ही है। यह 'गुण-पर्याय' का उदाहरण है। इसी प्रकार मनुष्य के ज्ञान में भी परिवर्तन होता है, जिसे मति, श्रुत, अवधि, आदि कहते हैं। ये भी ज्ञान-रूप गुण के पर्याय हैं।

अनेकान्तवाद

दिव्य रूप या नारकीय रूप या मानुषीय रूप, कोई भी रूप जीव धारण कर ले, फिर भी वह 'जीव' तो रहता ही है। जीवत्व-रूप 'भाव' का नाश कदाचिदपि नहीं होता। अतएव शरीर का मरण होता है, न कि 'जीव' का। यही एक प्रकार का जैनों का **'सद्भाववाद'** कहा जा सकता है। इसलिए यह भी कह सकते हैं कि 'पर्याय' का परिणाम होता है, न कि 'द्रव्य' का। 'द्रव्य' तो एक प्रकार से नित्य है। वह अपने 'ध्रौव्य स्वरूप' को कभी नहीं छोड़ता। हाँ, पर्याय-रूप में वह अनित्य भी है। यही जैनों का प्रसिद्ध **'अनेकान्तवाद'** है।

जीव के भेद

साधारण रूप में 'बद्ध' और 'मुक्त' के भेद से 'जीव' दो प्रकार का है। बद्ध या संसारी जीव पुनः 'त्रस' (जंगम) तथा 'स्थावर' के भेद से दो प्रकार का है। स्थावर जीवों में एकमात्र इन्द्रिय—'त्वक्-इन्द्रिय', होती है और क्षिति, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति-जगत् ये सभी 'स्थावर' जीव हैं।

जिन जीवों में एक से अधिक इन्द्रियां हैं, वे 'त्रस' कहलाते हैं। मनुष्य, पक्षी, जानवर, देवता, नारकीय लोग, ये सभी 'त्रस' जीव हैं। इन में पाँचों इन्द्रियाँ होती

---

[1] पञ्चास्तिकाय—तत्त्वदीपिका, गाथा १६।

हैं।[1] जो जीव पृथिवी के स्वरूप को धारण करते हैं, उन्हें 'पृथिवीकाय', जैसे—पत्थर, जो जलीय स्वरूप को धारण करते हैं, उन्हें 'अप्काय', जैसे—सेमार, कहते हैं। इसी प्रकार 'वायुकाय' तथा 'तेजःकाय' भी होते हैं।

२—अजीव-तत्त्व

जैनों के मत में दूसरा तत्त्व है—'अजीव'। अजीवों में जिनके शरीर होते हैं, वे 'अजीव-काय' कहलाते हैं। ये बहुत व्यापक होते हैं और इनमें अनेक 'प्रदेश' होते हैं। 'अजीव' के पाँच भेद हैं जिनमें 'धर्म', 'अधर्म', 'आकाश', तथा 'पुद्गल', इन चारों में अनेक 'प्रदेश' होते हैं। इसलिए ये 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। पाँचवाँ अजीव-तत्त्व है—'काल'। इसमें एक ही 'प्रदेश' है। इसलिए यह 'अस्तिकाय' नहीं है।

अजीव-तत्त्व के भेद

ये सभी द्रव्य हैं। स्वभावतः इनका नाश नहीं होता। पुद्गल को छोड़कर अन्य अजीव द्रव्यों में रूप, स्पर्श, रस और गंध नहीं होते । पुद्गलों में रूप, स्पर्श, रस और गन्ध होते हैं।[2] धर्म, अधर्म तथा आकाश, ये एक ही एक हैं, किन्तु पुद्गल तथा जीव, प्रत्येक अनेक हैं। प्रथम तीनों में क्रिया नहीं है, किन्तु पुद्गल और जीवों में क्रिया है। काल में क्रिया नहीं है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाता है।

अजीव-तत्त्व के गुण

धर्म, अधर्म तथा जीव में से प्रत्येक में असंख्य 'प्रदेश'[3] हैं। आकाश में अनन्त 'प्रदेश' हैं। 'अणु' में 'प्रदेश' नहीं होता। अतएव यह अनादि, अमध्य, अप्रदेश कहा जाता है। ये द्रव्य लोकाकाश[4] में बिना किसी रुकावट के घूमते हैं।

'धर्मास्तिकाय'—यह न तो स्वयं क्रियाशील है और न किसी दूसरे में ही क्रिया उत्पन्न करता है, किन्तु क्रियाशील जीव और पुद्गलों को उनकी क्रिया में साहाय्य

---

[1] पञ्चास्तिकाय, गाथा ११०, ११२, ११४-१७।

[2] तत्त्वार्थ, ५-१-४।

[3] आकाश के उतने स्थान को 'प्रदेश' कहते हैं जितने को एक 'परमाणु' व्याप्त कर सके।

[4] लोक=जिस स्थान में सुख तथा दुःख का ज्ञान हो उसे 'लोक' कहते हैं, जहां बिना किसी रोक के सभी द्रव्य रह सकें उसे 'आकाश' कहते हैं। इसलिए जहां जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गल रहें, वही 'लोकाकाश' है।

करता है,[1] जिस प्रकार चलती हुई मछली को उसके चलने में 'जल' सहायता करता है। इसमें रस, रूप, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श का अत्यन्त अभाव है। लोकाकाश में व्यापक रूप में यह रहता है। परिणामी होने के कारण इसमें उत्पाद तथा व्यय होने पर भी, यह अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता। अतएव यह नित्य है। गति और परिणाम का यह कारण है।

अधर्मास्तिकाय—जो जीव तथा पुद्गल विश्राम की दशा में है, जैसे पृथ्वी, उसे विश्राम के लिए उस दशा में 'अधर्मास्तिकाय' सहायता देता है। यह धर्म के विपरीत है। धर्म के समान इसमें भी रस, रूप, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श का अत्यन्त अभाव है। यह अमूर्त स्वभाव का है। यह भी लोकाकाश में व्यापक-रूप से रहता है। यह स्वभावतः सर्वव्यापक है तथा नित्य है।[2]

धर्म और अधर्म न होते तो 'लोकाकाश' में जीव और पुद्गलों में गति तथा स्थिति के सहायक कौन होते ? तथा 'अलोकाकाश' में जीव और पुद्गल के स्वाभाविक गति और स्थिति के अभाव के कारण कौन होते ? ये दोनों, 'धर्म' और 'अधर्म', एक साथ लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में रहते हैं।

आकाशास्तिकाय—जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गलों को अपनी-अपनी स्थिति के लिए जो स्थान दे, वही 'आकाश' है।[3] इसी को 'लोकाकाश' कहते हैं। जहाँ उपर्युक्त द्रव्यों को रहने का स्थान न हो, वह 'अलोकाकाश' है। 'लोकाकाश' में असंख्य तथा 'अलोकाकाश' में अनन्त 'प्रदेश' हैं।

पुद्गलास्तिकाय—जो संघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करे, वही 'पुद्गल' नाम का अजीव द्रव्य है। इसमें रूप, स्पर्श, रस तथा गन्ध है। यह सीमित और आकृति (=मूर्त) रखने वाला द्रव्य है।[4] मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रुक्ष, ये आठ प्रकार के 'स्पर्श' 'पुद्गल' में होते हैं। तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर तथा कषाय, ये पाँच प्रकार के 'रस' इसमें होते हैं। इसमें सुरभि और असुरभि

---

[1] द्रव्यसंग्रह, १७।

[2] पञ्चास्तिकाय, ८५।

[3] पञ्चास्तिकाय, ९०।

[4] द्रव्यसंग्रह, १५।

दो प्रकार के 'गन्ध' हैं। कृष्ण, नील, लोहित, पीत तथा शुक्ल ये पांच प्रकार के 'रूप' पुद्गल में होते हैं।[1]

पुद्गल के अनेक भेद हैं। जीव की प्रत्येक चेष्टा पुद्गलों के रूप में अभिव्यक्त होती है। कर्म के रूप में भी पुद्गल होते हैं और इन्हीं 'कर्म-पुद्गलों' के सम्पर्क से जीव 'बद्ध' होता है। अनादि जीव के साथ कर्म भी अनादि काल से रहता है।

पुद्गल के अणु और स्कन्ध, ये दो 'आकार' होते हैं। द्रव्य के सबसे छोटे टुकड़े को 'अणु' तथा द्रव्य के संघात को 'स्कन्ध' कहते हैं। दो अणुओं के संघटन से 'द्विप्रदेश' तथा 'द्विप्रदेश' एवं एक 'अणु' के संघटन से 'त्रिप्रदेश', आदि क्रम से स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम 'द्रव्य' बनते हैं। अमृतचन्द्रसूरि का कहना है कि इसी प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम 'आकार' के भी 'पुद्गल-द्रव्य' होते हैं।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, आतप, ये सभी पुद्गल के ही परिणाम हैं।[2] यहाँ यह ध्यान में रखना है कि 'शब्द' न तो आकाश का गुण है और न आकाश के स्वरूप का ही है। इसका कारण है कि 'आकाश' अमूर्त द्रव्य है और यदि 'शब्द' इसका गुण या इसके स्वरूप का होता, तो यह कभी भी सुनने में नहीं आता।[3]

'शब्द' आकाश का गुण नहीं

ये सभी द्रव्य अजीव और अचेतन हैं। इनमें सुख और दुःख का ज्ञान नहीं है। पुद्गल को छोड़कर अन्य सभी अस्तिकाय-द्रव्य 'अमूर्त' (असीमित आकार वाले) हैं। जीवमात्र चेतन द्रव्य है। पुद्गल में स्वभाव से ही स्पर्श, रस, गंध तथा रूप हैं और अमूर्त द्रव्यों में ये नहीं हैं। यद्यपि स्वभाव से ही जीव 'अमूर्त' है, तथापि कर्म-बन्धन के कारण यह 'मूर्त' भी है।[4] स्वभाव से बिना गति के होने पर भी 'जीव' पुद्गलों के सम्पर्क से गतिमान् हो जाता है और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है।

अस्तिकाय द्रव्यों में साधर्म्य और वैधर्म्य

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ५-२३।

[2] द्रव्यसंग्रह, १६।

[3] पञ्चास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, ७९।

[4] पञ्चास्तिकाय, ९७।

पुद्गल तथा अन्य द्रव्यों के परिणामों का कारण 'काल' है। 'काल' का अभाव कभी नहीं होता, अतएव पुद्गल में सदैव गति रहती है। यह 'समय' भी कहलाता है। 'समय' की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, जैसे घंटा, मिनट, दिन, रात आदि, इसके रूप हैं। यद्यपि 'समय' निश्चयकाल का एक रूप है, तथापि जीव और पुद्गलों की गति के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण 'परिणाम-भव' कहलाता है। 'समय' क्षणिक है और यह 'काल-अणु' भी कहलाता है। 'काल-अणु' एकमात्र प्रदेश को व्याप्त करता है, इसलिए इसके 'काय' नहीं हैं। ये 'काल-अणु' समस्त लोकाकाश में भरे रहते हैं। ये परस्पर नहीं मिलते। प्रत्येक 'काल-अणु' दूसरे से अलग रहता है। ये अदृश्य, अमूर्त, अक्रिय तथा असंख्य हैं। 'निश्चयकाल' नित्य है और द्रव्यों के परिणाम में सहायक होता है। यह 'समय' का आधार है।

काल

३—आस्रवतत्त्व

जीव तथा अजीव इन दोनों तत्त्वों का विचार पहले हो चुका है। अब 'आस्रव' आदि पाँच तत्त्वों का विचार यहाँ किया जाता है। ये पाँच बन्धन तथा मुक्ति से सम्बन्ध रखते हैं।

अनन्त काल से इस जगत् में जीव और पुद्गल, ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में वर्तमान हैं। इन्हीं के साथ-साथ जीवों के किये हुए 'कर्म' भी हैं और अनादि 'अविद्या' के सम्पर्क से क्रोध, मान, माया तथा लोभ, ये चार 'कषाय' भी जीव के साथ-साथ हैं। जीव जो कर्म करता है, उसका फल भी 'संस्कार' के रूप में पुद्गलों के साथ-साथ विद्यमान रहता है। अब विचारणीय विषय यह है कि उन कर्मों के फलों के साथ जीव का किस प्रकार सम्बन्ध होता है। कर्म-पुद्गल जड़ होने के कारण स्वयं जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। अतएव कोई क्रियाशील तत्त्व होना चाहिए, जो इनको सम्बद्ध करे। जैनों ने काय, वचन तथा मन में क्रिया मानी है, जिसे ये 'योग' कहते हैं।[1] इन्हीं क्रियाओं के द्वारा कर्म-पुद्गल जीव में प्रवेश करता है। अर्थात् कर्म-पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने के पूर्व उपर्युक्त क्रियाओं के द्वारा जीव के प्रदेशों में एक प्रकार का 'स्पन्दन' उत्पन्न होता है। इन स्पन्दनों को क्रमशः 'काययोग', 'वाग्योग' तथा

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ६-१।

'मनोयोग' कहते हैं। कर्म-पुद्गलों का जीव में 'योग' के द्वारा प्रवेश करने को 'आस्रव' कहते हैं। इस प्रकार 'आस्रव' के सम्पर्क से जीव कर्म-बन्धन में पड़ जाता है। अतएव 'आस्रव' बन्धन का एक कारण है।

आस्रव का स्वरूप

कर्म-पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने के पूर्व जीव के भावों में एक प्रकार का परिवर्तन होता है, उसे 'भावास्रव' कहते हैं। पश्चात् जीव में कर्म-पुद्गलों का जो प्रवेश होता है, उसे 'द्रव्यास्रव' कहते हैं। जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर धूलि राशि चिपक कर जमा हो जाती है, उसी प्रकार कर्मपुद्गल जीव पर चिपक जाते हैं। तेल से लिप्त होना 'भावास्रव' तथा उस पर धूलि राशि का चिपक जाना 'द्रव्यास्रव' कहा जा सकता है।

आस्रव के भेद

बयालीस प्रकार से कर्म-पुद्गल जीव में प्रवेश करता है। अतएव 'आस्रव' के बयालीस भेद हैं, जिनमें काययोग, वाक्योग, मनोयोग, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चार कषाय तथा अहिंसा, अस्तेय, असत्य भाषण, आदि पाँच व्रतों का पालन न करना, ये सत्रह विशेष महत्त्व के 'आस्रव' हैं। इनके अतिरिक्त पचीस छोटे-छोटे 'आस्रव' होते हैं। ये सभी बन्धन के कारण हैं।[1]

४—बन्धतत्त्व

उपर्युक्त प्रक्रिया को ही 'बन्ध' कहा जा सकता है। जीव में कर्म-पुद्गलों के प्रवेश होने के पूर्व उसमें 'भावास्रव' उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् जीव में जो 'बन्धन' उत्पन्न होता है, उसे ही 'भावबन्ध' कहते हैं। बाद को कर्म-पुद्गलों का प्रवेश होने पर जीव में 'द्रव्यास्रव' उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् जीव में जो 'बन्धन' हो जाता है, उसे 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं। 'आस्रव' के सम्पर्क से जीव का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है और वह बन्धन में फँस जाता है।[2]

बन्ध का स्वरूप

इन दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त जीव को बन्धन में डालने वाला मिथ्यात्व, अविरति तथा जितने तपस्या के लिए नियम कहे गये हैं उनका न पालन करना, आदि सभी जीव के लिए बन्धन के कारण हैं। साथ ही साथ कर्म तो है ही।

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ६-१-६; ७-१।

[2] पञ्चास्तिकाय, १४७।

५—संवरतत्त्व

अन्य दर्शनों की तरह जैन-दर्शन का भी चरम लक्ष्य है—बन्धनों से मुक्ति पाकर परम आनन्द को पाना। इसके लिए जब तक कार्मिक पुद्गलों का सम्बन्ध जीव से नहीं छूटेगा, तब तक जीव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। अतएव कार्मिक पुद्गलों का जीव में प्रवेश करने तथा उसके कारणों को रोकना आवश्यक है। इसी रोकने को 'संवर' कहते हैं। अर्थात् 'आस्रव' तथा 'बन्ध' को जो रोकता है, उसे ही 'संवर' कहते हैं। जो जीव राग, द्वेष, मोह से रहित हो कर सुख तथा दुःख में साम्य की भावना प्राप्त कर, विकारों से रहित हो जाता है, उसकी आत्मा में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश तथा उससे उत्पन्न बन्धन नहीं होते।

संवर का स्वरूप

'संवर' में भी पूर्ववत् जीव के राग, द्वेष तथा मोहरूप विकारों का पहले निरोध होता है, उसे 'भावसंवर' कहते हैं। इसके पश्चात् कर्म-पुद्गलों का प्रवेश जब निरुद्ध हो जाता है, तब उसे 'द्रव्यसंवर' कहते हैं। कर्म-पुद्गलों का प्रवेश एक बार बन्द हो जाने पर पुनः भविष्य में भी बन्द ही रह जायगा। क्रमशः जितने कर्म-पुद्गल जीव में चले गये थे, उनका जब नाश हो जायगा, तब जीव बन्धनों से मुक्त हो जायगा।

संवर के भेद

कर्म के प्रवेश को रोकने के लिए बासठ उपाय कहे गये हैं। इनमें पाँच बाह्य उपाय हैं, जिन्हें 'समिति' कहते हैं। 'ईर्या-समिति' (चलने-फिरने के नियमों का पालन), 'भाषा-समिति' (बोलने के नियमों का पालन), 'एषणा-समिति' (भिक्षा माँगने के नियमों का पालन), 'आदान-निक्षेपणा-समिति' (धार्मिक कार्य के लिए भिक्षा में से कुछ अंश को बचाना) तथा 'प्रतिस्थापना-समिति' (भिक्षा या दान को अस्वीकार करना), इनके भेद हैं।[1]

समितियाँ

कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रिया को 'योग' कहते हैं। इनकी सहायता से कर्मपुद्गल आत्मा में प्रवेश करते हैं। उसे रोकने के लिए 'योग' के प्रशस्त निग्रह को 'गुप्ति' कहते हैं।[2] 'कायगुप्ति' (शारीरिक व्यापार का निरोध), 'वाग्गुप्ति' (बोलने के व्यापार का निग्रह) तथा 'मनोगुप्ति' (संकल्प आदि मन के व्यापार का निरोध), ये तीन 'गुप्ति' के भेद हैं।

गुप्तियाँ

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ९-५।

[2] तत्त्वार्थसूत्र, ९-४।

इसको ध्यान में रखना चाहिए कि 'समिति' में 'सत्क्रिया' का प्रवर्तन मुख्य है और 'गुप्ति' में 'असत्क्रिया' का निरोध मुख्य है।

व्रत—'अहिंसा', 'सत्य', 'अस्तेय', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'अपरिग्रह', इन पाँचों व्रतों के पालन से आत्मा में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश रुक जाता है।[1]

धर्म—क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, औदासीन्य तथा ब्रह्मचर्य, ये दस उत्तम 'धर्म' हैं। इनके पालन से आत्मा में कर्म का प्रवेश रुकता है।[2]

अनुप्रेक्षाएँ

साधकों को मुक्ति पाने के लिए निम्नलिखित बारह 'अनुप्रेक्षाओं' से, अर्थात् भावनाओं से, युक्त रहना आवश्यक है। 'अनित्य' (धर्म को छोड़कर सभी वस्तु को अनित्य मानना), 'अशरण' (सत्य को छोड़कर दूसरा कोई भी शरण नहीं है), 'संसार' (जीवन-मरण की भावना), 'एकत्व' (जीव अपने कर्मों का एकमात्र भागी है), 'अन्यत्व' (आत्मा को शरीर से भिन्न मानना), 'अशुचि' (शरीर एवं शारीरिक वस्तुओं को अपवित्र मानना), 'आस्रव' (कर्म के प्रवेश की भावना), 'संवर' (कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना), 'निर्जरा' (जीव में प्रविष्ट कर्मपुद्गलों को बाहर निकालने की भावना), 'लोक' (जीवात्मा, शरीर तथा जगत् की वस्तुओं की भावना), 'बोधिदुर्लभत्व' (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र को दुर्लभ समझने की भावना) तथा 'धर्मानुप्रेक्षा' (धर्म-मार्ग से च्युत न होना तथा उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने की भावना), इन धर्मों का सदा अनुचिन्तन करना ही 'अनुप्रेक्षा' है।

परीषह

बहुत कठोर तपस्या से 'संवर' में सफलता मिलती है और इसके लिए साधकों को कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है। कठिनाइयों का सहन करना उचित है। उमास्वामी ने कहा है—मुक्ति-मार्ग से च्युत न होने के योग्य और कर्मों के नाश के लिए सहन करने योग्य जो हों, वे 'परीषह' कहलाते हैं।[3]

---

[1] कुछ लोग 'व्रत' को इस सूची में नहीं सम्मिलित करते।

[2] तत्त्वार्थसूत्र, ९-६।

[3] तत्त्वार्थसूत्र, ९-८।

क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व (नग्नता को समभाव-पूर्वक सहन करना), अरति, स्त्री, चर्या (एकान्त वास करना), निषद्या (आसन से च्युत न होना), शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल (तपस्या करने के समय में चाहे कितना भी मल शरीर पर हो फिर भी उससे घबड़ाना न चाहिए और न स्नान आदि करना चाहिए), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये 'परीषह' के बाईस भेद हैं।

परीषह के भेद

'सामायिक-चारित्र' (समभाव में रहना), 'छेदोपस्थापना' (गुरु के समीप में अपने पूर्व-दोषों को स्वीकार कर दीक्षा लेना), 'परिहारविशुद्धि', 'सूक्ष्मसंपराय' (लोभ के अंश को छोड़ कर क्रोध आदि कषायों का उदय न होना) एवं 'यथाख्यात' (सभी कषायों का निरोध होना), इन पांच चारित्रों का सम्पादन करना आवश्यक है।

चारित्र के भेद

६—निर्जरातत्त्व

इन बासठ उपायों के पालन के द्वारा 'आत्मा' में कर्मपुद्गलों के प्रवेश को रोकने से मुक्ति का मार्ग कण्टक-रहित हो जाता है। इन्हें रोकने से नये पुद्गलों का प्रवेश तो न होगा, किन्तु जब तक उन पुद्गलों का, जो पहले से ही आत्मा में चिपक गये हैं, नाश न हो जायगा, तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता। बन्धन के बीज उन कर्मपुद्गलों का भी नाश अत्यावश्यक है। इस नाश की प्रक्रिया को 'निर्जरा' कहते हैं।

निर्जरा का अर्थ

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए पूर्व-कथित नियमों का पालन करते हुए साधक को कठोर तपस्या करनी पड़ती है। इस अवस्था में निदिध्यासन की बड़ी आवश्यकता है। राग, द्वेष, आदि दुर्गुणों का बिना सर्वथा परित्याग हुए इस अवस्था तक कोई नहीं पहुँच सकता। इन सभी क्रियाओं से नितान्त निर्मल अन्तःकरण वाला जीव अपने शरीर में ही स्थित 'आत्मा' का दर्शन कर सकता है। यही 'आत्मसाक्षात्कार' या परम पद है, यही दर्शन का चरम लक्ष्य है। यहाँ पहुँच कर साधक के दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है और दर्शन, जीवन एवं धर्म के अन्तिम लक्ष्य का साक्षात् अनुभव होता है।

निर्जरा की प्राप्ति

इस 'निर्जरा' के भी दो भेद हैं—'भावनिर्जरा' और 'द्रव्यनिर्जरा'। भावावस्था में साधक की आत्मा में कर्मों के नाश करने की भावना उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् आत्मा में प्रविष्ट उन कर्मपुद्गलों का वास्तविक नाश होता है। उसे 'द्रव्यनिर्जरा' कहते हैं।

निर्जरा के भेद

भावावस्था में भी जब भोग होने के पश्चात् कर्मपुद्गलों का स्वयं नाश हो जाता है, तो उसे 'सविपाक' या 'अकाम' 'भावनिर्जरा' कहते हैं। किन्तु भोग की समाप्ति होने के पूर्व ही तपस्या के प्रभाव से यदि उन कर्मों का नाश किया जाय, तो वह 'अविपाक' या 'सकाम' 'भावनिर्जरा' कहलाता है।

'अविपाक-भावनिर्जरा' के लिए कठोर तपस्या की आवश्यकता होती है और इसमें छः बाह्य तथा छः अंतरंग क्रियाओं का सम्पादन करना आवश्यक होता है। अनशन, अवमोदार्य (भोजन में नियन्त्रण करना), वृत्तिसंक्षेप (अल्पाहार), रसत्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश, ये छः **'बाह्य तपस्याएँ'** हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (साधुसेवा), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (विषयविराग) तथा ध्यान, ये छः **'अन्तरंग तपस्याएँ'** हैं।[1]

तपस्या के भेद

७—मोक्षतत्त्व

राग, द्वेष तथा मोह के कारण 'आस्रव' होता है और तभी जीव बन्धन में फँस जाता है। तपस्या के द्वारा तथा नियमों के पालन करने से राग, द्वेष, आदि का नाश हो जाता है। फिर 'संवर' तथा 'निर्जरा' के द्वारा 'आस्रव' का नाश होता है। इस प्रकार कर्मपुद्गलों से मुक्त होने से 'जीव' सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा हो कर मुक्ति का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था को 'भावमोक्ष' या 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। वास्तविक मोक्ष के पूर्व की यह अवस्था है। इस परिस्थिति में चार 'घातीय कर्मों का, अर्थात् 'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय', 'मोहनीय' एवं 'अन्तराय' का, नाश हो जाता है। इसके पश्चात् क्रमशः चार 'अघातीय कर्मों' का, अर्थात् 'आयु', 'नाम', 'गोत्र' तथा 'वेदनीय' का, भी नाश हो जाता है। तभी 'द्रव्यमोक्ष' की प्राप्ति होती है।

मोक्ष के भेद

इस प्रकार जब 'जीव' मुक्त हो जाता है तब वह सभी कर्मों से तथा औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा भव्यत्व भावों से भी मुक्त हो जाता है।

---

[1] **तत्त्वार्थसूत्र, ९, १९-२०।**

अपनी स्वाभाविक गति के कारण वह ऊर्ध्वगति का हो जाता है और ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय के न रहने के कारण 'जीव' लोक के परे नहीं जा सकता[१] और न पुनः वहाँ से लौट कर वह संसार में ही आता है। 'मुक्त जीव' परमात्मा के साथ एक नहीं हो जाता। वह 'सिद्धशिला' में अनन्तकाल के लिए वास करता है।

प्रमाण-विचार

पहले कहा जा चुका है कि 'जीव' में स्वभाव से ही निर्विकल्पक (दर्शन) तथा सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक, अर्थात् दर्शन या निराकार ज्ञान, चार प्रकार का है—चक्षु, अचक्षु (अर्थात् चक्षु से भिन्न इन्द्रियों के द्वारा), अवधि (अर्थात् देश और काल से परिच्छिन्न ज्ञान, जिसे जीव साक्षात् प्राप्त करता है) तथा केवल (अर्थात् विश्व की सभी वस्तुओं का निराकार दर्शन)।

दर्शन-ज्ञान के भेद

साकार ज्ञान के 'मति' (अर्थात् इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न साकार ज्ञान), 'श्रुत' (शब्द तथा अन्य चेष्टाओं के द्वारा उत्पन्न साकार ज्ञान), 'अवधि' (सीमित वस्तुओं का साकार ज्ञान, जिसे 'जीव' बिना किसी इन्द्रिय या मन की सहायता से स्वयं उत्पन्न करता है), 'मनःपर्याय' (अर्थात् दूसरों के भावनाओं का साकार ज्ञान) तथा 'केवल' (अर्थात् समस्त विश्व का साकार एवं असीमित ज्ञान, जिसे 'जीव' साक्षात् प्राप्त करता है), ये पाँच भेद हैं। इन्हें ही 'सविकल्पक ज्ञान' कहते हैं।

साकार-ज्ञान के भेद

ये पाँच प्रकार के उपर्युक्त ज्ञान 'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' प्रमाण के भेद से दो प्रमाणों के अन्तर्गत हैं। उमास्वाती का कहना है कि वह यथार्थ ज्ञान, जिसे जीव बिना किसी की सहायता से स्वयं प्राप्त करता है, 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण 'स्वतः प्रमाण' है, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण में स्वयं, बिना किसी अन्य की सहायता से, प्रामाण्य है। इसमें जीव स्वतन्त्र रूप से साक्षात् ज्ञान को प्राप्त करता है।[२]

प्रमाण

---

[१] तत्त्वार्थसूत्र, १०-५।

[२] परीक्षामखसूत्र, २-१-४।

सिद्धसेन दिवाकर ने यह स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाण' तो वही 'ज्ञान' है जो अपने को तथा दूसरों को बिना किसी रुकावट के प्रकाशित करे **(स्वपराभासि)**। अतएव 'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' दोनों ही प्रमाण अपने को एवं दूसरे को भी प्रकाशित करते हैं। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए जैनों को इन्द्रियों की तथा मन की अपेक्षा नहीं होती। अतएव यह सदा वस्तु के यथार्थ ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। यही कारण है कि 'अवधि', 'मनःपर्याय' तथा 'केवल', ये ही तीन वास्तव में प्रत्यक्ष के भेद माने गये हैं। प्रमाण कभी मिथ्या नहीं होता। जो ज्ञान मिथ्या होता है, वह प्रमाण ही नहीं होता।

प्रमाण का लक्षण

यद्यपि जैनों ने दो ही प्रमाण माने हैं, तथापि किसी-किसी ग्रन्थ में चार प्रमाणों का भी उल्लेख है। अर्थात् उन लोगों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य तथा आगम, ये चार प्रमाण हैं।[1]

प्रमाण के भेद

उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्ञानों में 'मति' और 'श्रुत' ज्ञानों का आधार इन्द्रियाँ हैं। अतएव एक प्रकार से ये तो 'परोक्ष' हैं, किन्तु 'अवधि', 'मनःपर्याय' तथा 'केवल', इन तीनों प्रकार के ज्ञान में तो जीव स्वतन्त्र रूप से, अर्थात् बिना किसी की सहायता से, ज्ञान प्राप्त करता है, अतएव ये 'प्रत्यक्ष' हैं।

१—प्रत्यक्ष प्रमाण

यह प्रत्यक्ष ज्ञान पुनः 'पारमार्थिक' तथा 'व्यावहारिक' (सांव्यावहारिक या लौकिक) भेद से दो प्रकार का है। जो कर्म के प्रभाव से मुक्त हो तथा स्वतन्त्र रूप से अपने को प्रकाशित करे, वह 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' है। इसके द्वारा जगत् के सभी विषय सर्वदा भासित होते हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष तो यही है। किन्तु जिस ज्ञान के लिए जीव को इन्द्रियों की चेष्टाओं पर तथा मन पर निर्भर रहना पड़ता है, उसे जैनों ने 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' कहा है। 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' भी दो प्रकार का है—जिस में इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से असाधारण कारण हों तथा जिस में मन स्वतन्त्र रूप से कारण हो। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जैन लोग 'मन' को इन्द्रिय नहीं मानते।

प्रत्यक्ष के भेद

[1] भगवतीसूत्र, ५-३-१९२; अनुयोगद्वारसूत्र।

बाद के जैन दार्शनिकों ने व्यावहारिक दृष्टि से 'मति' और 'श्रुत' को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना है और इन्द्रियों के द्वारा तथा मन के द्वारा जो ज्ञान जीव को प्राप्त होता है, वे सभी 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' हैं। इनसे भिन्न जो ज्ञान है, वह 'परोक्ष ज्ञान' है।

मतिज्ञान—'मतिज्ञान' चार प्रकार का है—

(१) **'अवग्रह'**—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रथम अवस्था का ज्ञान, जिसे सम्मुग्ध, आलोचन, ग्रहण, अवधारण, आदि भी कहते हैं, 'अवग्रह' कहलाता है।

(२) **'ईहा'**—प्रत्यक्ष ज्ञान के क्रमिक विकास में द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान है। इस अवस्था में जीव को दृश्य विषय के गुणों का परिचय जानने की इच्छा होती है। इसे ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा, आदि भी कहते हैं।

(३) **'अवाय'**—दृश्य वस्तु का निश्चय रूप से प्राप्त ज्ञान (ईहित-विशेषनिर्णय)।

(४) **'धारणा'**—प्रत्यक्ष ज्ञान की यह अन्तिम अवस्था है। इसमें दृश्य वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जिस का संस्कार जीव के अन्तःकरण पर निहित हो जाता है।

श्रुत ज्ञान—आगमों के द्वारा तथा आप्त वचनों से जो ज्ञान प्राप्त हो, उसे **'श्रुत ज्ञान** कहते हैं। 'मतिज्ञान' होने के पश्चात् ही 'श्रुत ज्ञान' होता है। इसके दो भेद हैं—**'अंगबाह्य'**, अर्थात् जिस का उल्लेख 'जैनागम' (अंगों) में न हो तथा **'अंगप्रविष्ट'** अर्थात् जिस का उल्लेख 'अंगों' में हो।

मति और श्रुत में भेद———'मति' और 'श्रुत' इन दोनों में ये आपस के भेद हैं—

(१) 'मतिज्ञान' में प्रत्यक्ष के विषय की उपस्थिति आवश्यक है, किन्तु 'श्रुत ज्ञान' में भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी प्रकार के विषय रहते हैं।

(२) जैनागम से सम्बद्ध होने के कारण 'श्रुतज्ञान' 'मतिज्ञान' की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

(३) 'मतिज्ञान' में परिणाम का प्रभाव रहता है, किन्तु 'श्रुत ज्ञान' तो आप्त-वचन होने के कारण परिणाम से परे है और विशुद्ध है।[1]

'आत्मा' के स्वाभाविक गुणों का अवरोध करने वाले 'घातीय' तथा 'अघातीय'

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद

कर्मों के प्रभाव के हट जाने के पश्चात् 'जीव' स्वयं, बिना किसी इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा से, ज्ञान प्राप्त करता है। वही ज्ञान 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान' है। इसके दो भेद हैं—

(१) **केवलज्ञान**—इस अवस्था में 'घातीय' तथा 'अघातीय' कर्मों का प्रभाव दूर हो जाता है, 'जीव' सम्यक् दर्शन का अनुभव करने लगता है तथा समस्त जगत् के कार्यों को साक्षात् देखता है। इसे **'सकल'** भी कहते हैं। राग, द्वेष तथा मोह से रहित अर्हतों में ही यह ज्ञान होता है।

(२) **'विकलज्ञान'**—इसमें सीमित तथा विषय के एक अंश का ही ज्ञान रहता है। इस के दो भेद हैं—

(क) **'अवधिज्ञान**—ज्ञान के आवरणों के हट जाने पर जो ज्ञान 'स्वभाव' से ही देवताओं तथा नारकीय लोगों में हो एवं मनुष्य तथा निम्नस्तर के जीवों में 'प्रयत्न' से हो तथा जो सम्यक् दर्शन-जन्य हो, वही **'अवधिज्ञान'** कहा जाता है।

(ख) **'मनःपर्यायज्ञान'**—सम्यक् चारित्र के द्वारा ज्ञान के आवरणों को दूर करने पर जो ज्ञान उत्पन्न हो तथा जो अन्य पुरुषों के मन में वर्तमान सीमित आकार की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करे, वही **'मनःपर्यायज्ञान'** है।[2] यह ज्ञान साधुओं को ही प्राप्त होता है। **'अवधिज्ञान'** तो सभी को हो सकता है। **'मनःपर्यायज्ञान'** परिशुद्ध तथा सूक्ष्म है।[3]

मति तथा श्रुत के द्वारा सभी द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। रूपवत् अर्थात् 'मूर्त' द्रव्य 'अवधिज्ञान' का विषय है। रूपवत् 'सूक्ष्म' द्रव्य मनःपर्यायज्ञान का विषय है।

---

[1] **तत्त्वार्थसूत्र, १—२०।**

[2] **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, २-२२।**

[3] **तत्त्वार्थसूत्र, १-२६।**

इन चारों अवस्थाओं में द्रव्यों के परिणाम से उत्पन्न विषयों का, अर्थात् पर्यायों का, ज्ञान नहीं होता, किन्तु 'केवल' ज्ञान का सभी द्रव्य तथा उनके पर्याय विषय हैं। मति तथा श्रुत के द्वारा 'रूपी' तथा 'अरूपी' सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं, किन्तु उनके सभी पर्यायों का ज्ञान नहीं हो सकता।[1]

२—परोक्ष प्रमाण

जैनों के मत में दूसरा प्रमाण है—'परोक्ष'। 'हेतु' के द्वारा 'साध्य' वस्तु के ज्ञान को **'परोक्ष'** तथा उस ज्ञान की प्रक्रिया को 'अनुमान' कहते हैं। 'स्वार्थ' तथा 'परार्थ' के भेद से **'अनुमान'** दो प्रकार का है। अनेक दृष्टान्तों को देख कर अपने मन में अपने को समझाने के लिए किये गये अनुमान को 'स्वार्थानुमान' कहते हैं। जैसे, अनेक स्थानों में धूम को वह्नि के साथ अनेक बार देख कर देखने वाला मन में निश्चय करता है कि—'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है'। इसी नियत रूप में हेतु और आग इन दोनों के एक साथ रहने को 'व्याप्ति' कहते हैं। बाद को कहीं जाते हुए एक पर्वत में धूम को देखकर उसे पूर्व में 'व्याप्ति' के द्वारा निश्चित धूम तथा वह्नि के सम्बन्ध का स्मरण होता है और पुनः उस व्याप्ति-विशिष्ट धूम को पर्वत में देखकर वह निर्णय करता है कि पर्वत में वह्नि है। यही **'स्वार्थानुमान'** है। इस प्रक्रिया में 'पर्वत' 'पक्ष' है। पर्वत में रहने वाला धूम 'पक्षधर्म' है। धूमत्व से विशिष्ट धूम का पर्वत-रूपी पक्ष में रहना 'पक्षधर्मता' कहा जाता है। इस प्रकार अनुमान में 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता', ये दोनों आवश्यक हैं।

अनुमान-प्रमाण

पञ्चावयव परार्थानुमान—जब यही बात दूसरों को समझाने के लिए लायी जाती है, तो उसे **'परार्थानुमान'** कहते हैं। इस में जिन पाँच वाक्यों के द्वारा निर्णय किया जाता है, उन वाक्यों को अनुमान के 'अवयव' कहते हैं। जैसे—

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत में वह्नि है,

(२) **हेतु**—क्योंकि (पर्वत में) धूम है,

(३) **दृष्टान्त**—जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है (व्याप्ति), जैसे—रसोई घर में,

(४) **उपनय**—जो धूम बिना वह्नि के नहीं रहता, वह (अर्थात् व्याप्ति-विशिष्ट धूम) पर्वत में है,

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, १-२७-३०।

(५) **निगमन**—इसलिए पर्वत में वह्नि है।

दशावयव परार्थानुमान—भद्रबाहु ने 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' में 'दश-अवयव' वाले अनुमान का उल्लेख किया है, जिस का स्वरूप है—

(१) **प्रतिज्ञा**—हिंसानिरोध सबसे बड़ा पुण्य है,

(२) **प्रतिज्ञा-विभक्ति**[१]—हिंसानिरोध जैन तीर्थंकरों के मत में सब से बड़ा पुण्य है,

(३) **हेतु**—हिंसानिरोध सब से बड़ा पुण्य है, क्योंकि जो हिंसा का निरोध करता है, वह देवताओं का प्रियपात्र होता है, और उनका आदर करना मनुष्यों के लिए धार्मिक कार्य है।

(४) **हेतु-विभक्ति**[१]—हिंसा के निरोध करने वालों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुण्य-लोकों में रहने की आज्ञा नहीं पाते।

(५) **विपक्ष**—परन्तु जो जैन तीर्थंकरों से घृणा करते हैं और हिंसा करते हैं, वे देवताओं के प्रिय हैं और उनका आदर करना मनुष्यों के लिए धार्मिक कार्य है। यज्ञों में हिंसा करने वाले स्वर्ग में रहते हैं।

(६) **विपक्ष-प्रतिषेध**—हिंसा करने वालों की जैन तीर्थंकर निन्दा करते हैं। वे उनके आदरपात्र नहीं हैं और न तो वे देवताओं के ही प्रियपात्र सचमुच में हैं।

(७) **दृष्टान्त**—आर्हत एवं जैन साधु लोग स्वयं अपना भोजन इस भय से नहीं बनाते कि कहीं उसमें हिंसा न हो जाय। वे लोग गृहस्थों के यहाँ भोजन प्राप्त करते हैं।

(८) **आशंका** (दृष्टान्त की सत्यता में सन्देह का होना)—गृहस्थ लोग जो भोजन बनाते हैं वह तो आर्हत तथा जैन साधु लोगों के लिए भी बनाते हैं, फिर उसमें जीवहिंसा होने से उन गृहस्थों को तथा आर्हत एवं जैन साधुओं को भी उस पाप का भागी होना पड़ेगा। इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है।

---

[१] **'विभक्ति' का अर्थ है अवच्छेदक=व्यावर्त्तक=सीमित करने वाला।**

(९) **आशंका-प्रतिषेध**—आर्हत एवं जैन साधु भिक्षा के लिए, अपने आने का संवाद गृहस्थों को नहीं देते और न तो वे कभी किसी एक नियत समय में उनके यहाँ भिक्षा के लिए जाते हैं। इसलिए उनके लिए गृहस्थ भोजन बनाते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। तस्मात् उस पाप से आर्हत एवं साधुओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

(१०) **निगमन**—इसलिए हिंसानिरोध सबसे बड़ा पुण्य है।

हेत्वाभास

उपर्युक्त अनुमान के स्वरूप में प्रधान रूप से 'पक्ष', 'साध्य' तथा 'हेतु', ये तीन पद होते हैं। 'साध्य' वह है, जिसे सिद्ध किया जाय, जैसे—उक्त अनुमान में 'अग्नि' या 'पुण्य'। जिस आधार में साध्य का होना सिद्ध किया जाय, उसे 'पक्ष' या 'आश्रय' कहते हैं, जैसे 'पर्वत' या 'हिंसा-निरोध' तथा साध्य को सिद्ध करने के लिए दिये गये कारण को 'हेतु' कहते हैं। इन तीनों के सम्बन्ध में यदि कोई विघटन हो जाय तथा इन में से कोई भी नियम के प्रतिकूल हो जाय, तो 'अनुमान' में दोष आ जाते हैं और वे दोष **'हेत्वाभास'** आदि के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। यहाँ पर कुछ दोषों का उल्लेख किया जाता है—

(१) **पक्षाभास**—'साध्य' का आधार यदि किसी कारण दूषित हो जाय या असम्भव हो तो उसे 'पक्षाभास' कहते हैं, अर्थात् यद्यपि वह आधार 'पक्ष' के समान मालूम होता है, किन्तु वास्तव में वह 'पक्ष' नहीं है। जैसे—घट पुद्गलों से बना है। यहाँ 'साध्य' को ही 'पक्ष' बना दिया गया है।

(२) **हेत्वाभास**—यह तीन प्रकार का है—

(क) **'असिद्ध'**—वह है जो सिद्ध नहीं है। जैसे—

यह सुगन्धित है, क्योंकि यह आकाश का कमल-फूल है।

यह वाक्य अशुद्ध है, क्योंकि आकाश में फूल होता ही नहीं।

(ख) **'विरुद्ध'**—अग्नि शीतल है, क्योंकि यह द्रव्य है।

यह वाक्य प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। 'अग्नि' कभी 'शीतल' नहीं होती।

(ग) **'अनैकान्तिक'**—जैसे—सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं।

इस वाक्य का उलटा भी कहा जा सकता है—

'सभी वस्तुएँ नित्य हैं', क्योंकि वे सत् हैं।'

यह वाक्य शुद्ध नहीं है, क्योंकि दोनों बातें एक साथ शुद्ध नहीं हो सकतीं।

(३) **दृष्टान्ताभास** एवं (४) **दूषणाभास** भी 'हेत्वाभास' के भेद[1] हैं।

३—शब्द-प्रमाण

'परोक्ष प्रमाण' के अन्तर्गत 'शब्द-प्रमाण' भी एक 'प्रमाण' है। प्रत्यक्ष के विरुद्ध न होकर जो ज्ञान शब्द के द्वारा उत्पन्न हो, वह 'शब्द-प्रमाण' है। 'लौकिक' तथा 'शास्त्रज' के भेद से यह दो प्रकार का है।

इन्हीं प्रमाणों के द्वारा जैनों के मत में अविद्या का नाश, आनन्द की प्राप्ति तथा व्यावहारिक ज्ञान में सत्यासत्य का निर्णय होता है।

नय

अन्य दर्शनों की तरह जैन मत में भी प्रमाणों के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है, जैसा ऊपर कहा गया है। इस के अतिरिक्त जैन लोग दृष्टि के भेद से, जिसे वे **'नय'** कहते हैं, तत्त्वों के ज्ञान की विशेष रूप से पुष्टि करते हैं। इसलिए जैन-दर्शन में **'नय'** का भी एक अपना स्वतन्त्र स्थान है। जैनों ने प्रत्येक वस्तु में अनेक 'धर्म' माने हैं। उन में से जब किसी एक 'धर्म' के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय, जैसे 'नित्यत्व' धर्म के द्वारा 'आत्मा आदि वस्तुएँ नित्य हैं' ऐसा निश्चय करना हो, तो वह 'नय' के द्वारा होता है। यहाँ केवल एक अंश का बोध होता है, किन्तु जब अनेक 'धर्म' के द्वारा किसी वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय, तो वह प्रमाण के द्वारा निश्चय होता है। यहाँ अनेक अंशों का बोध होता है। इस प्रकार 'प्रमाण' तथा 'नय' इन दोनों के द्वारा किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[2]

यथार्थ ज्ञान और नय

---

[1] **न्यायावतार,२१-२८।**

[2] **प्रमाणनयैरधिगमः—तत्त्वार्थसूत्र, १-६।**

'नय' के दो मुख्य भेद हैं—'निश्चय नय' तथा 'व्यावहारिक नय'। 'निश्चय नय' के द्वारा तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्वों के स्वाभाविक जितने

नय के भेद

नित्य गुण हैं उन्हीं के स्वरूप का परिचय निश्चय नय के द्वारा होता है। 'व्यावहारिक नय' के द्वारा विषयों का सांसारिक दृष्टि से ज्ञान प्राप्त होता है।

इन के अतिरिक्त जैन मत में भिन्न-भिन्न अंश को भिन्न-भिन्न दृष्टि से जानने के लिए अनेक 'नयों' का उल्लेख है, जिन में 'द्रव्यार्थिक' तथा 'पर्यायार्थिक' एवं इन के प्रभेद 'नैगम', 'संग्रह', 'व्यवहार', 'ऋजुसूत्र', 'शब्द', आदि अनेक हैं।[1]

जैसा पूर्व में कहा गया है, जैनों ने प्रत्येक वस्तु में अनेक 'धर्म' माने हैं और किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए न केवल उस के अनेक धर्मों का ही प्रमाण के द्वारा ज्ञान अपेक्षित होता है, किन्तु एक धर्म का भी एक दृष्टि से ज्ञान अपेक्षित होता है। अभिप्राय है—तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। अतएव उसे एक दृष्टि से एवं अनेक दृष्टि से, दोनों तरह से देख कर निर्णय करना आवश्यक है। इसलिए 'प्रमाण' तथा दृष्टिकोण, अर्थात् 'नय', इन दोनों का ज्ञान तत्त्वों के ज्ञान के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

वाद

१—कर्मवाद

जो विद्वान् या दर्शनशास्त्र परलोक मानते हैं, मृत्यु के पश्चात् 'आत्मा' की स्थिति को स्वीकार करते हैं तथा 'आत्मा' को नित्य मानते हैं, वे सभी 'कर्मवाद' को बिना

जीव और कर्म का सम्पर्क

स्वीकार किये रह नहीं सकते। जैसा पहले कहा गया है, जिस प्रकार अविद्या के सम्पर्क से 'जीव' जन्म और मरण से युक्त रहता है और अपनी अविद्या का नाश कर मुक्ति पाने के लिए संसार में आया करता है, उसी प्रकार अनादिकाल से 'कर्म' भी जीव के साथ रहता ही है। वास्तव में 'कर्म' के ही कारण 'जीव' को बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जीव और कर्म का सम्पर्क ही तो एक प्रकार से 'अविद्या' है। जीव कर्म करता है और उस कर्म के फल को भोगना उसके लिए आवश्यक होता है। बिना भोग किये कर्म के

---

[1] विनयविजय उपाध्याय—नयकर्णिका, जैन प्रकाशन मन्दिर, आरा संस्करण।

बन्धन से जीव को छुटकारा ही नहीं मिल सकता। इन बातों से यह स्पष्ट है कि 'कर्म' ही बन्धन का एक मुख्य कारण है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों 'कषायों' से जो जीव का अनादि सम्पर्क है, वह भी 'कर्म' के ही कारण होता है। इसलिए कुछ विद्वानों ने 'कर्म' को ही 'अविद्या' कहा है।

जीव के सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं के साथ उस जीव के कर्मों का सम्बन्ध रहता है। जैन मत में पुद्गल अनेक प्रकार के होते हैं और उन्हीं में कर्मों से सम्पर्क रखने वाले पुद्गल 'कर्म-पुद्गल' कहे जाते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

२—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद

जैनों के मत में प्रत्येक 'सत्' या 'द्रव्य' पदार्थ परिणामी है, अर्थात् एक धर्म को छोड़ कर दूसरा धर्म ग्रहण करता रहता है। यह 'सत्' का स्वभाव है । इसलिए प्रत्येक 'सत्' का उत्पाद तथा व्यय (नाश) भी सर्वदा होता ही रहता है। परन्तु इस प्रकार परिणामशील होने पर भी 'सत्' पदार्थ का 'अपनापन' कभी भी नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद में तथा व्यय में भी सदैव वर्तमान रहता है। इसे 'ध्रौव्य' कहते हैं : अर्थात् प्रत्येक 'सत्' पदार्थ में 'उत्पाद', 'व्यय' एवं 'ध्रौव्य' ये तीनों 'धर्म' हैं। जैसे 'घट' मिट्टी से उत्पन्न होता है और उसका नाश होता है। उत्पत्ति और नाश इन दोनों अवस्थाओं में 'मिट्टी' का अपनापन अर्थात् 'तद्भाव' तो रहता ही है। इसे ही 'ध्रौव्य' कहते हैं। स्वरूप में परिवर्तन होता है, किन्तु उसका 'तद्भाव' तो सदा, सभी अवस्था में विद्यमान रहता है।

'सत्' का स्वरूप

ऐसी स्थिति में जब किसी तत्त्व का विचार करना हो, तो उसके अनेक धर्मों का विचार करना चाहिए। तभी उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सकता है। अर्थात् जैनों के मत में शंकर के वेदान्त के समान 'सत्' नित्य नहीं है; या बौद्धों की तरह उत्पाद तथा विनाश से युक्त प्रतिक्षण में नाश होने वाला नहीं है; या सांख्य वालों के समान चेतन पुरुष के रूप में कूटस्थ तथा अचेतन प्रकृति के रूप में परिणामी नहीं है; या न्याय-वैशेषिक के समान परमाणुरूप में नित्य तथा कार्य-रूप में अनित्य नहीं है।

३—परिणामिनित्यत्ववाद

वस्तुतः इनके मत में 'सत्' न केवल कूटस्थ तथा क्षणिक ही है या केवल नित्य तथा अनित्य ही है या चेतन तथा अचेतन ही है, किन्तु यह **'सभी'** है। अतएव इस

में 'उत्पाद', 'विनाश' तथा 'ध्रौव्य', ये तीनों गुण सदैव वर्तमान हैं, अर्थात् एक ही वस्तु एक ही क्षण में 'है' भी और 'नहीं' भी है, फिर भी दोनों अवस्थाओं में उसका 'अस्तित्व' तो है ही। इन परस्पर विरुद्ध गुणों को एक साथ जैन लोग प्रत्येक द्रव्य या सत् में विद्यमान मानते हैं। इसी कारण इस विचारधारा को **'परिणामि-नित्यत्ववाद'** या **'अनेकान्तवाद'** लोग कहते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि तत्त्वों के वास्तविक ज्ञान के लिए अन्य दर्शनों के समान जैन-मत में भी व्यावहारिक ज्ञान की एवं सांसारिक अनुभव की अपेक्षा है। जैन-मत में चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यों में अनन्त धर्म हैं। जैसे–आत्मा में सत्, नित्यत्व, अमूर्तत्व इत्यादि अनेक 'धर्म' हैं। ये 'धर्म' किसी एक वस्तु की अपेक्षा से 'आत्मा' में हैं और साथ ही साथ किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से नहीं भी हैं। इसी प्रकार अपने गुणों की अपेक्षा से 'आत्मा सत् है', किन्तु घट के गुणों की अपेक्षा से उसी समय 'आत्मा असत्' भी है। अतएव एक वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए संसार की सभी वस्तुओं का स्वरूप, उस विशेष वस्तु के सम्बन्ध में, जानना पड़ता है।

सप्तभंगी नय का उदाहरण

इस प्रकार एक वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य वस्तुओं की सम्भावना की परीक्षा भी करनी आवश्यक है। इसी बात को जैन लोगों ने **'स्यात्'**, अर्थात् 'हो सकता है', इस रूप में विचार किया है। वस्तु में अनन्त धर्म होने पर भी जैनों ने उस वस्तु में केवल सात प्रकार की सम्भावनाओं का विचार किया है। इसी से समझ लेना चाहिए कि अन्य प्रकारों की भी सम्भावना हो सकती है। इसी को **'सप्तभंगीनय'** अर्थात् निश्चय पर पहुँचने के लिए किसी बात का सात प्रकार से विचार करना, जैनों ने कहा है। इन्हीं सातों प्रकार के सम्भावित वाक्यों के स्वरूप उदाहरण सहित नीचे दिये जाते हैं—

(१) **'स्यात् अस्ति द्रव्यम्'**—एक किसी दृष्टि से वस्तु की सत्ता हो सकती है।

(२) **'स्यात् नास्ति द्रव्यम्'**—दूसरी किसी दृष्टि से उसी समय उसी वस्तु की सत्ता नहीं भी हो सकती।

(३) **'स्यात् अस्ति च नास्ति च द्रव्यम्'**—तीसरी दृष्टि से उसी समय वस्तु की सत्ता हो सकती है और नहीं भी हो सकती।

(४) **'स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम्''**—चौथी दृष्टि के विचार से वही वस्तु अवक्तव्य है, क्योंकि एक ही समय में उसकी सत्ता का अस्तित्व और अदर्शन दोनों कहे जाने के कारण शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक उसके स्वरूप का निर्वचन नहीं हो सकता।

(५) **'स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्'**—पाँचवीं दृष्टि के विचार से वही वस्तु एक ही समय में हो सकती है और फिर भी अवक्तव्य रह सकती है।

(६) **'स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्''**—छठीं दृष्टि के विचार से वही वस्तु एक ही समय में नहीं भी हो सकती है और फिर भी अवक्तव्य रह सकती है।

(७) **'स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्'**—सातवीं दृष्टि के विचार से वही वस्तु एक ही समय में हो सकती है, नहीं भी हो सकती है और तथापि अवक्तव्य रह सकती है।

इन सभी अवस्थाओं में 'द्रव्य', 'क्षेत्र', 'काल' तथा 'भाव', इन स्वरूपों को लेकर भिन्न-भिन्न अवस्था की सम्भावना की जा सकती है और वस्तु का पूर्ण परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की जा सकती है।[1] यही इस **'स्याद्वाद'** या **'अनेकान्तवाद'** का उद्देश्य है।

जैन-दर्शन में यह एक अपूर्व विचार है। इसी को लेकर इस दर्शन को कोई **'स्याद्वाददर्शन'** भी कहते हैं।

आलोचन

अन्य दर्शनों की तरह जैन-दर्शन भी मुख्य रूप में आचार-विचार से ही उत्पन्न हुआ। मालूम होता है कि पूर्व में इन लोगों का विशेष ध्यान देहशुद्धि, अन्तःकरण-शुद्धि, आदि में ही था। बाद को उस मत के विद्वानों ने इसे भी आध्यात्मिक रूप देकर एक सर्वांगपूर्ण दर्शन बनाया।

---

[1] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ३०१-३०४।

चार्वाकों के अनन्तर जैनों ने 'आत्मा' के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत दूर तक विचार किया है। उसके चैतन्य रूप की प्राप्ति का मार्ग भी दिखाया है। किन्तु जैसा पहले कहा गया है, इस आत्म-विचार में भौतिकवाद का लेश अवश्य रह गया। यही कारण है कि 'आत्मा' में 'देह-परिमाण' वे मानते हैं एवं उसमें 'संकोच' तथा 'विकास', ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म भी उन्होंने माने हैं।

आत्मा अवयवी है

इसके अतिरिक्त जड़ पदार्थों की तरह आत्मा में 'प्रदेशों' की स्थिति मान कर उसे अवयवों से युक्त जैनों ने माना है। शरीर के टुकड़े करने के साथ-साथ 'आत्मा' के भी टुकड़े किये जा सकते हैं और शरीर से पृथक् शरीर के टुकड़ों के साथ-साथ 'आत्मा' के भी टुकड़े पृथक् हो जाते हैं और फिर शरीर के अंगों की पुष्टि की तरह 'आत्मा' के अंग भी पुष्ट हो जाते हैं। मालूम होता है कि 'आत्मा' अपने कटे हुए अंगों के साथ उसी प्रकार सम्बद्ध रहती है, जिस प्रकार कमल-नाल के टूट जाने पर भी एक पतले सूत से उसके दोनों टुकड़े सम्बद्ध रहते हैं।

ये सभी बातें भौतिक पदार्थ में पायी जाती हैं। अतएव कहा जा सकता है कि जैनों की 'आत्मा' को भौतिक स्वरूप से सर्वथा छुटकारा नहीं मिला है। किसी अंश में तो 'आत्मा' बहुत ऊँचे स्तर तक पहुँच गयी है, परन्तु उपर्युक्त अंशों में वह भूतों के सम्बन्ध से बहुत दूर नहीं हट पायी है।

अभेद में भेद

दर्शनों के तात्त्विक विचार का मुख्य ध्येय तो होना चाहिए 'भेद में अभेद' का ज्ञान, किन्तु जैन-सिद्धान्त में 'अभेद' का या 'एकत्व' का कहीं स्थान नहीं है। 'भेद' तो निम्न स्तर में पाया जाता है। अतएव यह दर्शन ऊँचे स्तर तक हमें नहीं पहुँचाता।

आचार के अव्यावहारिक नियम

आचार का तथा तपश्चर्या का बहुत कठोर विचार जैन-दर्शन में है। यह तो उचित ही है। इससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है। किन्तु इन लोगों ने जिन कठोर नियमों तथा व्रतों का विधान किया है, उनका साधारण रूप से पालन नहीं किया जा सकता। ये नियम मनुष्यों के ही लिए तो बने हैं। इन्हें यह देखना चाहिए था कि नियम ऐसे हों जिनका पालन करने की सम्भावना हो। असम्भव नियमों से लाभ नहीं होता। उनके पालन में शिथिलता आ जाती है। यही कारण है कि जैन-मत में कुछ 'साधु' हैं और अधिक लोग 'गृहस्थ' हैं। गृहस्थों के लिए नियमों का पालन अनिवार्य नहीं

है। परन्तु क्या साधु लोग मनुष्य नहीं हैं? क्या वे उतने कठोर व्रतों, जैसे 'केश-लुञ्चन' आदि का पालन प्रसन्नता से या उत्साह से करते हैं? मालूम होता है कि जैन लोग व्यवहार में बहुत पटु नहीं थे, अतएव इन्होंने अव्यावहारिक नियमों का विशेष विधान किया है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आचार के स्तरों की परीक्षा के लिए एक सब से ऊँचा 'आचार-मापक-तत्त्व' का होना उचित है। उसे 'ईश्वर' कहें या न कहें, किन्तु बिना एक उच्चतम 'मापक-तत्त्व' के, किस आधार पर बुरे और भले का, सत्य और असत्य का, उचित और अनुचित का, निर्णय किया जा सकता है?

आचार-मापक-तत्त्व

तीर्थङ्करों को 'ईश्वर' के समान इन्होंने माना है, किन्तु वे 'ईश्वर' तो नहीं हो सकते। मनुष्य की ही देह को उन्होंने धारण किया है। 'ईश्वर' के समान शक्ति-शाली भी वे हो सकते हैं, किन्तु 'ईश्वर' नहीं हो सकते। फिर मनुष्य-शरीर धारण करने के कारण ये लोग सब के लिए सर्वथा दोषरहित 'आचार-मापक-तत्त्व' नहीं कहे जा सकते। अतएव आचार के नियमों की माप भी एक विशिष्ट 'मापक-तत्त्व' के बिना ठीक से नहीं हो सकती।

एक ही समय में अनेक साधक सिद्ध होकर तीर्थङ्कर के पद को प्राप्त कर सकते हैं। तो क्या एक समय में भिन्न-भिन्न तीर्थङ्करों के रूप में भिन्न-भिन्न अनेक 'ईश्वर' हो सकते हैं? ऐसी स्थिति में एक ही समय में आचार-मापक अनेक तत्त्वों का अस्तित्त्व मानना पड़ेगा, फिर सब के लिए नियम भी भिन्न-भिन्न होंगे और जीवन विघ्नपूर्ण हो जायगा।

इन बातों को ध्यान मे लाने से यह कहा जा सकता है कि जैन-मत में बहुत ऊँचे स्तर के विचार नहीं हैं और ये लोग व्यवहार में बहुत पटु नहीं हैं।

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध-दर्शन

जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन भी प्रारम्भ में आचार-शास्त्र के ही रूप का था। बाद को बुद्ध के शिष्यों ने आध्यात्मिक रूप देकर उसे एक दार्शनिक शास्त्र बनाया। विचार करने से यह कहा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र के दो अंग हैं—एक आचार या कर्मकाण्ड तथा दूसरा ज्ञानकाण्ड या आध्यात्मिक चिन्तन। इनमें पहले आचार के ही नियमों का पालन करना आवश्यक है। तत्पश्चात् आध्यात्मिक चिन्तन का अवसर आता है। उपासना के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ही आध्यात्मिक विचार को समझने की शक्ति मनुष्य में आ सकती है। अतएव अन्य दर्शनों की तरह बौद्ध-दर्शन का भी बीज कर्मकाण्ड में निहित है।

आचार-शास्त्र

इस मत के आदि प्रवर्तक गौतम का जन्म ५६३ ईसा के पूर्व वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी वन में हुआ था। इनकी माता 'माया देवी' इनके जन्म के सात ही दिन पश्चात् मर गयीं। इसलिए गौतम का पालन-पोषण उनकी विमाता ने किया। इनके पिता शुद्धोदन शाक्यों के अधिपति थे। गौतम के जन्म के समय के ग्रहों का विचार कर ज्योतिषियों ने कहा था कि यह अपने जीवन के आरम्भ में ही दुःखी, ज्वरी, मृत-शरीर तथा परिव्राजक के कष्ट को देखकर, पर-दुःख से दुःखी होकर, घर-द्वार छोड़ कर तपस्या के लिए जंगल को चले जायँगे। पिता ने बहुत प्रयत्न किया कि उपर्युक्त दयनीय अवस्था का दृश्य इनके सामने न आवे, किन्तु होनहार को कौन टाल सकता था ? गौतम का विवाह एक क्षत्रिय राजा की लड़की 'यशोधरा' से हुआ और उससे एक पुत्र का जन्म भी हुआ।

गौतम की जन्म-कथा

गौतम बहुत दुर्बल प्रकृति के व्यक्ति थे। इन्हें दूसरों का भी दुःख सह्य नहीं होता था, फिर अपने दुःख की तो बात ही क्या। यह संसार दुःखमय है। दुःख

के भोग के लिए ही जीव यहाँ आते हैं और उन्हें धैर्य धारण कर दुःख का भोग करना चाहिए। भोग से ही पूर्व-जन्म के प्रारब्ध कर्मों का नाश होता है और पश्चात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु गौतम का हृदय बहुत दुर्बल था या कहा जाय कि जो होनहार था वही हुआ। अतएव दुःख से व्याकुल होकर उन्तीस वर्ष[1] की अवस्था में एक रात को गौतम घर को छोड़ और राजसुख का परित्याग कर, दुःख-नाश के उपाय को ढूँढ़ने के लिए जंगल को चल दिये। घर छोड़ने के अव्यवहित पूर्व समय में उन्होंने अपनी स्त्री के घर के द्वार पर जाकर एक बार अपनी स्त्री को तथा अपने नवजात शिशु को देख लिया।

गृह-त्याग

इन बातों से यह स्पष्ट है कि गौतम ने केवल पर-दुःख को न सह सकने के कारण घर छोड़ा, न कि यज्ञों में हिंसा को देखकर, जैसा आजकल के पाश्चात्य-शिक्षा-सम्पन्न विद्वान् समझते हैं।[2] उरुवेला के जंगल में जाकर छः वर्ष तक इन्होंने कठोर तपस्या की। किन्तु गौतम को अपनी तपस्या से सन्तोष नहीं हुआ और वहाँ से उठ कर बोध-गया में एक पीपलवृक्ष के नीचे आकर पुनः तपस्या करने लगे। यहाँ आते ही तपस्या के प्रभाव से जन्म-जन्मान्तरों के मल के दूर हो जाने से उनका अन्तःकरण पवित्र हो गया और बोधि अर्थात् ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई। वह प्रबुद्ध हुए। उनका दुःख दूर हो गया और अपने उद्देश्य की प्राप्ति में वे सफल हुए। इसके बाद वे 'बुद्ध' कहे जाने लगे और वह पिप्पलवृक्ष 'ज्ञान-वृक्ष' हो गया एवं सभी उसकी पूजा करने लगे। गौतम एक प्रकार से 'जीवन्मुक्त' हो गये।

बुद्धत्व की प्राप्ति

तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त कर या जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच कर कुछ लोग शरीर को छोड़ देते हैं और परमात्मा के साथ एक हो जाते हैं, किन्तु कुछ लोग 'आप्तकाम' होने पर भी संसार को कल्याण-मार्ग पर ले जाने के लिए शरीर की तब तक रक्षा करते हैं जब तक उनके 'प्रारब्ध-कर्म' के भोग पूर्ण नहीं हो जाते या जब तक उनकी इच्छा रहती है। बुद्ध ने भी स्वयं ज्ञान

लोक-कल्याण

---

[1] एकूनतिंसो वयसा सुभद्द यं पब्बजि किं कुसलानुएसि—महापरिनिब्बानसुत्त, २२१।

[2] प्रोफेसर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३५४; वि० च० लाहा—बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ११३; महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य—बेसिक कनसेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ७-८।

प्राप्त कर अपने को दुःख से विमुक्त कर दूसरों को भी अपने अनुभवों के द्वारा दुःख से विमुक्त करने के लिए अपने शरीर की रक्षा की। उसका नाश नहीं किया।

आर्य-सत्य

बुद्ध को विश्वास था, और इसके बाद उन्हें साक्षात् अनुभव भी प्राप्त हो गया था कि (१) संसार दुःखमय है **(सर्वं दुःखम्)**; (२) दुःखों का कारण है **(दुःखसमुदयः)**; दुःख से पीड़ित होकर उसके नाश करने के उपायों को लोग ढूँढ़ा करते हैं, अर्थात् (३) उन्हें विश्वास है कि दुःख का नाश होता है **(दुःखनिरोधः)** तथा (४) दुःखों के नाश के लिए उपाय भी हैं **(दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्)**। इन्हीं चार बातों को लोगों को समझाने के लिए तत्त्वज्ञान होने पर भी बुद्ध ने अपने शरीर की रक्षा की। ये ही चार **'आर्य सत्य'** हैं।

इसी उद्देश्य से बुद्ध ने सारनाथ आदि स्थानों में जा कर लोगों को उपदेश दिया। विद्वान् लोग तथा ज्ञानी पुरुष जिज्ञासुओं को अपने अनुभव का ही उपदेश देते हैं और उसी से दूसरों का भी कल्याण होता है। बुद्ध ने भी यही किया। उन्होंने स्वयं दुःख से व्याकुल होकर उसके नाश के लिए उपायों को ढूँढ़ा था। संसार के माया-जाल में लोग इस प्रकार फँसे हुए हैं कि शीघ्र यह भी नहीं समझते कि दुःख है तथा उसका कारण क्या है। अतएव बुद्ध ने अपने अनुभव का उपयोग किया और लोगों को समझाया कि दुःख है और उससे सर्वदा के लिए छुटकारा पाने के लिए, दुःख को उत्पन्न करने वाले कारणों को समझ कर, उनका नाश करना उचित है।

व्यावहारिकता से कल्याण

एक बात यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि बुद्ध को तत्त्वज्ञान हो गया। उन्हें 'आत्मा' का साक्षात्कार हो गया, परन्तु 'आत्मा' के साक्षात्कार को जीवन का मुख्य लक्ष्य समझ कर भी लोगों के कल्याण के लिए तथा उन्हें उचित मार्ग पर ले जाने के लिए बुद्ध ने 'आत्मा' के सम्बन्ध में अपने उपदेशों में कुछ भी नहीं कहा। उन्हें व्यावहारिक जगत् का पूर्ण ज्ञान था और व्यावहारिकता के साथ चलने से ही सर्व साधारण की भलाई होगी, इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था। यह भी उनके मन में निश्चित था कि कर्तव्य-पथ पर चल कर उपासना के द्वारा तपस्या की सहायता से अन्तःकरण की शुद्धि पहले लोग करें, पश्चात् 'आत्मा' के सम्बन्ध में सभी बातें स्वयं लोग समझ जायँगे। इसलिए बुद्ध ने लोगों को कर्म करने की शिक्षा पहले दी। आत्मा आदि तत्त्वों के सम्बन्ध में, अर्थात् संसार नित्य है या अनित्य ? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न ? यह

मूर्त है या अमूर्त ? मृत्यु के बाद आत्मा रहती है या नहीं ? आदि रहस्यमय प्रश्नों के पूछे जाने पर वह स्वयं मौन रहते थे। इसका कारण स्पष्ट है—सभी लोग इतने सूक्ष्म विषय को नहीं समझ सकते, फिर उन्हें इस प्रकार का उपदेश देना बेकार है। प्रत्युत रहस्यपूर्ण उपदेश देने से लोग अज्ञता के कारण और भी व्यस्त हो जायँगे। वे उलटी बातें समझ लेंगे एवं बुद्ध को पक्षपाती कहकर उनके साथ विवाद उपस्थित कर देंगे, इन कारणों से बुद्ध ने मौन रहना पसन्द किया। आरम्भ में तो उपासना तथा अन्य तपस्या के उपदेश से ही लाभ हो सकता है, अतएव बुद्ध ने पहले उन बातों का उपदेश दिया जिनका उन्हें स्वयं अनुभव हुआ था और जो साक्षात् लोगों के कल्याण के लिए थीं।

सबसे पहले उन्होंने सबको यह समझाया कि संसार दुःखमय है। कोई भी जीव दुःख से मुक्त नहीं है तथा दुःख किसी को प्रिय नहीं है। उससे छुटकारा पाने के लिए सब को प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए दुःख के कारण को जानना आवश्यक है, बिना कारण के कार्य नहीं होता और कारण के नाश के बिना कार्य का नाश भी नहीं हो सकता। इसलिए सभी को दुःख के कारणों को जानना चाहिए और उनके नाश के लिए उपाय ढूंढ़ना चाहिए।

दुःख की कारण-परम्परा

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे दुःख का मूल कारण 'अविद्या' है, जिसकी अद्‌भुत शक्ति से कारणों की एक परम्परा हो जाती है। इस कारण-परम्परा को **'प्रतीत्य-समुत्पाद'**—'एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति' कहते हैं, अर्थात् एक कारण के आधार पर एक कार्य उत्पन्न होता है, जो अविद्या का एक स्वरूप है तथा जो पुनः कारण होकर एक भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार कार्य-कारण की क्रम-परम्परा में सभी अंग कार्य-कारण-रूप से बद्ध हैं। यह परम्परा निम्नलिखित स्वरूप की है—

प्रतीत्यसमुत्पाद

(१) **अविद्या से संस्कार,**

(२) **संस्कार से विज्ञान,**

(३) **विज्ञान से नाम-रूप,**

(४) **नाम-रूप से षडायतन,** अर्थात् मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,

(५) **षडायतन से स्पर्श,**

(६) **स्पर्श** से **वेदना,**

(७) **वेदना** से **तृष्णा,**

(८) **तृष्णा** से **उपादान** (राग),

(९) **उपादान** से **भव** (संसार में होने की प्रवृत्ति),

(१०) **भव** से **जाति,**

(११) **जाति** से **जरा** और

(१२) **जरा** से **मरण।**

इन बारहों के स्वरूपों का विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये सभी बुद्ध के चार आर्यसत्यों से ही अभिव्यक्त होते हैं। इनमें से कुछ भूतपूर्व कारण हैं और वर्तमान में कार्यरूप में हैं तथा कुछ वर्तमान में कारण हैं और कुछ भविष्य में कार्य होने के लिए हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय ('अविद्या' तथा 'संस्कार') दूसरे 'आर्यसत्य' से सम्बद्ध हैं और पूर्व-जन्म से सम्बन्ध रखने वाले वर्तमान जन्म के कारण हैं और ये 'दुःख-समुदय' के स्वरूप हैं। 'जाति' और 'जरा-मरण' ये वर्तमान जीवन में रह कर भविष्य जीवन के कारण हैं तथा बीच वाले वर्तमान जीवन में कारण और कार्य दोनों रूपों में विद्यमान हैं। इन्हीं कार्य-कारणों की परम्परा में संसार-चक्र चलता रहता है। इसे 'भवचक्र' भी कहते हैं। जब तक जीव इस 'भवचक्र' से मुक्त नहीं होता, तब तक उसके दुःख का नाश नहीं होता। इस दुःख का निरोध अत्यावश्यक है। यह भी बुद्ध ने शिक्षा दी कि दुःख नित्य नहीं है। नित्य तो कुछ भी नहीं है। फिर इस दुःख के नाश के लिए उपाय है। उस उपाय के द्वारा दुःख-नाश कर जीव अपने जीवन के परम पद की प्राप्ति कर सकता है और जन्म-मरण से सब दिन के लिए उसे छुटकारा मिल जाता है। यही बात बुद्ध ने कही है—

> **चतुन्नं अरिआ सच्चानं यथाभूतं अदस्सना,**
> **संसरितं दीघमद्धानं तासु तास्वेव जातिसु।**
> **तानि एतानि दिठ्ठानि भव नेत्ति समूहता,**
> **उच्छिन्नं मूलं दुक्खस्स नत्थि दानि पुनब्भवोति॥**[1]

---

[1] **महापरिनिब्बानसुत्त, २-४९।**

इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बुद्ध ने अपने अनुभव के अनुसार लोगों को उपदेश दिया। दु:ख-निरोध के मार्ग को कहते हुए उन्होंने **'अठ्ठंगिकं मग्गम्'** (अष्टांग-मार्ग) का भी उपदेश दिया। उनका विश्वास था कि कायिक, वाचिक तथा मानसिक साधना के बिना दु:ख का निरोध नहीं हो सकता। अतएव उस प्रकार की साधना के लिए प्रत्येक साधक को—

अष्टांग-मार्ग

(१) **'सम्मा-दिठ्ठि'** (सम्यक् दृष्टि, अर्थात् आर्यसत्यों का ज्ञान),

(२) **'सम्मा-संकप्प'** (सम्यक् संकल्प, अर्थात् राग, द्वेष, हिंसा तथा संसारी विषयों के परित्याग के लिए दृढ़ निश्चय),

(३) **'सम्मा-वाचा'** (सम्यक् वाक्, अर्थात् मिथ्या, अनुचित तथा दुर्वचनों का परित्याग एवं सत्य-वचन की रक्षा),

(४) **'सम्मा-कम्मन्त'** (सम्यक् कर्मान्ति, अर्थात् हिंसा, परद्रव्य का अपहरण, वासना की पूर्ति की इच्छा का परित्याग कर अच्छा कर्म करना),

(५) **'सम्मा-आजीव'** (सम्यक् आजीव, अर्थात् न्यायपूर्ण जीविका),

(६) **'सम्मा-वायाम'** (सम्यक् व्यायाम, अर्थात् बुराइयों का नाश कर अच्छे कर्म के लिए उद्यत रहना),

(७) **'सम्मा-सति'** (सम्यक् स्मृति, अर्थात् लोभादि को रोक कर चित्त-शुद्धि) तथा

(८) **'सम्मा-समाधि'** (सम्यक् समाधि, अर्थात् चित्त की एकाग्रता)। इन आठों आचरणों का पवित्रता से पालन करना आवश्यक है। इनके पालन से अन्त:करण की शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय होता है। बुद्ध ने इन्हीं आचरणों का पालन करते हुए कठोर तपस्या की थी। इस अंश में किसी भी मत में भेद नहीं है। इसके बिना तो सिद्धि हो ही नहीं सकती।

इन नियमों को पालन करते हुए साधक क्रमश: अपने लक्ष्य तक पहुँचने में अग्रसर होते हैं और प्रत्येक स्थिति में दोषों से मुक्त होते चलते हैं। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व साधक के लिए तीन विशेष अवस्थाएँ होती हैं—'श्रावक', 'प्रत्येक-बुद्ध' तथा 'बोधिसत्त्व'। इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त कर अन्त में 'बुद्धत्व' की प्राप्ति होती है। इन तीनों अवस्थाओं का संक्षेप में परिचय नीचे दिया जाता है—

बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व की अवस्थाएँ

(१) **श्रावक-पद**—इस अवस्था में साधक त्रिविध क्लेशों से, अर्थात् अज्ञान, विविध बाधाएँ एवं भ्रान्ति से युक्त रहता है। किन्तु बुद्धत्व पाने की प्रबल इच्छा उसमें होती है। अतएव वह अपने आचार्य के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करता है। इस अवस्था में भी निर्वाणपद को पाने के लिए चार भिन्न-भिन्न अवस्थान्तर हैं—

(क) **स्रोतापन्न**—इस अवस्था में साधक की चित्तवृत्ति संसार से विरक्त होकर निर्वाण की तरफ ले जाने वाली चित्तवृत्ति की धारा में सम्मिलित हो जाती है। एक बार इस धारा में पड़ जाने से पुनः पीछे हटने की आशका नहीं रहती।

(ख) **सकृदागामी**—अर्थात् एक बार (इस संसार में) आनेवाला साधक। इस भूमि में इन्द्रिय-लोलुपता तथा दूसरे को हानि पहुँचाने की इच्छा, इन दोनों बन्धनों को नाश करता हुआ साधक अपने लक्ष्य पद की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। इस अवस्था में 'आस्रवों' (क्लेशों) का नाश करना आवश्यक होता है। इस मार्ग के साधक एक ही बार संसार में आते हैं।

(ग) **अनागामी**—इस भूमि में उपर्युक्त दोनों बन्वनों से मुक्त होकर साधक आगे बढ़ता है। मरने पर वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता। वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

(घ) **अर्हत्**—इस पद की प्राप्ति की इच्छा वाले साधक को रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या, इन बन्धनों का नाश कर क्लेशों से विमुक्ति मिलती है। इस भूमि में आकर साधक को तृष्णा से शान्ति मिलती है।

अर्हत् पद तक पहुँचने के साथ श्रावकों को इन चार अवस्थाओं की साधना करनी पड़ती है। यहाँ पहुँच कर साधक ज्ञाननिष्ठ हो जाते हैं। हीनयान बौद्धों का मुख्य लक्ष्य इसी पद की प्राप्ति है।

(२) **प्रत्येक-बुद्ध**—पूर्व-जन्म के अच्छे संस्कार के कारण जिस साधक को 'प्रातिभ चक्षु' का स्वतः उन्मीलन हो जाता है, किसी दूसरे के उपदेश

का सहारा नहीं लेना पड़ता, वही **'प्रत्येक-बुद्ध'** कहलाता है। वह अर्हत्-भूमि से ऊँचे स्तर पर स्थित रहता है। वह ज्ञानी तो हो जाता है, किन्तु दूसरों के दुःखों को दूर नहीं कर सकता।

(३) **बोधिसत्त्व**---इस भूमि का साधक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है और साथ ही दूसरों के दुःखों की निवृत्ति करने के लिए तत्पर रहता है। 'बोधिसत्त्व' न केवल अपना कल्याण चाहता है, किन्तु दूसरों के दुःख का नाश करने के लिए भी उद्यत रहता है। दूसरों का कल्याण करना इस साधक की विशेषता है। महायान सम्प्रदाय में इस अवस्था तक साधक पहुँचता है। अतएव यह ऊँचे स्तर की अवस्था है।

इन भूमियों को प्राप्त कर साधक 'बुद्धत्व' की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार बुद्ध ने लोगों को उपदेश दिया। उन्होंने अपने शिष्यों का एक **'संघ'** बनाया जिसमें पाँच सौ साधक थे। उन सबों के लिए 'शिक्षा' के दस नियमों को बनाया। वे नियम हैं---

संघ के नियम

अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, धर्म में श्रद्धा, मध्याह्नोत्तर भोजन का निषेध, विलास से विरक्ति, सुगन्धित द्रव्यों का निषेध, सुखप्रद शय्या तथा आसन का परित्याग तथा सुवर्ण या चाँदी आदि मूल्यवान् वस्तुओं को अस्वीकार करना।

इनका पालन करना सब के लिए अनिवार्य था। साथ ही साथ बुद्ध ने सब से कहा कि---भिक्षुओ ! देखो, सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। सब का नाश होगा। अपनी मुक्ति के लिए स्वयं सब को उद्योग करना चाहिए---

'हन्द दानि भिक्खवे ! आमन्तयामि वो वयधम्मा संखारा अप्पमादेन संपादेथा'[1]

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध के उपदेशों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये उपदेश प्राचीन ऋषियों के उपदेश से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं थे। इसलिए जनता में इनका पूर्ण आदर हुआ। इनसे पूर्ण प्रभावित होकर बुद्ध के कहे हुए मार्ग को लोगों ने अनुसरण किया। यद्यपि बुद्ध ने घर-द्वार छोड़ कर जंगल में तपस्या के लिए चले जाने के निमित्त लोगों से नहीं कहा, फिर भी लोगों ने उन्हीं के मार्ग का अनुसरण किया और भिक्षुक तथा भिक्षुणी बनकर जंगलों को चले गये।

---

[1] महापरिनिव्वानसुत्त, २३५।

बुद्ध के उपदेश में एक दोष यह मालूम होता है कि उन्होंने **'अधिकार-भेद'** का विचार नहीं किया। सभी दुःखी थे। सभी अपने-अपने दुःख के नाश की इच्छा रखते थे। अतएव सब के कल्याण के लिए बुद्ध ने आपामर को अपने अनुभवों की शिक्षा दी। फल यह हुआ कि बाल, वृद्ध और आतुरों को छोड़ कर सभी इनके उपदेश से प्रभावित होकर घर-द्वार को छोड़कर जंगल को चले गये। समाज में कार्य करने वाला, माता-पिता की सेवा करनेवाला, कोई भी न रहा होगा। इससे समाज की बड़ी हानि हुई होगी।

अधिकार-भेद के विचार का अभाव

जो लोग बुद्ध के विचारों से प्रभावित हुए थे, उनमें से बहुत-से तो भावुकता के कारण तरंग में आकर दुःख-निवृत्ति के उपाय को ढूँढ़ने गये। बुद्ध की तरह एक प्रकार से संसार से विरक्त तो सभी थे नहीं। अतएव जब उनका तरंग शान्त हुआ, तब वे लोग शिथिल हो गये। बुद्ध के वचन तो लिखित थे नहीं, अतएव वे अपनी रुचि के अनुसार उन उपदेशों का अर्थ लगाकर भिन्न-भिन्न मार्ग का अनुसरण करने लगे होंगे। यही कारण था कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके 'संघ' में अनेक भेद हुए और बुद्ध मत की अनेक शाखाएँ हो गयीं, जिनका उल्लेख 'कथावस्तु' आदि पाली के ग्रन्थों में हमें मिलता है। यदि अधिकारी का विचार कर उपदेश दिया जाता, तो सम्भव था कि इस प्रकार समाज और जंगल दोनों जगह कोलाहल न होता।

उपर्युक्त बातों के लिए उन प्रमाणभूत ग्रन्थों का आधार हमने लिया है जिन्हें लोग विश्वस्त रूप से बुद्ध के वचन मानते हैं।[1] इस प्रकार शिष्यों को उपदेश देते हुए, अकल्याण-मार्ग से उन्हें बचाते हुए, अस्सी वर्ष की अवस्था[2] में कुशीनारा में ४८३ ईसा के पूर्व, बुद्ध ने निर्वाण पद की प्राप्ति की।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, आचार-विचार के नियमों के पालन के लिए तथा दुःख से छुटकारा पाने के लिए भक्तों को उपदेश दिया। आध्यात्मिक विचारों के सम्बन्ध में वे चुप रहा करते थे। उनके उपदेश लिखित नहीं थे। परन्तु उनके मुख्य शिष्य तीन थे—उपालि, आनन्द तथा महाकश्यप। इन लोगों ने बुद्ध के उपदेशों को यथावत् स्मरण रखा। बहुत दिनों तक ये उपदेश शिष्य-परम्पराओं के द्वारा सुरक्षित रहे, बाद को महाराज अशोक के समय में २४७ ई०

---

[1] विंटरनिट्ज़—हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर—भाग २, पृष्ठ २-३।

[2] असीतिको मे वयो वत्तति—महापरिनिब्बानसुत्त, ७७।

पूर्व, पाटलिपुत्र की तीसरी सभा में ये सभी उपदेश एकत्रित किये गये और लंका में जा कर ईसा के पूर्व पहली सदी में सभी लिखे गये।

पाली भाषा में बौद्ध साहित्य

बुद्ध के शिष्यों ने उनके वचनों को तीन भागों में विभक्त किया था—'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' तथा 'अभिधम्मपिटक'। ये तीनों 'त्रिपिटक' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'विनयपिटक' उपालि को कण्ठस्थ था। इसमें आचार-विचार के नियमों का वर्णन है। इसी के आधार पर 'संघ' के सभी भिक्षु-भिक्षुणी दिन-प्रति दिन कार्य करते थे। विनय की बातों को लेकर 'सुत्तविभंग', 'खन्धक', 'परिवार' तथा 'पाति-मोक्ख' लिखे गये। 'सुत्तविभंग' के 'पाराजिक' तथा 'पाचित्तियं' एवं 'खन्धक' के 'महावग्ग' तथा 'चुल्लवग्ग' विभाग हुए।

'सुत्तपिटक' आनन्द को कण्ठस्थ था। इसमें **'धम्म'** के सम्बन्ध में समय-समय पर बुद्ध ने जो उपदेश दिये थे एवं दृष्टान्तों के द्वारा लोगों को समझाया था, उनका संग्रह है। इस के पाँच बड़े विभाग हैं जो **'निकाय'** के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(१) **दीघनिकाय**—इसमें प्राचीन दार्शनिक मतों का उल्लेख है। जैनों के आचार्यों का भी वर्णन है। इसके तीन मुख्य भाग हैं—'शीलखन्ध', 'महावग्ग' तथा 'पाटिकवग्ग'। 'महापरिनिव्वानसुत्त' भी 'दीघनिकाय' के अन्तर्गत है।

(२) **मज्झिमनिकाय**।

(३) **संयुत्तनिकाय**।

(४) **अंगुत्तरनिकाय** तथा

(५) **खुद्दकनिकाय**—इसके अन्तर्गत 'धम्मपद', 'उदान', 'इतिवुत्तक', 'सुत्तनिपात', 'थेरगाथा', 'थेरीगाथा', 'जातक', आदि सोलह ग्रन्थ हैं। इसके कुछ ग्रन्थ बहुत ही उपादेय हैं और बुद्ध के वचनों के प्रामाणिक संग्रह हैं। बर्मा के बौद्धों की परम्परा के अनुसार, 'मिलिन्दपण्ह', 'सुत्तसंग्रह', 'पेटकोपदेश' तथा 'नेत्तिपकरण', ये भी चार ग्रन्थ 'खुद्दक' के अन्तर्गत हैं।

बहुतों का कहना है, और बुद्ध के चरित से उचित मालूम भी होता है, कि बुद्ध के वचन साक्षात् या परम्परा-रूप में इन्हीं दोनों पिटकों में पाये जाते हैं। उन्होंने

आध्यात्मिक उपदेश तो दिया ही नहीं, फिर उनके आध्यात्मिक वचनों का संग्रह का होना ठीक नहीं जँचता। मालूम होता है कि **अभिधम्मपिटक** के विषयों का संग्रह उनके शिष्यों का है। फिर भी यह बौद्ध-मत का प्रसिद्ध संग्रह है।

'अभिधम्मपिटक'—काश्यप को इस संग्रह का श्रेय दिया जाता है। इस 'पिटक' में आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा बुद्ध के वचनों के आधार पर विवेचनपूर्ण दार्शनिक विचार हैं। इस पिटक के सात विभाग हैं—'धम्मसंगणि', 'विभंग', 'कथावत्थु', 'पुग्गलपञ्ञत्ति' (पुद्गलप्रज्ञप्ति), 'धातुकथा', 'यमक' तथा 'पठ्ठान' (प्रस्थान)। बौद्ध-दर्शन के ज्ञान के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।

बौद्ध मत के विभाग

प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय

पूर्व में कहा गया है कि बुद्ध के द्वारा स्थापित 'संघ' के लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से बुद्ध के वचनों का अभिप्राय लगाकर एक प्रकार से परस्पर भिन्न मतों का प्रतिपादन करने लगे और इसी कारण बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर इस मत में अनेक भेद हो गये। प्रारम्भ में इनके दो प्रधान भेद हुए—**'महासांघिक'** तथा **'स्थविरवाद'**।

'महासांघिक' लोग तर्क से कार्य लेने लगे। जैसे—उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य में बुद्धत्व प्राप्ति करने की शक्ति स्वाभाविक रूप से निहित है। समय पाकर संयोग से सभी बुद्ध हो सकते हैं। 'स्थविरवाद' के लोग परम्परा के निर्वाहक थे। वे अपने मन से परम्परा में कुछ भी परिवर्तन नहीं चाहते थे। एक प्रकार से ये लोग 'रूढ़िवादी' कहे जा सकते हैं। इनके अनुसार बुद्धत्व-शक्ति स्वभावतः सभी में नहीं होती। यह तो तपस्या से उत्पन्न होती है। इस मत के अनुयायी लोगों का केन्द्र 'काश्मीर' था। यही परिशुद्ध बौद्ध-मत समझा जाता था। महासांघिकों का केन्द्र 'मगध' था।

स्थविरवाद के भेद—'स्थविरवाद' के अन्तर्गत मुख्य दो भेद थे—'हैमवन्त' तथा 'सर्वास्तिवाद'। बाद को सर्वास्तिवाद के नौ विभाग हुए—'वात्सीपुत्रीय', 'धर्मोत्तर', 'भद्रयानिक', 'सम्मितीय', 'छान्दागारिक', 'महीशासक', 'धर्मगुप्तिक', 'काश्यपीय' तथा 'सौत्रान्तिक'। इस प्रकार 'स्थविरवाद' के अन्तर्गत ग्यारह मत हो गये।

महासांघिक के भेद—इसी तरह 'महासांघिक' के अन्तर्गत नौ भेद हुए—'मूलमहासांघिक', 'एकव्यावहारिक', 'लोकोत्तरवाद', 'कौरुकुल्लका', 'बहुश्रुतीय', 'प्रज्ञप्तिवाद', 'चैत्यशैल', 'अवरशैल' तथा 'उत्तरशैल'।

महायान और हीनयान

ये मत-भेद बढ़ते ही गये और बाद को नये-नये वाद उत्पन्न होने लगे। परस्पर राग और द्वेष के कारण 'संघ' के लोगों में पूर्ण अशान्ति थी। महासांघिक मत का विशेष प्रचार होने लगा। अन्त में थेरवादियों ने वैशाली की सभा में महासांघिकों का बहुत अनादर किया और उन्हें 'संघ' के बाहर निकाल दिया। यद्यपि महासांघिकों का आदर विशेष होता था, परन्तु थेरवादियों के अपमान को वे लोग नहीं भूले। इसी कारण ये दोनों दल बहुत प्रबल होकर पृथक् रूप में अपने-अपने विचारों के प्रचार में लगे। बदला लेने की दृष्टि से महासांघिकों ने स्थविरवादियों को **'हीनयान'** और अपने को **'महायान'** सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध किया। **'महायान'** का अर्थ है—निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रशस्त मार्ग और **'हीनयान'** का अर्थ है निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए नीच या अनुपयुक्त मार्ग।

महायान और हीनयान का भेद

ये दोनों बौद्ध-मत के मुख्य भेद हुए, जो आज भी उसी रूप में भिन्न होकर प्रसिद्ध हैं। प्रगतिशील विचार के होने के कारण **'महायान'** को अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, आर्यदेव तथा वसुबन्धु, आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने अपनाया। इससे इसका महत्त्व बहुत ही बढ़ गया। **'हीनयान'** का प्रभाव भी बढ़ता गया। कुछ 'महायान' के लोग 'हीनयान' में मिल भी गये। यह परस्पर मिलन और भेद बहुत दिनों तक चला और इन दोनों की अनेक शाखाएँ एवं प्रशाखाएँ होती गयीं। इन सब में प्रधान रूप से 'महायान' के दो मुख्य भेद हुए—**'विज्ञानवाद'** या **'योगाचार'** तथा **'माध्यमिक'** या **'शून्यवाद'**। 'हीनयान' के भी दो मुख्य भेद हुए—**'वैभाषिक'** तथा **'सौत्रान्तिक'**।

इन दोनों का मूल तत्त्व में भेद नहीं है, किन्तु अवान्तर विषयों में कुछ-कुछ भेद अवश्य है। जैसे—

१. 'हीनयान' के साधक लोग 'अर्हत्' पद को ही अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। इस पद पर पहुँच कर साधक ज्ञाननिष्ठ हो जाता है।

'महायान' के साधक 'बोधिसत्त्व' की अवस्था तक पहुँचते हैं और दूसरों के कल्याण करने की शक्ति को प्राप्त करते हैं।

२. 'हीनयान' में 'स्रोतापन्न', 'सकृदागामी', 'अनागामी' तथा 'अर्हत्' ये ही **चार भूमियाँ** मानी जाती हैं, किन्तु 'महायान' में **दसभूमियाँ** हैं। असंग ने अपने 'दशभूमिशास्त्र' में इन भूमियों का विशद वर्णन किया है। इन के नाम हैं—

दशभूमि

(१) **मुदिता**—इस भूमि में बोधिसत्त्व के हृदय में लोगों के कल्याण की विशेष इच्छा उत्पन्न होती है, जिससे उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। 'करुणा का उदय' इस भूमि की विशेषता है और इसमें दृढ़ होने के लिए साधक अनेक प्रकार की चेष्टा करता है।

(२) **विमला**—साधक के कायिक, वाचिक तथा मानसिक पापों का नाश इस भूमि में होता है। इस स्थिति में **'शीलपारमिता'** का अभ्यास साधक विशेष रूप से करता है।

(३) **प्रभाकरी**—इस भूमि में आकर साधक संसार के 'संस्कृत' धर्मों को तुच्छ समझने लगता है। इस अवस्था में काम-वासना तथा तृष्णा क्षीण होने लगती है और साधक का स्वभाव निर्मल हो जाता है। यहाँ **'धैर्यपारमिता'** का विशेष अभ्यास साधक करता है।

(४) **अर्चिष्मती**—इस भूमि में साधक अष्टांगमार्ग का अभ्यास करता है। उसके हृदय में दया तथा मैत्री का भाव जाग उठता है और वह **'वीर्यपारमिता'** का अभ्यास करता है।

(५) **सुदुर्जया**—इस अवस्था में पहुँचकर साधक का चित्त समता को प्राप्त करता है और वह जगत् से विरक्त हो जाता है। यहाँ **'ध्यानपारमिता'** का विशेष रूप से साधक अभ्यास करता है।

(६) **अभिमुक्ति**—यहाँ आकर साधक सब तरह से समता का अनुभव करता है, सब पर असाधारण दया-दृष्टि रखता है तथा **'प्रज्ञापारमिता'** का विशेष अभ्यास करता है।

(७) **दूरंगमा**—इस भूमि में पहुँच कर बोधिसत्त्व ज्ञान के मार्ग में अग्रसर हो जाता है और एक प्रकार से सर्वज्ञ हो जाता है।

(८) **अचला**—यहाँ पहुँच कर साधक समस्त जगत् को तुच्छ समझने लगता है और अपने को सबसे परे समझता है।

(९) **साधमती**—इस अवस्था में साधक लोगों के कल्याण के लिए उपायों को सोचता है और सब को धर्म का उपदेश देता है।

(१०) **धर्ममेघ**—इस भूमि में पहुँचकर साधक समाधिनिष्ठ हो जाता है और बुद्धत्व को प्राप्त करता है। महायान सम्प्रदाय के साधकों की यह अन्तिम अवस्था है। यहाँ पहुँचकर वे निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।

इन भूमियों में उत्तरोत्तर ऊँचे स्तर हैं और ये क्रमशः साधकों को निर्वाण-पद पर पहुँचाने में सहायक होते हैं। एक भूमि की प्राप्ति करने पर ही दूसरी भूमि में साधक पहुँच सकता है।

इनके अतिरिक्त निर्वाण के सम्बन्ध में तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी भेद हैं, जो बाद में कहे जायँगे।

'महायान' तथा 'हीनयान' के अन्तर्गत जो प्राचीन सम्प्रदाय हैं उनके मतों में बहुत भेद हैं, उनका उल्लेख 'कथावत्थु' आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से मिलता है। परन्तु वे मत अब प्रचलित नहीं हैं। अब तो केवल चार ही मुख्य भेद हैं, जिनका विवरण आगे दिया जायगा।

आध्यात्मिक विचार की परम्परा

इतना और कह देना अनुचित न होगा कि यद्यपि बुद्ध ने आध्यात्मिक प्रश्नों का साक्षात् समाधान नहीं किया, फिर भी वे सभी प्रश्न सब के मन में रहते ही थे। उनके 'संघ' के लोग समय-समय पर उन प्रश्नों पर चिन्तन करते ही रहे होंगे। बाद को जितने सम्प्रदाय हुए, सब ने जगत्, ईश्वर, सृष्टि तथा आत्मा के सम्बन्ध में अपना-अपना विचार प्रकट किया, यह तो पाली के ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन सम्प्रदाय वालों के सिद्धान्त बहुत प्रौढ़ न थे। वे लोग बहुत दूर तक विचार करने में समर्थ नहीं थे। अतएव उन मतों की शाखाएँ नष्ट हो गयीं। किन्तु उन्हीं की परम्परा में 'महायान' तथा 'हीनयान' हुए और इनके मत बहुत प्रसिद्ध हुए। 'महायान' तथा 'हीनयान' सम्प्रदायों के अनुयायी बड़े-बड़े विद्वान् हुए और उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे जो अभी तक हमें प्राप्त हैं। इसी कारण ये सम्प्रदाय अभी तक जीवित हैं।

बुद्ध के उपदेश उपनिषदों के उपदेशों के आधार पर ही थे। श्रोताओं को कुछ भी भेद नहीं मालूम पड़ा और बड़े प्रेम से श्रद्धापूर्वक वे उनके अनुगामी हुए। बुद्ध का

हृदय पवित्र था, ज्ञान से प्रकाशित था और लोगों के प्रति करुणा से आर्द्र था। यही कारण था कि लोगों ने उनके ज्ञान की पूजा की और उन्हें एक अवतार भी मान लिया।

बौद्धों का आस्तिकों से भेद

परन्तु अनेक कारण-वश बुद्धमत के अनुयायी अपने को आस्तिक मत के लोगों से पृथक् समझने लगे। ये लोग वेद को न मान कर बुद्ध के ही वचन को अपना आगम समझते थे। अज्ञानी लोग तो वेद की निन्दा भी करने लगे, यज्ञ से घृणा करने लगे और उसे अधार्मिक कहने लगे। संस्कृत भाषा की अपेक्षा पाली भाषा से उनका विशेष प्रेम था। आस्तिकों की तरह ये लोग 'आत्मा' को नहीं मानते थे। 'ईश्वर' का भी इन्होंने निराकरण किया। इस प्रकार का पार्थक्यभाव बढ़ कर द्वेष में परिणत हो गया। यद्यपि आचार-विचार के सम्बन्ध में बुद्ध के उपदेश सर्वथा आस्तिकों के लिए मान्य थे, अहिंसा आदि धर्मों का पालन भारतवर्ष में बहुत पहले से ही था, तथापि उनके अनुयायी अनेक प्रकार से कलह को उत्पन्न कर अपने को स्वकल्पित एक **'बौद्ध संस्कृति'** के अनुयायी कहने लगे। इन बातों से आस्तिकों के साथ इन अनुयायियों का वैमनस्य बढ़ता गया।

बौद्ध-दर्शन का एक विशेष महत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी दर्शनों का परम लक्ष्य एक ही है। भेद है केवल दृष्टिकोण का। परन्तु ये लोग ईर्ष्यावश तथा आवेश में आकर एक दूसरे से घृणा करने लगे। दूसरे के सिद्धान्त के रहस्य को न समझ कर उसका खण्डन करने लगे। तत्त्व-दृष्टि को भूल जाने से लौकिक दृष्टि का अवलम्बन करने से आस्तिक तथा नास्तिकों के दो प्रबल दल बन गये। शास्त्र-विचार में कलह होने लगा, जय-पराजय होने लगी तथा मत के खण्डनों के लिए ग्रन्थ लिखे जाने लगे। गौतमरचित 'न्यायसूत्र' को बौद्धों ने अपना शत्रु मान कर उसे अनेक प्रकार से नष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया। खण्डन के लिए ग्रन्थों की रचना तथा शास्त्रार्थविचार में जय-पराजय के उद्घोषों के द्वारा इन दोनों दलों में कलह बढ़ता ही गया और अन्त में बौद्ध-मत को तथा उसके अनुयायियों को भारतवर्ष का परित्याग कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि बाहर से आये हुए विदेशियों को किसी न किसी रूप में भारतीयों ने अपना लिया, किन्तु अपने देश के इन बौद्धों को भारतीयों ने ही अपने देश में नहीं रहने दिया। इसका मुख्य कारण मालूम होता है—

बौद्धों का अपने को एक पृथक् संस्कृति का अनुयायी समझना तथा आस्तिकों के प्रति घृणाभाव रखना।

बौद्ध-मत के सम्प्रदाय

'महासांघिक' तथा 'स्थविरवादी' के मतभेद से इनकी अनेक शाखाएँ तथा प्रशाखाएँ हुईं। इनके मतों में बड़े वैचित्र्य थे। परन्तु ये सब सिद्धान्त आगे नहीं बढ़ पाये। 'महायान' और 'हीनयान' सम्प्रदायों ने भिन्न रूप धारण किये और बाद को बौद्ध-मत ने परिशुद्ध दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश किया।

इनके चार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हो गये और इन सबों ने विश्व के पदार्थों की 'सत्ता' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। 'हीनयान' की दो शाखाएँ हुईं—**'वैभाषिक'** तथा **'सौत्रान्तिक'**। महानिर्वाण के पश्चात् तीसरी सदी में 'वैभाषिक' मत की तथा चौथी सदी में 'सौत्रान्तिक' मत की सिद्धि हुई। 'महायान' की भी दो शाखाएँ हुईं—**'योगाचार'** या **'विज्ञानवाद'** तथा **'माध्यमिक'** या **'शून्यवाद'**। ऐतिहासिक विचार से 'माध्यमिक' 'योगाचार' की अपेक्षा प्राचीन मत है, किन्तु दार्शनिक तत्त्व के विचार को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट है कि 'माध्यमिक' मत सबसे अन्तिम, अर्थात् चरम कोटि के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। अतएव दार्शनिक ग्रन्थ में दार्शनिक विचार के क्रम को ध्यान में रखकर **वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार** तथा **माध्यमिक,** इसी क्रम से इनके मतों का विचार किया जाता है।

प्रत्येक मत के विशेष विवरण देने के पूर्व इन चारों के विशिष्ट विचारों का क्रमिक सम्बन्ध दिखाने के निमित्त इनके दृष्टिकोणों का यहाँ पहले ही दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है।

वैभाषिक-मत में जिस जगत् का इन्द्रियों के द्वारा हमें अनुभव होता है उसकी 'बाह्य-सत्ता' है। इसका हमें प्रत्यक्ष और कभी-कभी अनुमान से भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस जगत् की सत्ता चित्तनिरपेक्ष है, साथ ही साथ हमारे अन्दर चित्त तथा उसकी सन्तति की भी स्वतन्त्र 'सत्ता' है। अर्थात् जगत् एवं चित्तसन्तति दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से वैभाषिक-मत में मानी जाती है। यह सत्ता प्रतिक्षण में बदलती रहती है, अर्थात् ये लोग 'क्षणभंगवाद' को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः 'क्षणभंगवाद' को तो सभी बौद्ध मानते हैं।

वैभाषिक-मत

सौत्रान्तिकों का कथन है कि 'बाह्यसत्ता' तो है अवश्य, किन्तु इसका ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, नहीं होता। 'चित्त' में स्वभावतः कोई आकार बौद्ध नहीं मानते। यह शुद्ध और निराकार है। किन्तु इस 'चित्त' में आकारों की उत्पत्ति तथा नाश होता ही रहता है। ये 'आकार' चित्त के अपने धर्म तो हैं नहीं। ये हैं बाह्य जगत् की वस्तुओं के 'आकार'। इस प्रकार चित्त के आकारों के द्वारा 'बाह्य-सत्ता' का ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है, यह 'सौत्रान्तिकों' का मन्तव्य है। 'वैभाषिकों' की तरह 'क्षणभंगवाद' को ये भी मानते हैं।

सौत्रान्तिक-मत

इन दोनों के सिद्धान्तों का विचार करने से यह स्पष्ट है कि बाह्य जगत् की सत्ता तो दोनों मानते हैं, किन्तु दृष्टि के भेद से एक के लिए **'चित्तनिरपेक्ष'** और दूसरे के लिए **'चित्तसापेक्ष'**, अर्थात् अनुमेय सत्ता है। दूसरी बात ध्यान में रखने की है कि सौत्रान्तिक-मत में सत्ता की स्थिति बाह्य से अन्तर्मुखी हो गयी।

योगाचार के मत में 'बाह्यसत्ता' का सर्वथा निराकरण किया गया है। इनके मत में 'चित्त' में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहता है। ये 'विज्ञान' परस्पर भिन्न होते हुए भी वासना-संक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, परन्तु फिर भी सभी स्वतन्त्र हैं। ये 'विज्ञान' स्वप्रकाश हैं। इनमें अविद्या के कारण ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय के भेद की कल्पना हम कर लेते हैं। इस मत में बाह्य जगत् की सत्ता नहीं है। ये लोग केवल चित्त की सन्तति की सत्ता को मानते हैं और सभी वस्तुओं को ज्ञान के रूप कहते हैं। इन के मत में यह 'विज्ञान' या 'चित्त-सन्तति' क्षणभंगिनी है।

योगाचार या विज्ञानवाद

इस प्रकार क्रमशः बाह्य जगत् की 'स्वतन्त्र-सत्ता', पश्चात् 'अनुमेय-सत्ता', तत्पश्चात् बाह्य जगत् का निराकरण और सभी वस्तु को विज्ञान-स्वरूप मानना, इस प्रकार क्रमिक अन्तर्जगत् की तरफ तत्त्व के यथार्थ अन्वेषण में बौद्ध लोग लगे थे।

अन्त में 'विज्ञान' का भी निराकरण **शून्यवाद-मत** में किया गया। इस प्रकार बाह्य और अन्तःसत्ता दोनों का 'शून्य' में विलयन कर दिया गया। यह 'शून्य' एक प्रकार से अनिर्वचनीय है। यह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है तथा सत् और असत् ये दोनों स्वरूप शून्य के गर्भ में निर्वाण को प्राप्त किये हुए हैं। यह अभावात्मक नहीं है एवं अलक्षण है। 'अविद्या' के कारण इसी शून्य से समस्त जगत् की अभिव्यक्ति होती है।

माध्यमिक या शून्यवाद

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष बाह्य सत्ता' से 'अनुमेय बाह्य सत्ता', उसे 'अन्त:विज्ञानमात्र-सत्ता' और पुनः 'शून्य' में निर्वाण की सत्ता को देख कर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-दर्शन में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण, आदि शब्दों के द्वारा निरूपण किया गया **'शून्य'** ही 'परम तत्त्व' है। यही **महानिर्वाणपद** है। यहीं पहुँचकर साधक 'परम पद' की प्राप्ति करते हैं। इसके परे कोई गन्तव्य पद नहीं है। इस 'शून्य' में विलयन होने के उद्देश्य से आरम्भ में ही क्षणभंगवाद को बौद्धों ने स्वीकार किया।

इस प्रकार चारों सम्प्रदायों में समन्वय का प्रदर्शन कर अब अति संक्षेप में इनका विशेष विवरण आगे दिया जाता है।

हीनयान सम्प्रदाय

१. वैभाषिक-मत

स्थविरवादियों (वैभाषिकों) का केन्द्र काश्मीर था। इस मत का प्रतिपादन करने के लिए बहुत थोड़े ग्रन्थ मिलते हैं। इस मत के सिद्धान्तों को ग्रन्थबद्ध करने का प्रथम

साहित्य

प्रयत्न महानिर्वाण के तीन सौ वर्ष पश्चात् **कात्यायनी-पुत्र** ने किया। उन्होंने 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' नाम का एक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा। यह संग्रहरूप ग्रन्थ है। इसके छः भाग हैं, जिनमें तत्त्वों का बहुत विस्तृत विचार है। इसके बहुत पश्चात् इस पर 'विभाषाशास्त्र' नाम की एक व्याख्या लिखी गयी। इसकी बहुत प्रसिद्धि हुई और इस मत के लोगों ने इसी ग्रन्थ के आधार पर अपने विचारों का प्रचार किया। इसी से यह मत **'वैभाषिक'** कहा जाने लगा।

इस मत के सिद्धान्त के निरूपण में सबसे उत्तम पुस्तक **वसुबन्धु** (२८३-३६३) द्वारा लिखित **'अभिधर्मकोश'** है। वैभाषिक-मत का सर्वांगपूर्ण विचार इस ग्रन्थ में है। इसकी अनेक टीकाएँ हैं। **'वसुबन्धु'** पश्चात् काल सौत्रान्तिक-मत के आचार्य हो गये। इनके बड़े भाई **'असंग'** योगाचार मत के आचार्य थे। इनके अतिरिक्त वसुबन्धु के समकालीन **संघभद्र** का 'न्यायानुसार' तथा 'समयप्रदीपिका' एवं **धर्मकीर्त्ति** का 'न्याय-बिन्दु' आदि वैभाषिक सम्प्रदाय के सुप्राप्य मुख्य ग्रन्थ हैं।

तत्त्वविचार

जगत् का विषयिगत विभाग---इस मत में तत्त्वों का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है---'विषयगत' तथा 'विषयिगत'। 'विषयिगत' दृष्टि से समस्त जगत् तीन भागों में विभक्त किया जाता है---**'स्कन्ध'**, **'आयतन'** तथा **'धातु'**।

'स्कन्ध' पाँच हैं--'रूप', 'वेदना', 'संज्ञा', 'संस्कार' तथा 'विज्ञान'। **'रूप-स्कन्ध'** का जगत् के समस्त भूत एवं भौतिक पदार्थों के अर्थ में बौद्ध-दर्शन में प्रयोग किया गया है। वास्तविक रूप में 'रूप' का प्रयोग स्थूल जड़ भूतों के लिए होता है, जिस से जीव का स्थूल शरीर बनता है। **'वेदना'** आदि चार स्कन्धों का मन तथा मानसिक वृत्तियों के लिए प्रयोग किया जाता है। ये ही पाँच स्कन्ध एक प्रकार से जीव के अवयव हैं।

स्कन्धों का विवेचन

'आयतन'---वस्तुओं का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से नहीं होता, उसके लिए किसी आधार की अपेक्षा होती है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान होता है। अतएव इन्द्रियाँ तथा उनके विषय 'ज्ञान' के आधार हैं, अर्थात् उत्पत्ति के स्थान हैं। इन्हीं आधारों को **'आयतन'** कहते हैं। मन को लेकर छः इन्द्रियाँ हैं और छः उनके विषय हैं। इस प्रकार बारह **'आयतन'** के भेद होते हैं। इन्हीं बारह 'आयतनों' को आधार के रूप में लेकर 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। इनके द्वारा जिस वस्तु की सत्ता का ज्ञान न हो, उसके अस्तित्व को ये लोग स्वीकार ही नहीं करते। अतएव बौद्ध मत में 'आत्मा' की सत्ता ही नहीं मानी जाती, क्योंकि न तो इसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है और न यह किसी भी इन्द्रिय का विषय है।

आयतनों का निरूपण

यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि बौद्ध-दर्शन में **'धर्म'** शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक है और इसका अर्थ भी कुछ विचित्र है। भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्त्वों को **'धर्म'** कहते हैं जिनके आघात तथा प्रतिघात से समस्त जगत् की स्थिति होती है, अर्थात् यह जगत् 'धर्मों' का एक संघातमात्र है। ये सभी 'धर्म' सत्तात्मक हैं तथा 'हेतु' से उत्पन्न हैं। प्रत्येक धर्म अपनी पृथक् सत्ता रखता है। सभी स्वतन्त्र हैं। ये सभी क्षणिक हैं, प्रत्येक क्षण में बदलते रहते हैं। परिणाम के कारण ये 'धर्म' स्वयं विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। कहा जाता है कि 'सर्वास्तिवाद' में धर्मों की संख्या पचहत्तर है।

धर्म का स्वरूप

'मन आयतन' को छोड़ कर प्रथम ग्यारह **'आयतनों'** में प्रत्येक में एक-एक 'धर्म' है और 'मन आयतन' में चौसठ धर्म हैं। इसलिए 'मन आयतन' को 'धर्मायतन' कहते हैं।[1]

---

[1] **मैक्गवर्न-मैन्युअल ऑफ बुद्धिस्ट फिलासफी, भाग १, इन सभी बातों के लिए देखना चाहिए।**

'धातु' शब्द हमारे शास्त्रों में भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **बौद्ध-दर्शन** में 'धातु' शब्द का अर्थ 'स्वलक्षण', अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला, किया जाता है।

धातुओं का निरूपण

वसुबन्धु ने धातुओं को ज्ञान के 'अवयव', अर्थात् वे सूक्ष्म तत्त्व जिनके समूह से ज्ञान की सन्तति की उत्पत्ति होती है, कहा है। इनकी संख्या अठारह हैं—छः इन्द्रियाँ, छः इन्द्रियों के विषय तथा छः इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न विज्ञान।

इन्द्रिय	विषय	विज्ञान
(१) चक्षुर्धातु	(७) रूपधातु	(१३) चक्षुर्विज्ञान (चाक्षुप ज्ञान)
(२) श्रोत्रधातु	(८) शब्दधातु	(१४) श्रोत्रविज्ञान (श्रावण ज्ञान)
(३) घ्राणधातु	(९) गन्धधातु	(१५) घ्राणविज्ञान (घ्राणज ज्ञान)
(४) रसनाधातु	(१०) रसधातु	(१६) रासनविज्ञान (रासन ज्ञान)
(५) कायधातु	(११) स्प्रष्टव्यधातु	(१७) कायविज्ञान (स्पार्शन ज्ञान)
(६) मनोधातु	(१२) धर्मधातु	(१८) मनोविज्ञान (अन्तर्हृदय के भावों का ज्ञान)

इनमें से प्रथम बारह तो 'आयतन' ही हैं। इन्द्रिय और उनके अपने-अपने विषयों के सम्पर्क से छः विशेष 'विज्ञान' उत्पन्न होते हैं। इन सब को मिलाकर धातुओं की संख्या अठारह होती है। इनमें से, जैसा पहले कहा गया है, छठे और बारहवें को छोड़कर अवशिष्ट दस धातुओं में, प्रत्येक में, एक-एक 'धर्म' है। धर्मधातु में चौसठ 'धर्म' हैं। सब मिलाकर सर्वास्तिवाद के मत में पचहत्तर 'धर्म' होते हैं। यह जगत् का 'विषयिगत' विभाग हुआ।

जगत् का विषयगत विभाग—अब 'विषयगत दृष्टि' से जगत् के धर्मों का विभाजन किया जाता है। इन धर्मों के दो भाग किये जाते हैं—**'असंस्कृत धर्म'** तथा

धर्मों के भेद

'संस्कृत धर्म'। बौद्ध-दर्शन में 'संस्कृत' तथा 'असंस्कृत' शब्दों का अर्थ एक विचित्र रूप से किया जाता है।

'असंस्कृत' शब्द का अर्थ है—नित्य, स्थायी, शुद्ध तथा किसी हेतु या कारण की सहायता से जो उत्पन्न न हो। 'असंस्कृत धर्मों' में परिवर्तन नहीं होता। 'असंस्कृत धर्म' किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए संघटित नहीं होते।

इसके विपरीत **'संस्कृत धर्म'** होते हैं जो हेतु-प्रत्यय के द्वारा वस्तुओं के संघटन से उत्पन्न होते हैं। 'संस्कृत धर्म' अनित्य, अस्थायी तथा मलिन होते हैं।

असंस्कृत धर्म के भेद—सर्वास्तिवाद के अनुसार **'असंस्कृत धर्म'** तीन हैं—'प्रतिसंख्यानिरोध', 'अप्रतिसंख्यानिरोध' तथा 'आकाश'।

(१) **'प्रतिसंख्यानिरोध'**—**'प्रतिसंख्या'** शब्द का अर्थ है, 'प्रज्ञा' और उसके द्वारा जो निरुद्ध हो उसे **'प्रतिसंख्यानिरोध'** कहा जाता है। अर्थात् 'प्रज्ञा' के द्वारा सभी 'सास्रव', अर्थात् राग, द्वेष, आदि धर्मों का जो पृथक्-पृथक् विसंयोग है, वही **'प्रतिसंख्यानिरोध'** है।[1] इसके उदय होने से राग तथा द्वेष का निरोध हो जाता है और इस क्रम से पृथक्-पृथक् अन्य सभी सास्रव-धर्मों का भी निरोध हो जाता है।

(२) **'अप्रतिसंख्यानिरोध'**—'प्रज्ञा' के बिना ही जो निरोध हो, उसे **'अप्रतिसंख्यानिरोध'** कहते हैं। अर्थात् 'अप्रतिसंख्यानिरोध' वह अवस्था है जब बिना 'प्रज्ञा' के, 'स्वभाव' से ही, सास्रवधर्मों का निरोध हो जाय। सास्रवधर्म हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। यदि उन हेतुओं का नाश हो जाय तो ये सभी धर्म स्वयं, अर्थात् 'प्रज्ञा' के बिना ही, निरुद्ध हो जायँगे।[2] इस प्रकार जो धर्म निरुद्ध होंगे वे पुनः उत्पन्न नहीं होंगे।

'प्रतिसंख्यानिरोध' में निरोध का ज्ञानमात्र रहता है, वास्तविक निरोध तो 'अप्रतिसंख्यानिरोध' में ही होता है।

(३) **'आकाश'**—आवरण के अभाव को 'आकाश' कहते हैं।[3] कहा गया है—**'आकाशम् अनावृति.'** अर्थात् 'आकाश' न किसी का अवरोध करता है और न स्वयं किसी से अवरुद्ध होता है। यह नित्य और अपरिवर्तनशील है। यह भाव-रूप है।

संस्कृत धर्म के भेद—**'संस्कृत धर्म'** के चार भेद हैं—'रूप', 'चित्त', 'चैतसिक' तथा 'चित्तविप्रयुक्त'। पुनः 'रूप' के ग्यारह, 'चित्त' के एक, 'चैतसिक' के छियालीस तथा 'चित्तविप्रयुक्त' के चौदह प्रभेद हैं।

---

[1] **अभिधर्मकोश, १-६।**

[2] **अभिधर्मकोश, १-६।**

[3] **अभिधर्मकोश, १-५।**

(१) **रूप**—जगत् के भूत और भौतिक पदार्थों के लिए बौद्ध-दर्शन में **'रूप'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् 'रूप' वह पदार्थ है जो अवरोध उत्पन्न करे। बाह्येन्द्रिय पाँच (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा काय), इनके पाँच विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य) तथा 'अविज्ञप्ति',[1] ये ग्यारह 'रूप' के प्रभेद हैं। इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं जो अभिधर्मकोश में दिये गये हैं।[2]

(२) **चित्त**—बौद्ध-दर्शन में 'चित्त', 'मन', 'विज्ञान' आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं।[3] इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय, इन दोनों के आघात तथा प्रतिघात से **'चित्त'** उत्पन्न होता है। जिस समय इस आघात तथा प्रतिघात का नाश होता है उसी समय 'चित्त' का भी नाश होता है। वैभाषिक-मत में 'चित्त' ही एक मुख्य तत्त्व है। इसी में सभी संस्कार रहते हैं। यही 'चित्त' इस लोक तथा परलोक में आता-जाता रहता है। यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। अतएव इसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं है। यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। वस्तुतः यह एक है, किन्तु उपाधियों के कारण इसके भी अनेक प्रभेद हैं।

(३) **चैतसिक**—'चित्त' से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले मानसिक व्यापार को **'चैतसिक'** या **'चित्तसंप्रयुक्तधर्म'** कहते हैं। इसके छियालीस प्रभेद हैं।[4]

---

[1] जगत की विचित्रता 'कर्म' से उत्पन्न होती है। 'चेतना' तथा 'चेतनाजन्य' ये दो प्रकार के कर्म होते हैं। मानसिक कर्म को 'चेतना' तथा कायिक एवं वाचिक कर्म को 'चेतना-जन्य' कहते हैं।

पुनः 'विज्ञप्ति' तथा 'अविज्ञप्ति' के भेद से 'चेतनाजन्य कर्म' दो प्रकार के हैं। प्रत्येक कर्म का फल होता है। जिस कर्म का फल प्रकट रूप में होता है, उसे 'विज्ञप्ति' कहते हैं, किन्तु जिस कर्म का फल कालान्तर में अज्ञात रूप में होता है, उसे 'अविज्ञप्ति' कहते हैं। फल देने के पूर्व यह 'कर्म' अदृष्ट-रूप में रहता है—अभिधर्मकोश, ४-१-७।

[2] अभिधर्मकोश, १-९-१०।

[3] अभिधर्मकोश, २-३४।

[4] अभिधर्मकोश, २-३४।

(४) **चित्तविप्रयुक्त**—जो धर्म न तो रूप-धर्मों में और न चित्त के धर्मों में परिगणित हों, उन्हें **'चित्तविप्रयुक्त धर्म'** कहते हैं। इनकी संख्या चौदह है।[१]

'निर्वाण' जीवन की एक वह स्थिति है जिसे अर्हत् लोग सत्य मार्ग के अनुसरण से प्राप्त करते हैं। इसका कोई कारण नहीं है। यह स्वतन्त्र, सत् और नित्य है।

निर्वाण

इसका चित्त और चैतसिक से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अभिधर्मकोश में इसे 'सोपधिशेषनिर्वाणधातु' की प्राप्ति कहा गया है। यह ज्ञान का आधार है। यह एक है। सभी भेद इसमें विलीन हो जाते हैं। अतएव कहा गया है—'निर्वाणं शान्तम्।'[२]

यह आकाश की तरह अनन्त, अपरिमित तथा अनिर्वचनीय है। यह भावरूप है। 'मग्ग' के अनुसरण करने से सास्रवधर्मों का नाश होने पर इसकी प्राप्ति होती है। स्थविरवादियों ने इसे एक प्रकार से 'असंस्कृत धर्म' में ही अन्तर्भूत कर लिया है।

प्रमाण

—जिसके द्वारा 'सम्यग् ज्ञान' होता है, वैभाषिक लोग उसे **'प्रमाण'** कहते हैं। वे दो 'प्रमाण' मानते हैं—'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान'। वस्तुतः इन दोनों प्रमाणों को ही 'सम्यग् ज्ञान' कहा गया है[३] और 'सम्यग् ज्ञान' से ही सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

प्रत्यक्ष

कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान **'प्रत्यक्ष'** है। 'प्रत्यक्ष ज्ञान' चार प्रकार का होता है—

(१) **'इन्द्रियज्ञान'**—इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान।

(२) **'मनोविज्ञान'**—इन्द्रियज्ञान के विषय के अनन्तर, विषय के सहकारी तथा समनन्तर-प्रत्यय-रूप इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान[४]।

---

[१] **अभिधर्मकोश, २-३५-३६।**

[२] **क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिकाः—सेतु पृ० २६।**

[३] **न्यायबिन्दु १-२।**

[४] **बौद्ध-दर्शन में ज्ञान के चार कारण (प्रत्यय) होते हैं—(क) 'घट' जो विषय है, इसे 'आलम्बन-प्रत्यय' कहते हैं, (ख) 'आलोक', जिसके बिना इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान ही नहीं होगा। अतएव यह 'सहकारी-प्रत्यय' है, (ग) 'इन्द्रिय', इसे 'अधिपति-प्रत्यय' कहते हैं। (घ) वह मानविक 'वृत्ति' जिसके अभाव में देखते रहने पर भी ज्ञान नहीं होता। इसे 'समनन्तर-प्रत्यय' कहते हैं। यह वस्तुतः 'मन' ही है।**

अतएव विषय और विज्ञान इन दोनों से 'मनोविज्ञान' उत्पन्न होता है ।

(३) **'आत्मसंवेदन'**—अर्थात् चित्त और चैतसिक धर्मों का, अर्थात् सुख-दुःख आदि का अपने स्वरूप में प्रकट होना । यह आत्म-साक्षात्कारि, निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान है । तथा

(४) **'योगिज्ञान'**—प्रमाणों के द्वारा दृष्ट, अर्थात् सद्भूत, अर्थ का चरम सीमा तक ज्ञान होना ।

प्रत्यक्ष का विषय

प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय 'स्वलक्षण' है, अर्थात् जिस विषय के सान्निध्य एवं असान्निध्य से ज्ञान के प्रतिभास में भेद हो, वही 'स्वलक्षण' है और वही प्रत्यक्ष का विषय है । वही 'परमार्थ सत्' है, क्योंकि उसी के द्वारा वस्तु में अर्थ-क्रिया की सामर्थ्य है ।

अनुमान के भेद—अनुमान दो प्रकार का है—**स्वार्थ** तथा **परार्थ** । **स्वार्थानुमान** में लिंग (हेतु) 'अनुमेय' में रहता है (जैसे—'पर्वत में वह्नि है' इस अनुमान-वाक्य में 'वह्नि' अनुमेय है), 'सपक्ष' में रहता है ('रसोई घर' सपक्ष है) और 'विपक्ष' में नहीं रहता है ('जलाशय' विपक्ष है) । हेतु के इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर जो 'ज्ञान' प्राप्त किया जाय वह **'स्वार्थानुमान'** कहा जाता है । इसीलिए धर्मकीर्ति ने कहा है—

'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्'[1]

अर्थात् अनुमेय में त्रिरूप लिंग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे **'स्वार्थानुमान'** कहते हैं । ध्यान में रखना चाहिए कि **'ज्ञान'** को 'स्वार्थानुमान' और **'कथन'** को 'परार्थानुमान' कहा गया है । **परार्थानुमान** में वाक्यों के, अर्थात् अवयवों के, द्वारा दूसरों को अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है । अर्थात् 'त्रिरूपलिङ्ग का कहना' **परार्थानुमान** है, जैसा धर्मकीर्ति ने कहा है—

'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्'[2]

---

[1] न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद, ३ ।

[2] न्यायबिन्दु, तृतीय परिच्छेद, १ ।

वचनों के द्वारा 'त्रिरूपलिङ्ग' के **'कथन'** को **'परार्थानुमान'** कहते हैं। ये तीनों रूप ये हैं—

'अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये च'[1]

(१) **अनुपलब्धि**—किसी वस्तु का मिलना 'उपलब्धि' और न मिलना 'अनुपलब्धि' है। जैसे—

किसी एक विशेष स्थान में घट नहीं है, क्योंकि घट के उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त[2] होने पर भी उस की वहाँ 'अनुपलब्धि' है। यहाँ 'अनुपलब्धि' हेतु के कथन के द्वारा अनुमान किया गया है।

(२) **स्वभाव**—जो पदार्थ अपने हेतु की अपेक्षा कर ही विद्यमान होता है और हेतुसत्ता से भिन्न अन्य किसी हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, वह 'स्वसत्तामात्रभावी' साध्य है। उस 'स्वसत्तामात्रभावी' साध्य में जो हेतु है, वही **'स्वभाव-हेतु'** कहा जाता है। जैसा धर्मकीर्ति ने कहा है—

'स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः'[3]

जैसे—

यह वृक्ष है,
क्योंकि यह शिंशपा (शीशम) है।

यहाँ 'शिंशपा' होने के ही कारण यह 'वृक्ष' है।

(३) **कार्य**—('साध्य' के) कार्य को देख कर उस साध्य की उपलब्धि का अनुमान करना। जैसे—

यहाँ अग्नि है,
क्योंकि यहाँ धुआँ है।

यहाँ 'धुआँ' कार्य है। इस से अग्निरूप साध्य का अनुमान होता है।

---

[1] न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद।

[2] स्वभाव से ही कहीं पर घट की विद्यमानता है। अर्थात् कहीं एक विशेष स्थान में घट का रहना स्वभाव से ही निश्चित है, अन्य किसी कारण से नहीं। अतएव 'उपलब्धि' घट का एक स्वाभाविक लक्षण हुआ, अर्थात् 'घट' 'उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त' है।

[3] न्यायबिन्दु, तृतीय परिच्छेद।

इन तीनों प्रकार के हेतुओं में 'स्वभाव' और 'कार्य' 'वस्तु' के साधन हैं, अर्थात् 'वस्तु' की उपस्थिति को बताते हैं और 'अनुपलब्धि' प्रतिषेध का निरूपण करती है।[1]

स्वभाव से प्रतिबद्ध होने पर ही साधन-रूप अर्थ साध्य-रूप अर्थ का निरूपण करता है। अतएव इन तीनों के अतिरिक्त साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु नहीं है।

'परार्थानुमान' के दो भेद हैं—'साधर्म्यवत्' और 'वैधर्म्यवत्'। इन दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है, भेद है केवल प्रयोग में।

'हेत्वाभास'

ऊपर कहा गया है कि 'हेतु' में पक्षधर्मत्व आदि तीन बातें रहनी चाहिए। अतएव हेतु के इन तीनों रूपों में किसी प्रकार से विघटन या सन्देह होने पर वह 'हेतु' **हेत्वाभास** कहा जाता है और उससे 'अनुमेय' की सिद्धि नहीं होती।[1]

हेत्वाभास के भेद—बौद्ध-मत में तीन प्रकार के 'हेत्वाभास' होते हैं—**'असिद्ध'**, **'विरुद्ध'** तथा **'अनैकान्तिक'**।

(१) **असिद्ध**—प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक में से धर्मीसम्बन्धी एक रूप (पक्षधर्मत्व) के असिद्ध होने से अथवा उस में सन्देह उत्पन्न होने से, **'असिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है। जैसे—

शब्द अनित्य है,
क्योंकि वह चाक्षुष है।

यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु 'असिद्ध' है।

(२) **विरुद्ध**—दो रूपों के, अर्थात् 'सपक्ष' में सत्त्व के और 'विपक्ष' में असत्त्व के, विपरीत सिद्ध हो जाने पर **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' होता है। जैसे—

शब्द नित्य है,
क्योंकि शब्द में कृतकत्व है।

'कृतकत्व' और 'नित्यत्व', ये परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि 'कृतकत्व' 'अनित्य' में रहता है।

---

[1] न्यायबिन्दु, तृतीय परिच्छेद।

(३) **अनैकान्तिक**—एक रूप के विपक्ष में असत्त्व की असिद्धि होने से **'अनैकान्तिक'** हेत्वाभास होता है। जैसे—

शब्द अनित्य है,

क्योंकि वह प्रमेय है।

यहाँ 'प्रमेयत्व' रूप हेतु 'सपक्ष', अर्थात् 'अनित्य' एवं 'विपक्ष', अर्थात् 'नित्य' दोनों में रहता है। इसलिए यह **'अनैकान्तिक'** हेत्वाभाव है।

इन तीनों हेत्वाभासों के भी अनेक प्रभेद हैं। ग्रन्थ के विस्तार के भय से ये भेद और प्रभेद यहाँ छोड़ दिये गये हैं।

अनुभव

वैभाषिक-मत में **अनुभव** दो प्रकार के हैं—'ग्रहण' तथा 'अध्यवसाय'। ज्ञान की प्रथम अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा निराकार रूप में जो भान होता है, उसे **'ग्रहण'** कहते हैं। इसे हम 'निर्विकल्पक' ज्ञान के समान कह सकते हैं। वही ज्ञान जब साकार रूप में भान होता है, तब उसे **'अध्यवसाय'** कहते हैं। इस को 'सविकल्पक' ज्ञान कह सकते हैं।

अनुभव के भेद

ज्ञान की प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि इन्द्रियाँ बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क में आकर उससे एक प्रकार के संस्कार को ग्रहण करती हैं। उन संस्कारों के साथ वे चित्त को प्रबुद्ध कर उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति करा देती हैं। इसके बाद 'चित्त' में विभिन्न ज्ञानों का उदय होता है।

ज्ञान की प्रक्रिया

इन्द्रियां जड़ हैं। चक्षु, मनस् तथा श्रोत्र दूर से ही अपने-अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। विषय के साथ बाह्य सम्बन्ध इनमें नहीं देख पड़ता, किन्तु अन्य इन्द्रियों को ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अपने-अपने विषय के साथ संयुक्त होना आवश्यक है। ये सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का आश्रय हैं (आश्रयश्चक्षुरादयः)। यही कारण है कि इन्द्रियों के दोष से ज्ञान में भी भेद होता है।

इन्द्रियों का सन्निकर्ष

आलोचन

'वैभाषिक-मत' की प्रथम उल्लेख करने की युक्ति है कि हम सभी संसारी जीव हैं। संसार में आते ही हमें सबसे पहले तो बाह्य जगत् का ही दर्शन होता है।

उसे हम स्थिर वस्तुरूप में देखते हैं। साधारण तौर पर उसकी सत्ता को कभी अस्वीकार नहीं कर सकते। संसार की सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विषय हैं। हाँ, उन वस्तुओं को परिवर्तनशील भी हम देखते हैं। साथ ही साथ हम अपने मन में भी स्वतन्त्र रूप से भावों का उदय और विलय भी देखते हैं। उनकी सत्ता बाह्य जगत् से निरपेक्ष है, अर्थात् बाह्य और अन्तर्जगत् की दोनों सत्ताएँ परस्पर निरपेक्ष रूप से जीव के सामने प्रथम उपस्थित होती हैं। अतएव इनका तिरस्कार करने में हमें कोई युक्ति नहीं देख पड़ती है। वैभाषिक-मत में इन दोनों सत्ताओं का समान रूप से विचार होता है। इसके पश्चात् क्रमशः इन सत्ताओं के स्वरूप पर विशेष विचार करने के अनन्तर इनके अन्य धर्मों का भी ज्ञान होता है और साधक एक स्तर से दूसरे स्तर में परम तत्त्व की खोज में प्रवेश करता है। अन्ततोगत्वा शून्य तत्त्व में इसी क्रम से साधक पहुँचता है।

२. सौत्रान्तिक-मत

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर जब साधक अन्तर्जगत् की ओर ध्यान ले जाता है, तो उसे चित्त और चैत्तिक विषयों में विशेष आनन्द मिलता है। उन धर्मों के सम्बन्ध में विशेष अनुभव प्राप्त करने से यह भान होने लगता है कि वास्तविक तत्त्व से चित्त का, बाह्य-जगत् की अपेक्षा, विशेष सम्बन्ध है। अत-एव साधक अन्तजगत् का पक्षपाती हो जाता है। परन्तु साधक ज्ञान के इतने ऊँचे स्तर तक नहीं पहुँच सका है, जिसके कारण वह बाह्य जगत् से अपना सम्बन्ध सर्वथा छुड़ा सके। अविद्या के प्रभाव से अभी भी उसे जगत् की सत्ता में विश्वास है। परन्तु धीरे-धीरे वह यह समझने लगता है कि अन्तर्जगत् की सत्ता स्वतन्त्र है और बाह्य जगत् की सत्ता चित्त में उत्पन्न होने वाले धर्मों के ऊपर निर्भर है। इस प्रकार साधक बाह्य जगत् से क्रमशः अन्तर्जगत् में प्रवेश करने लगता है। यह अवस्था वैभाषिक की अवस्था से सूक्ष्म है। इसी स्थिति का विचार हमें **'सौत्रान्तिक-मत'** में देख पड़ता है।

अन्तर्जगत् में प्रवेश

पूर्व में सौत्रान्तिक लोग वैभाषिकों के साथ-साथ स्थविरवाद सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे, किन्तु दृष्टिकोण के भेद के कारण पश्चात् ये लोग एक दूसरे से पृथक् हो गये। कहा जाता है कि सौत्रान्तिकों को विश्वास हो गया कि बुद्ध के साक्षात् उपदेश 'सुत्तपिटक' में हैं। अतएव ये लोग 'सुत्तपिटक' के अनुगामी हो गये और तदनुकूल अपना नाम भी रख लिया। 'अभिधम्मपिटक' तथा 'विभाषा' में इन लोगों को श्रद्धा नहीं रही।

इस मत का साहित्य बहुत ही अल्प मिलता है। हुएनसांग ने **कुमारलात** को इस मत का आदि प्रवर्तक माना है। कुमारलात के शिष्य **श्रीलाभ थे। धर्मत्रात, बुद्धदेव** तथा **यशोमित्र** इस मत के समर्थक आचार्य हुए हैं। इनमें से **यशोमित्र** की लिखी हुई अभिधर्मकोश की 'स्फुटार्था' नाम की बहुत विस्तृत व्याख्या मिलती है। सौत्रान्तिक मत का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' आदि अन्य ग्रन्थों में 'बाह्यार्थ की अनुमेयता' के सम्बन्ध में इनके मत का उल्लेख है। उसके आधार पर निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है।

सौत्रान्तिक-मत के आचार्य

तत्त्वविचार

सौत्रान्तिकों का कहना है कि 'निर्वाण' असंस्कृत धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि यह मग्ग के द्वारा उत्पन्न होता है और यह असत् है, अर्थात् यह क्लेशों का अभाव-स्वरूप तथा कषायों का नाशस्वरूप है। दीपक के निर्वाण के समान ही यह भी **'निर्वाण'** है। इस अवस्था में धर्मों का अनुत्पाद रहता है। इस पद पर पहुँच कर साधक उस आश्रय की प्राप्ति करता है जिसमें न कोई क्लेश हो और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति ही हो।[1]

निर्वाण का स्वरूप

इनका कहना है कि उत्पन्न होने के पूर्व तथा विनाश होने के पश्चात् **'शब्द'** की स्थिति नहीं होती, इसलिए यह अनित्य है।

स्वभावतः सत्ता को रखने वाले दो वस्तुओं में **'कार्य-कारणभाव'** ये लोग नहीं मानते।

'वर्तमान' काल के अतिरिक्त 'भूत' और 'भविष्यत्' काल को ये लोग नहीं मानते।

इनका कहना है कि दीपक के समान **'ज्ञान'** अपने को आप ही प्रकाशित करता है। यह अपने प्रामाण्य के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। ये **'स्वतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

इनके मत में **'परमाणु'** निरवयव होते हैं। अतएव इनके एकत्र संघटित होने पर भी ये परस्पर संयुक्त नहीं होते और न इनका परिमाण ही बढ़ता है, प्रत्युत इनमें 'अणुत्व' ही रहता है।

---

[1] **"निर्विषयां चित्तसन्तातिं सौत्रान्तिका मुक्तिमाहुः" पदार्थधर्मसंग्रहसेतु, पद्मनाभ मिश्र-रचित, पृ० २६**

किसी वस्तु का 'नाश' किसी कारण से नहीं होता। वह वस्तु स्वतः विनाश को प्राप्त कर लेती है।

वैभाषिकों की तरह ये 'प्रतिसंख्यानिरोध' तथा 'अप्रतिसंख्यानिरोध' में विशेष अन्तर नही मानते। इनका कहना है कि 'प्रतिसंख्यानिरोध' में प्रज्ञा के उदय होने से भविष्य में उस साधक को कोई भी क्लेश नहीं होगा। क्लेशों का नाश हो जायगा। 'अप्रतिसंख्यानिरोध' का अभिप्राय है कि क्लेशों का नाश होने पर पुनः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायगी और भवचक्र से वह साधक मुक्त हो जायगा।

महायान-सम्प्रदाय

१. योगाचार या विज्ञानवाद

विज्ञानवादियों के दार्शनिक स्वरूप का साधारण परिचय पहले ही दे दिया गया है। सौत्रान्तिक-मत में स्थिति को प्राप्त कर साधक पुनः जब विचार करता है, तो उसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि वास्तव में संसार की सभी वस्तुएँ केवल 'ज्ञान' की ही आकार हैं। जिस प्रकार की भावना चित्त में उदित होती है, वही एक आकार धारण कर बाह्य जगत् में देख पड़ती है। बाह्य जगत् है या नहीं, इस का भी प्रमाण तो 'ज्ञान' ही है। ये सभी आकार 'चित्त' के धर्म हैं। ये अनन्त हैं और क्षणिक होते हुए भी प्रत्येक अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। यह तो अविद्या का प्रभाव है कि ये चैत्तधर्म भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं।[1] ये सब स्वप्रकाश और निरवयव हैं। इस प्रकार बाह्य अर्थों की सत्ता का निराकरण कर एकमात्र 'चैत्तधर्मों' का अवलम्बन कर विज्ञानवादी अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं।

यह मत **योगाचार** के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'योगाचार' शब्द का वास्तविक अर्थ मालूम नहीं है। योगसिद्धि के लिए साधक को जिन आचरणों की अपेक्षा होती है, उन्हीं की अपेक्षा परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए भी होती है। वस्तुतः आध्यात्मिक विचार का तो 'विज्ञानवाद' में ही अन्त हो जाता है। **'शून्यवाद'** में तो सभी पदार्थों के अलक्षण, अनिर्वचनीय, निःस्वभाव **'शून्य'** में विलीन होने के कारण उनका विचार तो हो नहीं सकता। अतएव योग की प्रक्रियाओं का अनुसरण करना इसी 'विज्ञानवाद' के लिए विशेष उपयुक्त है। सम्भव है, इसी प्रकार के अर्थ को प्रकट करने के

---

[1] लंकावतारसूत्र, ३-४०।

लिए इस मत का नाम **'योगाचार'** भी पड़ा हो। इसके समर्थन में यह भी कहा जा सकता है कि **'मैत्रेयनाथ'** इस मत के आदि प्रवर्तक थे। वे स्वयं बहुत बड़े योगी थे और उन्होंने विज्ञान के स्वरूप को साक्षात्कार करने के लिए यौगिक प्रक्रिया का ही अनुसरण किया था। हो सकता है, इसी से यह नाम पड़ा हो।

साहित्य

मैत्रेयनाथ इस मत के आदि प्रवर्तक थे। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। उनके कुछ ग्रन्थों के नाम हैं—'महायान-सूत्रालंकार', 'धर्मधर्मता-विभंग', 'मध्यान्तविभंग', 'महायान-उत्तरतन्त्र', 'अभिसमयालंकारकारिका' तथा 'योगाचारभूमिशास्त्र'।

असंग—वसुबन्धु के बड़े भाई थे। कहा जाता है कि मैत्रेयनाथ ने ही इन्हें इस मत की शिक्षा दी। ये बड़े भारी विद्वान् थे। 'पञ्चभूमि', 'अभिधर्मसमुच्चय', 'महायानसंग्रह', 'प्रकरण-आर्यवाचा', 'संगीतिशास्त्र', 'वज्रच्छेदिका', आदि इनके अनेक ग्रन्थ हैं।

वसुबन्धु अपने भाई असंग के प्रभाव से जीवन के अन्तिम दिनों में विज्ञानवादी हुए और 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (प्रसिद्ध 'विंशतिका' तथा 'त्रिंशतिका') नाम का ग्रन्थ लिखा। 'लंकावतारसूत्र' भी इसी मत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त **स्थिरमति, दिङ्नाग** और **धर्मकीर्ति** भी योगाचार के पोषक गिने जाते हैं।

विज्ञानवाद के सिद्धान्त

वस्तुतः विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि भारतीय दर्शनशास्त्र में अपने दृष्टिकोण से 'चित्त' को परम तत्त्व कहने वाला एक मात्र मत है **विज्ञानवाद** का। यही बात 'लंकावतारसूत्र' में कही गयी है—'चित्त' की ही प्रवृत्ति तथा मुक्ति होती है। 'चित्त' ही उत्पन्न होता है और 'चित्त' का ही निरोध होता है। यही एक मात्र तत्त्व है। अन्य सभी वस्तुएँ एक मात्र 'चित्त' की ही विकल्प हैं। विज्ञान के लिए भी यही 'चित्त' ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय-रूप में उपस्थित रहता है। अविद्या के कारण ये भिन्न मालूम होते हैं।

'विज्ञान' के अनेक भेद हैं, किन्तु मुख्य रूप में दो ही हैं—

(१) **प्रवृत्तिविज्ञान** तथा (२) **आलयविज्ञान**।

आलयविज्ञान को केवल 'चित्त' भी कहते हैं, क्योंकि **विज्ञानवाद** में 'चित्त' शब्द से प्रधानतया **'आलयविज्ञान'** का ही ग्रहण होता है। **'तथागतगर्भ'** भी इसे कहते हैं। 'आलय' का अर्थ है 'घर', अर्थात् 'चित्त'। इसमें जीव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक सभी विज्ञानों के वासनारूप बीज एकत्रित रहते हैं। ये बीज 'आलयविज्ञान'-रूप 'चित्त' में इकट्ठे किये जाते हैं और ये शान्त भाव से आलय में पड़े रहते हैं एवं समय आने पर व्यवहार-रूप में जगत् में प्रकट होते हैं। पुनः इसी में उनका लय भी हो जाता है। एक प्रकार से यही 'आलयविज्ञान' व्यावहारिक 'जीवात्मा' है। इसकी सन्तति इह लोक और परलोकगामिनी होती है। इसी में सभी ज्ञान होते हैं।

आलयविज्ञान

इस मत में सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। अतएव 'आलयविज्ञान' भी क्षणिक विज्ञानों की सन्तति मात्र है। प्रतिक्षण यह परिवर्तित होता रहता है। इसमें शुभ तथा अशुभ सभी वासनाएँ रहती हैं। इन वासनाओं के साथ-साथ इस 'आलय' में सात और भी 'विज्ञान' हैं, जैसे—'चक्षुर्विज्ञान', 'श्रोत्रविज्ञान', 'धारणविज्ञान', 'रसना-विज्ञान', 'कायविज्ञान', 'मनोविज्ञान' तथा 'क्लिष्टमनोविज्ञान'। इन सब में मनोविज्ञान आलय के साथ सदैव कार्य में लगा रहता है और साथ ही साथ अन्य छः विज्ञान भी कार्य में लगे रहते हैं। व्यवहार में आने वाले ये सात विज्ञान **'प्रवृत्तिविज्ञान'** कहलाते हैं। ये 'आलयविज्ञान' से ही उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। वस्तुतः 'प्रवृत्तिविज्ञान' 'आलयविज्ञान' पर ही निर्भर है। ये सभी क्षणिक हैं और परिवर्तनशील हैं।

प्रवृत्तिविज्ञान

विज्ञानवादी **'योगज प्रत्यक्ष'** को एक पृथक् प्रमाण मानते भी हैं और नहीं भी। इनका कहना है कि अति सूक्ष्म वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान देने वाली यह एक विचित्र शक्ति मात्र है **(अप्रमेयवस्तूनामविपरीतदृष्टिः)**। यह कोई भिन्न प्रमाण नहीं है।

ये लोग भी व्यवहार के लिए दो प्रकार के 'ज्ञान' मानते हैं—**"ग्रहण"** तथा **'अध्य-वसाय'**। इसी को 'साक्षात्कारि प्रभा' तथा 'परोक्ष ज्ञान' या 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' भी कहते हैं।[1]

ये **मन** को एक पृथक् 'इन्द्रिय' नहीं मानते। वह भी तो विज्ञानों की एक सन्तति ही है। इस सन्तति में पूर्व-पूर्व क्षण उत्तर-उत्तर क्षणों का कारण (उपादान) है।[2] ये लोग व्यवहारदशा में 'परतः प्रामाण्यवादी' हैं।

---

[1] **"चित्तवृत्तिनिरोधो मुक्तिरिति योगाचारः" पदार्थधर्मसंग्रहसेतु, पृ० २६**

[2] **वाचस्पति मिश्र—न्यायकणिका, पृ० १२०, पण्डित संस्करण।**

२. माध्यमिक या शून्यवाद

बौद्ध-दर्शन **'माध्यमिक-मत'** में अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है। निर्वाण के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हमें इसी स्तर पर पहुँचने से होता है। यहीं परम शान्ति मिलती है तथा दु:ख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। बुद्ध के उपदेश का परम लक्ष्य इसी स्तर की प्राप्ति रही है।

स्वरूप

जिस विज्ञानमय जगत् का प्रतिपादन योगाचार ने किया था उसका भी यहीं अन्त हो जाता है। तत्त्वदृष्टि से न तो बाह्य सत्ता है और न अन्त:सत्ता ही है। सभी शून्य के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। यह न सत् है और न सत् से विलक्षण है। वस्तुतः यह 'अलक्षण' है। विज्ञानवाद यद्यपि एकमात्र 'चित्त' को ही परम तत्त्व मानता है, तथापि विचार करने से यह स्पष्ट है कि यह द्वैत का प्रतिपादन करता है। 'चित्तसन्तति' या 'विज्ञानसन्तति' एक नहीं है। यह अनन्त है। अभेद का स्वरूप विज्ञानवाद में तत्त्वदृष्टि से नहीं मिलता और जब तक अद्वैत-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक साधक की जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई दर्शन-शास्त्र के अन्तिम स्तर तक पहुँच ही सकता है।

यह अद्वैत-तत्त्व **'शून्यवाद'** में प्रतिपादित किया गया है। इस मत में 'शून्य' ही एकमात्र तत्त्व है। इसी के सम्बन्ध में नागार्जुन ने कहा है—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥[1]

न सत् है, न असत् है, न सत् और असत् दोनों हैं, न दोनों से भिन्न ही है। इस प्रकार इन चारों सम्भावित कोटियों से विलक्षण ही एक तत्त्व है, जिसे माध्यमिकों ने अपना **'परम तत्त्व'** कहा है। इसीलिए तो इस तत्त्व को 'अलक्षण' कहा है। नागार्जुन ने इसी **'शून्यता'** को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' भी कहा है—

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तं प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥[2]

---

[1] माध्यमिक-कारिका, १-७।

[2] माध्यमिक-कारिका, २४-१८।

बुद्ध न अपने जीवन में **'मध्यम मार्ग'** का अनुसरण किया था, न तो वे तपस्वी हो कर जंगल में ही अपने जीवन का अन्त करना चाहते थे और न संसारी हो कर ही रहना पसन्द करते थे। उन्होंने ज्ञान प्राप्त कर संसार के लोगों के कल्याण के लिए अपना जीवन लगाया। इसी लिए 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करना उन्होंने अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया। अतएव इस मत की **'माध्यमिक'** नाम से लोगों ने प्रसिद्धि की। शून्यवाद में बुद्ध के द्वारा कहे गये चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। 'शून्य' को ही इस मत में परम तत्त्व माना गया है, इसलिए इसे 'शून्यवाद' भी कहते हैं।

नामकरण का उद्देश्य

इन लोगों का कहना है कि 'स्वलक्षण' ही वास्तविक 'तत्त्व' है। इसलिए जो किसी उपादान से उत्पन्न होता है, वह दूसरे पर निर्भर रहता है। उसमें **'स्वलक्षण'** नहीं है। अतएव एक प्रकार से वह 'उत्पत्ति' उत्पत्ति ही नहीं है, अर्थात् वह 'शून्य' है।[1] इसी लिए उपर्युक्त कारिका में नागार्जुन न **'शून्यवाद'** को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा है।

साहित्य

नागार्जुन—इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मत के आधार पर अनेक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। **'नागार्जुन'** इस मत के प्रधान संस्थापक थे। यह ईसा के बाद दूसरी सदी में उत्पन्न हुए थे। 'माध्यमिक-कारिका', 'युक्तिषष्टिका', 'शून्यतासप्तति', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'प्रज्ञापारमिता-शास्त्र', आदि अनेक ग्रन्थ इन्हों ने लिखे हैं।

आर्यदेव—इनके पश्चात् **'आर्यदेव'** हुए। इनके ग्रन्थों में 'चतुःशतक' का नाम उल्लेखनीय है। **बुद्धपालित** (५वीं सदी) ने भी बहुत-से ग्रन्थ लिखे।

चन्द्रकीर्ति—छठी सदी में **'चन्द्रकीर्ति'** हुए। 'माध्यमिकावतार', 'प्रसन्नपदा', 'चतुःशतक-व्याख्या', आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

शान्तिदेव—शान्तिदेव (७वीं सदी) ने 'शिक्षासमुच्चय', 'सूत्रसमुच्चय', 'बोधिचर्यावतार', आदि ग्रन्थों की रचना की। इनमें अन्तिम ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है।

---

[1] **"यः प्रत्ययाधीनः स शून्य उक्तः"—माध्यमिक-कारिका, २४।**

शान्तरक्षित—शान्तरक्षित ने ७वीं सदी में 'तत्त्वसंग्रह' तथा 'माध्यमिकालंकारकारिका' लिखा। ये ग्रन्थ बहुत ही उपादेय हैं।

शून्यवाद के सिद्धान्त

दो प्रकार का सत्य

अन्य दर्शनों की तरह **शून्यवाद** में भी दो 'सत्ता' मानी जाती है—'संवृति-सत्य' तथा 'परमार्थ-सत्य'।[1] कैसे भी अद्वैतवादी हों, यदि संसार में उन्हें रहना है, शरीर धारण करना है और संसार की वस्तुओं से व्यवहार चलाना है, तो उन्हें 'व्यावहारिक सत्ता' या 'लोकसत्य' या 'संवृति-सत्य' मानना ही पड़ेगा।

संवृति-सत्य

'संवृति-सत्य' पारमार्थिक-स्वरूप का आवरण करने वाला है। इसी को अविद्या, मोह, विपर्यास आदि भी कहते हैं। 'संवृति' दूसरे पर निर्भर रहती है (प्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुरूप) और ऐसी वस्तु तुच्छ होती है। यह 'संवृति' दो प्रकार की है—'तथ्यसंवृति' या 'लोकसंवृति' एवं 'मिथ्यासंवृति'।

तथ्यसंवृत्ति—जो वस्तु या घटना किसी कारण से उत्पन्न होती है तथा जिसे सत्य मानकर संसार के सभी लोगों के द्वारा सभी व्यवहार होते हैं, उसे **'लोकसंवृति'** कहते हैं, अर्थात् जहाँ तक संसार के व्यवहारों का सम्बन्ध है, घटना को सत्य मान कर ही व्यवहार होता है। अतएव एक प्रकार से यह भी लोक में 'सत्य' है।

मिथ्यासंवृति—जो घटना किसी कारण से उत्पन्न होती है, किन्तु उसे सभी लोग सत्य नहीं मानते, उससे सभी व्यवहार नहीं चलाते, उसे **'मिथ्यासंवृति'** कहते हैं।

परमार्थ-सत्य

नागार्जुन ने **'परमार्थ-सत्य'** को 'निर्वाण' के समान कहा है। यह सत्य सभी धर्मों से रहित है तथा निस्स्वभाव है। इसी को 'शून्यता', 'तथता', 'भूतकोटि', 'धर्मधातु', आदि भी कहते हैं। 'निस्स्वभावता' ही वस्तुतः परमार्थसत्य है।[2] यह नाम-रूप से एवं विषय-विषयी-भाव से रहित है। यह काय, वाक् तथा मनस् के द्वारा अगोचर है, अतएव शब्दों के द्वारा

---

[1] माध्यमिककारिका, २४-१४; बोधिचर्यावतार, ९-२।

[2] बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ठ ३५४।

इस सत्य का निरूपण नहीं किया जा सकता।[1] यह अज्ञेय, अदेशित, यावदक्रिय, आदि के नाम से कहा जाता है, परन्तु है यह अनिर्वचनीय। स्वानुभूति के द्वारा इसका अनुभव ज्ञानियों को होता है।

संवृतिसत्य की आवश्यकता—उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि **'संवृतिसत्य'** तुच्छ है, फिर इसे किसी प्रकार स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसके उत्तर में नागार्जुन ने स्पष्ट कहा है—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥[2]

व्यवहार की सहायता के बिना परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता और परमार्थ को बिना जाने हुए निर्वाण को नहीं प्राप्त किया जा सकता। 'पारमार्थिक तथ्य' अनिर्वचनीय है, अवाङ्मनसगोचर है। उसका ज्ञान संसारी वस्तुओं के द्वारा ही होता है। असत्य के द्वारा सत्य का एवं माया के द्वारा परम तत्त्व का ज्ञान होता है। कहा गया है—

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'

इसलिए 'संवृतिसत्य' को स्वीकार करना पड़ता है।[3]

समाधि की आवश्यकता—स्वानुभूति के द्वारा ही 'पारमार्थिक सत्य' का ज्ञान हो सकता है। इसके लिए 'शमथ', अर्थात् चित्त की एकाग्रता-रूप समाधि, की आवश्यकता है। इस समाधि के अभ्यास से 'प्रज्ञा' का उदय होता है, साधक समाहित-चित्त होता है और उसी से उसे परम तत्त्व की अनुभूति होती है। समाधि के लिए वैराग्य अपेक्षित है एवं 'दान', 'शील', 'क्षान्ति', 'वीर्य', 'ध्यान' तथा 'प्रज्ञा', इन छः 'पारमिताओं' का ज्ञान तथा अभ्यास करना चाहिए। इन अभ्यासों के बिना परम तत्त्व, अर्थात् 'शून्यता' का ज्ञान नहीं हो सकता।

इन सभी के लिए मुख्य कर्तव्य है—**'शमथ'** की सेवा (तपश्चरण)। उसके बिना न तो ज्ञान होगा और न दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही होगी। यही शान्तिदेव ने कहा है—

---

[1] **बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ठ ३६३, ३६७।**

[2] **माध्यमिककारिका, २४-१८।**

[3] **बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ३६५; माध्यमिककारिका, २४, १७।**

शमथेन विपश्यनासु युक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥[1]

इस प्रकार ज्ञान तथा कर्म दोनों के द्वारा **'शून्य'** की अनुभूति साधक कर सकता है। इनमें भी प्रथम 'शमथ' का ही अभ्यास करना उचित है, उसके द्वारा 'प्रज्ञा' का उदय होता है। यही 'बुद्ध' का चरम लक्ष्य था। इस विषय को 'शून्यवाद' में ही आकर लोग अनुभव कर सकते हैं।

बौद्धन्याय की चर्चा

भारतीय न्यायशास्त्र की उन्नति वस्तुतः बौद्धों के साथ आस्तिकों के तर्क-वितर्कों का परिणाम है। प्रमाणशास्त्र के ऊपर इनके ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं। उनमें से कतिपय आचार्यों का नाम तथा उनके ग्रन्थों की चर्चा मात्र यहाँ की जाती है, जिस से हमारे पाठकों के मन में उसे विशद रूप से जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो।

दिङ्नाग—**प्रमाणसमुच्चय**, धर्मकीर्त्ति—**प्रमाणवार्त्तिक**, प्रज्ञाकरमित्र—**वार्त्तिकालङ्कार**, ज्ञानश्री—**निबन्धसंग्रह**, रत्नकीर्ति—**निबन्धसंग्रह**, यामारि—ये आचार्य तथा इनके ग्रन्थ बौद्धन्याय के मुख्य ग्रन्थ कहे जाते हैं।

भारतवर्ष में 'न्यायशास्त्र' का बहुत ऊँचा स्थान है। इसे 'आन्वीक्षिकी' कहते हैं। उपनिषदों में 'वाकोवाक्य' के नाम से इसका उल्लेख है। बुद्ध के उपदेशों को सुन कर तरंग में आ कर जब लोग घर-द्वार छोड़ जंगल में भिक्षु बन कर रहने लगे, क्रमशः आवेग के शान्त होने पर वे लोग अपने पथ से विचलित हो गये। समाज को छोड़ कर तपस्या के लिए जंगल की शरण ली। वहाँ भी सफलता न मिली। इतस्ततः भटकने लगे। उपहास के भय से समाज में न लौट सके और न कोई सिद्धि ही प्राप्त कर सके। समाज में लाने के लिए विद्वानों के प्रयत्न को असत्तर्क से विफल करने में ये लोग परम चतुर थे। सत्तर्क के द्वारा इनके असत्तर्कों का खण्डन करने के उद्देश्य से तथा साथ-साथ तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के निरूपण के लिए ही उसी समय **'गौतम'** ने वर्तमान 'न्यायसूत्र' की रचना की। 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', आदि उपायों के द्वारा बौद्धों के विचारों का खण्डन होने लगा। उसी समय से बौद्ध तथा आस्तिकों में तर्क के आधार पर शास्त्रविचार आरम्भ हुआ।

---

[1] **बोधिचर्यावतार, ८-४।**

यह तर्क-वितर्क-परम्परा दसवीं सदी तक निरवच्छिन्न चली आयी। इसमें भाग लेने वाले बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, असंग, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति, रत्नाकर, आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रन्थ भारतीय तर्कशास्त्र के सुदृढ़ स्तम्भ हैं। इनको पढ़ कर बौद्धों के ठोस पाण्डित्य का परिचय हमें मिलता है। खेद है कि उनकी साम्प्रदायिकता के साथ-साथ उनका पाण्डित्य भी भारत से लुप्त हो गया। परन्तु ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि बाद के दर्शनशास्त्रों के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट मालूम होता है कि बौद्ध और बौद्धेतर की तार्किक-विचार-धारा ने भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन को बहा कर काल के अनन्त और अगाध गर्भ में सदा के लिए डुबो दिया। विद्वानों की दृष्टि शुष्क तार्किक दृष्टि हो गयी, परस्पर खण्डन-मण्डन में ही उनकी समस्त मानसिक शक्ति लग गयी, तत्त्व-विचार गौण हो गया, शान्तिप्रिय भारतीयों की दृष्टि सदा के लिए बहिर्मुखी हो गयी और एक प्रकार से अशान्ति का राज्य स्थापित हो गया। व्यक्तिगत रूप में आध्यात्मिक विचार तो सदैव रहा है, किन्तु अधिकांश लोगों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी न हो सकी। भारतवर्ष में शान्ति की धारा पुनः न बह सकी।

आलोचन

उपर्युक्त बातों का मनन करने से यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः बौद्ध-दर्शन उसी तत्त्व का निरूपण करता है जिसे हम आस्तिक दर्शनों में पाते हैं। भेद है—केवल उसके विशेष विवरण में। उद्देश्य भी तो दार्शनिक विचारों का एक ही है—**'दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति'**।

आस्तिक तथा बौद्ध-दर्शनों में समता

दार्शनिक परम तत्त्व की खोज के लिए भी जिज्ञासा दुःख के अनुभव से ही आरम्भ होती है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ-साथ उस जिज्ञासा की निवृत्ति भी होती है। इन बातों में किसी मत में कोई भी भेद नहीं मालूम होता। जिस प्रकार आस्तिक दर्शनों में दृष्टिकोण के भेद से ही परस्पर भेद है, उसी प्रकार एक दृष्टिकोण बौद्धों का भी है। सभी तो एक ही मार्ग के पथिक हैं, कोई आगे है तो कोई पीछे।

शंकर के 'अद्वैतवाद' तथा नागार्जुन के 'शून्यवाद' में तो केवल शब्दों में ही भेद मालूम होता है। व्यवहार से लेकर परमार्थ तक दोनों का विचार एक-सा ही है। दोनों के ही लिए संसार तुच्छ है, अविद्या का व्यामोह है, तथापि इसी के सहारे परम

तत्त्व की अनुभूति हो सकती है। दोनों मतों में परम तत्त्व अवाङ्मनसगोचर है। दोनों ही परम पद की प्राप्ति के साथ-साथ परमानन्द-तत्त्व में लीन हो जाते हैं। इसी लिए नागार्जुन ने कहा भी है—**'प्रपञ्चोपशमं शिवम्'**।

अन्त में एक बात कह देना उचित है कि बौद्ध-दर्शन भी भारतीय दर्शन है और बौद्ध की संस्कृति भारतीय संस्कृति ही है। इसमें बड़े-बड़े विद्वान् हुए जिनकी ठोस विद्वत्ता का प्रमाण उनके ग्रन्थ ही हैं। परन्तु यह मानी हुई बात है कि तर्क-वितर्कों के द्वारा बाद को बौद्ध-दर्शन का बहुत विस्तार हुआ। इस मत के अनेक आचार्य हुए जिन्होंने अपने-अपने नवीन विचारों को समय-समय पर प्रकाशित किया। इसी कारण बौद्धमत में भी अनेक अवान्तर भेद हैं। इन सब का विचार विस्तार के भय से इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सका। प्राचीन परम्परा के अनुसार बौद्धों के मुख्य सिद्धान्तों के आधार पर तत्त्वदृष्टि से दार्शनिक विचार-धारा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर आध्यात्मिक विचारों का ही संक्षेप में यहाँ विवरण दिया गया है।

बौद्धमत के अधःपतन के कारण

इन सभी बातों के रहने पर भी बौद्धों का **अधःपतन** भारतवर्ष में ही हुआ, इसके कारण स्थूल दृष्टि वालों के लिए निम्नलिखित हो सकते हैं—

(१) अनधिकारी लोगों को उपदेश देना।

(२) 'संघ' में प्रवेश के नियमों में शिथिलता।

(३) बुद्ध के उपदेशों को लिपिबद्ध न करना।

(४) 'संघ' के सदस्यों में वैमनस्य तथा असन्तोष।

(५) अपने को भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत न समझना और पृथक् होकर रहना।

(६) 'संघ' के सदस्यों में प्रतीकारपरता की भावना।

(७) वेद, वर्णाश्रमधर्म तथा संस्कृत-भाषा की तरफ औदासीन्य तथा अवहेलना।

(८) संस्कृत-भाषा के स्थान में पालि-भाषा को अपनाना।

(९) 'ईश्वर' के अस्तित्व का उद्घोष-पूर्वक खण्डन करना।

(१०) एक नित्य 'आत्मा' को न मानना।

(११) अन्त में अधिकार, सम्पत्ति तथा प्रभुता के लिए प्रयत्नशील होना।

(१२) तान्त्रिक सिद्धियों को प्राप्त कर लौकिक विषयों में संलग्न होना।

(१३) आस्तिक विद्वानों से सम्पन्न मिथिला की सीमा पर बौद्धमत का प्रचार करना।

(१४) विदेशी लोगों के आक्रमण।[1]

(१५) साम्प्रदायिकता की अत्यधिक भावना जिसके कारण उन की विद्वत्ता ने भी साम्प्रदायिकता का स्वरूप धारण कर लिया।

[1] उमेश मिश्र-बौद्धमत के अधःपतन का कारण—जर्नल, गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिटयूट, भाग ९, खण्ड १, पृष्ठ १११-१२२; उमेश मिश्र—'हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी', भाग प्रथम, पृष्ठ ४९८।

सप्तम परिच्छेद

न्याय-दर्शन

पूर्व के परिच्छेदों में कहा गया है कि 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को कुछ दार्शनिकों ने नहीं माना। इन्हें न मानने के लिए इन मतों के आदि प्रवर्तकों की द्वेष-बुद्धि, अज्ञता, घृणा, आदि ही कारण थे, यह कहना बहुत उचित न होगा। मेरी समझ में तो उनके दृष्टिकोण का ही यह फल था कि उन्हें 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को मानने की आवश्यकता ही नहीं हुई। किन्तु व्यावहारिक जगत् में अविद्या के प्रभाव से, निरपेक्ष भाव से, गूढ़ तत्त्वों के रहस्य को समझने में सभी समर्थ नहीं हो सकते। उन्हें प्रति दिन व्यवहार के लिए 'ईश्वर' और 'आत्मा' की अपेक्षा होती है। इनके बिना साधकों की जीवनयात्रा प्रगतिशील नहीं हो सकती तथा इनके अस्तित्व को स्थूल जगत् में पृथक् रूप से न मानने से साधारण लोग धर्म-कर्म से च्युत हो कर पाप-पुण्य के विचार को छोड़ देंगे और समाज भ्रष्ट हो जायगा। अतएव यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण के कल्याण के लिए, 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' का पृथक् अस्तित्व माना जाय। इस बात को ध्यान में रखते हुए तत्त्व की खोज में साधक की दार्शनिक विचार-धारा अग्रसर होती है।

न्यायदर्शन की पृष्ठभूमि

ईश्वर तथा आत्मा का पृथक् अस्तित्व

यद्यपि चार्वाकों के अनन्तर बौद्धों की विचार-धारा ने एक विशिष्ट रूप धारण किया और उसे चरम सीमा तक ले जा कर 'निर्वाण' या 'शून्य' में लय कर दिया, तथापि यह विचार-परम्परा साधारण लोगों के दृष्टिकोण को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। सभी 'विज्ञानवाद' तथा 'शून्यवाद' के तत्त्वों को समझने में समर्थ नहीं हैं। इतने ऊँचे स्तर तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। अतएव साधारण जन को इनके दार्शनिक विचारों से विशेष लाभ नहीं हुआ। तस्मात् साधारण लोगों की दृष्टि

से जो दार्शनिक विचारधारा प्रवर्तित होती है, उसी का विचार **'न्याय-दर्शन'** में किया गया है।

अज्ञान ने अनादिकाल से 'आत्मा' को मोह में डाल रखा है। यही मोह से घिरी हुई 'आत्मा' 'बद्ध-जीव' या 'जीवात्मा' कहलाती है। अविद्या के प्रभाव से मनुष्य को दुःख से सर्वथा के लिए छुटकारा पाने के लिए वास्तविक तत्त्व की खोज में तथा उसे समझने में 'सन्देह' उत्पन्न होता है। इसी 'संशय' को दूर करने के लिए मनुष्य के मन में तत्त्वज्ञान की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह तर्क-वितर्क करना आरम्भ करता है। बिना 'संशय' के 'तर्क' हो ही नहीं सकता। इसी लिए वात्स्यायन ने कहा है—

संशय

'नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे'[1]

अर्थात् जिस वस्तु की कभी भी उपलब्धि न हो तथा जिस वस्तु के सम्बन्ध में निश्चित रूप से ज्ञान हो गया हो, उन वस्तुओं के सम्बन्ध में 'तर्क' नहीं किया जाता, फिर तर्क किया जाता है कहाँ ? जिस विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में 'संशय' हो, उसी को निश्चित रूप से जानने के लिए 'तर्क' किया जाता है। इसी लिए गौतम ने 'न्यायसूत्र'[2] में 'निर्णय' का लक्षण करते हुए कहा है—

निर्णय

'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'

अर्थात् 'संशय' करने के पश्चात् 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' के द्वारा, अर्थात् अपने पक्ष का स्थापन एवं पर-पक्ष के साधनों के खण्डन के द्वारा, पदार्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहा जाता है। इस से स्पष्ट है कि 'संशय' उत्पन्न होने पर ही 'निर्णय' किया जाता है, अन्यथा नहीं।

आप्तवचनों को सुन कर तथा श्रुतियों में पढ़ कर जिज्ञासु को 'ज्ञान' प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न स्तर के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपदेश गुरुजन देते हैं तथा उपनिषदों में भी ऐसे ही उपदेश पाये जाते हैं। जैसे—छान्दोग्य उपनिषद् में एक ही मन्त्र में कहा गया है—

---

[1] **न्यायभाष्य, १-१-१।**

[2] **१-१-४१।**

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत',
'असदेवेदमग्र आसीत',
'तस्मात् असतः सज्जायत इति'।[१]

इससे स्पष्ट है कि एक ने 'सत्' से सृष्टि कही, दूसरे ने 'असत्' से। अब जिज्ञासु के मन में एक ही विषय के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध मत को सुन कर 'संशय' उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि 'वास्तविक तत्त्व' क्या है ? एक साथ 'सत्' और 'असत्' दोनों तो हो नहीं सकते। इसके पश्चात् प्रमाणों के द्वारा तथा 'तर्क' की सहायता से निर्णय पर पहुँचने के लिए जिज्ञासु चेष्टा करता है। इससे मालूम होता है कि 'निर्णय' के लिए 'संशय' और 'तर्क', इन दोनों की आवश्यकता होती है।

परम तत्त्व को या किसी लौकिक तत्त्व को भी समझने के लिए 'तर्क' की बड़ी आवश्यकता होती है। इसी लिए श्रुति ने भी 'मनन' को बहुत ऊँचा स्थान दिया। बिना 'मनन' के 'आत्मा' का साक्षात्कार ही नहीं हो सकता और 'आत्मा' का साक्षात्कार ही तो दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है। बुद्धि के विकास के लिए 'तर्क' की अपेक्षा होती है। बुद्धि के ही बल से संसार की वस्तुओं का, सूक्ष्म भावनाओं का तथा अचिन्त्य परम तत्त्व का भी 'ज्ञान' हमें होता है, और इस कार्य में 'तर्क' बहुत सहायक होता है।

तर्क की आवश्यकता

जीवन में यह देखा जाता है कि कभी आपस में और कभी विपक्षियों के साथ विचार-विनिमय किया जाता है। कभी सत्य बात के समर्थन के लिए और कभी असत्य के खण्डन के लिए हम 'प्रमाणों' की सहायता लेते हैं। किन्तु व्यवहार में प्रमाणों के साथ-साथ हमें 'तर्क' भी देना पड़ता है। वस्तुतः किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए हमें (१) 'आप्तवाक्य' या 'श्रुति' या 'आगम', (२) 'तर्क' तथा (३) 'साक्षात् स्वानुभव', इन तीनों की अपेक्षा होती है। इन्हीं को 'श्रवण', 'मनन' और 'निदिध्यासन' के नाम से श्रुति ने कहा है। इसे ध्यान में रखना चाहिए कि 'तर्क' कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, केवल 'तर्क' से ही हम किसी निर्णय पर पहुँच भी नहीं सकते और इसीलिए कठोपनिषद् में कहा गया है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[२]

---

[१] छान्दोग्य, ६-२-१।

[२] १-२-९।

केवल 'तर्क' के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शंकराचार्य ने 'तर्काप्रतिष्ठानात्', इत्यादि ब्रह्मसूत्र[1] के भाष्यमें 'तर्क' का तिरस्कार भी किया, वाक्यपदीय[2] में भर्तृहरि ने 'तर्क' के परिवर्तित हो जाने की सभी सम्भावनाएँ भी बतायीं, किन्तु यह निश्चित है कि बिना 'तर्क' की सहायता से हम निर्णय पर नहीं पहुँच सकते, 'तर्क' प्रमाणों का सहायक है।[3]

तर्क प्रमाणों का सहायक

'तर्क' को प्रधान रूप से ध्यान में रखकर जगत् के पदार्थों का विशेष विचार 'न्यायशास्त्र' या 'तर्कशास्त्र' में किया गया है। अभी तक एक प्रकार से आस्तिक लोग इतने श्रद्धालु होते थे कि श्रुतियों के वचन को आँख मूंद कर मान लेते थे और उस पर 'तर्क' करना अनुचित समझते थे। यद्यपि श्रुति में ही यह बारंबार कहा गया है कि बिना 'मनन' किये किसी बात को स्वीकार नहीं करना, चाहे वह श्रुति हो या आप्तवचन हो, तथापि विपक्ष मत के उपस्थित हुए बिना लोगों की दृष्टि 'तर्क' की तरफ विशेष नहीं जाती थी। साधारण रूप से 'तर्क' तो सभी करते ही थे, किन्तु शास्त्र में इसका सांगोपांग विचार तब तक नहीं हुआ, जब तक बौद्धों के साथ इन लोगों का विचार विमर्श आरम्भ नहीं हुआ।

तर्क का महत्त्व

'तर्कशास्त्र' बौद्धों के पहले भी था और वह बड़ा व्यापक था। इसके भिन्न-भिन्न प्राचीन नाम हैं। विद्या की संख्या गिनाने में 'आन्वीक्षिकी'[4] विद्या का प्रथम ही उल्लेख है। उपनिषद्[5], रामायण[6], महाभारत[7], मनुस्मृति[8], गौतमधर्मसूत्र[9] और अर्थशास्त्र[10] में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन काल में भी यह शास्त्र 'हेतुशास्त्र', 'हेतुविद्या', 'तर्कविद्या',

तर्कशास्त्र की प्राचीनता

---

[1] २-१-११।

[2] १-३४।

[3] 'प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः'—न्यायभाष्य, १-१-१।

[4] 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता', इत्यादि।

[5] बृहदारण्यक, २-४-५; छान्दोग्य, ७-१-२।

[6] अयोध्याकाण्ड, १००-३९।

[7] शान्तिपर्व, १८०-४७।

[8] ७-४३।

[9] ११-३।

[10] १-२, ७।

'तर्कशास्त्र', 'वादविद्या', 'न्यायविद्या', 'न्यायशास्त्र', 'प्रमाणशास्त्र', 'वाकोवाक्य', 'तक्की', 'विमंसी', आदि नामों से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में इस शास्त्र के कुछ सिद्धान्तों की चर्चा तो अभी भी विशद रूप से मिलती है, किन्तु उस प्राचीन 'तर्कशास्त्र' का सर्वांगपूर्ण स्वरूप क्या था, इसका पता हम लोगों को नहीं है।

आधुनिक न्यायशास्त्र की उत्पत्ति

'बौद्ध-दर्शन' के प्रकरण में यह कहा गया है कि बौद्ध लोग आस्तिक सिद्धान्तों के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन करते थे। इसी के निरोध में पुनः न्यायशास्त्र की रचना हुई। इसे समझाने के लिए बौद्धकालीन इतिहास के स्वरूप का संक्षेप में दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक है।

अनधिकारी बौद्धों की दशा

ईसा के पूर्व ६ठी शताब्दी में बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त कर अपना उपदेश लोगों को सुनाया। उनके सुन्दर उपदेश सुन कर लोग मुग्ध हो जाते थे और बौद्धधर्मावलम्वी बन जाते थे। बुद्ध की भव्य आकृति, प्रभावशाली उपदेश तथा तत्त्वों की उनकी अपनी साक्षात् अनुभूति के प्रभाव से यद्यपि बहुतों ने बौद्धधर्म को स्वीकार कर अपने घर-द्वार को छोड़ दिया और भिक्षु तथा भिक्षुणी बन कर जंगल में रहना स्वीकार कर लिया, किन्तु उनके व्यवहार से तथा शास्त्र के प्रमाणों से यह मालूम होता है कि वे सभी इस धर्म को स्वीकार करने तथा उसके कठोर नियमों के पालन करने के योग्य नहीं थे। उपदेश को सुन कर उससे मुग्ध होकर आवेश में आकर लोगों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु वास्तव में वे दुःख से घबरा नहीं गये थे और न हृदय से संसार से विरक्त ही हुए थे। इसलिए जब उनके हृदय का आवेग क्रमशः कम हो गया तब वे सब उस धर्म के कठोर आचरण का अनुसरण न कर सके और आलसी बन कर बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर भटकने लगे। मालूम होता है कि लज्जा और उपहास के भय से पुनः अपने समाज में लौट कर आने का साहस उन्होंने नहीं किया। उन्हें उस प्रकार मार्ग-भ्रष्ट होते देख कर समाज और पड़ोस के प्रतिष्ठित विद्वानों ने उन्हें अपने घर लौटने के लिए बहुत समझाया होगा, किन्तु उन सब ने पुनः कौटुम्बिक जीवन में आना स्वीकार नहीं किया।

उन्हें बेकार भटकते देखकर समाज के लोग उन्हें समझाने के लिए प्रतिष्ठित विद्वानों को अपने साथ लेकर जाते थे। इन लोगों के साथ वे सब अनेक तर्क-वितर्क

करते थे। तर्क की बातों को छोड़ कर अन्य बातों को वे मानते भी नहीं थे। यही अवसर था जब कि गौतम ने एक सर्वांगपूर्ण **'तर्कशास्त्र'** की रचना की। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए प्रधानतया बनाया गया था। अतएव इस में 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थान', इन विषयों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अन्य दर्शनों की तरह 'न्यायशास्त्र' भी 'मोक्षशास्त्र' है तथा 'दुःखनिवृत्ति' या 'निःश्रेयस् की प्राप्ति' इस शास्त्र का भी चरम लक्ष्य है। फिर भी इस में 'वाद' आदि उपर्युक्त विषयों का समावेश किसी विशेष कारण से ही हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं। वह कारण था—बौद्धों के मत का खण्डन करना।

गौतमसूत्र की रचना

यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध और विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए एक अमोघ अस्त्र का काम देने लगा। इस का परिणाम यह हुआ कि बौद्धों ने नाना प्रकार से इस ग्रन्थ को नष्ट करने का प्रयत्न किया। स्वकल्पित सूत्रों को गौतम के सूत्रों में मिला कर प्रचार करना, इस ग्रन्थ के कुछ अंशों को निकाल कर हटा देना, सूत्रों को उलट-पुलट देना, आदि अनेक प्रकार से ये लोग ग्रन्थ को दूषित करने लगे। इसलिए आस्तिक विद्वानों को इस ग्रन्थ की विशेष रक्षा करनी पड़ी। अनेक बार सूत्रों का उद्धार किया गया। अन्त में वृद्ध **वाचस्पति मिश्र** (प्रथम) ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम का एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें न्यायसूत्रों के शुद्ध पाठ का उद्धार किया और सूत्रों को, प्रकरणों को तथा अक्षरों तक को, गिन कर लिपिबद्ध किया। इसी से हमें मालूम होता है कि **'न्यायसूत्र'** में ५ अध्याय, १० आह्निक, ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १९६ पद तथा ८३८५ अक्षर हैं। इस प्रकार की आपत्ति अन्य किसी भी दर्शन के सम्बन्ध में सुनने में भी नहीं आती।

इस प्रकार आज जो **'न्यायशास्त्र'** या **'न्यायसूत्र'** हमारे सामने है उसकी उत्पत्ति हुई, यह अनुमान किया जाता है।

साहित्य

आधुनिक न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम थे जो ईसा के पूर्व ६ठी सदी में मिथिला में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने स्थूल जगत् के तत्त्वों पर विचार किया और उनके ज्ञान के लिए प्रमाणों का निरूपण किया। इन का एकमात्र ग्रन्थ है **'न्यायसूत्र'**। यद्यपि

इस ग्रन्थ का लक्ष्य है निःश्रेयस् या परम तत्त्व की प्राप्ति, तथापि विशेष रूप से यह प्रमाणों के द्वारा तर्क करने की शिक्षा देता है। इसी लिए इस शास्त्र के 'न्यायशास्त्र', 'तर्कशास्त्र', आदि नाम हैं। इस ग्रन्थ के ही आधार पर समस्त न्यायशास्त्र का विस्तृत साहित्य लिखा गया है।

न्यायसूत्र के रचयिता

इस ग्रन्थ या शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के विशेष ज्ञान से निःश्रेयस् को प्राप्त करना, किन्तु जब तक 'संशय', 'प्रयोजन', 'दृष्टान्त', 'सिद्धान्त', 'अवयव', 'तर्क', 'निर्णय', 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थानों' का विशेष रूप से 'ज्ञान' नहीं होगा, तब तक 'प्रमेय' का ज्ञान अच्छी तरह से नहीं हो सकता। अतएव गौतम ने कहा है कि उपर्युक्त सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति मिलती है। इस शास्त्र में इन सोलहों पदार्थों के लक्षणों की प्रमाणों के द्वारा परीक्षा की गयी है।

न्यायशास्त्र के पदार्थ

पूर्व में इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी थीं, किन्तु **वात्स्यायन** का 'भाष्य' सब से प्राचीन व्याख्या है, जो आज उपलब्ध है। इनका समय सम्भवतः ईसा के पूर्व दूसरी सदी कहा जा सकता है। **'भाष्य'** के ऊपर **उद्योतकराचार्य** ने अति विस्तृत **'वार्तिक'** लिखा, जिसमें उन्होंने कहा है कि दिङ्नाग आदि बौद्ध कुतार्किकों के ज्ञान को दूर करने के लिए मैंने यह ग्रन्थ लिखा है[१]। ६ठी सदी में यह उत्पन्न हुए थे। बौद्धमत का इस ग्रन्थ में बहुत प्रौढ़ खण्डन है।

भाष्य

वाचस्पति मिश्र (प्रथम) मिथिला के बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्होंने सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। **'न्यायसूचीनिबन्ध'** की रचना शाके ८९८, अर्थात् ९७६ ई० में इन्होंने की। इन्हें विद्वान् लोग 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहते हैं। उद्योतकर के 'वार्त्तिक' पर **'तात्पर्यटीका'** इन्होंने लिखी है। इसके मंगलाचरण में वाचस्पति ने लिखा है—

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥

---

[१] **कुतार्किकज्ञाननिवृत्तिहेतुः—मंगलाचरण।**

इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध नैयायिकों के द्वारा 'न्यायशास्त्र' की बहुत दुर्दशा हुई थी और वाचस्पति ने बौद्धों के मत का खण्डन कर 'न्यायशास्त्र' की रक्षा करने के ही लिए **तात्पर्यटीका** लिखी थी। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धों के साथ इन लोगों का कितना शास्त्र-विचार चला करता था।

दसवीं सदी में मिथिला के 'करिओन' गाँव में **उदयनाचार्य** का जन्म हुआ था। इनके समान प्रौढ़ विद्वान् भारतवर्ष में बहुत विरले ही हुए हैं। इन्होंने 'तात्पर्यटीका पर **'परिशुद्धि'** नाम की बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी है। **'न्यायकुसुमांजलि'** में इन्होंने बौद्धों के मत का खण्डन कर 'ईश्वर' की पृथक् सत्ता का और **'आत्मतत्त्वविवेक'** में 'आत्मा' की पृथक् सत्ता का अकाट्य युक्तियों के द्वारा निरूपण किया। ये इनके अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। बौद्धों के मत के खण्डन में ये बहुत निपुण थे।

मध्य-काल में **भासर्वज्ञ** बहुत अच्छे नैयायिकों में गिने जाते थे। इनका **'न्याय-सार'** एक अपूर्व ग्रन्थ है, उस पर इन्होंने स्वयं एक टीका भी लिखी है।

ग्यारहवीं सदी में **जयन्तभट्ट** बड़े प्रौढ़ नैयायिक हुए। इन्होंने कतिपय न्यायसूत्रों पर **'न्यायमंजरी'** नाम की एक बड़ी टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने न्यायसूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं, जिन में कुछ तो अभी तक अप्रकाशित हैं।

प्राचीन न्याय का वरदराज मिश्र-रचित **तार्किकरक्षा** एक अपूर्व ग्रन्थ है। मल्लि-नाथ ने इस पर सुन्दर टीका लिखी है।

इसी समय न्यायशास्त्र के इतिहास में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। बारहवीं सदी में **गंगेश उपाध्याय** एक अद्वितीय विद्वान् मिथिला में हुए। इन्होंने 'गौतमसूत्र'

नव्यन्याय की उत्पत्ति

में से **'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'**[1] केवल एक मात्र सूत्र लेकर 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम का एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा। इस में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चारों प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण के ऊपर भिन्न-भिन्न खण्ड में बहुत विस्तृत विचार है। प्रमाणसूत्र के आधार पर इस ग्रन्थ के लिखे जाने के कारण, इसे **प्रमाणशास्त्र** का मुख्य ग्रन्थ कह सकते हैं। इस ग्रन्थ की लेखन-शैली एक नवीन ढंग की है। इस शैली से, ज्योतिःशास्त्र को छोड़ कर, प्रायः अन्य सभी शास्त्रों की, विशेष कर व्याकरण तथा दर्शन की, लेखन-परिपाटी पूर्ण प्रभावित हुई। यह नवीन शैली **'नव्यन्याय'** के नाम से प्रसिद्ध हुई। **'तत्त्वचिन्तामणि'** नव्यन्याय का आदि ग्रन्थ माना गया। इसके पूर्व के 'न्यायसूत्र' के ऊपर लिखे गये सभी ग्रन्थ **'प्राचीनन्याय'** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

[1] १-१-३

'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर गंगेश के पुत्र **वर्द्धमान** ने **'प्रकाश'** नाम की टीका लिखी। तत्पश्चात् **पक्षधर मिश्र** (१५ वीं सदी) ने **'आलोक'**, **वासुदेव मिश्र** ने **'न्यायसिद्धान्त-सार'**, **रुचिदत्त मिश्र** (१६वीं सदी) ने **'प्रकाश'**, **रघुपति**, **भगीरथ**, **महेश ठक्कुर**, आदि विद्वानों ने साक्षात् या परम्परा-रूप में 'तत्त्वचिन्तामणि' पर ग्रन्थ लिखे।

बाद को पक्षधर मिश्र के शिष्य **रघुनाथ शिरोमणि** ने इस शास्त्र का प्रचार बंगाल में किया और 'नवद्वीप' इसका केन्द्र बनाया गया। यहाँ **मथुरानाथ**, **जगदीश**, **गदाधर**, आदि बड़े विद्वान् हुए, जिन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' का विशेष अध्ययन कर उस पर विस्तृत टीकाएँ लिखीं।

इस ग्रन्थ के ऊपर साक्षात् तथा परम्परा-रूप में आज तक जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे हैं, उतने प्रायः किसी अन्य शास्त्र पर नहीं। इसका कारण है—

नव्य तथा प्राचीन-न्याय में भेद

बौद्धों के साथ प्रतिवाद। 'नव्यन्याय' के अध्ययन से बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होती है, तर्क करने की सामर्थ्य बहुत बढ़ जाती है तथा बोल-चाल की दार्शनिक परिपाटी में विद्वान् प्रौढ़ हो जाते हैं। इसके साथ-साथ इस शास्त्र ने संस्कृत-विद्या के अध्ययन की दृष्टि ही परिवर्तित कर दी। तर्क-प्रधान होने पर भी **'प्राचीनन्याय'** का मुख्य लक्ष्य था 'मुक्ति', किन्तु **'नव्यन्याय'** का मुख्य उद्देश्य है 'शुष्क तर्क करना'। जो साधन था वही साध्य हो गया। **'प्राचीनन्याय'** का अध्ययन लोग भूल गये। **'नव्यन्याय'** के अध्ययन में एक प्रकार का आनन्द है तथा शास्त्रार्थ-विचार में जय-पराजय के लिए तर्क का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। यद्यपि **'प्राचीनन्याय'** में भी 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक के प्रमेय प्रधान रूप से जय-पराजय के लिए थे, किन्तु बाद को उनका उपयोग जितना नव्यन्याय में होने लगा उतना प्राचीनन्याय में नहीं था। आधुनिक युग में भी जितने बुद्धिमान् विद्यार्थी होते थे, सभी नव्यन्याय को ही पढ़ते थे। इसी शास्त्र के पढ़ने वालों का विद्वन्मण्डली में आदर होता आया है। आज भी वह आदर पूर्ववत् है, यद्यपि उच्च कोटि के विद्वानों का आज पूर्ण अभाव है।

पदार्थ-निरूपण

विचार के लिए सभी शास्त्रों का एक अपना-अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टि-कोण से विश्व को देखते हुए चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लोग अग्रसर होते हैं। प्रत्येक दृष्टिकोण से जितनी दूर तक जिज्ञासु की दृष्टि जाती है, उतनी दूर में स्थित विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर ही साधक लोग उससे आगे

जाने के लिए पैर उठा सकते हैं, ऊपर की दूसरी सीढ़ी पर चढ़ सकते हैं। प्रत्येक दर्शन में उतने ही विषयों पर, लक्षण और परीक्षा के द्वारा प्रमाण तथा तर्क के आधार पर, विचार किया गया है। तदनुसार न्यायशास्त्र में भी उपर्युक्त 'प्रमाण' आदि सोलह पदार्थों के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है, ऐसा गौतम ने कहा है। उन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

प्रमाण—मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उसे ही 'प्रमाण' कहते हैं।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमाण' होते हैं। इसलिए शास्त्र में निर्णीत विषयों का यथार्थ ज्ञान जितने 'प्रमाण' से हो सके,

प्रमाणों की संख्या

उतने ही प्रमाणों की संख्या को उस शास्त्र में मानने की आवश्यकता होती है। अतएव यदि सभी वस्तुओं का ज्ञान एक ही प्रमाण से हो जाय तो दूसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी लिए **'चार्वाक'** ने एक मात्र 'प्रत्यक्ष' को प्रमाण माना है; **वैशेषिक** तथा **बौद्धों** ने 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' को; **सांख्य** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' को; प्रभाकर मिश्र मीमांसक **(गुरुमत)** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द', 'उपमान' तथा 'अर्थापत्ति' को; **कुमारिल भट्ट** मीमांसक तथा **वेदान्तियों** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान', 'शब्द', 'अर्थापत्ति' तथा 'अभाव' को एवं **पौराणिकों** ने उपर्युक्त छः के अतिरिक्त 'संभव' और 'ऐतिह्य' को भी 'प्रमाण' माना है।

न्यायशास्त्र के 'प्रमेयों' को जानने के लिए चार ही प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अतएव 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' तथा 'शब्द', इन चारों को न्यायशास्त्र ने 'प्रमाण' माना है।[1]

'प्रमाण' के द्वारा जिन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वे ही **'प्रमेय'** कहे जाते हैं, अर्थात् जो पदार्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हों, वे 'प्रमेय' हैं। 'आत्मा', 'शरीर',

प्रमेय-निरूपण

'इन्द्रिय', 'अर्थ', 'बुद्धि', 'मनस्', 'प्रवृत्ति', 'दोष', 'प्रेत्यभाव', 'फल', 'दुःख' तथा 'अपवर्ग', ये बारह **'प्रमेय'** न्यायशास्त्र में माने जाते हैं[2]। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

---

[1] न्यायसूत्र, १-१-३।

[2] न्यायसूत्र, १-१-९।

(१) **आत्मा**—ज्ञान का जो अधिकारण हो, वही '**आत्मा**' है। सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक 'आत्मा' है।[१] बाह्य इन्द्रियों के द्वारा 'आत्मा' का प्रत्यक्ष नहीं होता। मानसिक प्रत्यक्ष भी सभी नहीं मानते। अतएव इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान-रूप लिंग (हेतु) के द्वारा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। 'आत्मा' शब्द यहाँ जीवात्मा के लिए आया है। यही '**बद्ध आत्मा**' है। सुख-दुःख के वैचित्र्य के कारण प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा है, वही उस शरीर के सुख-दुःख की भोक्ता है। मुक्त होने पर भी 'जीवात्मा' एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में भिन्न ही रहती है। इसी से स्पष्ट है कि नैयायिक लोग मुक्ति की दशा में भी अनेक जीवात्मा मानने वाले हैं।[२] न्यायमत में ज्ञान का अधिकरण होने पर भी 'जीवात्मा' स्वभाव से ज्ञान रहित है, अर्थात् स्वभावतः वह जड़ है। इसमें स्वभाव से चैतन्य नहीं है। मन के विशेष संयोग से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है। यही कारण है कि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित'[३] में नैयायिकों का उपहास करते हुए कहा है—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्' ।

और एक किसी भक्त ने भी कहा है—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम् ।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन' ॥[४]

---

[१] न्यायभाष्य, १-१-९।

[२] उमेश मिश्र—कनसेप्शन ऑफ मैटर, परिच्छेद ११, पृ० ३७२-३७६।

[३] सर्ग १७, श्लोक, ७५।

[४] आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में कोई अन्तर नहीं है। मुक्तावस्था में जीवात्मा सकल दुःखों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहती है। उस समय उसमें ज्ञान, सुख आदि भी नहीं रहते। अतएव वह एक प्रकार से प्रस्तर के समान जड़वत् पड़ी रहती है। उसमें कोई आनन्द नहीं, कोई रस नहीं, फिर साधक ऐसी अवस्था की प्राप्ति के लिए क्यों कष्ट उठावे। यही यहां भक्त की प्रार्थना का अभिप्राय है।

ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये जीवात्मा के **'गुण'** हैं।[1] मनुष्य के कायिक, वाचिक तथा मानसिक बुरे और भले कार्यों से उत्पन्न बुरे और भले 'संस्कार' आत्मा में रहते हैं और ये 'संस्कार' मरने के समय जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश करते हैं। इनके ही प्रभाव से जीवात्मा भोग करती है। आत्मा में परम महत् (सब से बड़ा) 'परिमाण', अर्थात् 'विभुत्व' है।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जीवात्मा' विभु है, सर्वव्यापी है। इसी लिए यह कहीं जाती तो है नहीं, फिर 'एक शरीर को छोड़ कर जीवात्मा दूसरे में प्रवेश करती है', यह किस प्रकार कहा जा सकता है? समाधान में यह कहना चाहिए कि 'संस्कार' आत्मा में रहता है, 'आत्मा' व्यापक है, अतएव प्रत्येक जीवात्मा के सभी 'संस्कार' सर्वत्र रहते हैं। नैयायिक 'मन' में तो 'संस्कार' स्वीकार करते नहीं। परन्तु स्थूल शरीर में रहते हुए 'मन' के साथ 'जीवात्मा' का सम्बन्ध होने पर 'जीवात्मा' के वे 'संस्कार' उद्बुद्ध होते हैं, तभी उस 'जीवात्मा' में भोग होता है। वस्तुतः एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश 'मन' करता है। तथापि स्थूल बुद्धि वालों को समझाने के लिए 'जीवात्मा' के साथ 'संस्कार' जाता है, यह कहा जाता है। अतएव 'जीवात्मा' शब्द से यहाँ 'मन' समझना चाहिए।

(२) **शरीर**—'शरीर' दूसरा प्रमेय है। हित की प्राप्ति और अहित को दूर करने के लिए जो क्रिया की जाय, उसे 'चेष्टा' कहते हैं। जिसमें यह चेष्टा रहे या जिसमें इन्द्रियाँ रहें या जिसमें जीवात्मा को सुख-दुःख का अनुभव हो, वही **'शरीर'** है। इसे 'भोगायतन' भी कहते हैं।[2]

(३) **इन्द्रिय**—बाह्य जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, इन विषयों का जिससे ज्ञान हो, उसे ही **'इन्द्रिय'** कहते हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—**बाह्येन्द्रिय** और **अन्तरिन्द्रिय**। बाह्येन्द्रिय के पुनः दो भेद हैं—

---

[1] प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ७०।

[2] न्यायसूत्र, १-१-११।

ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र एवं **कर्मेन्द्रिय**—वाक्, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय तथा मल के बाहर होने की इन्द्रिय। **अन्त-रिन्द्रिय** केवल 'मन' है।

'ज्ञानेन्द्रियाँ' क्रमशः तेजस्, जल, पृथिवी, वायु तथा आकाश, इन्हीं पाँचों भूतों के स्वरूप हैं।

(४) **अर्थ**—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, ये ही पाँच न्यायमत में 'अर्थ' कहलाते हैं। ये क्रमशः तेजस्, जल, पृथिवी, वायु, तथा आकाश के 'विशेष गुण' हैं।[१]

न्यायभाष्यकार ने 'सुख तथा सुख का कारण' एवं 'दुःख तथा दुःख का कारण' इस अर्थ में भी **'अर्थ'** शब्द का प्रयोग किया है।[२]

वैशेषिक मत में तो द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों को 'अर्थ' कहते हैं।[३]

(५) **बुद्धि**—न्यायमत में बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान, ये तीनों पर्याय-वाचक शब्द हैं।[४]

(६) **मनस्**—इसे अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, आदि 'आत्मा' के गुणों का ज्ञान 'मन' के द्वारा होता है। 'मन' अणु-परिमाण का है। अतएव एक समय में यह मन एक ही स्थान पर रहता है। आत्मा तथा इन्द्रिय के साथ बिना मन का सम्बन्ध हुए 'ज्ञान' नहीं उत्पन्न होता। अतएव एक साथ एक ही 'ज्ञान' क्रमशः उत्पन्न होता है।

मन नित्य है। एक शरीर में एक ही मन रहता है। मरने के समय यह शरीर से बाहर निकल जाता है, जिसे 'उपसर्पण' कर्म कहते हैं। वस्तुतः 'मन' के निकलने को ही 'मरण' कहते हैं। दूसरे शरीर में वही 'मन' प्रवेश करता है, जिसे 'अपसर्पण' कर्म कहते हैं। मोक्ष की दशा में भी

---

[१] न्यायसूत्र, १-१-१२-१४।
[२] १-१-१।
[३] वैशेषिकसूत्र, ८-२-५।
[४] न्यायसूत्र, १-१-१५।

जीवात्मा के साथ एक 'मन' रहता ही है। यही 'मन' मोक्षावस्था में एक आत्मा को दूसरी आत्मा से पृथक् रखता है और इसी के कारण जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते हैं। इसी के कारण मोक्षावस्था में भी न्यायमत में 'आत्मा' अनेक है।

(७) **प्रवृत्ति**—कायिक, वाचिक तथा मानसिक जो क्रिया होती है, उसके आरम्भ को **'प्रवृत्ति'** कहते हैं।

(८) **दोष**—जिसके कारण 'प्रवृत्ति' हो वही **'दोष'** है। राग, द्वेष तथा मोह के कारण हमारी सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं। इसलिए राग, द्वेष तथा मोह को **'दोष'** कहते हैं।

(९) **प्रेत्यभाव**—मरने के पश्चात् दूसरे शरीर में जीवात्मा की स्थिति को **'प्रेत्यभाव'** कहते हैं। 'परलोक' का होना इसी से प्रमाणित हो जाता है। इसी को फिर से जीवात्मा की उत्पत्ति भी कहते हैं।

(१०) **फल**—सुख और दुःख का संवेदन होना ही **'फल'** है। अपने अनुकूल भाव को 'सुख' तथा प्रतिकूल को 'दुःख' कहते हैं। हमारी क्रियाओं के सुख या दुःख ही फल हैं।

(११) **दुःख**—इसे ही पीड़ा, ताप, क्लेश, आदि भी कहते हैं। सबको स्वयं इनका अनुभव होता है। इस संसार में कोई भी जीव दुःख से रहित नहीं है एवं हमारी क्रियाओं के फल को भी दुःख से कभी मुक्ति नहीं है। अतएव न्यायशास्त्र में सुख को 'दुःख' के ही अन्तर्गत कहा है।

(१२) **अपवर्ग**—**'अपवर्ग'** मोक्ष को कहते हैं, अर्थात् जीवात्मा के इक्कीस प्रकार के दुःख तथा दुःख के कारण जब नष्ट हो जायँ, तभी वह जीवात्मा 'मुक्त' कहलाती है, अर्थात् इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही 'मोक्ष' है। शरीर, मनस् को लेकर छः इन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियों के छः रूप, रस आदि विषय एवं उनके रूपज्ञान, रसज्ञान आदि छः ज्ञान तथा सुख एवं दुःख, इन इक्कीसों से दुःख उत्पन्न होता है। इन्हीं के आत्यन्तिक नाश को 'मोक्ष' कहते हैं।

शास्त्र को पढ़कर उसके मर्म को समझने से जगत् के सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। उन सभी पदार्थों में नाना प्रकार के दोषों को देखकर साधक संसार से

विरक्त होकर 'मोक्ष' की इच्छा करता है। पश्चात् गुरु के उपदेश से योगशास्त्र में कहे गये 'अष्टांग योग' का अभ्यास कर 'ध्यान' तथा 'समाधि' में पूर्ण परिपाक को प्राप्त कर साधक 'आत्मा' का साक्षात्कार करता है। साथ ही साथ उसके अविद्या, अस्मिता (आत्मा और अनात्मा को एक मानना), राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मृत्युभय),[1] ये पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। पश्चात् वह निष्काम कर्म करता है जिससे भविष्यत् में उसके कर्मजन्य 'संस्कार' नहीं उत्पन्न होते, अर्थात् 'कर्म' 'संचित' नहीं होते। पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मजन्य संस्कारों के या संचित कर्मों के ज्ञान को योगाभ्यास के प्रभाव से प्राप्त कर, उन कर्मों के भोंगने के योग्य भिन्न-भिन्न शरीरों को 'काय व्यूह' के द्वारा उत्पन्न कर, कर्मों के भोग में तीव्रता को बढ़ा कर, सभी भोगों को भोग लेने के पश्चात् पूर्व-कर्मों का नाश हो जाने से, भविष्यत् काल में होने वाले शरीरों के अभाव में, जब वर्तमान शरीर का मरण होता है, तभी इक्कीस दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है और साधक 'मुक्त' हो जाता है।[2] इसी बात को गौतम ने भी कहा है—मिथ्याज्ञान का नाश होने से राग, द्वेष, आदि दोषों का नाश होता है, पश्चात् 'प्रवृत्ति' नहीं होती, फिर 'जन्म' ही नहीं लेना पड़ता और अन्त में दुःख का नाश होने से 'मुक्ति' मिलती है।[3]

मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया

इन्हीं बारहों प्रमेयों के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए न्यायशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है। इन्हीं के ज्ञान के द्वारा इस जगत् के पदार्थों का तत्त्वज्ञान हो जाता है और पश्चात् साधक 'आत्मा' की खोज में अग्रसर होता है। परन्तु इनके यथार्थ ज्ञान के लिए 'संशय' से लेकर 'निग्रहस्थान' पर्यन्त चौदह पदार्थों का एवं प्रमाणों का भी ज्ञान आवश्यक है। अतएव अति संक्षेप में इनका भी विवरण यहाँ देना आवश्यक है।

३ **संशय**—किसी एक वस्तु में यदि दो भिन्न पदार्थों के समान धर्म पाये जायँ और उन दोनों को परस्पर पृथक् कर देने वाला एक भी धर्म न पाया जाय, तो उसमें **'संशय'** उत्पन्न होता है। जैसे–अन्धकार के कारण एक खड़ी हुई लम्बायमान वस्तु में शाखा-पत्र-रहित वृक्ष (स्थाणु) तथा पुरुष के होने

---

[1] पातञ्जल योगसूत्र, २-३-९।

[2] न्यायसूत्र तथा भाष्य, ४-२-३८-४६; केशव मिश्र—तर्कभाषा, पृष्ठ ९१-९२, पराञ्जपे का संस्करण।

[3] न्यायसूत्र, १-१-२।

का 'सन्देह' होता है। 'संशय' में समान बल वाले दो प्रकार के उभय-कोटि ज्ञान साधक के सामने उपस्थित होते हैं। 'संशय' के बिना कोई तर्क आरम्भ नहीं होता और न तो कोई निर्णय ही किया जा सकता है। न्यायशास्त्र में यही इसका महत्त्व है।

४ **प्रयोजन**—जिससे प्रेरित होकर कार्य करने में लोग प्रवृत्त हों, उसे **'प्रयोजन'** कहते हैं।

५ **दृष्टान्त**--इसे 'उदाहरण' भी कहते हैं। किसी बात के साधन के लिए इसका उद्धरण दिया जाता है। जिस बात में पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही **दृष्टान्त** के रूप में उद्धृत हो सकता है।

६ **सिद्धान्त**—प्रमाणों के द्वारा किसी बात को मान लेना कि 'यह ऐसा है,' इसे ही **'सिद्धान्त'** कहते हैं।

७ **अवयव**—अनुमान की प्रक्रिया में जितने वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है, वे सब **'अवयव'** कहलाते हैं।

विचार करने पर मालूम होता है कि ये अवयव-रूपी वाक्य सब न्यायमत में स्वीकृत प्रमाणों के प्रतीक हैं।

'अनुमान' के दो भेद होते हैं—'स्वार्थानुमान' (अपने लिए अनुमान करना) तथा 'परार्थानुमान' (दूसरों को समझाने के लिए अनुमान करना)।

परार्थानुमान में पाँच वाक्य होते हैं, जैसे—

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत में आग है। यह 'शब्द' प्रमाण है।

(२) **हेतु**—क्योंकि (पर्वत में) धूआँ है। यह 'अनुमान' प्रमाण है।

(३) **उदाहरण या दृष्टान्त**—जैसे रसोई घर, जहाँ धूम के साथ आग देखी जाती है। यह 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है।

(४) **उपनय**—'जहाँ धूम है वहाँ आग है', इस प्रकार के अविनाभाव-सम्बन्ध से युक्त 'धूम' पर्वत में है। यह 'उपमान' प्रमाण है।

(५) **निगमन**—अतएव पर्वत में आग है—इस वाक्य में सभी प्रमाणों का एक ही विषय में सामर्थ्य का प्रदर्शन होता है।

इन पाँचों वाक्यों में न्यायमत के सभी प्रमाणों का एकत्र समावेश है। अतएव इन पाँचों अवयवों के समूह को **'परम न्याय'** कहते हैं। इसी लिए वात्स्यायन ने कहा है कि 'प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा ही न्याय' है।[1]

८ **'तर्क'**—तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाणों का सहायक 'तर्क' कहलाता है।

९ **निर्णय**—किसी विषय के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष को लेकर विचार करने के पश्चात् जिस विषय पर दोनों पक्षों का विचार स्थिर हो जाय, उसे **'निर्णय'** कहते हैं। यही तो तत्त्वज्ञान है। 'निर्णय' पर पहुँच जाने से एक पक्ष का विचार माना जाता है, दूसरे का खण्डित हो जाता है।

१० **वाद**—तत्त्वजिज्ञासा के लिए दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के बीच में जो 'कथा'[2] अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में विचार-विनिमय हो, उसे **'वाद'** कहते हैं। इसमें हार-जीत का विचार नहीं रहता। जैसे—गुरु तथा शिष्य के बीच में शास्त्र के सम्बन्ध में कोई विचार हो।

११ **जल्प**—जिस **'कथा'** के द्वारा वाक्यों के सन्दर्भ में दो या उनसे अधिक व्यक्ति पक्ष तथा प्रतिपक्ष का अवलम्बन कर एक पक्ष का साधन तथा दूसरे पक्ष का खण्डन करें एवं छल, जाति और निग्रहस्थान का जिस 'कथा'-सन्दर्भ में प्रयोग किया जाय, उसे **'जल्प'** कहते हैं।

१२ **वितण्डा**—जिस 'जल्प' में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाय, उसे **'वितण्डा'** कहते हैं। 'वितण्डा' को अवलम्बन करने वाले **'वैतण्डिक'** कहलाते हैं। ये सभी के पक्षों का खण्डन करते हैं, किन्तु अपना कोई भी सिद्धान्त या पक्ष स्वीकार नहीं करते। जैसे श्रीहर्ष-रचित 'खण्डनखण्ड-खाद्य' में श्रीहर्ष ने अपने को 'वैतण्डिक' के रूप में दिखाया है।

१३ **हेत्वाभास**—'हेतु' के समान मालूम हो, किन्तु उस हेतुवाक्य में कोई न कोई दोष अवश्य हो, उसे **'हेत्वाभास'** कहते हैं।

---

[1] न्यायभाष्य, १-१-१ ।

[2] अनेक वक्ताओं के मध्य में पूर्व तथा उत्तर-पक्ष के रूप में प्रयोग किये गये वाक्यों के सन्दर्भ को 'कथा' कहते हैं।

१४ **छल**—किसी वक्ता के कथन के अभिप्राय को उलट कर उस वाक्य के अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित कर देना **'छल'** है।

१५ **जाति**—साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा किसी वाक्य में दोष बताना **'जाति'** कहलाता है। एक प्रकार से यह मिथ्या उत्तर देना है।

१६ **निग्रहस्थान**—किसी वाक्य-सन्दर्भ में वादी तथा प्रतिवादी के विपरीत ज्ञान एवं अज्ञान को **'निग्रहस्थान'** कहते हैं।

इन सोलह पदार्थों का सब तरह से ज्ञान प्राप्त करने से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है, अर्थात् न्यायशास्त्र के अनुसार 'परम तत्त्व' का ज्ञान होता है। इन पदार्थों में 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनका मुख्य लक्ष्य है—विपक्षियों के प्रतिपादन में दोष का उद्घाटन करना और उनका खण्डन करना तथा अपने सिद्धान्त की रक्षा करना। मालूम होता है कि बौद्धों के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए ही गौतम ने न्यायशास्त्र में इन पदार्थों का समावेश किया।

ज्ञान और प्रमाण

ऊपर कहा गया है कि पदार्थों के 'ज्ञान' से 'निःश्रेयस्' की प्राप्ति होती है। अब यहाँ विचार करना है कि 'ज्ञान' किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? न्यायशास्त्र में 'ज्ञान' जीवात्मा का 'विशेषगुण' है। चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र, इन पाँचों इन्द्रियों के द्वारा एवं मनस् की सहायता से आत्मा में 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। यह 'ज्ञान' आत्मा का आगन्तुक धर्म है, स्वाभाविक नहीं।

ज्ञान के भेद

'ज्ञान' दो प्रकार का है—**स्मरणरूप** तथा **अनुभवरूप**। किसी वस्तु का जब अनुभवरूप ज्ञान होता है, तो वह तीन क्षणों के बाद नष्ट हो जाता है। परन्तु उस ज्ञान का एक संस्कार 'आत्मा' पर अंकित हो जाता है। प्रत्येक ज्ञान का पृथक्-पृथक् संस्कार होता है। ज्ञान के तारतम्य के अनुसार कोई संस्कार दृढ़ और तीक्ष्ण होता है और कोई चञ्चल तथा मन्द। किन्तु एक भी संस्कार नष्ट नहीं होता। पुनः कालान्तर में या दूसरे जन्म में सादृश्य-

स्मरणात्मक ज्ञान

दर्शन, आदि अनेक कारणों से वे संस्कार क्रमशः उद्बुद्ध होते हैं और 'स्मरणरूप' में पुनः उसी मनुष्य की आत्मा में उपस्थित हो जाते हैं। यही **स्मरणरूप ज्ञान** है। इस ज्ञान में ज्ञात वस्तु का ही पुनः ज्ञान होता है। अतएव न्यायमत में इसे 'प्रमा' (अर्थात् यथार्थज्ञान) नहीं कहते।

अनुभवात्मक ज्ञान

'स्मृति' से भिन्न ज्ञानेन्द्रिय तथा वस्तु के संयोग से साक्षात् या परम्परा-रूप में जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे **'अनुभव-ज्ञान'** कहते हैं। इसे ही 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' कहते हैं।

यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान

जैसी वस्तु हो, उसे उसी प्रकार जानना **यथार्थ ज्ञान** है, अर्थात् घट को घट ही जानना, सर्प को सर्प ही जानना 'यथार्थ ज्ञान' है। जो वस्तु जिस प्रकार की हो उसे उस रूप में न जानना या उसे दूसरे रूप में जानना **'अयथार्थ ज्ञान'** है। जैसे—अंधकार में 'रस्सी' को 'सर्प' जानना या 'सीप' को 'चाँदी' समझना, 'शरीर' को 'आत्मा' समझना, ये सभी **'अयथार्थ ज्ञान'** हैं।

न्यायमत में संशय, विपरीत ज्ञान तथा तर्क, इन तीनों को 'अयथार्थ ज्ञान' माना है, अर्थात् इन तीनों से निश्चित ज्ञान नहीं होता। जो 'निश्चित ज्ञान' हो, वही **'यथार्थ ज्ञान'** या **'प्रमा'** है।

यथार्थ अनुभव चार प्रकार के होते हैं—'प्रत्यक्ष', 'अनुमिति', 'उपमिति' तथा 'शब्द'। यहाँ इन चारों का संक्षेप में विवरण देना आवश्यक है। इन चारों ज्ञानों को उत्पन्न करने में सबसे अधिक जो साधक हो, वह **'प्रमाण'** कहा जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज्ञानेन्द्रिय और किसी वस्तु के सन्निकर्ष से साक्षात् जो यथार्थ अनुभव उत्पन्न हो, उसे **'प्रत्यक्ष'** ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान को उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो, वही **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** है। जैसे—किसी पुस्तक का साक्षात् अनुभव तभी होता है, जब हमारी आँखें, अर्थात् चक्षुरूपी ज्ञानेन्द्रिय का उस पुस्तक के साथ साक्षात् सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान हो, उसे **'चाक्षुष प्रत्यक्ष'** कहते हैं। इसी प्रकार

प्रत्यक्ष के भेद

रसनेन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान **'रासन प्रत्यक्ष'**, घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध से **'घ्राणज प्रत्यक्ष'**, त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध से **'त्वाच प्रत्यक्ष'**, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध से **'श्रावण प्रत्यक्ष'**, ये पाँच प्रकार के 'प्रत्यक्ष' होते हैं। ये सभी 'बाह्य प्रत्यक्ष' कहे जाते हैं।

इसी प्रकार 'मन' भी एक इन्द्रिय है। इसके साक्षात् सम्बन्ध से सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, आदि का जो ज्ञान होता है, उसे भी 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते हैं, परन्तु यह 'मानसिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

बाह्य प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—**निर्विकल्पक** तथा **सविकल्पक** । बाह्य इन्द्रिय का जब अपने विषय के साथ साक्षात् सन्निकर्ष होता है, तब सबसे पहले 'आत्मा' में एक ज्ञान उत्पन्न होता है, जो 'सम्मुग्ध' या 'अव्याकृत' ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान में केवल 'उस वस्तु का होना' इतने का ही भान होता है, परन्तु उस वस्तु में कौन-सा गुण है, उसका क्या नाम है, इत्यादि किसी प्रकार का विशेष ज्ञान नहीं होता । हर प्रकार के गुण तथा धर्म से रहित केवल वस्तु की स्थिति मात्र का आभास इस अवस्था में होता है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गुण आदि विकल्पों से रहित होने के कारण इसे **'निर्विकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो यही है। इसे ही गौतम ने अपने सूत्र में 'प्रत्यक्ष' माना है। बौद्धों ने भी इसी को प्रत्यक्ष कहा है।

किन्तु इस व्यावहारिक जगत् में ज्ञान का उपयोग व्यवहार के लिए भी होता है। 'निर्विकल्पक' ज्ञान से तो कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए उस ज्ञान को व्यवहार के योग्य बनाने के लिए न्यायमत में कहा जाता है कि उत्पन्न होने के प्रथम क्षण में तो प्रत्येक वस्तु का 'ज्ञान' नाम, जाति, गुण, आदि विकल्पों से रहित, अर्थात् निर्विकल्पक ही होता है। बाद को दूसरे क्षण में उस ज्ञान में उस वस्तु के नाम, जाति, आकृति, गुण, आदि विकल्पों का भी ज्ञान होता है और वही 'निर्विकल्पक' ज्ञान वाक्यों के द्वारा व्यवहार के लिए प्रकट किया जाता है। इसे **'सविकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण में जो ज्ञान होता है, वह, मूक पुरुषों के ज्ञान के समान, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है, परन्तु पश्चात् दूसरे क्षण में जो ज्ञान होता है, वह शब्दों के द्वारा व्यवहार में लाया जा सकता है।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का 'सन्निकर्ष' आवश्यक है। ये सन्निकर्ष छः प्रकार के हैं—'संयोग', 'संयुक्त-समवाय', 'संयुक्त-समवेत-समवाय', 'समवाय', 'समवेत-समवाय' तथा 'विशेषण-विशेष्य-भाव'।

सन्निकर्ष के भेद

(१) **संयोग**—चक्षु के साथ पुस्तक का जो सम्बन्ध होता है, उसे **'संयोग'** कहते हैं। 'चक्षु' द्रव्य है और 'पुस्तक' भी द्रव्य है। द्रव्यों में 'संयोग' सम्बन्ध होता है।

(२) **संयुक्त-समवाय**—चक्षु के द्वारा पुस्तक तथा पुस्तक के 'रूप' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि चक्षु के साथ 'पुस्तक-रूप' का भी सन्निकर्ष होता है, किन्तु यह सन्निकर्ष साक्षात् नहीं होता। 'रूप'

पुस्तक में है। अतएव पुस्तक के द्वारा चक्षु 'रूप' के साथ सन्निकृष्ट होता है, अर्थात् चक्षु और पुस्तक में 'संयोग' सम्बन्ध होता है। 'पुस्तक' गुण को रखने वाली अर्थात् 'गुणी' है तथा पुस्तक-रूप उस पुस्तक का 'गुण' है। ये 'गुण-गुणी' होने के कारण **'अयुतसिद्ध'**[1] हैं, और इन दोनों में **'समवाय'** सम्बन्ध है। इसलिए 'चक्षु' को 'पुस्तक-रूप' के साथ 'संयोग +समवाय' अर्थात् **'संयुक्त-समवाय'** सम्बन्ध होने से आत्मा 'पुस्तक-रूप' का 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण के द्वारा 'ज्ञान' प्राप्त करती है।

(३) **'संयुक्त-समवेत-समवाय'**—प्रत्येक 'व्यक्ति' में एक 'जाति' रहती है। इसी जाति के द्वारा एक विभाग की वस्तु दूसरे विभाग से पृथक् की जाती है। जैसे—'घट' में एक 'जाति' है—'घट+त्व' (घटत्व)। इसके द्वारा ही 'घट' 'पट' से भिन्न कहा जाता है, क्योंकि 'पट' में एक भिन्न जाति है—'पट+त्व' (पटत्व)। इस 'जाति' को 'त्व' या 'ता' के द्वारा प्रकट करते हैं। इस प्रकार की 'जाति' कुछ स्थानों को छोड़कर[2] अन्यत्र सभी में है। जैसे—पुस्तकत्व, पुस्तकरूपत्व, इत्यादि।

प्रत्यक्ष ज्ञान में यह देखा जाता है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसकी 'जाति' तथा उसके 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। अर्थात् चक्षुरूप इन्द्रिय से 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, साथ ही साथ 'पुस्तकत्व' का तथा 'पुस्तकरूपत्व' का भी ज्ञान होता है। विचारणीय विषय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, तस्मात् 'चक्षु' इन्द्रिय के साथ 'पुस्तक-रूप-त्व' का भी सन्निकर्ष होता है। यह सन्निकर्ष साक्षात् नहीं है। यह परम्परा सन्निकर्ष है। 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक' का 'संयोग' सम्बन्ध, 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप'

---

[1] **उन दो पदार्थों को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं, जिन दो पदार्थों में एक, अपनी स्थिति की अवस्था में, दूसरे के आश्रित होकर ही अपने अस्तित्व को रख सकता है—'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावेवायुतसिद्धौ'। जैसे—अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य, ये 'अयुतसिद्ध' हैं। इनमें परस्पर 'समवाय' सम्बन्ध है।**

[2] **'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः'—उदयनाचार्य—किरणावली।**

का 'संयुक्त-समवाय' तथा 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप-त्व' का **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** सम्बन्ध है। क्योंकि 'जाति' और 'व्यक्ति' **'अयुतसिद्ध'** हैं, इनमें 'समवाय' सम्बन्ध है।

(४) **समवाय**—'कान' से 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए 'कान'और 'शब्द' में 'सन्निकर्ष' होना आवश्यक है। 'कान' को तर्कशास्त्र में 'आकाश' मानते हैं। 'शब्द' 'आकाश' का विशेष गुण है। 'आकाश' द्रव्य है और 'शब्द' उसका विशेष गुण है। इन दोनों में गुण-गुणी-भाव है। ये **'अयुतसिद्ध'** हैं। अतएव इनमें **'समवाय'** सम्बन्ध है। तस्मात् 'कान' **समवाय** सम्बन्ध के द्वारा 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

(५) **समवेत-समवाय**—ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक 'व्यक्ति' में एक 'जाति' रहती है, तस्मात् 'शब्द' में भी 'शब्द+त्व' जाति है और 'कान' से ही उस 'शब्दत्व' का भी प्रत्यक्ष होता है। शब्द और शब्दत्व में व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध होने से ये **'अयुतसिद्ध'** हैं। अतएव इनमें 'समवाय' सम्बन्ध है। अब 'कान' के साथ 'शब्द' का 'समवाय' सम्बन्ध तथा 'शब्द' के साथ 'शब्दत्व' का 'समवाय' सम्बन्ध है। तस्मात् 'कान' के साथ 'शब्दत्व' का **'समवाय-समवाय'**, अर्थात् **'समवेत-समवाय'** सम्बन्ध है।

(६) **विशेषण-विशेष्य-भाव**—उपर्युक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्षों से 'भाव' पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'अभाव' का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इसके लिए न्यायमत में **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सम्बन्ध माना गया है।

किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। जैसे—'पुस्तक' का मेज पर न होना, मेज पर 'पुस्तक का अभाव' कहा जाता है। जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हो, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है। 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष 'चक्षु' से होता है। तस्मात् 'पुस्तक के अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान 'चक्षु' से ही होगा। पुस्तक और पुस्तकाभाव में एक 'भाव' द्रव्य है और दूसरा 'अभाव'-रूप पदार्थ है। अतएव इन दोनों में उपर्युक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्ष नहीं हो सकते।

इसलिए तर्कशास्त्र में 'अभाव' के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** नाम का एक छठा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

'पुस्तकाभाव' मेज पर है, अर्थात् 'पुस्तकाभाव' मेज का 'विशेषण' है और 'मेज' 'विशेष्य' है। इसलिए इन दोनों में **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध के द्वारा चक्षु को 'पुस्तकाभाव' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मीमांसकों का मत

मीमांसकों का कहना है कि **'सम्बन्ध'** को 'एक', 'उभयाश्रित' तथा 'सम्बन्धियों से भिन्न' होना चाहिए। ये तीनों बातें 'विशेषण-विशेष्य-भाव' में नहीं हैं। इसलिए यह 'सम्बन्ध' ही नहीं हो सकता। अतएव अभाव के ज्ञान के लिए एक पाँचवाँ प्रमाण माना जाय, जिसे मीमांसक लोग **'अनुपलब्धि'** या **'अभाव'** प्रमाण कहते हैं।

तर्कशास्त्र ने व्यावहारिकता की प्रधानता को स्वीकार कर प्रत्यक्ष प्रमाण के ही द्वारा 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। पाँचवाँ प्रमाण मानने की इसे आवश्यकता ही नहीं है, मानने पर 'गौरव' दोष होगा।

इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ध्यान में रखना चाहिए कि चक्षुरिन्द्रिय से 'रूप' तथा 'रूपवत्' का, रसनेन्द्रिय से 'रस' तथा 'रसवत्' का, घ्राणेन्द्रिय से 'गन्ध' तथा 'गन्धवत्' का ज्ञान होता है। इसी प्रकार इनके अभाव का भी ज्ञान अपनी-अपनी इन्द्रियों के द्वारा होता है।

मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष

इन सभी ज्ञानों में इन्द्रिय तथा अर्थ के अतिरिक्त 'मन' तथा 'आत्मा' का भी 'संयोग' आवश्यक है। 'आत्मा' ही तो ज्ञान का आश्रय है। 'ज्ञान' आत्मा में ही उत्पन्न होता है। 'ज्ञान' को उत्पन्न करने के लिए आत्मा के साथ मन-रूप इन्द्रिय का संयोग आवश्यक है। आत्मा विभु है। अतएव मन के साथ उसका सम्बन्ध तो एक प्रकार से सदैव रहता ही है, किन्तु उस 'संयोग-सम्बन्ध' से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ जब मन का संयोग होता है, तब उक्त संयोग से युक्त मन के साथ आत्मा का एक नवीन सन्निकर्ष होने पर उस 'आत्मा' में उस अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए 'त्वक्' इन्द्रिय के साथ मन का संयोग सदैव रहना आवश्यक है। इस संयोग के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतएव 'पुरीतत्' में जब सुषुप्ति-दशा में मन प्रवेश करता है, तब वहाँ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ 'त्वगिन्द्रिय' नहीं है।

ऊपर बाह्येन्द्रियों के द्वारा 'सन्निकर्षों' का विचार किया गया है। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' के द्वारा भी सुख, दुःख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ भी ये ही सम्बन्ध होते हैं। सुख, दुःख आदि 'आत्मा' के गुण हैं, अर्थात् ये गुण सब 'आत्मा' में समवाय सम्बन्ध से हैं। अतएव मन का आत्मा के साथ **'संयोग'**, आत्मा के गुणों के साथ **'संयुक्त-समवाय'**, उन गुणों में रहने वाली 'जातियों' के साथ **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** तथा आत्मा में 'सुखाभाव' आदि का **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मानसिक सन्निकर्ष

अभी तक जिस प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार किया गया है, वह **'लौकिक सन्निकर्षों'** से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में है। इनके अतिरिक्त विशेष ज्ञान के लिए तर्क-शास्त्र में कुछ **'अलौकिक सन्निकर्षों'** का भी विचार किया गया है। उनका भी परिचय यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

अलौकिक सन्निकर्ष

रसोई घर में धुआँ के साथ आग देखी जाती है। अन्यत्र भी अनेक स्थानों में धुआँ के साथ आग देखी जाती है। इस प्रकार अनेक स्थानों में धूम को आग के साथ देखकर तार्किक एक नियम बना लेते हैं कि 'जहाँ धूम है, वहाँ आग है'।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति

यहाँ प्रश्न है—कि जहाँ-जहाँ धूम को आग के साथ देखा, वहाँ तो सर्वत्र चक्षु और धूम का 'संयोग' सम्बन्ध है, अतएव उन स्थानों में धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसी से आग का भी ज्ञान होता है। परन्तु भूत, भविष्यत् एवं अप्रत्यक्षीभूत वर्तमान धूमों के साथ तो चक्षु का 'संयोग' नहीं होता, फिर सभी धूमों के साथ 'आग' के होने की निश्चित व्याप्ति किस प्रकार स्थिर हो सकती है? अर्थात् सभी धूमों के साथ चक्षु का सम्बन्ध न होने पर सभी धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में यह कहना है कि प्रथम बार जब एक 'धुआँ' का प्रत्यक्ष ज्ञान 'संयोग' सम्बन्ध से हुआ, उस ज्ञान में 'धुआँ' विशेष्य है और धुआँ में रहने वाला 'सामान्य' या 'जाति', अर्थात् 'धूमत्व' 'प्रकार' या 'विशेषण' है। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि जिस समय आँख के साथ 'धुआँ' का 'संयोग सम्बन्ध' हुआ, उसी समय 'धूमत्व' के साथ भी आँख का 'संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध' हुआ और 'धूमत्व' का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हुआ। यह 'धूमत्व जाति' नित्य है और भूत, भविष्यत् सभी धूमों में विद्यमान है। इस 'धूमत्व जाति' से धूम कभी भी अलग नहीं हो सकता, अतएव रसोई घर

के धूम तथा धूमत्व को आँख से देख कर सभी अविद्यमान धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान 'धूमत्व' सामान्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध होने से होता है। अतएव इस सम्बन्ध को **'सामान्यलक्षणा' प्रत्यासत्ति** (सम्बन्ध) कहते हैं।

ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति

दूसरा **अलौकिक सन्निकर्ष** है **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'**। लोक में श्रीखण्ड-चन्दन को देखकर 'श्रीखण्ड-चन्दन में बहुत सुगन्धि है', ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के साथ श्रीखण्ड-चन्दन के 'संयोग' से होता है। किन्तु 'सुगन्धि' का ज्ञान किस प्रकार हुआ, यह शंका मन में उत्पन्न होती है। चन्दन दूर है, वहाँ से उसकी सुगन्धि घ्राण तक नहीं पहुँच सकती। अतएव यह 'घ्राणज प्रत्यक्ष' नहीं कहा जा सकता।

इसके समाधान में कहा जाता है कि श्रीखण्ड-चन्दन का ज्ञान तो हमें 'चक्षु' और 'श्रीखण्ड-चन्दन' के संयोग से होता है और 'यह चन्दन है', इस ज्ञान के कारण ही हमें चन्दन की सुगन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। अर्थात् चन्दन के ज्ञान से सुगन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। यही **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** है।

परन्तु 'सुगन्ध' का ज्ञान तो 'सामान्यलक्षणा' से भी हो जाता है, किन्तु 'सुगन्धत्व' का ज्ञान 'सामान्यलक्षणा' से नहीं होता, क्योंकि सुगन्ध के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं होता। तस्मात् सुगन्ध में रहने वाले 'सामान्य' का ज्ञान **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** से होता है। अतएव जहाँ 'सामान्यलक्षणा' से ज्ञान न हो, वहाँ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' को स्वीकार करना आवश्यक है।

योगज प्रत्यक्ष

'परमाणु' का तथा अन्य परोक्षभूत वस्तुओं का ज्ञान हस्तामलकवत् योगियों को होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साधक लौकिक उपायों की आवश्यकता योगियों को नहीं होती। परन्तु उन्हें इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को **'योगज'** प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। योगियों की सिद्धि के प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप में ये ज्ञान साधारण या असाधारण सन्निकर्ष के बिना ही होते हैं।[1]

अनुमानप्रमाण

जिस वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न हो, वह 'परोक्ष' कहलाती है। जिस चिह्न या प्रक्रिया के द्वारा 'परोक्ष' वस्तु का ज्ञान हो, उसे **'अनुमान'** कहते हैं।

---

[1] द्रष्टव्य भाषापरिच्छेद, कारिका ६३-६६ तथा न्यायमुक्तावली।

'हेतु' या 'चिह्न' या 'लिंग' के 'परामर्श' के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए 'लिंग-परामर्श' को 'अनुमान' कहते हैं।

अनुमान की प्रणाली

जैसे—अपने या दूसरे के रसोई घर में बारबार धुआँ के साथ आग को देखकर देखने वाले के मन में 'जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है', इस प्रकार का एक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वह पुरुष जंगल में कभी जाता है तो उसे पर्वत से निकलता हुआ धुआँ देख पड़ता है। तब उसे स्मरण होता है कि 'जहाँ धुआँ हो, वहाँ आग होती है'। इसके बाद वह उसी पर्वत में पुनः धुएं को देखता है, किन्तु अब वह धुआँ 'यत्र धूमः तत्र वह्निः' इस व्याप्ति से विशिष्ट है। अन्त में वह निर्णय करता है कि 'यहाँ आग है'। यही 'अनुमान' की पूरी प्रणाली है।

इसमें 'धुआँ' **'लिंग'** या **'हेतु'** कहा जाता है। इसी के द्वारा 'साध्य' 'आग' का ज्ञान होता है। 'धुआँ के साथ आग का रहना' एक प्रकार से धुआँ और आग के बीच में एक 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को प्रकट करता है। इसी 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को **'व्याप्ति'** कहते हैं। व्याप्ति को स्मरण करते हुए दूसरी बार धुआँ को पर्वत में देखने के ज्ञान को **'परामर्श'** या **'लिंगपरामर्श'** कहते हैं। इस अनुमान में 'पर्वत' 'आश्रय' या 'पक्ष' कहा जाता है। 'आग' को 'साध्य' तथा 'धुआँ' को 'लिंग' कहते हैं। 'रसोई-घर' को 'दृष्टान्त' कहते हैं, इसे 'सपक्ष' भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—'अन्वय' और 'व्यतिरेक'। व्यतिरेक अनुमान के उदाहरण को 'विपक्ष' कहते हैं। इस अनुमान का पूरा रूप है, जैसा कि पहले भी कहा गया है—

प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,

हेतु—क्योंकि (पर्वत में) धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है, जैसे—रसोईघर (अन्वय); जहाँ आग नहीं है, वहाँ धुआँ नहीं है, जैसे जलाशय (व्यतिरेक),

उपनय—इस पर्वत में (व्याप्ति-विशिष्ट) धुआँ है,

निगमन—इसलिए पर्वत में आग है।

इस 'अनुमान' के दो मुख्य अंग हैं—**'व्याप्ति'** और **'पक्षधर्मता'**, अर्थात् व्याप्ति से युक्त 'हेतु' का 'पक्ष' में होना। 'पक्षधर्मता' के ज्ञान को **'परामर्श'** कहते हैं। इस अनुमान में तीन बार 'लिंग' का दर्शन होता है। प्रथम बार धुआँ का दर्शन 'रसोई-

घर में' हुआ, द्वितीय बार 'पर्वत' में और तृतीय बार उसी पर्वत में 'आग से व्याप्त धुआँ' का दर्शन होता है और इसके पश्चात् ही 'अनुमिति' हो जाती है। अतएव **'तृतीयलिंगपरामर्शः अनुमानम्'**—'अनुमान' का लक्षण किया जाता है। उपर्युक्त पाँच अवयवों से युक्त अनुमान के स्वरूप को गौतम ने **'परम न्याय'** कहा है, क्योंकि इन पाँच वाक्यों में चारों प्रमाणों का समावेश है। अर्थात् एक प्रकार से अनुमिति, अर्थात् अनुमान, के द्वारा निर्णीत विषय सभी प्रमाणों के आधार पर निर्भर है।

अनुमान के भेद—एक प्रकार से अनुमान के भेद ऊपर कहे जा चुके हैं। अन्य प्रकार से भी इसके भेद किये जाते हैं, जैसे—

(१) **पूर्ववत्**—'पूर्व', अर्थात् 'पहले', अर्थात् 'कारण'। पहले के अनुसार जो अनुमान हो, अर्थात् 'कारण' से 'कार्य' के अनुमान को **'पूर्ववत्'** अनुमान कहते हैं। जैसे—मेघ को जल से भरा हुआ देखकर 'वृष्टि होगी', ऐसा कोई अनुमान करे तो उसे **'पूर्ववत्'** अनुमान कहेंगे।

(२) **शेषवत्**—'शेष', अर्थात् 'कार्य'। 'कार्य' को देखकर 'कारण' के अनुमान को **'शेषवत्'** कहते हैं। जैसे—नदी में जल के आधिक्य तथा वेग को देखकर 'कहीं वृष्टि हुई होगी', ऐसे अनुमान को 'शेषवत्' कहते हैं।

'शेषवत्' का दूसरा भी अर्थ शास्त्रकारों ने किया है। 'प्रसक्त', अर्थात् सम्भावितों का प्रतिषेध किये जाने पर, अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर, जो बच जाय, उसे 'शेष' कहते हैं। इस 'शेष' के द्वारा जो अनुमान किया जाय, वह **'शेषवत्'** अनुमान कहा जाता है। जैसे—विशेष गुण होने के कारण 'शब्द' काल, दिक् तथा मन में नहीं है, श्रोत्रग्राह्य होने के कारण 'शब्द' क्षिति, अप्, तेज, वायु तथा आत्मा का विशेष गुण नहीं हो सकता। शेष बचा 'आकाश', नवम द्रव्य कोई दूसरा है नहीं। अतएव 'शब्द' आकाश का गुण है। यह **'शेषवत्'** अनुमान से सिद्ध होता है।

एक लोटा समुद्र के जल में नमक को पाकर समुद्र के शेष जल में भी नमक है,—ऐसा अनुमान भी **'शेषवत्'** कहा जाता है।

(३) **सामान्यतो दृष्ट**—साधारण रूप से परोक्ष वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान हो, उसे **'सामान्यतो दृष्ट'** अनुमान कहते हैं। जैसे—सूर्य को

प्रातःकाल पूर्व दिशा में देखने के पश्चात् सायंकाल को पुनः पश्चिम दिशा में देखकर अनुमान किया जाता है कि 'सूर्य में गति है'।

एक स्थान में आम के वृक्ष में मञ्जरी को देखकर एक मनुष्य अनुमान करता है कि 'सभी आम के वृक्षों में मञ्जरियाँ हो गयी हैं।' ये सब **'सामान्यतो दृष्ट'** के उदाहरण हैं।

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि 'पूर्ववत्', 'शेषवत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट', ये सभी शब्द 'पारिभाषिक' हैं। इनके यथार्थ अर्थ का ज्ञान प्रायः लुप्त हो गया है। इसी लिए सभी दर्शनों में इन शब्दों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में दो प्रकार से व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि वात्स्यायन को तथा अन्य भाष्यकारों को इन शब्दों के वास्तविक अर्थ का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था।

ऊपर कहा गया है कि 'दृष्टान्त' दो प्रकार का होता है—'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक'। इसी कारण अनुमान के भी दो भेद मानते हैं—'अन्वयानुमान' तथा 'व्यतिरेकानुमान'। इनके उदाहरण नीचे दिये हैं—

अन्वय—प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,
हेतु—क्योंकि वहाँ धुआँ है।
दृष्टान्त—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है; जैसे—रसोईघर।

व्यतिरेक—प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,
हेतु—क्योंकि वहाँ धुआँ है।
दृष्टान्त—जहाँ आग नहीं है, वहाँ धुआँ भी नहीं है, जैसे—जलाशय।

'उपनय' और **'निगमन'** वाक्य में विशेष अन्तर नहीं है। एक में भावरूप एवं दूसरे में अभावरूप उपनय वाक्य होते हैं।

'हेतु' के आधार पर ही तो अनुमान होता है। यदि 'हेतु' विशुद्ध हो, दोषों से रहित हो तो अनुमान शुद्ध होता है, अन्यथा वह 'अनुमान' दूषित होता है। और उस हेतु को 'हेत्वाभास' कहते हैं। इसलिए जिस अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों दृष्टान्त हों, उसके 'हेतु' को पाँच नियमों का पालन करना पड़ता है—

हेतु के दोषों से बचने का नियम

(१) **पक्षवृत्ति**—हेतु को 'पक्ष' में रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'पर्वत' में रहना।

(२) **सपक्षवृत्ति**—हेतु को 'सपक्ष' में रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'रसोई-घर' में रहना।

(३) **विपक्षाद्व्यावृत्ति**—हेतु को 'विपक्ष' में नहीं रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'जलाशय' में न रहना।

(४) **अबाधितविषय**—पक्ष में साध्य का अभाव किसी बलवत्तर प्रमाण से प्रमाणित न हो। जैसे—'आग शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे—जल'।

इस अनुमान में साध्य है 'शीतल'। उसे 'पक्ष', अर्थात् 'आग' में प्रमाणित करना है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यह 'बाधित' हो जाता है। इसलिए यह अनुमान, अर्थात् हेतु **'बाधितविषय'** हुआ। अनुमान को **'अबाधितविषय'** होना चाहिए।

(५) **असत्प्रतिपक्ष**—किसी अनुमान में जो 'हेतु' हो उसका 'प्रतिपक्ष', अर्थात् विरुद्ध हेतु, जिससे उस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की सिद्धि हो जाय, न होना चाहिए। जैसे—

शब्द अनित्य है,

क्योंकि वह नित्यधर्म से रहित है। जैसे—घट।

इस अनुमान में हेतु है 'नित्यधर्म से रहित होना।'

इस अनुमान का 'प्रतिपक्ष' होगा—

शब्द नित्य है,

क्योंकि वह 'अनित्यधर्म से रहित है'। जैसे—परमाणु।

जिस किसी अनुमान में 'हेतु' उक्त नियमों का पालन न करे तो वह हेतु 'असत्-हेतु', अर्थात् **'हेत्वाभास'** (=हेतु के समान देखने में तो है, किन्तु वास्तव में हेतु नहीं है) कहलाता है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास के भेद—यह 'हेत्वाभास' पाँच प्रकार का है, जैसे—(१) 'असिद्ध', (२) 'विरुद्ध', (३) 'अनैकान्तिक', (४) 'प्रकरणसम' तथा (५) 'कालात्ययापदिष्ट'।

१—**असिद्ध**—**'असिद्ध'** हेत्वाभास उस अनुमान-वाक्य में है, जिसमें हेतु की वास्तविकता, अर्थात् सचाई अनिश्चित हो। इसके तीन निम्नांकित भेद होते हैं—

(क) **आश्रयासिद्ध** या **पक्षासिद्ध**—हेतु को पक्ष में रहना उचित है। किन्तु जहाँ पक्ष ही एक काल्पनिक वस्तु हो, वास्तव में उसका अस्तित्व ही न हो, ऐसे पक्ष में हेतु ही किस प्रकार रह सकता है? इसलिए यहाँ 'पक्ष', जिसे 'आश्रय' (हेतु का आश्रय) भी कहते हैं, असिद्ध है, अर्थात् है ही नहीं। अतएव यह **'आश्रयासिद्ध'** या **'पक्षासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—आकाश का कमल सुगन्ध वाला है,

हेतु—क्योंकि (यह) कमल है।

उदाहरण—जो कमल है, वह सुगन्ध वाला है; जैसे—तालाब में उगने वाला कमल।

यहाँ 'आकाश का कमल' **पक्ष** है, 'सुगन्ध वाला होना' **साध्य** है, '(वह) कमल है', **हेतु** है और 'तालाब में उगने वाला कमल' **दृष्टान्त** है। हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है। किन्तु यहाँ 'आकाश का कमल' जो **पक्ष** है, उसी का होना **असम्भव** है, आकाश में फूल होते ही नहीं। इसलिए उसमें हेतु का रहना भी एक कल्पनामात्र है और इसी लिए वह सुगन्ध वाला भी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—मणि से बना हुआ पर्वत आग वाला है,

हेतु—क्योंकि उसमें (मणि के पर्वत में) धुआँ है।

उदाहरण—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है; जैसे—रसोई-घर में।

यहाँ 'मणि से बना हुआ पर्वत' **पक्ष** है, 'आग वाला होना' **साध्य** है, 'धुआँ का होना' **हेतु** है।

किन्तु 'मणि से बना हुआ पर्वत' वास्तव में है ही नहीं। वह तो केवल काल्पनिक है। इसलिए 'पक्ष' हेतु का आश्रय नहीं हुआ और यह अनुमान **'आश्रयासिद्ध'** नाम के 'हेत्वाभास' से दूषित है।

(ख) **स्वरूपासिद्ध**—जिस अनुमान में हेतु का आश्रय (पक्ष) में रहना सर्वथा असम्भव हो, वह 'स्वरूपासिद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि वह (शब्द) आँख से देखा जाता है।

उदाहरण—जो आँख से देखा जाता है, वह अनित्य है, जैसे—घड़ा, पुस्तक, कलम, इत्यादि।

यहाँ 'शब्द' **पक्ष** है, 'अनित्य होना' **साध्य** है, 'आँख से देखा जाना' **हेतु** है और 'घड़ा' आदि **दृष्टान्त** है। यह सभी को मालूम है कि हेतु, अर्थात् 'आँख से देखा जाना' शब्द, अर्थात् पक्ष में नहीं है, क्योंकि शब्द को कोई भी आँख से नहीं देखता। वह तो कान से ही सुना जाता है। इसलिए हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है। अतएव यहाँ **'स्वरूपासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है।
दूसरा उदाहरण लीजिए—

प्रतिज्ञा—जलाशय द्रव्य है,

हेतु—क्योंकि उसमें (जलाशय में) धुआँ है।

उदाहरण—जहाँ धुआँ है, वहाँ द्रव्य है, जैसे—सुलगती हुई लकड़ी या रसोईघर।

यहाँ हेतु, अर्थात् धुआँ जल में नहीं है, धुआँ तो आग के साथ रहने के कारण जल में रह ही नहीं सकता। इसलिए यह हेतु **'स्वरूपासिद्ध'** है।

तीसरा उदाहरण भी देखिए—

प्रतिज्ञा—आत्मा अनित्य है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होती है।

उदाहरण—जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है, जैसे—पुस्तक, घड़ा, कलम, आदि।

यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु आत्मा में असम्भव है, क्योंकि आत्मा नित्य है। इसलिए हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है।

(ग) **'व्याप्यत्वासिद्ध'**—जिस अनुमान में हेतु का साध्य के साथ 'व्याप्य' (व्याप्त) होना ही असिद्ध हो, वह **'व्याप्यत्वासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है। यह दो प्रकार का है—

एक तो (अ) (हेतु और साध्य के बीच में) व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव होने से और दूसरा, (आ) हेतु में **'उपाधि'** के होने से।

(अ) **व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से**—प्रत्येक अनुमान का एक प्रमुख अंग है—'व्याप्ति'। हेतु और साध्य में 'व्याप्ति' का निश्चय होने पर ही अनुमान किया जा सकता है। 'व्याप्ति' का निर्णय करने के लिए एक 'दृष्टान्त' की आवश्यकता होती है। यह दृष्टान्त वही हो सकता है जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों ही स्वीकार करें। 'पर्वत आग वाला है, क्योंकि उसमें धुआँ है।' इस अनुमान में 'रसोईघर' **दृष्टान्त** है। इसी दृष्टान्त के आधार पर धुआँ और आग में 'व्याप्ति' का होना निश्चित किया जाता है। इस 'व्याप्ति' के निश्चित करने में यदि प्रमाण न हो तो वह 'व्याप्ति' अनिश्चित रहेगी और उसके आधार पर अनुमान की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे—बौद्धमत के मानने वाले अनुमान करें कि—

प्रतिज्ञा—शब्द क्षणिक है, अर्थात् एक ही क्षण रहने वाला है,

हेतु—क्योंकि वह सत् है।

उदाहरण—जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे—बादल का एक टुकड़ा।

उपनय—(उपर्युक्त व्याप्ति से युक्त) सत् शब्द में है।

निगमन—इसलिए शब्द क्षणिक है।

इस अनुमान में 'सत् होना' **हेतु** है, 'क्षणिक' **साध्य** है और 'बादल का एक टुकड़ा' **दृष्टान्त** है। इसमें 'सत्' और 'क्षणिक' के बीच में 'व्याप्ति' रहनी चाहिए, जिसे प्रमाणित करने के लिए 'बादल का एक टुकड़ा' के रूप में एक दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ 'दृष्टान्त' वही हो सकता है, जिसमें 'सत् और क्षणिक होना' दोनों का ही रहना सिद्ध हो। किन्तु उक्त दृष्टान्त में 'सत् और क्षणिक होना' इन दोनों का ही रहना सिद्ध नहीं है, क्योंकि जितनी वस्तुएँ सत्, अर्थात् विद्यमान हैं, वे तो एक से अधिक क्षणों तक रहनेवाली होती हैं। फिर वे क्षणिक, अर्थात् एक क्षणमात्र रहने वाली कैसे हो सकती हैं? यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। दृष्टान्त के अशुद्ध होने के कारण व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता और इसलिए अनुमान भी ठीक नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त अनुमान दोष-युक्त है।

(आ) **हेतु में उपाधि के रहने से**—साधारण रूप से सभी अनुमानों में 'साध्य' व्यापक होता है और 'हेतु', अर्थात् साधन व्याप्य होता है। किन्तु जो साध्य का व्यापक हो अथवा साध्य के साथ-साथ उसी तरह व्यापक (सम-व्यापक) हो तथा हेतु का 'अव्यापक' (व्याप्य) हो, वह **'उपाधि'** कहा जाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—पर्वत धुआँ वाला है,

हेतु—क्योंकि उसमें आग है।

उदाहरण—जहाँ आग है, वहाँ धुआँ है, जैसे रसोईघर में।

उपनय—(व्याप्ति से युक्त) आग पर्वत में है,

निगमन—इसलिए पर्वत में धुआँ है।

इस अनुमान में 'आग' हेतु है और 'धुआँ' साध्य है। अच्छे अनुमान के अनुसार साध्य, अर्थात् धुआँ को, व्यापक तथा हेतु,

अर्थात् आग को व्याप्य होना चाहिए। किन्तु ऐसा यहाँ नहीं है। धुआँ कभी भी आग की अपेक्षा अधिक स्थानों में नहीं रह सकता है। यह सर्वदा आग की अपेक्षा व्याप्य ही रहेगा। अब यह देखना है कि वास्तव में यह साधन (हेतु) यहाँ साध्य को सिद्ध कर सकता है या नहीं।

यहाँ 'आग' हेतु है। केवल आग से धुआँ नहीं होता, किन्तु भीगी लकड़ी से युक्त आग से होता है। यहाँ 'भीगी लकड़ी' धुआँ का 'प्रयोजक' है, न कि आग। इसलिए 'भीगी लकड़ी' ही इस अनुमान में **'उपाधि'** है और जिस अनुमान में **'उपाधि'** होती है, वह दोषयुक्त अनुमान है।

'भीगी लकड़ी' धुआँ-रूपी साध्य के साथ-साथ रहनेवाली है। इसलिए यह साध्य-सम (समान) व्यापक है। अर्थात् जहाँ धुआँ है, वहाँ भीगी लकड़ी है और हेतु है 'आग'। भीगी लकड़ी इस हेतु का अव्यापक, अर्थात् व्याप्य है। अर्थात् भीगी लकड़ी की अपेक्षा अधिक स्थानों में रहनेवाली आग है। इस प्रकार **'उपाधि'** का लक्षण 'भीगी लकड़ी' में लगता है।

'उपाधि' का दूसरा उदाहरण देखिए—

मैत्री नाम की किसी स्त्री के सातों पुत्रों को श्याम रंग का देखकर, मैत्री के वर्तमान आठवें गर्भ के सम्बन्ध में कोई अनुमान करता है कि—

प्रतिज्ञा—यह (आठवें गर्भ का जीव) श्याम रंग का है;
हेतु—क्योंकि (यह) मैत्री का पुत्र है।
उदाहरण—जो मैत्री का पुत्र है, वह श्याम रंग का है; जैसे—एक यह (दिखाकर) पुत्र।

इस अनुमान में 'मैत्री का पुत्र' हेतु है। किन्तु मैत्री-पुत्र होने से ही श्याम होना स्वाभाविक नहीं है। श्याम तो अनेक कारणों से हो सकता है। जैसे—गर्भावस्था में यदि माता शाक भोजन करे तो उसकी वह सन्तान श्याम रंग की होगी। इसके अति-

रिक्त पूर्व-जन्म का कर्म-फल भी श्याम होने का कारण हो सकता है। इसलिए 'शाक आदि अन्न के भोजन का फल' ही यहाँ **'उपाधि'** है। अतएव 'मैत्री का पुत्र' यह हेतु अशुद्ध है और यह अनुमान दोषयुक्त है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—यज्ञ में की गयी हिंसा अधर्म का साधन है,

हेतु—क्योंकि (वह) हिंसा है।

उदाहरण—जहाँ हिंसा है, वहाँ अधर्म का साधन है; जैसे—यज्ञ के बाहर की गयी हिंसा।

यह नास्तिकों की तरफ से कहा जाता है। इसमें 'हिंसा का होना' हेतु है। 'अधर्म का साधन' है साध्य। यहाँ हेतु अशुद्ध है, क्योंकि 'हिंसा' केवल हिंसा होने ही से अधर्म का साधन नहीं होती, किन्तु 'निषिद्ध' होने से, अर्थात् यज्ञ में निषिद्ध होने से। अर्थात् यज्ञ में निषिद्ध हिंसा का करना अधर्म साधन है। इसलिए 'हिंसा' और 'अधर्म-साधन' इन दोनों में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है; किन्तु यह तो 'उपाधि' के होने के कारण है। उपाधि तो 'निषिद्ध का होना' है। इसलिए यह अनुमान दूषित है।

२—**विरुद्ध**—जो हेतु साध्य के विपरीत वस्तु को सिद्ध करे, वह **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होता है।

उक्त अनुमान में 'उत्पन्न होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है।

यह 'उत्पन्न होना' हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है। इसलिए यह हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य के विपरीत 'अनित्य' को सिद्ध करता है। इसलिए यह **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—देवदत्त चलने वाला है,

हेतु—क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान को कभी नहीं जाता।

यहाँ 'एक स्थान से दूसरे स्थान को कभी नहीं जाता' हेतु है। यह हेतु 'चलने वाला'-रूपी साध्य के 'विपरीत-साध्य' 'न चलने वाला' का 'हेतु' होता है। इस प्रकार इस अनुमान का हेतु उक्त साध्य के विपरीत-साध्य का साधक होने के कारण **विरुद्ध** नाम का **'हेत्वाभास'** कहा जाता है।

३—**अनैकान्तिक**—इसका दूसरा नाम **'सव्यभिचार'** है। यह तीन प्रकार का होता है—

(अ) **साधारण अनैकान्तिक**—जो 'हेतु' पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष, इन तीनों में रहे, वह **'साधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि वह प्रमेय (प्रमा का विषय) है।

यहाँ 'प्रमेय होना' हेतु शब्द-रूपी 'पक्ष' में है, आकाश-रूपी 'सपक्ष' में है तथा घट, पट आदि अनित्य द्रव्य-रूपी 'विपक्ष' में भी है। इस प्रकार यह हेतु **'साधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है। अच्छे हेतु 'विपक्ष' में नहीं रहते।

(आ) **असाधारण अनैकान्तिक**—जो हेतु केवल 'पक्ष' में रहे और 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' में न रहे, वह हेतु **'असाधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—पृथ्वी नित्य है,

हेतु—क्योंकि (वह) गन्ध रखने वाली है।

यहाँ 'गन्ध रखने वाली होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है।

यह 'हेतु' केवल पृथ्वी-रूपी 'पक्ष' में है। नित्यरूपी आकाश आदि 'सपक्ष' में तथा जल-रूपी अनित्य द्रव्य जो 'विपक्ष' हैं, उनमें नहीं रहता, इसलिए यह **'असाधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

(इ) **अनुपसंहारी**—जिस हेतु में न तो अन्वय दृष्टान्त हो और न व्यतिरेक दृष्टान्त हो, वह **'अनुपसंहारी'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—सभी अनित्य हैं,

हेतु—क्योंकि (वे) प्रमेय हैं।

इस अनुमान में 'प्रमेय होना' हेतु है। यहाँ न तो अन्वय-दृष्टान्त है और न व्यतिरेक-दृष्टान्त, क्योंकि 'सभी' 'पक्ष' में सम्मिलित हैं। दृष्टान्त तो 'पक्ष' से अलग रहने वाला होता है।

४—**प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष**—जिस हेतु में साध्य के विपरीत को सिद्ध करने का दूसरा हेतु उपस्थित हो, वह **'प्रकरणसम'** या **'सत्प्रतिपक्ष'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि इसमें नित्यधर्म नहीं है।

इस अनुमान में हेतु है 'नित्यधर्म का न रहना'। इसी के अनुसार दूसरा भी हेतु यहाँ कहा जा सकता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि इसमें अनित्यधर्म नहीं है। अथवा जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि यह सुनाई देने वाला है। जैसे—शब्दत्व। इसका दूसरा भी हेतु उपस्थित किया जा सकता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि यह कार्य है, घट के समान।

इस प्रकार के अनुमान में दोनों हेतु समान बल रखने वाले होते हैं। इसलिए आपस में प्रतिपक्षी होने के कारण वे अनुमान के फल को नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार यह **'सत्प्रतिपक्ष'** या **'प्रकरणसम'** नाम का 'हेत्वाभास' होता है।

५—**बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट**—वह अनुमान, जिसमें दृढ़ प्रमाणों के द्वारा पक्ष में साध्य का होना बाधित हो, अर्थात् सिद्ध न हो, वह **'बाधितविषय'** या **'कालात्ययापदिष्ट'** नाम के 'हेत्वाभास' से दूषित है। जैसे—

प्रतिज्ञा—आग गरम नहीं है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होती है, जैसे—जल।

यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु है। 'गरम न होना' साध्य है। इस साध्य का पक्ष में होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। सभी प्रत्यक्ष से जानते हैं कि 'आग' गरम होती है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—घड़ा क्षणिक है;

हेतु—क्योंकि वह सत् है।

यहाँ 'सत्' हेतु है और 'क्षणिक' साध्य है। यह साध्य घड़ा-रूपी 'पक्ष' में नहीं है। प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि 'घड़ा' एक क्षण से अधिक समय तक स्थिर रहता है। इसलिए इस अनुमान का विषय, अर्थात् साध्य, बाधित है। अतएव यह **'बाधितविषय'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

ये ही पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' तर्कशास्त्र में माने जाते हैं।

इन्हीं को उलट-पुलट कर देने से इनके कुछ और भी भेद हो जाते हैं।

इसी प्रकार **'अतिव्याप्ति'** (लक्ष्य से अधिक स्थानों में रहना), **'अव्याप्ति'** (सभी लक्ष्यों में भी न रहना) तथा

'असम्भव' (जिसका लक्ष्य में रहना सर्वथा असम्भव हो), ये तीन दोष 'हेतु' में होते हैं। ये भी इन्हीं हेत्वाभासों के अन्तर्गत हैं।

अतिव्याप्ति—जैसे—

प्रतिज्ञा—यह गाय है,

हेतु—क्योंकि यह पशु है।

यहाँ 'पशु होना' हेतु है और 'गाय' साध्य है। यह हेतु न केवल अपने लक्ष्य 'गाय' में है, किन्तु अन्य जन्तुओं में भी है। इस प्रकार यह 'हेतु' पक्ष, सपक्ष और विपक्ष, सभी में वर्तमान है। इसलिए यह **'साधारण अनैकान्तिक'** या **'अतिव्याप्ति'** नाम का दोष है।

अव्याप्ति—जैसे—

प्रतिज्ञा—यहाँ गाय है,

हेतु—क्योंकि यह काले रंग की है।

यहाँ 'काले रंग की होना' हेतु है। यह हेतु सभी गायों (लक्ष्यों) में तो नहीं है। बहुत सी 'गायें' सफेद और लाल रंग की भी होती हैं। इसलिए यह हेतु **अव्याप्ति** दोष से युक्त है। यह एक प्रकार का 'असिद्ध' हेत्वाभास है, जिसे 'भागासिद्ध' कहते हैं और जो 'स्वरूपासिद्ध' में ही परिगणित होता है।

असम्भव—जैसे—

प्रतिज्ञा—यह गाय है,

हेतु—क्योंकि यह एक खुर वाली है।

यहाँ 'एक खुर वाली होना' हेतु है, जो कि किसी भी गाय में नहीं है। गाय के तो प्रत्येक पैर में दो खुर होते हैं। इसलिए यह अनुमान **'असम्भव'** नाम के दोष से युक्त है। यह भी 'स्वरूपासिद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है।

हेत्वाभासों का आकार——

हेत्वाभास
असिद्ध
विरुद्ध
अनैकान्तिक
सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम)
बाधितविषय (कालात्ययापदिष्ट)
आश्रयासिद्ध
स्वरूपासिद्ध (भागासिद्ध)
व्याप्यत्वासिद्ध
साधारण
असाधारण
अनुपसंहारी
अतिव्याप्ति
अव्याप्ति
असम्भव
व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से
उपाधि के रहने से
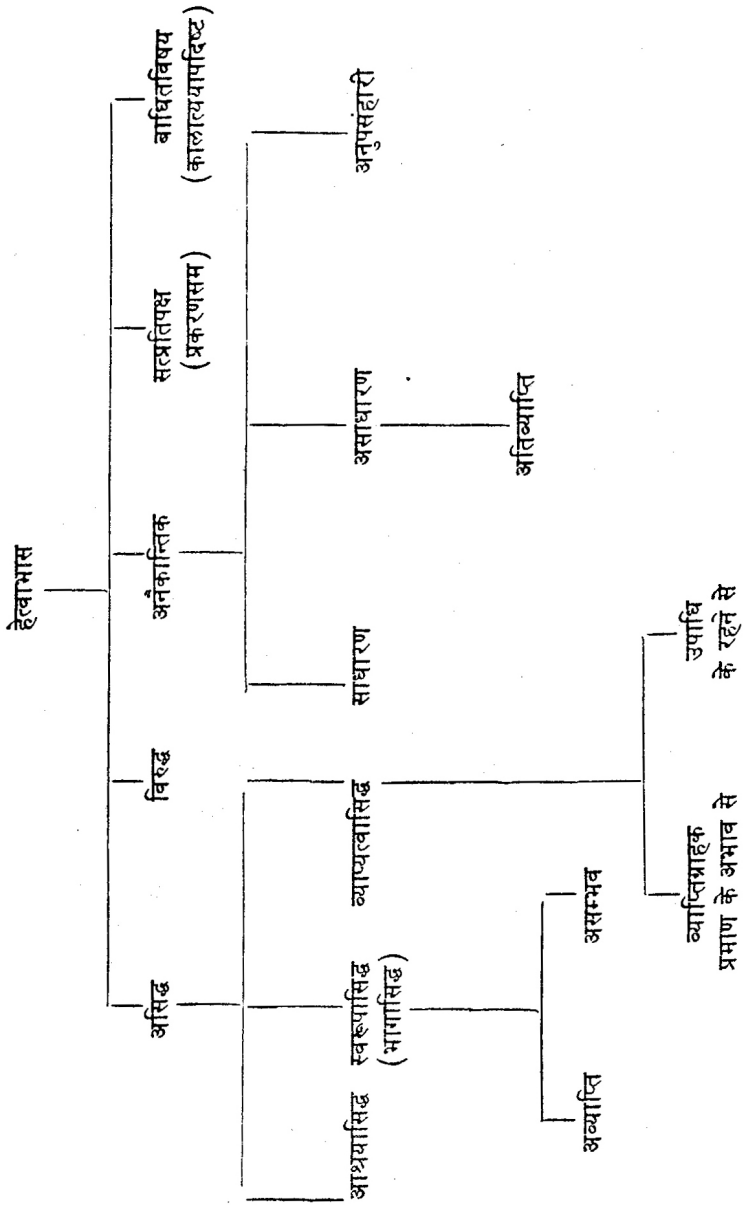
उपमानप्रमाण

'उपमान' भी एक प्रकार का प्रमाण तर्कशास्त्र में माना गया है। यह दो मुख्य वस्तुओं के बीच में विद्यमान साधारण धर्म के आधार पर निर्भर है। किसी संज्ञा शब्द का उससे बोध कराने वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं। जैसे—'गवय' नाम के पदार्थ को न जानते हुए, किसी जंगली मनुष्य के द्वारा 'गाय' के समान **'गवय'** होता है, यह सुन कर वन में जाने पर जंगली पुरुष के कहे हुए वाक्य को स्मरण कर, गाय के समान एक जन्तु को जंगल में देख कर, 'यही गवय नाम का जन्तु है' ऐसा ज्ञान किसी मनुष्य की आत्मा में उत्पन्न होता है। इसी ज्ञान को **'उपमिति'** कहते हैं।

उपमान का स्वरूप

यहाँ गाय और गवय, इन दोनों में जो सादृश्य है, उसी के आधार पर यह 'उपमान' निर्भर है। गवय-रूपी संज्ञा-शब्द को गवय-रूपी जन्तु के साथ संबद्ध करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञान **'उपमिति'** है।

शब्दप्रमाण

आप्त पुरुष के वाक्य को 'शब्द', अर्थात् **शब्द-प्रमाण,** कहते हैं। तत्त्व को यथार्थ देखने वाले या यथार्थ कहने वाले 'आप्त' कहे जाते हैं। पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं, जैसे—गौ को लाओ। जिस शब्द में किसी सम्बद्ध अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति हो, उसे 'पद' कहते हैं। 'इस पद से यही अर्थ समझा जाय', इस प्रकार के ईश्वर के संकेत को 'शक्ति' कहते हैं। शास्त्रकारों का कहना है कि किस शब्द से कौन-सा अर्थ समझना चाहिए, यह संकेत ईश्वर ने ही कर दिया है।

शब्दप्रमाण का स्वरूप

वाक्यार्थबोध के ये नियम हैं—वाक्य के अर्थ के ज्ञान (**वाक्यार्थबोध**) के लिए वाक्य में 'आकांक्षा', 'योग्यता' तथा 'सन्निधि' का होना आवश्यक है।

(१) **आकांक्षा**—दूसरे पद के उच्चारण हुए बिना जब किसी एक पद का अभिप्राय समझ में न आवे, तो इन पदों के परस्पर सम्बन्ध को **'आकांक्षा'** कहते हैं। क्रिया-पद के बिना कारक-पद की 'आकांक्षा' है। अर्थात् एक पद के उच्चारण को सुन कर सुनने वाले के मन में जो उसके सम्बन्ध में अधिक जानने की इच्छा, अर्थात् दूसरे पदों को सुनने की 'आकांक्षा', उत्पन्न होती है, उसे ही **'आकांक्षा'** कहते हैं।

वास्तव में यह 'आकांक्षा' तो चैतन्ययुक्त सुनने वाले के मन में होती है, किन्तु यह पद के उच्चारण और श्रवण के कारण उत्पन्न होती है। इसलिए उपचार से शब्दों को आकांक्षा वाला कहा गया है। जैसे—'देवदत्त' यह सुनकर किसी के मन में देवदत्त के सम्बन्ध में अधिक जानने की एक इच्छा उत्पन्न होती है—जिसकी पूर्ति पुनः दूसरे शब्द के उच्चारण के बिना नहीं हो सकती है। जैसे—'जाता है'। 'जाता है', इस पद को सुनकर वह 'आकांक्षा' निवृत्त हो जाती है, क्योंकि इन दोनों पदों से एक सम्बद्ध ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ये दोनों पद परस्पर 'साकांक्ष' कहे जाते हैं। केवल कारक-पदों से ही कोई अर्थबोध नहीं होता है। जैसे—पुरुष, गौ, हाथी इत्यादि, क्योंकि इन शब्दों में 'आकांक्षा' नहीं है।

(२) **योग्यता**—पदों के उच्चारण से उनमें परस्पर अर्थ का बोध होने की शक्ति **'योग्यता'** कही जाती है। जैसे 'आग से भूमि सींची जाती है।' इन शब्दों को सुनकर इनसे उत्पन्न जो एक अर्थ होता है, वह बाधित है, अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ ज्ञात नहीं होता, क्योंकि सींचना तो जल से होता है, आग से नहीं। इसलिए इन शब्दों में 'योग्यता' नहीं है और ये शब्द 'प्रमाण' नहीं हैं, अर्थात् इन शब्दों से कोई सम्बद्ध ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु 'पुस्तक लाओ', ऐसा कहने से एक सम्बद्ध अर्थ का बोध होता है, क्योंकि इन शब्दों में 'योग्यता' है। इसलिए बिना **'योग्यता'** से युक्त वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता।

(३) **सन्निधि**—अर्थात् समीपस्थ पदों को बहुत विलम्ब के बिना (अर्थात् एक साथ) उच्चारण करना **'सन्निधि'** कही जाती है। इसे ही **'आसत्ति'** भी कहते हैं। किसी आप्तवाक्य के द्वारा एक सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान 'शब्द-प्रमाण' से होता है। इसलिए यदि एक किसी वाक्य का एक शब्द प्रातः काल, दूसरा शब्द मध्याह्न में और तीसरा शब्द सायंकाल को उच्चारण किया जाय, तो उस वाक्य से कोई सम्बद्ध अर्थ का बोध नहीं हो सकता। किन्तु यदि वे ही पद बिना विलम्ब के एक साथ उच्चारण किये जायँ, तो एक सम्बद्ध अर्थ का बोध हो जायगा, जैसे—'देवदत्त एक गाय लाता है।' ये सभी पद एक साथ उच्चारण किये जाने पर सम्बद्ध अर्थ देते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए **'सन्निधि'** भी शाब्दबोध में आवश्यक है।

(४) **तात्पर्यज्ञान**—इन तीनों के अतिरिक्त **'तात्पर्यज्ञान'** भी पदों से एक सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने में कारण होता है। जैसे—भोजन करते हुए कोई मनुष्य **'सैन्धव** ले आओ' ऐसा कहे, तो जब तक सुनने वाले को उन शब्दों का **तात्पर्य** मालूम न हो, तब तक वह ठीक-ठीक यह अर्थ नहीं समझ सकता कि बोलने वाला 'सैन्धव' 'नमक' चाहता है, क्योंकि दाल में नमक की कमी है या 'सैन्धव', अर्थात् सिन्धु देश का घोड़ा, लाने को कहता है, जिसमें भोजन कर शीघ्र किसी आवश्यक कार्य के लिए घोड़े पर जाया जा सके। यह निश्चय तो तभी किया जा सकता है, जब सुनने वाला बोलने वाले का **'तात्पर्य'** समझ सके।

पदों से सम्बद्ध अर्थ के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ये चार बातें आवश्यक हैं। इनके विना शाब्दवोध नहीं होता।

वाक्य दो प्रकार के माने गये हैं—(१) लौकिक एवं (२) वैदिक। **लौकिक वाक्य** यदि आप्तों के मुख से निकले, तब तो प्रमाण है, अन्यथा अप्रमाण है, क्योंकि लोक में सभी आप्त हो नहीं सकते। **वेद-वाक्य** तो ईश्वर-प्रणीत हैं और ईश्वर सर्वदा आप्त हैं। इसलिए वेद-वाक्य सभी प्रमाण हैं।

वाक्यों के भेद

ये चार प्रमाण तर्कशास्त्र में माने जाते हैं। इन्हीं के द्वारा सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने से ही तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है और तभी दुःखों से सब दिन के लिए मुक्ति मिलती है। यही दुःखों की चरम समाप्ति या परम सुख की प्राप्ति तर्कशास्त्र का परम ध्येय है। इसी के लिए प्रमाणों का ज्ञान आवश्यक है।

विचारणीय विषय है कि ये **'प्रमाण'** अपने 'प्रामाण्य' के लिए निरपेक्ष हैं अथवा किसी दूसरे पर निर्भर होते हैं। नैयायिकों का कहना है कि जब हमें दूर से जलाशय के चिह्न देख पड़ते हैं, तब वहाँ जल है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान हमें होता है और तब जल लाने के लिए हम वहाँ जाते हैं। वहाँ जाकर यदि हमें जल मिलता है, तब पूर्व में उत्पन्न हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चित माना जाता है। अर्थात् प्रमाण स्वयं प्रामाण्य का निर्णय नहीं करता है, वह अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण पर निर्भर रहता है। अतएव ये लोग **'परतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

प्रमाणों का प्रामाण्य

इसके विरुद्ध में मीमांसकों का कहना है कि जब हमारे चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होता है, तब वह घट 'ज्ञात' होता है और उस पर 'ज्ञातता' नाम का एक

धर्म उत्पन्न होता है। इस 'ज्ञातता' का प्रत्यक्ष मीमांसक को होता है। अब वे विचार करते हैं कि 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति के पूर्व 'ज्ञात' और 'ज्ञान' अवश्य हुआ होगा। तस्मात् **'अर्थापत्ति'** प्रमाण से 'ज्ञातता' के द्वारा उन्हें 'घट' का ज्ञान होता है। इसी ज्ञातता के द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय होता है। अतएव जिससे ज्ञान का ज्ञान हो तथा उसी से उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो तो वह ज्ञान **'स्वतःप्रमाण'** माना जाता है।

नैयायिक लोग 'ज्ञातता' को **'विषयता'** से पृथक् कोई धर्म नहीं स्वीकार करते और इसीसे 'ज्ञातता' को भी स्वीकार नहीं करते। कदाचित् स्वीकार भी किया जाय तो नैयायिकों का कहना है कि प्रत्येक ज्ञान के लिए एक 'ज्ञातता' की आवश्यकता है, तस्मात् 'ज्ञातता' के ज्ञान के लिए भी एक दूसरी 'ज्ञातता' की अपेक्षा है। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। अतः **परतः प्रामाण्य** ही मानना उचित है।

कार्य-कारणभाव

भारतीय दर्शन में कार्य-कारणभाव का विचार बहुत प्राचीन है। इसके सम्बन्ध में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से समय-समय पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में विचारणीय विषय है—कार्य और कारण में क्या सम्बन्ध है? 'कार्य' कारण में ही अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है या सर्वथा कारण से भिन्न है और इसकी नयी उत्पत्ति होती है?

दर्शनों में इन प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया गया है। न्यायमत में अपने दृष्टिकोण के अनुसार स्वभावतः कार्य और कारण में **'अत्यन्त भेद'** है।

असत्कार्य-वाद

इनके मत में 'कार्य' 'कारण' से सर्वथा भिन्न है। वह किसी रूप में कारण में नहीं रहता। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का 'प्रागभाव' कारण में है तथा नाश होने के पश्चात् उसका 'ध्वंसाभाव' हो जाता है। परन्तु यह सत्य है कि 'कार्य' 'समवाय-सम्बन्ध' के द्वारा कारण में सदैव रहता है। 'समवाय-सम्बन्ध' नित्य है। तस्मात् जब कभी कार्य उत्पन्न होता है, तब वह 'समवाय-सम्बन्ध' से अपने 'समवायि-कारण' में ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। इस रहस्य के कारण को नैयायिक नहीं कह सकते। यह उनके क्षेत्र से बाहर की बात है। वे तो इतना ही कह सकते हैं कि यह उन दोनों वस्तुओं का अपना 'स्वभाव' है। घट जब कभी उत्पन्न होता है, तब वह मृत्तिका में ही उत्पन्न

होता है। यह घट और मृत्तिका का अपना 'स्वभाव' है। अतएव ये लोग एक प्रकार से कार्य को अपने समवायि-कारण के साथ नित्य रूप में सम्बद्ध मान कर भी उससे कार्य को सर्वथा भिन्न मानते हैं, अर्थात् इनके मत में कारण और कार्य का सम्बन्ध **'अभेद-सहिष्णु अत्यन्तभेद'** है। इसी कारण ये लोग **'असत्कार्यवादी'** भी कहलाते हैं।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि चार्वाकों की तरह नैयायिक लोग भी किसी न किसी अवस्था में 'स्वभाव' की ही शरण लेते हैं। यह तो न्यायमत का दौर्बल्य है, या उसके दृष्टिकोण का फल है कि उत्पत्ति के पूर्व तथा पश्चात् 'कार्य' का अभाव मानते हैं और कारण से अत्यन्त भिन्न होने पर भी 'कार्य' अपने 'समवायि-कारण' से एक नित्यसम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध भी है। यह न्याय के लिए अवश्य रहस्य-पूर्ण है, जिसका समाधान वे नहीं कर सकते। अस्तु, इस बात को ध्यान में रख कर ही हम कारण का विचार यहाँ करते हैं।

तत्त्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस तत्त्व के कारण को भी समझें। बिना 'कारण' का कोई भी 'कार्य' संसार में नहीं हो सकता। प्रत्येक

कारण का लक्षण

कार्य के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है। किसी कार्य के होने के ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना हो और जो 'अन्यथासिद्ध' न हो, उसे ही **'कारण'** कहते हैं। जैसे—कपड़े को बुन कर तैयार होने के ठीक पहले नियत रूप से रहने वाला 'सूत', बुनने वाला 'जुलाहा' या 'यन्त्र', आदि उस कपड़े के **'कारण'** हैं। इसी प्रकार 'मिट्टी' घड़े का 'कारण' है। अनियत रूप से पहले रहने के कारण मिट्टी को लाने वाला 'बैल या गदहा', जिसका रहना अनियत है, उस घड़े का 'कारण' नहीं हो सकता है।

मिट्टी के साथ-साथ नियत रूप से रहने वाला 'लाल या पीला' मिट्टी का रंग घड़े के पूर्व में नियत रूप से रहने वाला 'कुम्हार का पिता' आदि घड़े के कारण नहीं

अन्यथासिद्ध के उदाहरण

हो सकते, क्योंकि इनके बिना भी घड़े की उत्पत्ति हो सकती है। जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके, वह 'कारण' नहीं कहा जा सकता। उसे न्यायशास्त्र में **'अन्यथासिद्ध'** कहते हैं। जैसे—घड़ा बनाने के लिए चाक को चलाने वाले दण्ड का 'रूप' तथा दण्ड में रहने वाला 'दण्डत्व सामान्य', इत्यादि। इन सबके न रहने पर भी घड़ा बन जाता है। अर्थात् जिस कार्य की उत्पत्ति के लिए जिसका नियत रूप से पहले रहना नितान्त आवश्यक हो, जिसके न रहने से वह कार्य उत्पन्न ही न हो सके और जो अन्यथासिद्ध न हो, वही **'कारण'** है।

कारण के तीन भेद हैं—(१) समवायि-कारण, (२) असमवायि-कारण तथा (३) निमित्त-कारण। **'समवायि-कारण'** वह कारण है जिस में समवाय-सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो। जैसे—सूतों में 'समवाय-सम्बन्ध' से कपड़ा उत्पन्न होता है। अतएव 'सूत' कपड़े का 'समवायि-कारण' हुआ। कपड़ों में समवाय-सम्बन्ध से (कपड़े का) 'रूप' उत्पन्न होता है। अतएव कपड़ा अपने 'रूप' का 'समवायि-कारण' है।

कारण के भेद

सम्बन्ध का विचार

सम्बन्ध दो प्रकार के हैं—संयोग तथा समवाय। दो भाव-द्रव्यों के परस्पर मिलन को संयोग-सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—हाथ और कलम का, पुस्तक और मेज का परस्पर एकत्रित होना **'संयोग-सम्बन्ध'** कहा जाता है।

संयोग-सम्बन्ध

वैशेषिक-दर्शन में पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, ये नौ 'द्रव्य' हैं। इन्हीं द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध होने से 'संयोग' हो सकता है। यह सम्बन्ध अनित्य है।

द्रव्य के भेद

जिन दो पदार्थों में से एक ऐसा हो कि जब तक वह विद्यमान रहे, अर्थात् नष्ट न हो जाय, तब तक वह दूसरे के ही आश्रित होकर स्थित रहे, वे दोनों पदार्थ **'अयुतसिद्ध'** कहे जाते हैं और इन अयुतसिद्धों में **'समवाय-सम्बन्ध'** होता है। जैसे—घड़ा और उसका रूप। 'रूप' जब तक रहेगा, तब तक वह 'घड़े' का आश्रित होकर ही रहेगा, अन्यथा नहीं। 'घड़े' के बिना उस घड़े का 'रूप' साधारण अवस्था में नहीं रह सकता।

अयुतसिद्ध और समवाय-सम्बन्ध

नैयायिकों ने निम्नलिखित जोड़ों को **'अयुतसिद्ध'** कहा है—

(१) अवयव और अवयवी, (२) गुण और गुणी, (३) क्रिया और क्रिया-वान्, (४) जाति और व्यक्ति तथा (५) नित्य-द्रव्य और विशेष। इनके प्रत्येक जोड़े में परस्पर 'समवाय-सम्बन्ध' है।

(१) **अवयव और अवयवी**—जितनी कार्य-वस्तुएँ हैं, सभी में अनेक भाग होते हैं, जो उस कार्य-वस्तु के **'अवयव'** कहे जाते हैं; जैसे—कपड़े में अनेक 'सूत' हैं। वे सभी 'सूत' उनसे उत्पन्न होने वाले कपड़े के **अवयव** कहे जाते हैं, और इन अवयवों से जो वस्तु बने, वह **'अवयवी'** कही जाती है;

जैसे---कपड़ा। सूतों से कपड़ा उत्पन्न होता है, अर्थात् कपड़ा उन सूतों में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहता है। 'अवयवी' अवयवों के आश्रित होकर ही रहता है।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि 'अवयव' 'कारण' है और 'अवयवी' उसका 'कार्य' है। न्याय-वैशेषिक-मत में कारण से कार्य भिन्न होता है। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का उसके कारण में अभाव (=प्राक् अभाव) है। अर्थात् ये लोग 'असत्कार्यवाद' को मानने वाले हैं; जैसा पहले कहा जा चुका है।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में अभाव रहने पर भी उस 'कारण' में उस कार्य की उत्पत्ति की **'योग्यता'** ये लोग मानते हैं और इन दोनों में, अर्थात् कारण और कार्य में, एक नित्य सम्बन्ध है, जिसे 'समवाय-सम्बन्ध' कहते हैं। इसलिए 'सूत' कपड़े का **'समवायि-कारण'** है।

(२) **गुण और गुणी**---'गुण' जिसमें रहे उसे 'गुणी' कहते हैं। 'गुण' बिना 'गुणी' के आश्रित हुए नहीं रह सकता। अतएव ये दोनों **'अयुत-सिद्ध'** हैं। 'गुण' कार्य है और 'गुणी' उस गुण का कारण है। जैसे---नील घड़ा। 'घड़ा' गुणी है, उसमें समवाय-सम्बन्ध से 'नील' गुण उत्पन्न होता है। ये दोनों---'गुण' और 'गुणी', **अयुतसिद्ध** हैं और इन दोनों में **'समवाय-सम्बन्ध'** है।

यहाँ यह ध्यान में रखना है कि न्याय-वैशेषिक-मत में द्रव्य जब उत्पन्न होता है, तो उसमें प्रथम क्षण में कोई भी गुण नहीं रहता। अर्थात् प्रथम क्षण में निर्गुण ही द्रव्य उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में उस द्रव्य में गुण उत्पन्न होता है। यही कारण है कि वह 'द्रव्य' उस 'गुण' का 'कारण' कहा जाता है। 'कारण' को 'कार्य' के पूर्व-क्षण में अवश्य रहना चाहिए। अतएव 'घड़ा' कम से कम एक क्षण के लिए अवश्य निर्गुण रहता है, दूसरे क्षण में उसमें 'नील' गुण उत्पन्न होता है।

(३) **क्रिया और क्रियावान्**---जब तक 'क्रिया' रहती है, वह किसी 'क्रिया वाले', अर्थात् द्रव्य के ही आश्रित होकर रहती है। अतएव 'क्रिया' और 'क्रियावान्'---ये दोनों **'अयुतसिद्ध'** हैं। जैसे---पेड़ का पत्ता और उसका हिलना। 'हिलना' क्रिया है और 'पत्ता' क्रियावान् है। 'हिलनारूप क्रिया'

'पत्तारूप क्रियावान्' के ही आश्रित होकर रह सकती है। इसलिए ये दोनों **अयुतसिद्ध** हैं और इनमें **'समवाय-सम्बन्ध'** है। 'क्रियावान्' द्रव्य ही होता है और वही 'कारण' भी है, और 'क्रिया' उसका 'कार्य' है।

(४) **जाति और व्यक्ति**—एक प्रकार की अनक वस्तुओं में, जैसे पृथक्-पृथक् रहने वाले अनेक घटों में, 'यह घट है', 'यह घट है', इस तरह एक प्रकार की बुद्धि जिसके कारण से होती है, उसे **'जाति'** या **'सामान्य'** कहते हैं। जैसे—अनेक मनुष्यों में, प्रत्येक में, पृथक्-पृथक् 'यह मनुष्य है,' यह इस प्रकार जो एक तरह की बुद्धि होती है, उसका कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के भिन्न होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति में एक 'मनुष्यत्व' धर्म है। वही 'मनुष्यत्व' **जाति** है, जो प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान रहती है। यह 'जाति' अपने अन्तर्गत के सभी व्यक्तियों में अलग-अलग रहती है। 'व्यक्ति' के बिना 'जाति' रह नहीं सकती। 'जाति' नित्य है और 'व्यक्ति' अनित्य है। ये दोनों **'अयुतसिद्ध'** हैं और इन दोनों में **'समवाय-सम्बन्ध'** है।

(५) **विशेष और नित्य-द्रव्य**—तार्किकों के मत में पृथिवी, जल, तेजस् और वायु, इन चारों भूतों के 'परमाणु' तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नौ 'नित्य-द्रव्य' हैं। अनित्य-द्रव्यों में आपस में भेद करने वाली अनेक वस्तुएँ हैं, परन्तु एकजातीय नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद करने वाली कोई वस्तु नहीं है, जैसे—एक पृथिवी, परमाणु से दूसरे पृथिवी परमाणु, का भेद करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है, परन्तु एक-जातीय होने पर भी हैं तो वे दोनों परमाणु परस्पर भिन्न। इस परिस्थिति में इन नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद करने के लिए न्याय-वैशेषिक-मत में एक **'विशेष'** नाम का भेदक पदार्थ माना गया है। यह **'विशेष'** पदार्थ प्रत्येक नित्य-द्रव्य में भिन्न-भिन्न है। इसकी संख्या अनन्त है। नित्य-द्रव्य से अलग होकर यह **'विशेष'** नहीं रह सकता। अतएव 'विशेष' और 'नित्य-द्रव्य' **'अयुतसिद्ध'** हैं और इनमें **समवाय-सम्बन्ध है।**

असमवायिकारण

जो किसी कार्य का कारण हो, अर्थात् जो कार्य के पहले 'नियतरूप से रहे' तथा **'अन्यथासिद्ध' न हो** तथा 'कार्य' के साथ-साथ उस कार्य के 'समवायि-कारण' में समवाय-सम्बन्ध से रहे, वह उस कार्य का **असमवायिकारण** है। जैसे—कपड़े का समवायि-कारण 'सूत' है और सूतों में परस्पर **'संयोग'** सम्बन्ध है। 'संयोग' गुण है, जो समवाय-सम्बन्व से 'सूतों' में **है।**

और 'सूतों के **संयोग**' के बिना कपड़ा उत्पन्न हो नहीं सकता। इसलिए '**संयोग**' कपड़े का '**कारण**' भी है, और उन्हीं सूतों में समवाय-सम्बन्ध से '**कपड़ा-रूपी कार्य**' भी साथ-साथ वर्तमान है। इस प्रकार सूतों में रहने वाला 'संयोग' उन सूतों से उत्पन्न 'कपड़ा-रूपी कार्य' का '**असमवायिकारण**' है।

इसका दूसरा उदाहरण है—कपड़े के रूप (पटरूप) का असमवायिकारण सूत का रूप (तन्तुरूप) है। किन्तु इसमें उपर्युक्त लक्षण का समन्वय नहीं होता। अतएव '**असमवायिकारण**' का एक दूसरा भी लक्षण है। जैसे—

> कपड़े में 'रूप' उत्पन्न होता है। 'कपड़ा' गुणी है और 'कपड़े का रूप' उस कपड़े का गुण है। गुण और गुणी में समवाय-सम्बन्ध है। 'रूप' कार्य है और 'कपड़ा' (पट) उस रूप का 'समवायिकारण' है। अब विचारणीय है कि इस 'पट-रूप' कार्य का 'असमवायिकारण' क्या है?

उपर्युक्त नियम के अनुसार इस 'रूप' का 'असमवायिकारण' उसे होना चाहिए जो 'रूप' का कारण हो, और उस 'रूप' के समवायिकारण में, अर्थात् 'कपड़े' में, जिसमें 'रूप' समवाय-सम्बन्ध से है, समवाय-सम्बन्ध से रहे। किन्तु ऐसा कोई भी 'गुण' देखने में नहीं आता, फिर 'पट-रूप' का 'असमवायि-कारण' क्या होगा?

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उपर्युक्त '**असमवायिकारण**' के लक्षण में थोड़ा परिवर्तन कर देने से ही रूप के असमवायिकारण का ज्ञान हो जायगा।

असमवायिकारण का दूसरा लक्षण

अर्थात् जो किसी कार्य का कारण हो तथा कार्य के साथ-साथ समवाय-सम्बन्ध से उस कार्य के 'समवायिकारण' में अथवा '**समवायिकारण के समवायिकारण**' में समवाय-सम्बन्ध से रहे, वहाँ उस कार्य का '**असमवायिकारण**' है। जैसे 'रूप' का 'समवायिकारण' है 'कपड़ा' और इस कपड़े का 'समवायिकारण' है 'सूत'। अब इस 'रूप'-रूपी कार्य का 'असमवायिकारण' वह है जो 'रूप' के 'समवायिकारण', अर्थात् कपड़े के 'समवायिकारण', अर्थात् 'सूत' में रहे और कपड़े के 'रूप' का कारण भी हो। जैसे—'सूत का रूप'। 'सूत का रूप' कपड़े के 'रूप' का 'कारण' है और कपड़े के रूप के समवायिकारण, अर्थात् 'कपड़ा' के समवायिकारण, अर्थात् 'सूत' में कपड़ा-रूपी समवायिकारण के साथ-साथ समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान है। इसलिए 'सूतरूप' 'पटरूप' का '**असमवायिकारण**' है।

'असमवायिकारण' केवल 'गुण' और 'क्रिया' होती है और 'असमवायिकारण' का नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है।

समवायिकारण तथा असमवायिकारण, इन दोनों से जो भिन्न कारण हो, अर्थात् कार्य के पूर्व नियत रूप से रहे और अन्यथासिद्ध न हो, वह **'निमित्तकारण'** है।

निमित्तकारण

ये तीनों कारण 'भाव-पदार्थों' में ही होते हैं। 'अभाव' का केवल निमित्तकारण होता है। न कोई पदार्थ समवायसम्बन्ध से 'अभाव' में रहता है और न 'अभाव' ही किसी में समवायसम्बन्ध से रहता है। इसलिए 'अभाव' के समवायि तथा असमवायिकारण नहीं होते।

कारणों की विशषताएँ—कारणों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं—

(१) केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है।

(२) गुण और क्रिया ये ही दोनों असमवायिकारण होते हैं।

(३) कभी-कभी समवायिकारण के नाश से, और असमवायिकारण के नाश से तो सदैव, कार्य का नाश होता है।

(४) ईश्वर के सभी 'विशेष-गुण' निमित्तकारण हैं।

(५) अभाव का एकमात्र कारण है—निमित्तकारण।

(६) 'निमित्तकारण' कार्य को उत्पन्न कर उससे पृथक् हो जाता है।

करण—इन तीनों कारणों में कार्य को उत्पन्न करने के लिए जो सबसे अधिक उपकारक हो, वही **'करण'** कहलाता है।

ईश्वर या परमात्मा

सृष्टि और प्रलय ईश्वर की इच्छा से होते हैं, यह न्याय-वैशेषिक का मत है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए आगम तथा अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं। न्याय तथा वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर के सम्बन्ध में जो चर्चा है, वह बहुत ही सन्दिग्ध है। परन्तु बाद के आचार्यों ने तो ईश्वर के अस्तित्व का पूर्ण समाधान किया है। जैसा पूर्व में हमने कहा है, ईश्वर के मानने की आवश्यकता जब हुई, तब उसका विचार किया गया, अन्यथा विचार करने की आवश्यकता ही क्या थी? इससे यह

समझना उचित नहीं है कि ये लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते थे और 'नास्तिक' थे।

अतएव जब बौद्धों के साथ ईश्वर के सम्बन्ध में बहुत विचार हुआ, तब उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में युक्तियों के द्वारा **ईश्वर** के अस्तित्व का प्रतिपादन किया। उदयन का कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कौन ऐसा मनुष्य है जो किसी न किसी रूप में 'ईश्वर' को न मानता हो? जैसे—उपनिषद् के अनुयायी **ईश्वर** को 'शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव' के रूप में; कपिल के अनुयायी 'आदि-विद्वान् सिद्ध' के रूप में; पतञ्जलि के अनुयायी 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय (अदृष्ट) से रहित,' 'निर्माणकाय' के द्वारा संप्रदाय चलाने वाले तथा वेद को अभिव्यक्त करने वाले' के रूप में; पाशुपत मत वाले 'निर्लेप तथा स्वतन्त्र' के रूप में; शैव लोग 'शिव' के रूप में; वैष्णव लोग 'पुरुषोत्तम' के रूप में; पौराणिक लोग 'पितामह' के रूप में; याज्ञिक लोग 'यज्ञपुरुष' के रूप में; सौगत लोग 'सर्वज्ञ' के रूप में; दिगम्बर लोग 'निरावरण' के रूप में; मीमांसक लोग 'उपास्य देव' के रूप में; नैयायिक लोग 'सर्वगुणसम्पन्न पुरुष' के रूप में; चार्वाक लोग 'लोकव्यवहारसिद्ध' के रूप में तथा बढ़ई लोग 'विश्वकर्मा' के रूप में, जिनका पूजन करते हैं, वही तो **'ईश्वर'** हैं।[1]

ईश्वर के विषय में उदयन का मत

तथापि निम्नलिखित तर्कों के द्वारा अनुमान से भी पुनः उदयनाचार्य ने **'ईश्वर'** के अस्तित्व को प्रमाणित किया है—

ईश्वर-सिद्धि की युक्तियाँ

(१) घट की उत्पत्ति होती है। वह कार्य है। उसको उत्पन्न करने वाला एक 'कर्ता' होता है। उसी प्रकार यह जगत् भी एक कार्य है। इसका भी कोई एक 'कर्ता' है, वह साधारण पुरुष तो हो नहीं सकता। अतएव इतने बड़े जगत् को उत्पन्न करने वाले को सर्वज्ञ होना चाहिए। वही जगत् का कर्ता सर्वज्ञ **'ईश्वर'** है।

(२) प्रलय-काल में समस्त कार्य-जगत् परमाणु-रूप में आकाश में रहता है। ये परमाणु जड़ हैं। पश्चात् सृष्टि के अवसर पर इन्हीं परमाणुओं के

---

[1] **न्यायकुसुमाञ्जलि, १-१।**

आरम्भक संयोग से द्वयणुक आदि के रूप में क्रमशः सृष्टि होती है। परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करने के लिए एक 'चेतन' की आवश्यकता होती है। उस समय कोई भी 'चेतन' पदार्थ नहीं है। अतएव **ईश्वर** का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिसकी इच्छा के द्वारा परमाणुओं में एक क्रिया उत्पन्न होती है और पुनः उन परमाणुओं में 'आरम्भक-संयोग' उत्पन्न होता है, फिर सृष्टि होती है। वह चेतन तत्त्व **'ईश्वर'** है।

(३) जगत् का कोई आधार आवश्यक है, अन्यथा इसका पतन हो जायगा। इस प्रकार जगत्-रूप कार्य का नाश करने वाले की भी आवश्यकता है। साधारण लोग इसका नाश नहीं कर सकते। अतएव जगत् को धारण करने वाला तथा नाश करने वाला जो है, वही **'ईश्वर'** है।

(४) इस जगत् में जो कला-कौशल हैं, उन सबका उत्पन्न करने वाला सृष्टि के आदि में कोई अवश्य रहता है, जो प्रलय के पूर्वकाल में विद्यमान सम्प्रदायों को सृष्टि के आरम्भ में पुनः चलावे। सम्प्रदायों को चलाने वाले जो है, वही **'ईश्वर'** है।

(५) वेद को सब तरह से प्रामाणिक तभी मान सकते हैं, जब उसका रचयिता भी सर्वथा प्रामाणिक हो। यहाँ वेद का रचयिता **'ईश्वर'** है, अर्थात् **'ईश्वर'** ने वेद को बनाया। 'ईश्वर' में सबकी श्रद्धा है। अतएव वेद में भी सबकी श्रद्धा है।

(६) श्रुति में भी कहा गया है कि **'ईश्वर'** है।

(७) दो परमाणुओं के सम्मिलन से 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है और द्वयणुकों की 'तीन संख्या' से 'अपेक्षाबुद्धि' के द्वारा 'त्र्यणुक' बनता है। प्रलयकाल में 'ईश्वर' को छोड़ कर अन्य कोई चेतन तो है नहीं, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से संख्या के द्वारा 'त्र्यणुक' बनेगा। अतएव **'ईश्वर'** को मानना आवश्यक है, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से 'त्र्यणुक' बना।[1] इन युक्तियों के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा **ईश्वर** का अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

[1] **कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।**
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥—न्यायकुसुमाञ्जलि, ५-१।

आलोचन

इस प्रकार संक्षेप में न्यायशास्त्र का परिचय समाप्त हुआ। इसे पढ़ कर यह मालूम होता है कि इस शास्त्र में व्यावहारिक दृष्टिकोण से तत्त्वों का आलोचन किया गया है। इस मत में नौ नित्य द्रव्य हैं, जिनका नाश कभी नहीं होता। मुक्तावस्था में भी एक आत्मा को दूसरी से पृथक् करने वाला 'मन' भी एक नित्य द्रव्य ही है। इस मन से जीव को कभी भी छुटकारा नहीं मिलता। अनादिकाल से एक जीव का अविद्या के कारण एक किसी मन के साथ संयोग हो गया और वह जीव उस मन के साथ-साथ अनन्त शरीरों में घूमता है। मुक्ति में भी वही मन उस आत्मा के साथ रहता है।

व्यापक होने पर भी इसी मन के साथ सदैव संयोग रखने के कारण वह जीव अव्यापक के समान रहता है। जीवात्मा और परमात्मा, इन दोनों में एक प्रकार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में निरपेक्ष हैं। 'जीवात्मा' अपने अनादि कर्मों के संस्कार से एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती रहती है। सभी दुःखों का नाश होने पर वह मुक्त होती है, परन्तु वस्तुतः मन से उसे छुटकारा नहीं मिलता। संसारावस्था और मुक्तावस्था के जीव में भेद इतना ही है कि संसारदशा में उसमें ज्ञान, सुख, दुःख, आदि गुण उत्पन्न होते हैं और मुक्तावस्था में वे नहीं होते। किन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मुक्तावस्था के जीव में गुणों की **'स्वरूपयोग्यता'** रहती है। जीव को अन्य द्रव्यों से भी भेद करने वाला संसार में गुणों का अस्तित्व और मुक्ति में गुणों की **'स्वरूपयोग्यता'** ही है। इससे यह भी स्पष्ट है कि एक प्रकार से सांसारिक दशा **'स्वरूपयोग्यता'** के रूप में मुक्त जीव में रहती ही है। यदि अच्छा बीज है, तो उससे अंकुर भी निकल सकता है। उसी प्रकार यदि उस मुक्त जीव को किसी प्रकार शरीर आदि सामग्री मिल जाय, तो 'मुक्त' और 'संसारी' में भेद ही क्या रह जायगा ?

इन्हीं बातों से यह स्पष्ट है कि न्याय-भूमि बहुत नीचे का स्तर है। साधक के लिए गन्तव्य पद अभी भी बहुत दूर है।

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन का महत्त्व

न्याय-दर्शन और वैशेषिक-दर्शन, ये दोनों 'समानतन्त्र' हैं, अर्थात् ये परस्पर बहुत मिलते-जुलते हैं। कुछ ही सिद्धान्तों में इन दोनों के मत में भेद है। इनको देखकर ऐसा मालूम होता है कि न्यायशास्त्र की अपेक्षा वैशेषिकशास्त्र कुछ ऊँचे स्तर पर अवश्य है। यद्यपि व्यावहारिकता से वैशेषिकों को भी मुक्ति नहीं मिली है, जगत् की सभी बातों को ये लोग भी नैयायिकों के समान स्वीकार करते हैं, तथापि वैशेषिकों की दृष्टि कुछ सूक्ष्म है, जैसा आगे स्पष्ट होगा। यही कारण है कि न्यायशास्त्र के पश्चात् वैशेषिक-दर्शन का विवेचन किया गया है।

इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि परम तत्त्व को जानने के लिए, अर्थात् दर्शन के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, अपने दृष्टिकोण से जगत् के सभी पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'प्रमाणों' की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में यह स्मरण रखना है कि प्रधानता 'प्रमेयों के ज्ञान' की है, 'प्रमाण' तो साधन है। न्यायशास्त्र में 'प्रमाणों के विचार' को प्राधान्य दिया गया है और वैशेषिकशास्त्र में 'प्रमेयों के विचार' को प्राधान्य दिया गया है। इससे वैशेषिक-शास्त्र का विशेष महत्त्व स्पष्ट है।

वैशेषिक-दर्शन का पृथक् वर्गीकरण कब हुआ, यह कहना कठिन है। बौद्धमत के ग्रन्थों में इस दर्शन का उल्लेख मिलता है। जैन-दर्शन में भी इसके पदार्थों की चर्चा है। इन बातों को ध्यान में रखने से यह कहा जा सकता है कि इसका वर्गीकरण बौद्धमत के अवान्तर मतों के वर्गीकरण के पूर्व ही हुआ होगा।

साहित्य

आदि-प्रवर्तक कणाद—इसके आदि प्रवर्तक **'कणाद'**, **'कणभुक्'** या **'कणभक्ष'** थे। इन्होंने सूत्ररूप में, दस अध्यायों में **'वैशेषिक-दर्शन'** नाम के एक ग्रन्थ की रचना की।

रावण

इन सूत्रों पर **'रावण'** ने एक **'भाष्य'** लिखा था। यह ग्रन्थ तो नहीं मिलता, किन्तु ब्रह्मसूत्र-शंकरभाष्य की टीका **'रत्नप्रभा'**[1] में तथा अन्य ग्रन्थों[2] में भी इस भाष्य की चर्चा है। कहा जाता है कि एक कोई **भरद्वाज** ने एक **'वृत्ति'** इस दर्शन पर लिखी थी। यह भी अब नहीं मिलती।

प्रशस्तपाद

छठी सदी के पूर्व **'प्रशस्तपाद'** या **'प्रशस्तदेव'** नाम के एक बड़े विद्वान् हुए। वैशेषिक-दर्शन के कतिपय सूत्रों का उल्लेख करते हुए इन्होंने **'पदार्थधर्मसंग्रह'** नाम का एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ को विद्वानों ने 'आकर-ग्रन्थ' के समान आदर दिया। कुछ लोग इसे **'प्रशस्तपादभाष्य'** भी कहते हैं, क़िन्तु इसमें **'भाष्य'** का लक्षण, **'स्वपदानि च वर्ण्यन्ते'**, नहीं घटता।

यह ग्रन्थ इतना व्यापक हुआ कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें तीन मुख्य हैं। दाक्षिणात्य **व्योमशिवाचार्य** ने **'व्योमवती'**, मिथिला देश के रहने वाले **उदयनाचार्य** ने **'किरणावली'** तथा बंगाल के **श्रीधराचार्य** ने **'कन्दली'** नाम की टीका लिखी। इनमें भी **'किरणावली'** सबसे विशेष महत्त्व की व्याख्या है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं और इस ग्रन्थ के पढ़ने वालों का भी विद्वन्मण्डली में बहुत आदर होता था।

इसके बाद भी संभवतः वैशेषिक-दर्शन पर अवश्य ग्रन्थ लिखे गये होंगे, क़िन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

वल्लभाचार्य

बारहवीं सदी में **वल्लभाचार्य** ने **'न्यायलीलावती'** नाम का ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयीं, जिनमें गंगेश उपाध्याय के पुत्र **वर्द्धमान** का **'प्रकाश'**, **शंकर मिश्र** का **'कण्ठाभरण'** तथा **रघुनाथ शिरोमणि** की **'दीधिति'** बहुत प्रसिद्ध हैं।

---

[1] २-२-११।

[2] मुरारि मिश्र—अनर्घराघवनाटक—'वैशेषिककटन्दीपण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि', पञ्चम अंक, पृष्ठ १९१, काव्यमाला-संस्करण।

शंकर मिश्र

पन्द्रहवीं सदी में वैशेषिकसूत्रों पर मिथिला के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् **शंकर मिश्र** ने **'उपस्कार'**, बंगाल के जयनारायण भट्टाचार्य ने **'विवृति'** तथा चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने **'भाष्य'** लिखा है। **उपस्कार** सबसे उत्तम ग्रन्थ है। **उपस्कार** के पूर्व भट्ट **वादीन्द्र** ने भी एक **वृत्ति** लिखी थी।

इनके अतिरिक्त **शिवादित्य मिश्र** (१०वीं सदी), **पद्मनाभ मिश्र** (१६वीं सदी), आदि अनेक विद्वान् मिथिला में हुए जिन्होंने वैशेषिक-दर्शन पर साक्षात् तथा परम्परा-रूप में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

न्याय-वैशेषिक-दर्शन

इस प्रकार न्याय-दर्शन तथा वैशेषिक-दर्शन इन दोनों की परम्परा लगभग पन्द्रहवीं सदी तक स्वतन्त्र रूप से चली आयी। इसके पश्चात् दोनों दर्शनों के विषयों को इकट्ठा कर **'न्याय-वैशेषिक'**- दर्शन के नाम से अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है—

विश्वनाथ भट्टाचार्य (१७वीं सदी)

विश्वनाथ भट्टाचार्य-रचित **'भाषापरिच्छेद'** या **'कारिकावली'**। इसकी टीका **'न्यायमुक्तावली'** भी उन्हीं की रचना है। यह ग्रन्थ बहुत व्यापक हुआ और इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें **'दिनकरी'**, **'रामरुद्री'**, **'मंजूषा'**, आदि अति प्रसिद्ध हैं। इसी एकमात्र ग्रन्थ को पढ़कर नव्यन्याय की शैली से लोग परिचित हो जाते हैं।

अन्नम्भट्ट (१७वीं सदी)

अन्नम्भट्ट का **'तर्कसंग्रह'**, **जगदीश भट्टाचार्य** का **'तर्कामृत'**, आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गये जिनको प्रारम्भ में लोग पढ़ते हैं।

आजकल न्याय के पढ़ने वाले तो 'नव्यन्याय' को पढ़ते हैं, किन्तु थोड़े में न्यायशास्त्र के तत्त्वों को जानने के लिए **मुक्तावली** आदि न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों को ही लोग पढ़ते हैं।

वैशेषिक-दर्शन का नामकरण

इस दर्शन को 'वैशेषिक-दर्शन' कहने का कारण प्रायः है—'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करना। इस प्रकार का पदार्थ किसी अन्य दर्शन में नहीं है। विद्वन्मण्डली में एक कारिका प्रसिद्ध है—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै 'वैशेषिकं' विदुः ॥

इससे मालूम होता है कि द्वित्वोत्पत्ति, पाकज, विभागज-विभाग, इनमें वैशेषिक का अपना स्वतन्त्र मत है अथवा वैशेषिकों ने ही अपने दर्शन में इन विषयों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। इन्हीं कारणों से इस दर्शन का 'वैशेषिक' नाम पड़ा। इसके **'कणाद-दर्शन'** तथा 'औलूक्य-दर्शन' भी नाम हैं।

पदार्थों का विचार

न्याय और वैशेषिक, ये दोनों समानतन्त्र हैं, अर्थात् ये दोनों एक ही स्तर के दर्शन हैं। ये व्यावहारिक जगत् से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। कुछ सिद्धान्तों में तो इनका मतभेद अवश्य है, जिसका निरूपण बाद को हम करेंगे, किन्तु साधारण रूप से इन दोनों में मतभेद नहीं के समान है। यहाँ उनके पदार्थों का संक्षेप में निरूपण करना आवश्यक है।

वैशेषिक-दर्शन प्रधान रूप से 'प्रमेय' का निरूपण करता है, जिस प्रकार न्याय-दर्शन प्रधान रूप से 'प्रमाण' का विचार करता है। वैशेषिक के मत में जगत् की सभी वस्तुएँ सात पदार्थों में बाँटी गयी हैं। वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव हैं।

पदार्थों के भेद

(१) **द्रव्य**—कार्य के समवायिकारण को **'द्रव्य'** कहते हैं। गुणों का आश्रय 'द्रव्य' होता है। पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस्, ये नौ **'द्रव्य'** कहलाते हैं। इनमें से प्रथम चार द्रव्यों के नित्य और अनित्य, ये दो भेद हैं। नित्य रूप को 'परमाणु' तथा अनित्य रूप को 'कार्य' कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को **'परमाणु'** कहते हैं, जिसका पुनः भाग न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वी-परमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य हैं।

जिसमें 'गन्ध' हो, वह **'पृथ्वी'**, जिसमें 'शीत स्पर्श' हो, वह **'जल'**, जिसमें 'उष्ण स्पर्श' हो, वह **'तेजस्'**, जिसमें रूप न हो तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न न होने वाला, अनुष्ण और अशीत 'स्पर्श' हो, वह **'वायु'** तथा 'शब्द' जिसका गुण हो, अर्थात् शब्द का जो समवायिकरण हो, वह **'आकाश'** है। ये पाँच 'भूत' भी कहलाते हैं।

आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये चार 'विभु' द्रव्य हैं। 'मनस्' अभौतिक परमाणु है और नित्य भी है। आज, कल, इस समय, उस समय, मास, वर्ष, आदि समय के व्यवहार का जो असाधारण कारण है, वह **'काल'** है। यह नित्य और व्यापक है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण,

आदि दिशाओं तथा विदिशाओं का जो असाधारण कारण है, वह **'दिक्'**, है। यह नित्य तथा व्यापक है। **'आत्मा'** और **'मनस्'** का स्वरूप न्यायमत के समान ही है।

(२) **गुण**—कार्य का असमवायिकारण **'गुण'** है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन), शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, ये चौबीस **'गुण'** के भेद हैं। इनमें से रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, शब्द तथा ज्ञान से लेकर संस्कार पर्यन्त, ये **'वैशेषिक-गुण'** हैं, अवशिष्ट **'साधारण गुण'** हैं। 'गुण' द्रव्य में ही रहते हैं।

(३) **कर्म**—क्रिया को **'कर्म'** कहते हैं। ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकुड़ना, फैलाना तथा (अन्य प्रकार के) गमन, जैसे भ्रमण, स्पन्दन, रेचन, आदि, ये पाँच **'कर्म'** के भेद हैं। 'कर्म' द्रव्य में ही रहता है।

(४) **सामान्य**—अनेक वस्तुओं में जो एक-सी बुद्धि होती है, उसके कारण को **'सामान्य'** या **'जाति'** कहते हैं। जैसे—अनेक प्रकार के घटों में से प्रत्येक 'घट' में जो 'यह घट है', इस प्रकार की एक-सी बुद्धि होती है, उसका कारण उसमें रहने वाला **'सामान्य'** है, जिसे वस्तु के नाम के आगे 'त्व' लगाकर कहा जाता है, जैसे—घटत्व, पटत्व। 'त्व' से उस जाति के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों का ज्ञान होता है।

यह नित्य है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहता है। अधिक स्थान में रहने वाला सामान्य **'पर-सामान्य'** या **'सत्ता-सामान्य'** या **'पर-सत्ता'** कहा जाता है। **'सत्ता-सामान्य'** द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों में रहता है। प्रत्येक वस्तु में रहने वाला तथा अव्यापक जो सामान्य हो, वह **'अपर-सामान्य'** या **'सामान्य-विशेष'** कहा जाता है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना **'सामान्य'** का धर्म है।

(५) **विशेष**—द्रव्यों के अन्तिम विभाग में रहने वाला तथा नित्य-द्रव्य में रहने वाला **'विशेष'** कहलाता है। नित्य-द्रव्यों में परस्पर भेद करने वाला एकमात्र यही पदार्थ है। यह अनन्त है।

(६) **समवाय**—एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य-द्रव्य के बीच में रहता है। यह एक है और नित्य भी है।

(७) **अभाव**—किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का ‘अभाव’ कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—‘प्राग्-अभाव’—कार्य उत्पन्न होने के पहले कारण में उस कार्य का न रहना; ‘प्रध्वंस-अभाव’—कार्य के नाश होने पर, उस कार्य का न रहना; ‘अत्यन्त-अभाव’—तीनों कालों में जिसका सर्वथा अभाव हो, जैसे—‘वन्ध्या का पुत्र’ तथा ‘अन्योन्य-अभाव’—परस्पर अभाव, जैसे घट में पट का न होना तथा पट में घट का न होना।

ये सभी पदार्थ न्याय-दर्शन के ‘प्रमेयों’ के अन्तर्गत हैं। इसलिए न्याय-दर्शन में इनका पृथक् विचार नहीं है, किन्तु वैशेषिक-दर्शन में तो मुख्य रूप से इनका विचार है। वैशेषिक-मत के अनुसार इन सातों पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने से ‘मुक्ति’ मिलती है।

दृष्टिकोण

इन दोनों समानतन्त्रों में पदार्थों के स्वरूप में इतना भेद रहने पर भी दोनों दर्शन एक में ही मिले रहते हैं, इसका कारण है कि दोनों शास्त्रों का मुख्य प्रमेय है **‘आत्मा’**। ‘आत्मा’ का स्वरूप दोनों दर्शनों में एक-सा ही है। अन्य विषय हैं—उसी ‘आत्मा’ के जानने के लिए उपाय। उसमें इन दोनों दर्शनों में कुछ भी भेद नहीं है। जिन अंशों में भेद है, वे गौण हैं तथा उनके सम्बन्ध में दोनों दर्शनों में विशेष अन्तर भी नहीं है। केवल शब्दों में तथा कहीं-कहीं प्रक्रिया में भेद है। फल में भेद कहीं नहीं है। अतएव न्यायमत के अनुसार सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से तथा वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थों के तत्त्वज्ञान से, दोनों से, एक ही प्रकार की ‘मुक्ति’ मिलती है। दोनों का दृष्टिकोण भी एक ही है।

परमाणु-कारण-वाद तथा सृष्टि और संहार की प्रक्रिया

प्रलय की अवस्था

न्याय-वैशेषिक-मत में पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु, इन्हीं चार द्रव्यों का कार्य-रूप में भी अस्तित्व है। इन लोगों के मत में सभी कार्य-द्रव्यों का नाश हो जाता है और वे परमाणु-रूप में आकाश में रहते हैं। यही अवस्था **‘प्रलय’** कहलाती है। इस अवस्था में प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस् के साथ तथा पूर्व-जन्मों के कर्मों के संस्कारों के साथ तथा ‘अदृष्ट’-रूप में धर्म और अधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परन्तु इस समय सृष्टि का कोई कार्य नहीं होता। कारण-रूप में सभी वस्तुएँ

प्रलय में जीवात्मा

उस समय की प्रतीक्षा में रहती हैं, जब जीवों के सभी 'अदृष्ट' कार्य-रूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। परन्तु 'अदृष्ट' जड़ है, शरीर के न होने से 'जीवात्मा' भी कोई कार्य नहीं कर सकती, 'परमाणु' आदि सभी जड़ हैं, फिर सृष्टि के लिए 'क्रिया' किस प्रकार उत्पन्न हो ?

सृष्टि का कारण तथा उसकी प्रक्रिया

इसके उत्तर में यह जानना चाहिए कि उत्पन्न होने वाले जीवों के कल्याण के लिए परमात्मा में 'सृष्टि करने की इच्छा' उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवों के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख हो जाते हैं। परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाता है। दो परमाणुओं के संयोग से एक 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु इकट्ठे होते हैं, वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए 'द्वयणुक' के समवायिकारण हैं। उन दोनों का 'संयोग' असमवायिकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा, आदि निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार जलीय, तैजस, आदि शरीर के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

यह स्मरण रखना चाहिए कि 'सजातीय' दोनों परमाणु मात्र से ही सृष्टि नहीं होती। उनके साथ एक 'विजातीय' परमाणु—जैसे जलीय परमाणु, भी रहता है।[१] जैसे—दो स्त्रियों या दो पुरुषों से सृष्टि नहीं होती है, उसी प्रकार सजातीय दो परमाणुओं से भी सृष्टि नहीं होती। सृष्टिमात्र के लिए सजातीय होते हुए भी विजातीय होना आवश्यक है। नेगेटिव और पॉज़िटिव दो जातीय सजातीय तार से ही विद्युत् उत्पन्न होती है। इसलिए स्थूलभूत, वासना तथा चेतन जीव, इन तीनों के सहारे अवतार तथा अन्य सृष्टि होती है। द्वयणुक में 'अणु' परिमाण है, इसलिए वह दृष्टिगोचर नहीं होता। द्वयणुक से जो कार्य उत्पन्न होगा, वह भी 'अणु' परिमाण का ही रहेगा और वह भी दृष्टिगोचर न होगा। अतएव द्वयणुक से स्थूल कार्य-द्रव्य को उत्पन्न करने के लिए **'तीन संख्या'** की सहायता ली जाती है। न्याय-वैशेषिक में स्थूल द्रव्य, स्थूल द्रव्य या महत् परिमाण वाले द्रव्य से तथा तीन संख्या से उत्पन्न होता है। इसलिए यहाँ 'द्वयणुक' की **तीन संख्या** से स्थूल द्रव्य 'त्र्यणुक या त्रसरेणु' की उत्पत्ति होती है। चार त्र्यणुक से 'चतुरणुक' उत्पन्न होता है। इसी क्रम से पृथिवी तथा पार्थिव द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जलीय, तजस तथा वायवीय द्रव्यों की भी उत्पत्ति होती है। द्रव्य के उत्पन्न होने के पश्चात् उसमें गुणों की भी उत्पत्ति होती है। यही **सृष्टि की प्रक्रिया** है।

---

[१] उमेश मिश्र—कन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ २६८।

संसार में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, सभी उत्पन्न हुए जीवों के भोग के लिए ही हैं। अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव संसार में उत्पन्न होता है। एक विशेष प्रकार के कर्मों का भोग करने के लिए एक जीव उत्पन्न होता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश, आदि सभी होते हैं। जब वह विशेष भोग समाप्त हो जाता है, तब उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपने-अपने भोग के समाप्त होने पर सभी जीवों की मृत्यु होती है।

संहार की प्रक्रिया

संहार के लिए भी एक क्रम है। कार्य-द्रव्य में, अर्थात् घट में, प्रहार के कारण उसके अवयवों में एक क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से उसके अवयवों में विभाग होता है, विभाग से अवयवी (घट) के आरम्भक संयोगों का नाश होता है और फिर घट नष्ट हो जाता है। इसी क्रम से ईश्वर की इच्छा से समस्त कार्य-द्रव्यों का एक समय नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'असमवायिकारण' के नाश से कार्य-द्रव्य का नाश होता है। कभी 'समवायि-कारण' के नाश से भी कार्य-द्रव्य का नाश होता है।

न्यायमत

ऊपर न्यायमत के अनुसार **'संहार'** की प्रक्रिया कही गयी है। वैशेषिकमत में यष्टि के प्रहार से घट के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, उससे उस घट के द्वय-णुक के दो परमाणुओं के बीच में जो संयोग है उसका नाश होता है। तब द्वयणुक का नाश होता है, तब 'तीन संख्या' का नाश, पश्चात् त्र्यणुक का नाश, इस क्रम से घट का अन्त में नाश होता है।

वैशेषिकमत

इनका ध्येय है कि बिना कारण के नाश हुए कार्य का नाश नहीं हो सकता। अतएव सृष्टि की तरह संहार के लिए भी 'परमाणु' में ही क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणु तो नित्य है, उसका नाश नहीं होता, किन्तु दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और फिर उससे उत्पन्न द्वयणुक-रूप कार्य का तथा उसी क्रम से त्र्यणुक एवं चतुरणुक तथा अन्य कार्यों का भी नाश होता है। नैयायिक लोग स्थूल दृष्टि के अनु-सार इतना सूक्ष्म विचार नहीं करते। उनके मत में आघातमात्र से ही एक बारगी स्थूल द्रव्य नष्ट हो जाता है। कार्य-द्रव्य का नाश होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते हैं। इसमें भी पूर्ववत् दो मत हैं, जिनका निरूपण 'पाकज-प्रक्रिया' में किया गया है।

ज्ञान का विचार

न्यायमत की तरह वैशेषिकमत में भी 'बुद्धि', 'उपलब्धि', 'ज्ञान' तथा 'प्रत्यय', ये समान अर्थ के बोधक शब्द हैं अन्य दर्शनों में ये सभी शब्द भिन्न-भिन्न

'पारिभाषिक' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'बुद्धि' के अनेक भेद होने पर भी प्रधान रूप से इसके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। **'अविद्या'** के चार भेद हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न।

अविद्या के भेद

'संशय' तथा **'विपर्यय'** का निरूपण न्याय में किया गया है। वैशेषिकमत में इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को **'अनध्यवसाय'** कहते हैं। जैसे—कटहल को देखकर वाहीक को एवं सास्ना आदि से युक्त गाय को देखकर नारिकेल द्वीपवासियों के मन में शंका होती है कि यह क्या है?

दिन भर कार्य करने से शरीर के सभी अंग थक जाते हैं। उनको विश्राम की अपेक्षा होती है। इन्द्रियाँ विशेष कर थक जाती हैं और मन में लीन हो जाती हैं। फिर मन 'मनोवह-नाड़ी' के द्वारा 'पुरीतत्' नाड़ी में विश्राम के लिए चला जाता है। वहाँ पहुँचने के पहले, पूर्व-कर्मों के संस्कारों के कारण तथा वात, पित्त और कफ, इन तीनों के वैषम्य के कारण, अदृष्ट के सहारे उस समय मन को अनेक प्रकार के विषयों का प्रत्यक्ष होता है, जिसे **स्वप्नज्ञान** कहते हैं।[1] स्वप्न कभी मिथ्या और कभी सत्य भी होता है।[2]

यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि वैशेषिकमत में **'ज्ञान'** के अन्तर्गत ही 'अविद्या' को रखा है और इसी लिए 'अविद्या' को **मिथ्या ज्ञान** कहते हैं। बहुतों का कहना है कि ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध हैं। जो 'मिथ्या' है, वह 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता और जो 'ज्ञान' है, वह कदापि 'मिथ्या' नहीं कहा जा सकता।

विद्या के भेद

'विद्या' भी चार प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति तथा आर्ष। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि न्याय में 'स्मृति' को यथार्थज्ञान नहीं कहा है। वह तो ज्ञात का ही ज्ञान है। इसी प्रकार 'आर्ष' ज्ञान भी नैयायिक नहीं मानते। नैयायिकों के 'शब्द' या 'आगम' को 'अनुमान' में तथा 'उपमान' को 'प्रत्यक्ष' में वैशेषिकों ने अन्तर्भूत किया है।

आर्ष ज्ञान

वेद के रचने वाले ऋषियों को भूत तथा भविष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के समान होता है। उसमें इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं रहती। यह **'प्रातिभ** (प्रतिभा से उत्पन्न) **ज्ञान'** या **आर्ष ज्ञान** कहलाता है। यह ज्ञान विशुद्ध अन्तःकरण वाले जीव में भी कभी-कभी हो जाता है।

---

[1] प्रशस्तपादभाष्य-बुद्धिनिरूपण।

[2] विशेष ज्ञान के लिए उमेश मिश्र—स्वप्नतत्त्वनिरूपण देखिए।

जैसे—एक पवित्र कन्या कहती है—'कल मेरे भाई आवेंगे' और सचमुच कल उसके भाई आ ही जाते हैं।[1] यह **प्रातिभ ज्ञान** है।

'प्रत्यक्ष' और **'अनुमान'** के विचार में दोनों दर्शनों में कोई भी मतभेद नहीं है, इसलिए पुनः इनका विचार यहाँ नहीं किया गया।

कर्म का बहुत विस्तृत विवेचन वैशेषिक-दर्शन में किया गया है। न्याय-दर्शन में कहे गये 'कर्म' के पाँच भेदों को ये लोग भी उन्हीं अर्थों में स्वीकार करते हैं। कायिक चेष्टाओं को ही वस्तुतः इन लोगों ने 'कर्म' कहा है। फिर भी सभी चेष्टाएँ 'प्रयत्न' के तारतम्य से ही होती हैं। अतएव वैशेषिक-दर्शन में उक्त पाँच भेदों के प्रत्येक के साक्षात् तथा परम्परा में 'प्रयत्न' के सम्बन्ध से कोई 'कर्म' प्रयत्न-पूर्वक होते हैं, जिन्हें **'सत्प्रत्यय-कर्म'** कहते हैं, कोई बिना प्रयत्न के होते हैं, जिन्हें **'असत्प्रत्यय-कर्म'** कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे 'कर्म' होते हैं, जैसे पृथिवी आदि महाभूतों में, जो बिना किसी प्रयत्न के होते हैं, उन्हें **'अप्रत्यय-कर्म'** कहते हैं।[2]

इन सब बातों को देखकर यह स्पष्ट है कि वैशेषिकमत में तत्त्वों का बहुत सूक्ष्म विचार है। फिर भी सांसारिक विषयों में न्याय के मत से वैशेषिक बहुत सहमत हैं। अतएव ये दोनों 'समानतन्त्र' कहे जाते हैं।

न्याय-वैशेषिक के मतों में परस्पर भेद

इन दोनों दर्शनों में जिन बातों में भेद है, उनमें से कुछ भेदों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, फिर भी महत्त्वपूर्ण भेदों का पुनः उल्लेख यहाँ किया जाता है[3]—

(१) न्याय-दर्शन में 'प्रमाणों' का विशेष विचार है। प्रमाणों के ही द्वारा तत्त्व-ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। साधारण लौकिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर न्यायशास्त्र के द्वारा तत्त्वों का विचार किया जाता है। न्यायमत में सोलह 'पदार्थ' हैं और नौ 'प्रमेय' हैं।

वैशेषिक-दर्शन में 'प्रमेयों' का विशेष विचार है। इस शास्त्र के अनुसार तत्त्वों का विचार करने में लौकिक दृष्टि से दूर भी शास्त्रकार

---

[1] **प्रशस्तपादभाष्य—बुद्धिनिरूपण।**

[2] **प्रशस्तपादभाष्य—बुद्धिनिरूपण।**

[3] **उमेश मिश्र—कन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ ३८-५०**

जाते हैं। इनकी दृष्टि सूक्ष्म जगत् के द्वार तक जाती है। इसलिए इस शास्त्र में प्रमाण का विचार गौण समझा जाता है। वैशेषिकमत में सात 'पदार्थ' हैं और नौ 'द्रव्य' हैं।

(२) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणों को न्याय-दर्शन मानता है, किन्तु वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान इन्हीं, दो प्रमाणों को मानता है। इसके अनुसार 'शब्दप्रमाण' अनुमान में अन्तर्भूत है। कुछ विद्वानों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण भी माना है।

(३) न्याय-दर्शन के अनुसार जितनी इन्द्रियाँ हैं उतने प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं; जैसे—चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज तथा स्पार्शन। किन्तु वैशेषिक के मत में एकमात्र 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष ही माना जाता है।

(४) न्याय-दर्शन के मत में 'समवाय' का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वैशेषिक के अनुसार इसका ज्ञान अनुमान से होता है।

(५) न्याय-दर्शन के अनुसार संसार की सभी 'कार्य-वस्तुएँ' स्वभाव से ही छिद्र वाली (Porous) होती हैं। वस्तु के उत्पन्न होते ही उन्हीं छिद्रों के द्वारा उन समस्त वस्तुओं में भीतर और बाहर आग या तेज प्रवेश करता है तथा परमाणु पर्यन्त उन वस्तुओं को पकाता है। जिस समय तेज की कणाएँ उस वस्तु में प्रवेश करती हैं, उस समय उस वस्तु का नाश नहीं होता है। यही अंग्रेजी में Chemical Action कहलाता है। जैसे—कुम्हार घड़ा बनाकर आवें में रखकर जब उसमें आग लगाता है, तब घड़े के प्रत्येक छिद्र से आग की कणाएँ उस घड़े में प्रवेश करती हैं और घड़े के बाहरी और भीतरी सभी हिस्सों को पकाती हैं। घड़ा वैसा का वैसा ही रहता है, अर्थात् घड़े के नाश हुए बिना ही उसमें पाक हो जाता है। इसे ही न्यायशास्त्र में **'पिठरपाक'** कहते हैं।

वैशेषिकों का कहना है कि कार्य में जो गुण उत्पन्न होता है, उसे पहले उस कार्य के समवायिकारण में उत्पन्न होना चाहिए। इसलिए जब कच्चा घड़ा आग में पकने को दिया जाता है, तब आग सबसे पहले उस घड़े के जितने परमाणु हैं, उन सबको पकाती है और उसमें दूसरा रंग उत्पन्न करती है। फिर क्रमशः वह घड़ा भी पक जाता है और उसका रंग भी बदल जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार जब कुम्हार

कच्चे घड़े को आग में पकने के लिए देता है, तब तेज के जोर से उस घड़े का परमाणु पर्यन्त नाश हो जाता है और उसके परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। पश्चात् उनमें रूप बदल जाता है, अर्थात् घड़ा नष्ट हो जाता है और परमाणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है और रंग बदल जाता है, फिर उस घड़े से लाभ उठाने वालों के अदृष्ट के कारणवश सृष्टि के क्रम से फिर से बन कर वह घड़ा तैयार हो जाता है। इस प्रकार उन पक्व परमाणुओं से संसार के समस्त पदार्थ, भौतिक या अभौतिक तेज के कारण पकते रहते हैं। इन वस्तुओं में जितने परिवर्तन होते हैं वे सब इसी **'पाकज प्रक्रिया'** (Chemical Action) के कारण होते हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह 'पाक' केवल पृथिवी और पृथिवी से बनी हुई वस्तुओं में होता है। इसे वैशेषिक **'पीलुपाक'** कहते हैं।[1]

(६) नैयायिक असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट, ये पाँच 'हेत्वाभास' मानते हैं, किन्तु वैशेषिक विरुद्ध, असिद्ध तथा संदिग्ध, ये ही तीन 'हेत्वाभास' मानते हैं।

(७) नैयायिकों के मत में पुण्य से उत्पन्न 'स्वप्न' सत्य और पाप से उत्पन्न 'स्वप्न' असत्य होते हैं, किन्तु वैशेषिक के मत में सभी 'स्वप्न' असत्य हैं।

(८) नैयायिक लोग 'शिव' के भक्त हैं और वैशेषिक 'महेश्वर' या 'पशुपति' के भक्त हैं। आगम-शास्त्र के अनुसार इन देवताओं में परस्पर भेद है।

(९) इनके अतिरिक्त 'कर्म की स्थिति' में, 'वेगाख्य संस्कार' में, 'सखण्डोपाधि' में, 'विभागज विभाग' में, 'द्वित्व संख्या की उत्पत्ति' में, 'विभुओं के बीच अज संयोग में, 'आत्मा के स्वरूप' में, 'अर्थ-शब्द के अभिप्राय में, 'सुकुमारत्व' और 'कर्कशत्व' जाति के विचार में, 'अनुमान के सम्बन्धों' में, 'स्मृति के स्वरूप' में, 'आर्ष-ज्ञान' में तथा 'पार्थिव शरीर के विभागों' में भी परस्पर इन दोनों शास्त्रों में मतभेद हैं।

इस प्रकार ये दोनों शास्त्र कतिपय सिद्धान्तों में भिन्न-भिन्न मत रखते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं। इनके अन्य सिद्धान्त परस्पर लागू होते हैं।

---

[1] **उमेश मिश्र—कन्सेप्शन ऑफ मैटर, पृष्ठ ७५—९२।**

नवम परिच्छेद

मीमांसा-दर्शन

कहा जाता है कि 'मीमांसा', अन्य दर्शनों की तरह, दार्शनिक शास्त्र नहीं है। इसके मूल सूत्र-ग्रन्थ में 'प्रमाणों' को छोड़ कर, अन्य किसी भी दार्शनिक तत्त्व का विचार नहीं है। इन प्रमाणों का भी विचार अन्य दर्शनों की तरह कोई दार्शनिक 'प्रमेय' जानने के लिए नहीं किया गया है, किन्तु मीमांसा के मुख्य विषय 'धर्म' को जानने के लिए तथा वेदार्थ-विचार के लिए हैं। बाद को सूत्र के ऊपर व्याख्या करने वालों ने आत्मा, मुक्ति, शरीर, इन्द्रिय, अपूर्व, आदि दार्शनिक तत्त्वों का भी विवेचन इस शास्त्र में किया है, तथापि इन तत्त्वों का विचार दर्शन-शास्त्र की तरह बहुत समन्वित नहीं है। यही बात कुमारिल ने एक प्रकार से कही है।[1]

मीमांसाशास्त्र का स्वरूप

ऐसी स्थिति में भी 'मीमांसा' को दर्शनशास्त्र में परिगणित करने के लिए युक्ति दी जा सकती है। मीमांसा में 'धर्म' का विचार है। जिससे इस लोक तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो, उसी को 'धर्म' कहते हैं।[2] इस प्रकार 'धर्म' का विचार भी दर्शनशास्त्र का ही विषय है।

बौद्धों के द्वारा वेद तथा वैदिक धर्म के ऊपर जब बहुत आक्षेप हुआ, उस समय वेद की रक्षा के लिए मीमांसाशास्त्र की रचना हुई, ऐसा अनुमान होता है। यही कारण है कि न्यायशास्त्र की तरह मीमांसाशास्त्र की भी जन्मभूमि मिथिला कही जाती है।

---

[1] इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्ति तां भाष्यकृदत्र युक्तया।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥—श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १४८।

[2] यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जितने मीमांसक मिथिला में हुए और ग्रन्थ लिखे, उतने किसी अन्य एक प्रान्त में नहीं हुए। एक 'प्रशस्ति' मिली है, जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि महाराज मिथिलेश भैरव सिंह के समय में एक पुष्करिणी के यज्ञ में निमन्त्रित विद्वानों में केवल मीमांसकों की संख्या चौदह सौ थी। यह पन्द्रहवीं सदी की 'प्रशस्ति' है। 'वेद' तो ज्ञान-स्वरूप है। अतएव 'वेद के अर्थ का विचार' करने वाला 'मीमांसाशास्त्र' भी दर्शन-शास्त्र कहा जा सकता है।

'धर्म' के विचार के प्रसंग में कायिक, वाचिक तथा मानसिक, सभी सत्कर्मों का विचार आवश्यक है। इन्हीं के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है। तस्मात् मीमांसाशास्त्र आध्यात्मिक चिन्तन के लिए जिज्ञासु को शिक्षा देता है। इसलिए इसे भी दर्शनशास्त्र कहने में कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुतः विचार करने से यह स्पष्ट है कि हमारे जीवन के सभी अच्छे कर्म परम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए ही किये जाते हैं, फिर जिस शास्त्र में 'धर्म' (कर्तव्य) का विचार हो, उसे दर्शनशास्त्र कहने में आपत्ति ही क्या है ?

शास्त्र के नाम-करण की युक्ति

इस शास्त्र को पूर्वकाल में विद्वान् लोग 'न्यायशास्त्र' भी कहते थे। इसका कारण मालूम होता है कि इस शास्त्र की रचना लोक तथा वेद में प्रचलित **'न्यायों'** के आधार पर हुई होगी। आज भी 'न्यायकणिका', 'न्यायरत्नाकर', 'न्याय-माला', आदि मीमांसा के ग्रन्थों में 'न्याय' शब्द का पूर्ण व्यवहार है। इसको 'मीमांसा' कहने का कारण मालूम होता है कि इसमें मीमासा अर्थात् धर्म या वेद के अर्थ का विचार है। यह 'पूर्व-मीमांसा' इसलिए कहा जाता है कि दर्शन-शास्त्र में 'ज्ञान' का विचार करने के पूर्व 'कर्मकाण्ड' तथा 'धर्म' का विचार करना आवश्यक है, तभी वेदान्त में कहे गये 'आत्मा' के सम्बन्ध में विचारों को साधक समझ सकेगा। अतएव मीमांसा को 'पूर्व'-मीमांसा कहा गया है और वेदान्त को 'उत्तर'-मीमांसा कहा गया है। इस बात की पुष्टि कुमारिल भट्ट के **'इत्याह नास्तिक्य-निराकरिष्णुः'**, इत्यादि कथन से भी होती है।

मीमांसा का दृष्टिकोण

ऊपर कहा गया है कि प्रासंगिक रूप में 'आत्मा' का विचार मीमांसाशास्त्र में है। यह विचार न्याय-वैशेषिक के विचार के सदृश ही है। मीमांसा का चरम ध्येय है 'स्वर्गप्राप्ति'। यह लौकिक दृष्टि-कोण की चरम अवधि है। साधारण लोग 'स्वर्ग' को ही परम पद समझते हैं। उनकी दृष्टि से यह सर्वथा सत्य है। इन बातों को देखकर

मालूम होता है कि मीमांसाशास्त्र भी न्याय-दर्शन के समान प्रधान रूप से व्यावहारिक दृष्टि का ही है। परन्तु 'आत्मा' के विचार से यह मालूम होता है कि कुछ मीमांसक लोग 'आत्मा' को स्वप्रकाश भी मानते हैं। अतएव न्यायशास्त्र के विचार के अनन्तर मीमांसा का स्थान है। न्यायशास्त्र की अपेक्षा मीमांसा सूक्ष्म स्तर का शास्त्र है।

साहित्य

इस शास्त्र का साहित्य बहुत विस्तृत है।[1] परन्तु मुख्य दार्शनिक विचार प्रत्येक ग्रन्थ के आदि में, एक ही पाद में, किया गया है। अतएव 'जैमिनिसूत्र'के, जो इसका मुख्य ग्रन्थ है, प्रथम अध्याय के प्रथम पादमात्र को **'तर्क-पाद'** कहते हैं और उसी में दार्शनिक विचार किया गया है। इसलिए मुख्य ग्रन्थों का एवं प्रधान आचार्यों का ही उल्लेख यहाँ किया जाता है।

जैमिनि का सूत्र-ग्रन्थ इस शास्त्र का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इनका समय ईसा के पूर्व तीसरी सदी कहा जा सकता है। परन्तु ये इस शास्त्र के आदि प्रवर्तक नहीं हैं। इनके सूत्र-ग्रन्थ में **बादरायण, बादरि, ऐतिशायन, कार्ष्णाजिनि, लावुकायन, कामुकायन, आत्रेय** तथा **आलेखन**, इन आठ आचार्यों के नाम और इनके मतों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त **आपिशलि, उपवर्ष, बोधायन** तथा **भवदास** प्राचीन आचार्य हैं, जिनके मत अन्य ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं।

प्राचीन आचार्य

जैमिनि ने मीमांसा-दर्शन के बारह अध्यायों में मीमांसा के विषयों का विचार किया है। ये विषय बारह हैं, अतएव इस ग्रन्थ को **'द्वादशलक्षणी'** भी लोग कहते हैं। इसके प्रथम अध्याय, प्रथम पाद को 'तर्कपाद' कहते हैं, जिसमें धर्म-जिज्ञासा, धर्म-लक्षण, धर्म-प्रामाण्य, धर्म में प्रत्यक्ष, आदि प्रमाणों का अपेक्षा-राहित्य, धर्म में वेद का प्रामाण्य, शब्द-नित्यता, वेद की अर्थप्रत्यायकता तथा वेद के अपौरुषेयत्व का विचार है। प्रसंग से 'आत्मा' आदि का भी विचार है। मीमांसा के बारह विषय ये हैं—धर्म-जिज्ञासा, कर्मभेद, शेषत्व, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, कर्मों में क्रम, अधिकार, सामान्य तथा विशेष

मीमांसाशास्त्र के विषय

---

[1] **उमेश मिश्र-क्रिटिकल बिब्लिओग्राफी ऑफ पूर्व-मीमांसा (मीमांसा-कुसुमाञ्जलि), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।**

अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र तथा आवाप। ये पारिभाषिक शब्द हैं। इन सबका यज्ञ तथा वेद के मन्त्रार्थ से सम्बन्ध है। इनके ही विषय इन अध्यायों में आलोचित हैं।

मीमांसा-सूत्र पर पूर्व में अनेक टीकाएँ थीं, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। शवरस्वामी का **भाष्य** ही सबसे प्राचीन एक बृहत् व्याख्या है, जो हमें आज उपलब्ध है।

शवरस्वामी

शवरस्वामी का समय ईसा के पश्चात् चौथी सदी से बहुत पूर्व कहा जा सकता है। विद्वानों ने इन्हें दूसरी सदी में रखा है। शवरस्वामी का वास्तविक नाम 'आदित्यदेव' था। जैनों के भय से यह जंगल में चले गये और अपना नाम **'शबर'** धारण कर लिया। यही भाष्य इस समय मूल ग्रन्थ माना जाता है। इसके तीन मुख्य व्याख्यानकर्ता हुए—कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र तथा मुरारि मिश्र। इन तीनों के मत में अन्तर होने के कारण वस्तुतः मीमांसा के तीन प्रधान विभाग हो गये—भट्टमत, प्रभाकरमत, जिसे 'गुरुमत' भी कहते हैं तथा मिश्रमत।

मुख्य टीकाकर्ता 'वार्तिककार' **कुमारिल** थे। छठी या सातवीं सदी में यह थे। 'शंकर-दिग्विजय' के अनुसार इनके साथ शंकराचार्य का वार्तालाप प्रयाग में त्रिवेणी के तट पर हुआ था।

कुमारिल भट्ट (छठी-सातवीं सदी)

कुमारिल आस्तिक तथा नास्तिक शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता थे। बौद्ध मत का इन्होंने बहुत प्रौढ़ खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं—**श्लोकवार्तिक**—यह तर्क-पाद के ऊपर बृहद्वार्तिक ग्रन्थ है। इसमें दार्शनिक तत्त्वों का पूर्ण विचार है। **तन्त्रवार्तिक**—यह मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय, द्वितीय पाद से आरम्भ कर तृतीय अध्याय के अन्त पर्यन्त ग्रन्थ के ऊपर 'वार्तिक' है। चतुर्थ अध्याय से बारहवें अध्याय के अन्त तक ग्रन्थ के ऊपर 'वार्त्तिक' का नाम है **'टुप्टीका'**। यह बहुत छोटा ग्रन्थ है। इन्होंने **'बृहट्टीका'** तथा **'मध्यटीका'** भी लिखी थी, किन्तु ये उपलब्ध नहीं हैं।

कुमारिल ने अपने ग्रन्थों के लिखने के उद्देश्य में कहा है कि मीमांसाशास्त्र नास्तिकों के अधिकार में आ गया है, उसका उद्धार कर आस्तिक-पथ में लाने के लिए हमने यह प्रयत्न किया है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥[1]

---

[1] श्लोकवार्त्तिक, १०।

कुमारिल के सम्बन्धी **मण्डन मिश्र** बहुत बड़े मीमांसक तथा वेदान्ती थे। कहा जाता है कि इन्हीं के साथ शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ था और पश्चात् यह शंकर के शिष्य बन कर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने **'भावनाविवेक'**, **'विधिविवेक'**, **'विभ्रमविवेक'**, **'मीमांसानुक्रमणी'**, आदि ग्रन्थ लिखे।

मण्डन मिश्र (छठी या सातवीं सदी)

कुमारिल के शिष्यों में सबसे विशेष ज्ञानी **प्रभाकर मिश्र** थे। इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर इन्हें कुमारिल ने **'गुरु'** की उपाधि दी थी और इसी 'गुरु' के नाम से इनका स्वतन्त्र मत प्रसिद्ध है। इन्होंने **'बृहती'**, **'लघ्वी'**, ये दो टीकाएँ शवरभाष्य पर लिखी हैं। 'बृहती' का कुछ अंश प्रकाशित है और अवशिष्ट अप्रकाशित है। ये बहुत प्रौढ़ विद्वान् थे। इनके मत में अनेक अवान्तर मत के प्रवर्तक भी हुए, जिनमें **'चन्द्र'** एक बहुत बड़े विद्वान् हुए। उनका भी अपना स्वतन्त्र मत है।

प्रभाकर मिश्र

शालिकनाथ मिश्र नवम शतक के पूर्व में थे। ये प्रभाकर के प्रधान शिष्य माने जाते हैं। प्रभाकर के ग्रन्थों के ऊपर इन्होंने **'दीपशिखा'** तथा **'ऋजुविमलापञ्चिका'** नाम के दो टीका-ग्रन्थ लिखे। इन्हीं की टीका के आधार पर प्रभाकर के ग्रन्थों को समझने में सौकर्य होता है।

शालिकनाथ मिश्र

पार्थसारथि मिश्र कुमारिल मत के बहुत बड़े विद्वान् थे। यह दशम शतक में मिथिला में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने 'अधिकरण-रूप' में मीमांसासूत्र की सुन्दर और बहुत बड़ी व्याख्या की है, जो **'शास्त्रदीपिका'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रभाकरमत के भी बड़े विद्वान् थे। **'न्यायरत्नमाला'**, **'तन्त्ररत्न'**, आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

पार्थसारथि मिश्र

मुरारि मिश्र बहुत बड़े मीमांसक थे। इनका ११वीं सदी के पूर्व समय कहा जाता है। इन्होंने मीमांसासूत्र पर एक बृहत् टीका लिखी थी, जिसके कुछ ही हिस्से मुझे नेपाल से मिल सके। इनका **'प्रामाण्यवाद'** पर बहुत महत्त्वपूर्ण विचार है। वस्तुतः इस विषय पर भट्टमत, गुरुमत तथा मिश्रमत, ये ही तीन प्रधान मत हैं। इन्हीं के नाम से **'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'** प्रसिद्ध है। इनके मत का संग्रह तथा इनकी पुस्तकों का प्रकाशन करने का प्रथम गौरव मुझे ही प्राप्त हुआ।[1]

मुरारि मिश्र

---

[1] देखिए—उमेश मिश्र-'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'-पञ्चम ओरियण्टलकान्फरेन्स, लाहोर।

खण्डदेव सत्रहवीं सदी में दक्षिण देश के एक बहुत बड़े मीमांसक थे । **'मीमांसा-कौस्तुभ'**, **'भाट्टदीपिका'**, **'भाट्टकौस्तुभ'**, **'भाट्टरहस्य'**, आदि इनके अपूर्व ग्रन्थ हैं। ये भट्टमत के आचार्य थे। इनके ग्रन्थों पर अनेक व्याख्याएँ हैं। **गागा भट्ट, अप्पय्य दीक्षित, नारायण भट्ट, नीलकण्ठ दीक्षित, शंकर भट्ट**, आदि अनेक उद्‌भट मीमांसक दक्षिण में हुए।

खण्डदेव

इस प्रकार मीमांसा के शतशः विद्वान् मिथिला तथा कुछ दक्षिण देश में हुए, जिन्होंने मीमांसाशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे। इस शास्त्र का प्रचार बौद्धों के समय में बहुत था। पश्चात् इसका अध्ययन एक प्रकार से लुप्त-सा हो गया। यह शास्त्र 'यज्ञ' के उपकार तथा वेद के अर्थ की रक्षा के लिए बना था, पश्चात् यज्ञ का आचरण नहीं रहने के कारण एवं वेदार्थ के ऊपर आक्षेपों के अभाव में, इस शास्त्र में भी शिथिलता आ गयी।

सिद्धान्तों का विचार

प्रभाकरमत

न्याय-वैशेषिक की तरह ये लोग भी 'जगत्' की सत्ता मानते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जगत् की सत्ता का ज्ञान होता है। शबर ने द्रव्य, गुण, कर्म तथा **अवयव**[१] का उल्लेख अपने भाष्य में किया है। प्रभाकर ने 'प्रकरणपञ्चिका'[२] में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति तथा सादृश्य को पदार्थ माना है। इनके लक्षण और भेद बहुत अंश में वैशेषिकमत के समान हैं। प्रभाकर का कहना है कि 'अग्नि' में दाहकता शक्ति है, जिससे वह दहन करती है और जिसके अवरुद्ध होने से आग रहने पर भी दाह नहीं होता। इसी प्रकार सभी वस्तुओं में अपनी-अपनी एक **'शक्ति'** है, जिसके रहने से ही प्रत्येक वस्तु अपना कार्य कर सकती है। यह एक भिन्न पदार्थ है।[३] इसी प्रकार **'सादृश्य'** भी एक भिन्न पदार्थ है। नैयायिक लोग इन दोनों पदार्थों का क्रमशः 'अभाव' तथा 'गुण' में 'समावेश' कर लेते हैं। गुण आदि में रहने के कारण **'संख्या'** भी एक भिन्न पदार्थ माना गया है।

पदार्थ

---

[१] **मीमांसासूत्र, १०-३-४४।**

[२] **पृष्ठ ११०, काशी संस्करण।**

[३] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ८१-८२।**

दो 'अयुतसिद्धों' में **समवाय**-सम्बन्ध होता है। दो नित्य पदार्थों में 'नित्य' है और 'नित्य तथा अनित्य' पदार्थों में एवं 'दो अनित्य' पदार्थों में प्रभाकर इसे अनित्य मानते हैं।[1] यह अनित्य देख पड़ता है। 'नित्य' का ज्ञान अनुमान से होता है। जाति और व्यक्ति में 'समवाय' सम्बन्ध है। व्यक्ति के रहने से वह रहता है और उसका नाश होने से नष्ट हो जाता है। जिन द्रव्यों का प्रत्यक्ष हो, उन्हीं में **'जाति'** रहती है, अन्यत्र नहीं। **'जाति'** 'व्यक्ति' से भिन्न है।

द्रव्य—क्षिति, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मनस् तथा दिक्, ये **द्रव्य** हैं। इनका स्वरूप न्याय-वैशेषिक के समान ही है।[2] फिर भी कुछ अन्तर है, जिसका उल्लेख नीचे दिया जाता है—

शीत और उष्ण स्पर्श के भेद रहने पर भी 'यह वही वायु है', इस 'प्रत्यभिज्ञा' के अनुसार **'वायु'** का साक्षात् प्रत्यक्ष प्रभाकर ने माना है। केवल **'पृथिवी'** से ही भौतिक शरीर बनता है। अन्य भूतों का शरीर में सर्वथा अभाव है। 'जरायुज', 'अण्डज' तथा 'स्वेदज', ये तीन ही प्रकार के शरीर होते हैं। इन्हीं में भोग होते हैं। वृक्षादियों का 'उद्भिज्ज' शरीर नहीं होता, क्योंकि इसमें भोग नहीं होता।

'आत्मा' का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता। 'आत्मा' ज्ञानाश्रय है। 'मां जानामि' (अपने को जानता हूँ) यह वाक्य 'गौण' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

'तम' कोई पृथक् द्रव्य नहीं है।[3]

गुण—वैशेषिकमत के चौबीस गुणों में से संख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष को हटाकर उनके स्थान में वेग का समावेश कर इक्कीस **'गुण'** प्रभाकर मानते हैं। इनके स्वभाव वैशेषिक के गुणों के समान हैं। किन्तु प्रभाकरमत में, वैशेषिक मत के समान, चौबीस **'गुण'** हैं, केवल 'शब्द' के स्थान में 'नाद' तथा उसके 'गुण' का समावेश किया है, यह **न्याय-सिद्धान्तमालाकार** का कथन है।[4] 'नाद' शब्द का असाधारण धर्म है और इसका कान से ज्ञान होता है।

---

[1] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ २६-२७।

[2] प्ररणपञ्चिका, पृष्ठ २४, २६-२७।

[3] रामानुजाचार्य-तन्त्ररहस्य, पृष्ठ १७-१८।

[4] पृष्ठ १७२।

'कर्म' को प्रत्यक्षगोचर न मानकर उसे 'अनुमेय' इन्होंने माना है। जब कोई वस्तु क्रियाशील होती है, तो हमें क्रिया नहीं दिखाई पड़ती, किन्तु उस वस्तु का एक स्थान से संयोग और दूसरे से विभाग होता हुआ दिखाई पड़ता है। संयोग और विभाग गुण ह। इन्हीं गुणों से **'कर्म'** का अनुमान होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए भट्टमत के लोग 'संयोग' मात्र को तथा प्रभाकरमत के लोग 'संयोग', 'समवाय', 'संयुक्त-समवाय' एवं 'सम्बन्ध-विशेषणता', ये चार **सन्निकर्ष** मानते हैं।

कुमारिलमत

कुमारिल के मत में **पदार्थ** 'भाव' और 'अभाव', दो प्रकार का है। 'अभाव' चार प्रकार का है—'प्राग्-अभाव', 'अत्यन्त-अभाव', 'ध्वंस-अभाव' तथा 'अन्योन्यअभाव'।

पदार्थ

'भाव' पदार्थ के भी चार भेद हैं—'द्रव्य', 'गुण', 'कर्म' तथा 'सामान्य'। **द्रव्य** के ग्यारह भेद हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, अन्धकार तथा शब्द। कोई 'सुवर्ण' को भी पृथक् द्रव्य मानते हैं।[1] 'विशेष' और 'समवाय' को ये भिन्न पदार्थ नहीं मानते। 'शब्द' को नित्य तथा सर्वगत माना है।

यह पहले ही कहा गया है कि मीमांसक लोग भी नैयायिकों की तरह व्यवहार-भूमि से बहुत सम्बन्ध रखते हैं। इसी कारण **'अन्धकार'** को चलते हुए तथा नील गुण से युक्त उन्होंने देखा और लोगों में व्यवहार भी है 'नीलं तमश्चलति', तथा जिसमें क्रिया और गुण हो, वह **'द्रव्य'** है, इसके आधार पर उन्होंने इसे भी एक पृथक् 'द्रव्य' माना है। इसका आलोकाभाव सहित चक्षु से ज्ञान होता है। **'आकाश'** का भी चक्षु से ही ज्ञान होता है।

भाट्ट मत में आत्मा और मन, ये दोनों 'विभु' हैं। इनमें 'अजसंयोग' है। 'श्रोत्र' को 'दिग्' के अन्तर्गत इन्होंने माना है। 'जाति', 'गुण' तथा 'कर्म' को 'द्रव्य' के साथ भेदाभेद माना है।[2]

गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा स्नेह ये तेरह[3] **'गुण'** भाट्टमत में माने गये हैं। यह ध्यान

---

[1] न्यायसिद्धान्तमाला, पृष्ठ १७१, सर्वसिद्धान्तरहस्य।

[2] न्यायसिद्धान्तमाला, पृष्ठ १७६।

[3] गंगानाथ झा—पूर्व-मीमांसा, पृष्ठ ६५।

में रखना है कि 'शक्ति' और 'सादृश्य' को पृथक् न मान कर 'द्रव्य'[1] के ही अन्तर्गत भाट्ट ने माना है।

कर्म को ये लोग प्रत्यक्षगोचर मानते हैं।[2] **समवाय** को एक पृथक् सम्बन्ध भाट्ट नहीं मानते।[3]

मुरारिमत

मुरारि मिश्र का मत उक्त दोनों मतों से बहुत भिन्न है। इन्होंने वस्तुतः 'ब्रह्म' को ही एक **पदार्थ** माना, किन्तु व्यवहार में 'धर्मी' (घट), 'धर्म' (घटत्व), 'आधार' (अनियत आश्रय) तथा 'प्रदेश-विशेष', इन चार पदार्थों को माना।[4] 'ब्रह्म' को ही वस्तुतः पदार्थ मानने के कारण मीमांसा-शास्त्र को परवर्ती मिश्रमत के विद्वानों ने **'ब्रह्ममीमांसा'** कहा है।[5]

पदार्थ

स्वर्ग का स्वरूप—सुख की पराकाष्ठा-अवस्था को ये लोग 'स्वर्ग' कहते हैं। 'सुख' भाव-रूप है और यह आतमा का एक गुण है। यह अभाव-रूप नहीं है।[6]

गुरुमत

शरीर—इन्द्रियों का अधिकरण 'शरीर' है। इसे गुरुमत में पाञ्चभौतिक नहीं मानते, जैसा पहले कहा गया है। इसके तीन भेद हैं—

जरायुज—जिनकी उत्पत्ति 'जरायु' से हो, जैसे—मनुष्य, पशु।

अण्डज—जिनकी उत्पत्ति 'अण्डों' से हो, जैसे—पक्षी, सर्प, आदि।

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ५२।

[2] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ५०।

[3] श्लोकवार्तिक, १-१-४, प्रत्यक्ष, १४६-१५०।

[4] न्यायसिद्धान्तमाला, पृष्ठ १७१।

[5] ब्रह्ममीमांसा भाट्टमतम्। ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् तस्य—रुचिपति उपाध्याय—अनर्घराघवटीका, पृष्ठ ११७, काव्यमाला-संस्करण। मालूम होता है कि 'अनर्घराघव' के रचयिता ही 'तृतीयः पन्थाः' वाले मीमांसक 'मुरारि मिश्र' थे। इन्होंने ही 'ब्रह्ममीमांसा' शब्द का 'अनर्घराघव' में प्रयोग किया है—

यत्र त्वं 'ब्रह्ममीमांसा' तत्त्वज्ञो दण्डधारकः।
पुरोधाश्चैव यस्यासावङ्गिरः प्रपितामहः॥—अंक ३, श्लोक १२।

[6] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १४९।

स्वेदज—जिनकी उत्पत्ति पसीने से तथा गर्मी से हो, जैसे, यूका, खटमल, आदि ।

उद्भिज्ज—वनस्पति के शरीर को ये नहीं मानते । इसमें कोई प्रमाण उन्हें नहीं मिलता ।[1] इनके मत में 'शरीर' केवल पार्थिव ही होता है । अपार्थिव तथा अयोनिज शरीर ये नहीं मानते । प्रत्येक शरीर में 'मन' तथा 'त्वक्', ये दोनों इन्द्रियाँ रहती हैं ।[2]

भाट्ट मत के विरुद्ध ये लोग 'मन' को परमाणुरूप मानते हैं । यदि वह 'विभु' हो तो 'आत्मा' और 'मन', इन दोनों का 'संयोग' नित्य हो जायगा । 'मन' में वेग होता है । यह 'ज्ञान' का कारण है । आत्मा और मन का संयोग धर्म और अधर्म का कारण होता है ।[3]

भट्ट मत

इन्द्रिय—इन्द्रियाँ ज्ञान का कारण हैं । इन्द्रियाँ पाँच हैं । ये भौतिक हैं । 'चक्षु इन्द्रिय' तैजस है । इससे 'रूप' का ज्ञान होता है । दीपक के समान यह इन्द्रिय छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं को ग्रहण करती है ।

'घ्राण-इन्द्रिय' पार्थिव है । यह 'गन्ध' की ग्राहक है । यह संयोग के द्वारा गन्ध की ग्राहक है । वायु के द्वारा गन्ध घ्राणेन्द्रिय तक आती है, घ्राणेन्द्रिय के साथ 'गन्ध' का 'संयोग' होता है और तब उसका ज्ञान होता है ।

'रसनेन्द्रिय' जलीय है । इसके द्वारा 'रस' का ज्ञान होता है ।

'त्वगिन्द्रिय' वायवीय है । इसके द्वारा 'स्पर्श' का ज्ञान होता है ।

'श्रोत्रेन्द्रिय' दिक् है । इससे 'शब्द' का ज्ञान होता है ।

'मन' अन्तरिन्द्रिय है । यह भी 'भौतिक' है । उपनिषद् ने भी 'मन' को 'भौतिक' माना है । परन्तु शास्त्रदीपिकाकार ने यह भी कहा है कि 'मन' पृथिवी आदि भूतों के स्वरूप का है अथवा भौतिक से विलक्षण भी हो सकता है ।[4] इससे स्पष्ट है कि बाद को इन लोगों ने वैदिक-मत से भिन्न मत का अवलम्बन किया ।

---

[1] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५० ।

[2] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५० ।

[3] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५२ ।

[4] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३६ ।

यह 'मन' स्वतन्त्र रूप से आत्मा और उसके गुणों का ग्राहक है। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान बहिरिन्द्रियों के द्वारा मन और आत्मा के संयोग से होता है।[1]

ईश्वर या परमात्मा

ईश्वर का निराकरण

जगत् का कर्ता कोई **'ईश्वर'** है—इस मत को शवर ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इसे मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। नैयायिकों की तरह वेद के रचयिता के रूप में भी 'ईश्वर' को शवर ने नहीं स्वीकार किया।

कुमारिल 'प्रलय' और 'सृष्टि' नहीं मानते, अतएव सृष्टि के कर्ता के रूप में या परम्परा के सम्बन्ध को एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि में क्रमबद्ध रखने के लिए एक सर्वज्ञ चेतन **'ईश्वर'** को यह नहीं मानते। कुमारिल का कहना है कि 'सर्वज्ञ' तो कोई हो ही नहीं सकता। वस्तुतः मीमांसकों को **'ईश्वर'** को मानने की आवश्यकता ही नहीं मालूम पड़ी। अतएव वे **'ईश्वर'** के अस्तित्व को नहीं मानते।

बाद के कुछ विद्वानों ने जगत् के स्रष्टा के रूप में तो **'ईश्वर'** को नहीं माना, किन्तु फिर भी **'ईश्वर'** को माना है। इसका कारण लौकिक व्यवहार छोड़ कर और क्या हो सकता है? प्रभाकर भी इस मत से सहमत हैं।[2]

परमात्मा

अब विचारणीय है कि शवर तथा भट्ट ने **'परमात्मा'** को स्वीकार किया है या नहीं? मालूम तो ऐसा पड़ता है कि कुमारिल के मन में **'परमात्मा'** के अस्तित्व का पूर्ण विश्वास था, किन्तु मीमांसा में उन्हें उसके सम्बन्ध में विचार करने का कोई प्रयोजन ही नहीं हुआ। अतएव **'परमात्मा'** का भी कोई स्थान भट्टमत में नहीं है। यही कारण था कि कुमारिल ने स्पष्ट कहा है कि परमात्मा के सम्बन्ध में जानने के लिए वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।[3]

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २१-२२।

[2] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १३७-४०।

[3] इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥—
श्लोकवार्त्तिक—आत्मवाद, १४८।

मीमांसक के मत में **'ईश्वर'** और **'परमात्मा'** दो हैं या एक, यह कहना कठिन है, क्योंकि इनका विचार ही इस शास्त्र में नहीं है, फिर उनके स्वरूप का ज्ञान कैसे हो ?

नैयायिकों की तरह मीमांसक भी शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न **'आत्मा'**, अर्थात् 'जीवात्मा' की सत्ता मानते हैं। यह एक द्रव्य है। वेद में कहा है कि यज्ञ के

जीवात्मा

अनन्तर **'यजमानः स्वर्गलोकं याति'**, अर्थात् यजमान स्वर्गलोक को जाता है। यजमान का शरीर तो मरने पर यहीं दग्ध हो जाता है। अतएव शरीर तो स्वर्ग को नहीं जाता, फिर जो जाता है वही है **'जीवात्मा'**। इसी प्रकार 'वह इस जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होता है'—इस कथन से भी स्पष्ट है कि मुक्त होने वाला शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न एक कोई है, जो नित्य है, जिसका नाश नहीं होता, जो इस लोक से परलोक को जाता है। वही है **'जीवात्मा'**।[1] 'आत्मा' में ज्ञान का उदय होता है, किन्तु स्वप्नावस्था में विषय के न होने पर 'आत्मा' में ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार यह जड़ और बोध स्वरूप भी है।

यह नित्य है। इसका नाश नहीं होता। वस्तुतः यही 'कर्ता' और 'भोक्ता' है। यह विभु है, क्योंकि यह 'अहं' भाव के रूप में सर्वत्र विद्यमान **(अहं-प्रत्यक्षगम्य)** है। यह 'शुद्ध ज्ञान'-स्वरूप है और देश तथा काल से अपरिच्छिन्न है।[2] यही ज्ञाता है।[3] यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भिन्न-भिन्न अनुभव के कारण एक शरीर में एक ही 'आत्मा' होती है और वह दूसरे शरीर में रहने वाली 'आत्मा' से भिन्न है। अतएव अनेक 'जीवात्मा' हैं। अनेक मानने से ही बद्ध और मुक्त की भी व्यवस्था हो सकती है, अन्यथा एक के मुक्त होने से सभी को मुक्त मानना पड़ेगा।[4] वह स्वानुभवगम्य भी हैं,[5] अतएव उसे मानसप्रत्यक्षगम्य कहा गया है।

यह ज्ञान से भिन्न होकर भी हमें ज्ञान के ही द्वारा बोधगम्य होता है। 'अहं'

प्रभाकर

(मैं) इस ज्ञान के द्वारा सर्वत्र और सर्वदा इसका बोध हमें होता है। यह स्वप्रकाश नहीं है।

---

[1] श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १-५; शास्त्रदीपिका, १-१-५।

[2] तन्त्रवार्तिक; शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२३, निर्णयसागर-संस्करण।

[3] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२३।

[4] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२४-२५।

[5] श्लोकवार्तिक, आत्मवाद १-५।

प्रभाकर का कहना है कि 'जीवात्मा' भोक्ता है, 'शरीर' भोगायतन है, 'इन्द्रिय' भोग-साधन है और 'सुख-दुःख तथा पृथिवी' आदि भोग्य हैं। जीव, शरीर, इन्द्रिय, भोग्य तथा ज्ञाता, इन पाँचों के रहते ही 'ज्ञान' होता है और वस्तुतः समस्त जगत् इन्हीं पाँचों में समवेत है।

मुक्ति का स्वरूप

तीन प्रकार से **प्रपञ्च,** अर्थात् संसार मनुष्य को बन्धन में डालता है। अर्थात् भोगायतन 'शरीर', भोग-साधन 'इन्द्रियाँ' तथा शब्द, स्पर्श, रूप, आदि भोग्य 'विषय', इन तीनों के द्वारा मनुष्य सुख तथा दुःख के विषय का साक्षात् अनुभव करता हुआ अनादि काल से 'बन्धन' में पड़ा रहता है। इन्हीं तीनों का आत्यन्तिक नाश होने से ही **'मुक्ति'** मिलती है। तस्मात् इनके आत्यन्तिक नाश को ही भाट्टमत में **'मोक्ष'** कहा गया है।

भाट्टमत

पूर्व में उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ तथा विषयों का नाश एवं भविष्यत् काल में होने वाले शरीर, इन्द्रिय तथा विषयों का पुनः न होना ही 'आत्यन्तिक नाश' कहा जाता है। पश्चात् सुख तथा दुःख से रहित होकर 'मुक्त पुरुष' स्वस्थ हो जाता है, अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार से रहित होकर 'पुरुष' अपने स्वरूप में स्थित रहता है, अर्थात् ज्ञान-शक्ति, सत्ता, द्रव्यत्वादि से सम्पन्न रहता है।

पूर्व-जन्म के कर्मों से उत्पन्न धर्म तथा अधर्म के फल का उपभोग करने से उन धर्माधर्मों का नाश हो जाता है।[1] इनका नाश होने पर सुख तथा दुःख का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार पूर्व-जन्म के बन्धनों से पुरुष मुक्त हो जाता है। काम्य कर्मों के परित्याग से भविष्य में धर्माधर्म तथा उनसे होने वाले सुख-दुःख भी नहीं उत्पन्न होते। वेद-विहित कर्मों के करते रहने से तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग से नवीन शरीर आदि तो होते नहीं, अतः पूर्व-शरीर का नाश होने पर पुरुष अपने स्वरूप में मुक्त होकर स्थित

मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया

[1] **नित्यकर्म, अर्थात् 'सन्ध्योपासन आदि', जिसके करने से कोई पुण्य न हो, किन्तु न करने से पाप हो, तथा नैमित्तिक कर्म को करते रहने से और आत्मज्ञान को प्राप्त करने से धर्माधर्म का नाश नहीं हो सकता, इन दोनों में विरोध है। उनका नाश केवल भोग से ही होता है, यह भाट्टमत है—शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १३०।**

रहता है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि **भट्ट मीमांसक** के मत में **'प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलय'** को ही **'मोक्ष'** कहते हैं। मोक्षावस्था में जीव में न सुख है, न आनन्द है और न ज्ञान है—

'तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः'[1]

एक बात और ध्यान में रखनी है कि मुक्तावस्था में पुरुष के शरीरादि तो रहता नहीं, मन के साथ सम्बन्ध भी नहीं रहता, फिर किस प्रकार मुक्त जीव को आत्म-

मुक्त जीव को आत्म-ज्ञान नहीं होता

ज्ञान हो सकता है? शरीर, मन आदि साधन के बिना आत्मा भी अपने को नहीं जान सकती। अतः मोक्ष की अवस्था में जीव में **'आत्मज्ञान'** नहीं है, किन्तु **'ज्ञानशक्तिमात्र'** जीव में अवश्य रहती है। 'ज्ञान-शक्ति' का लोप कभी भी नहीं होता। साथ ही साथ उसकी सत्ता तथा द्रव्यत्व आदि धर्म तो उसमें रहते ही हैं। यही वस्तुतः आत्मा का निजी स्वरूप है, जिसमें वह मोक्ष में स्थित रहती है—

'यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते'[2]

एक बात और स्मरण रखनी है कि आत्मज्ञान से मुक्ति मिलती है, किन्तु भट्टमत में नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान होता ही रहता है। केवल काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करना पड़ता है। मुक्ति का साक्षात् कारण ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञान होने से जीव की प्रवृत्ति मोक्ष की तरफ हो जाती है तथा पूर्व-जन्म के धर्मा-धर्म का भोग के द्वारा नाश होने पर जीव पुनः शरीर धारण नहीं करता।

धर्म तथा अधर्म का निःशेष रूप से नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को ही प्रभाकर **'मोक्ष'** कहते हैं। वस्तुतः धर्माधर्म के वशीभूत होकर जीव नाना योनियों में

प्रभाकरमत

भ्रमण करता रहता है। धर्माधर्म का नाश होने से, इनसे उत्पन्न देह, इन्द्रिय, आदि के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर जीव सांसारिक दुःख के बन्धनों से छुटकारा पाने पर **'मुक्त'** होता है।

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२५-३०।

[2] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १३०।

मुक्ति को प्राप्त करने के लिए सांसारिक दुःखों से जीव उद्विग्न हो जाता है। दुःख-मिश्रित सुख से भी वह पराङमुख हो जाता है। वास्तविक परिशुद्ध सुख तो संसार में है नहीं। बाद को मुक्ति के लिए वह तत्पर होता है। पश्चात् संसार में अभ्युदय देने वाले, बन्धन के साधन रूप निषिद्ध तथा पाप के हेतुभूत कर्मों का परित्याग करने पर, पूर्व-जन्म में किये हुए कर्मों के फलस्वरूप धर्माधर्म के फल का भोग के द्वारा नाश करने पर भी योगशास्त्र में प्रतिपादित शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि योगाङ्गों के पालन द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान के द्वारा, निःशेष कर्म के आशय से, अर्थात् धर्माधर्म-संस्कारों का नाश करने से ही जीव **मुक्त** होता है।[1] वह पुनः संसार में नहीं आता।

मुक्ति की प्रक्रिया

मुक्तावस्था में जीव की सत्तामात्र रहती है। जो सत् और अकारण है, वही अविनाशी है। यह 'आत्मा' सत् और अकारण है। यह विभु है, क्योंकि इसके गुण सर्वत्र विद्यमान हैं।[2]

उपर्युक्त बातों से यह सिद्ध होता है कि **भट्टमत में कर्मफलों के उपभोग से** धर्माधर्म का क्षय होता है, किन्तु **प्रभाकर** का कहना है कि केवल उपभोग से ही क्षय नहीं होता, किन्तु शम, दम, ब्रह्मचर्य, आदि योगाङ्गों के पालन के द्वारा प्राप्त **आत्मज्ञान** भी धर्माधर्म के नाश के लिए आवश्यक है।[3]

भाट्ट और गुरुमत में मोक्ष

भट्टमत में **प्रपञ्च-सम्बन्ध का विलय ही 'मोक्ष'** है, किन्तु प्रभाकर के मत में **धर्माधर्म के निःशेष नाश से उत्पन्न देह का आत्यन्तिक उच्छेद ही 'मुक्ति' है।**

इस प्रकार दोनों मतों में स्थूल दृष्टि से भेद देखने में आता है, किन्तु वस्तुतः भेद नहीं है। भट्टमत में शरीर आदि तीनों सम्बन्धों का आत्यन्तिक नाश—**'त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः'**[4] तथा प्रभाकरमत में देह का आत्यन्तिक उच्छेद—**'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः'**[5]—'मोक्ष' है। एक में शरीर के

---

[1] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५४-१५७।**

[2] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५७।**

[3] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५६, काशी-संस्करण।**

[4] **शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२५।**

[5] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५६।**

सम्बन्ध का विलय, दूसरे में शरीर का उच्छेद । वस्तुतः शरीर के उच्छेद से सम्बन्ध का उच्छेद तो होगा ही ।

प्रमाण-विचार

धर्म

मीमांसा का मुख्य विषय है **'धर्म'** । जैमिनि ने 'धर्म' का लक्षण **'चोदनालक्षणो धर्मः'**[1] किया है । इस धर्म को जानने के लिए एक मात्र प्रमाण है—'वेद' । प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से 'धर्म' का ज्ञान नहीं हो सकता । इसी प्रसंग में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विचार मीमांसाशास्त्र में किया गया है । प्रसंगतः यहाँ पर भी उनका विचार किया जाता है ।

प्रमाण का लक्षण

भाट्टमत

'यथार्थ अनुभव' को मीमांसक लोग भी **'प्रमा'** कहते हैं । 'स्मृति' तथा 'संशय' आदि को 'प्रमा' नहीं मानते । अतएव अज्ञात तत्त्व के अर्थज्ञान को 'प्रमा' कहा है । इस अनधिगत अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण **'प्रमाण'** है । इसी को शास्त्रदीपिका में कहा है—

'कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्'[2]

अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो एवं दोष-रहित हो, वही **'प्रमाण'** है ।

प्रमाण के भेद—भाट्टमत में 'प्रमाण' के छः भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि या अभाव ।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान

प्रत्यक्ष तथा **अनुमान** के लक्षण एवं प्रक्रिया को साधारण रूप से न्यायशास्त्र के समान ही इन्होंने माना है, तथापि प्रक्रिया में कुछ भेद है । जैसे—न्याय-वैशेषिक में छः प्रकार के 'सन्निकर्ष' होते हैं । भट्ट ने केवल 'संयोग' तथा 'संयुक्त-तादात्म्य', दो ही सन्निकर्ष माने हैं । इनके मत में 'समवाय' सम्बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान की प्रक्रिया में न्याय के समान 'पञ्चावयव' वाक्य न मान कर 'प्रतिज्ञा', 'हेतु' तथा

---

[1] **'चोदना' अर्थात् योग आदि क्रिया में प्रवृत्ति कराने वाला वेद का विध्यर्थक वाक्य के द्वारा लक्षित अर्थ ही 'धर्म' है ।**

[2] **पृष्ठ ४५ ।**

'दृष्टान्त' अथवा 'दृष्टान्त', 'उपनय' एवं 'निगमन', इन्हीं 'तीन' वाक्यों को 'अवयव' माना है।

जैमिनि के 'प्रत्यक्ष' लक्षण में, जिसको भट्ट ने भी स्वीकार किया है, 'अव्यापकत्व' दोष देकर प्रभाकर ने उसे अलक्षण कहा है और उसे अस्वीकार किया है।

प्रभाकरमत

प्रभाकर के मत में 'स्मृति' से भिन्न 'संवित्' ही 'अनुभूति' है और वही **प्रमाण** है। संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान **'स्मृति'** है। **'स्वप्न'** भी स्मृति ही है तथा **'संशय'** भी **'स्मृति'** ही है। 'स्मृति' यथार्थ होने पर भी 'प्रमाण' नहीं है। सभी **'ज्ञान' यथार्थ** हैं, किन्तु **'अनुभूति'** ही **'प्रमाण'** है।[1]

प्रमाण—पाँच प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा शब्द।

'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'—साक्षात् उत्पन्न 'ज्ञान' ही 'प्रत्यक्ष' है।[2] प्रभाकर का कहना है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में 'मेय', 'माता' तथा 'प्रमा', ये तीनों रहते हैं। अर्थात् प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान के स्वरूप में, जैसे—मैं घट को जानता हूँ, 'घट', 'मैं' तथा 'ज्ञान', इन तीनों का साथ-साथ भान होता है। इसी को वह **'त्रिपुटी-प्रत्यक्ष'** कहते हैं। 'मैं' आत्मा का प्रतीक है। इसके भान के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नही होता। 'अहं' (मैं) को लगाये बिना कोई भी प्रतीति नहीं होती। 'वह जानता है' (स जानाति) ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती। 'मेय' और 'माता' से प्रतीति भिन्न होती है, किन्तु 'प्रमा' से भिन्न नहीं होती। वह तत्स्वरूपा होती है। 'मेय' और 'माता' की प्रतीति एक तरह की है। इनकी प्रतीति अपने लिए प्रकाश की अपेक्षा करती है, किन्तु 'प्रमा' 'स्वयं प्रकाश' स्वरूप है। उसकी प्रतीति स्वयं होती है। यही कारण है कि सुषुप्ति में 'मेय' और 'माता', प्रकाशात्मक न होने के कारण, नहीं प्रकाशित होते। उनको प्रकाश में लाने के लिए दूसरे की अपेक्षा होती है, किन्तु प्रमा तो 'स्वयं प्रकाश' है, इसलिए उसे प्रकाश में आने के लिए दूसरे की सहायता नहीं लेनी पड़ती है।[3] प्रत्यक्ष ज्ञान में 'मेय' और 'माता' का भान तो अवश्य होता है, किन्तु उनके भान के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता होती है। ये 'स्वतः प्रकाश' नहीं हैं। 'मिति' मात्र 'स्वयं प्रकाश' है। इन्द्रिय और अर्थ के साक्षात् सम्बन्ध से 'प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है।

---

[1] **रामानुजाचार्य—तन्त्ररहस्य, पृष्ठ २-८।**

[2] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५१; तन्त्ररहस्य, पृष्ठ ८।**

[3] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५५-५७।**

प्रभाकरमत में इन्द्रिय और अर्थ के बीच में सम्बन्ध दो प्रकार से होता है—ज्ञान के विषयों (मेय) के साथ इन्द्रिय के 'संयोग' से, विषय में संयुक्त के साथ 'समवाय' तथा 'समवेत-समवाय' से। द्रव्य, जाति तथा गुण के साथ इन्द्रिय-संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

सन्निकर्ष

'सन्निकर्ष' दो प्रकार के हैं—'तत्समवाय' तथा 'तत्कारणसमवाय'। किन्तु प्रत्यक्ष की समस्त प्रक्रिया में चार प्रकार के सन्निकर्ष होते हैं—आत्मा के साथ मन का, मन के साथ इन्द्रिय का, द्रव्य के साथ इन्द्रिय का तथा रूप आदि गुणों के साथ इन्द्रिय का। सुख-दुःख आदि आन्तरिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष में मन को अर्थ तथा आत्मा के साथ दो ही प्रकार के सन्निकर्ष होते हैं।

सभी गुणों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। द्रव्य के ज्ञान के बिना रूप आदि का ज्ञान होता है और कहीं रूप आदि के ज्ञान के बिना भी द्रव्य का ज्ञान होता है। इसमें कोई नियम नहीं है।[१]

प्रत्यक्ष के 'सविकल्पक' तथा 'निर्विकल्पक' दो प्रकार के भेद प्रभाकर भी मानते हैं। भाट्ट के मत में प्रथम निर्विकल्पक या आलोचनात्मक ज्ञान होता है, पश्चात् सविकल्पक ज्ञान होता है, जैसा न्याय-वैशेषिक मत में है। अतः इसका विशेष विचार करना यहाँ पुनरुक्ति होगी।

प्रत्यक्ष के भेद

'योगज प्रत्यक्ष' को एक भिन्न प्रत्यक्ष भट्ट नहीं मानते। योगियों के प्रत्यक्ष में भी ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व आवश्यक है। परोक्ष वस्तुओं का योगियों को जो ज्ञान होता है, उसे **'प्रातिभ'** ज्ञान कहते हैं, किन्तु यह 'संदिग्ध-ज्ञान' है।

योगज प्रत्यक्ष

अनुमान तथा **उपमान** ये दोनों प्रमाण न्याय-वैशेषिक के समान हैं, अतएव इनका पुनः विचार करने से विशेष लाभ नहीं है।

शब्दप्रमाण

शब्दप्रमाण और उसका भेद—ज्ञात शब्द से पदार्थ का स्मरणात्मक ज्ञान होने पर जो वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, वही **'शब्दप्रमाण'** है। यह दो प्रकार का है—पौरुषेय तथा अपौरुषेय।

---

[१] यहां न्याय-वैशेषिक-मत से अन्तर है।

जिस प्रकार का 'अर्थ' हो, उसे उसी रूप में देखने वाला 'आप्त' है। आप्तों का वाक्य 'पौरुषेय' है। वेदवाक्य 'अपौरुषेय' हैं। स्वतः 'शब्द' तो अदृष्ट हैं और जब ये शब्द आप्त तथा वेद के वाक्य के रूप में होते हैं, तब उनमें कोई भी दोष नहीं रहता। तस्मात् इस प्रकार के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को **'शब्दप्रमाण'** कहते हैं।

शब्द के और भी दो भेद हैं—'सिद्धार्थ' तथा 'विधायक'। किसी पदार्थ के निश्चित अर्थ को कहने वाला वाक्य **'सिद्धार्थक वाक्य'** है और किसी प्रकार के कार्य के लिए प्रेरक वाक्य **'विधायक वाक्य'** है। विधायक पुनः दो प्रकार का है—**उपदेशक** तथा **अतिदेशक**। 'ऐसा इसे करना चाहिए', यह 'उपदेशक' वाक्य है। 'दर्शपूर्णमास याग के द्वारा स्वर्ग का साधन करे', यह 'अतिदेशक' वाक्य है।[1]

वेद 'धर्म' में प्रमाण

धर्म की व्याख्या के लिए ही मीमांसाशास्त्र बना है। धर्म को जानने के लिए एकमात्र प्रमाण है—'वेद' या 'अपौरुषेय वाक्य'। वेद के नित्यत्व तथा अदुष्टत्व को प्रमाणित करने के लिए शब्द को नित्य मानना आवश्यक है। शब्द का 'अर्थ' तथा 'शब्द' एवं अर्थ का 'सम्बन्ध', ये भी नित्य हैं। वस्तुतः ये सभी विचार अपौरुषेय वाक्य के सम्बन्ध में मीमांसाशास्त्र में किये गये हैं। लौकिक वाक्य में अनेक दोष रहने की सम्भावना के कारण उपर्युक्त विचार लौकिक वाक्य के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि वेद-वाक्य को पौरुषेय नहीं माना जाता। ऐसा करने से उसमें भी दोष की आशंका रह जायगी। अतएव 'वेद' अपौरुषेय है, इसे किसी ने नहीं बनाया और यह 'स्वप्रकाश' है।

अपौरुषेय और स्वप्रकाश

'वेद' में जो मन्त्रों के साथ बहुत-से नाम आये हैं, वे उन मन्त्रों के रचयिता के नाम नहीं हैं, किन्तु वे उनके नाम हैं जिनके प्रति वे मन्त्र तैजसरूप में आविर्भूत हुए हैं और वे ही लोग उन मन्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता हुए हैं। इसी लिए उनके नाम उन मन्त्रों के साथ सम्बद्ध हैं। इसी लिए 'ऋषि' को 'मन्त्रद्रष्टा' कहा गया है।

वेद-वाक्यों का अर्थ उनके अपने प्रसंग में ही करना उचित है। एक-आध मन्त्र को पृथक् कर उसका अर्थ करने से उसका वास्तविक अर्थ नहीं होता।

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ७२, निर्णयसागर-संस्करण।

शब्द के विज्ञान से परोक्षभूत विषय के 'ज्ञान' को **'शब्दप्रमाण'** या **'शास्त्र'** कहते हैं। अर्थात् शब्द-विज्ञान के द्वारा आत्मा के सन्निकर्ष से अदृष्ट विषयों के ज्ञान को **'शब्दप्रमाण'** कहते हैं।

प्रभाकरमत

प्रभाकर का कहना है कि यथार्थ शब्दज्ञान वेद-वाक्यों से ही हो सकता है। अतएव 'वेद' ही एक मात्र **'शब्दप्रमाण'** है। वेद-वाक्य में भी जो वाक्य 'विध्यर्थक' हैं, वे ही शब्दप्रमाण हैं। जैसे—**'स्वर्गकामो यजेत'**।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी है कि जो शब्द के रूप में कान के द्वारा हमें सुनने में आता है, वह 'ध्वनि' है और वह नित्य शब्द का प्रतीक है। 'ध्वनि' स्वयं अनित्य है। 'ध्वनि' शब्द से भिन्न है, इसमें युक्ति यह है कि यदि वस्तुतः 'ध्वनि' शब्द होती तो एक ही शब्द के, जैसे 'घटः' इस शब्द के, दस बार उच्चारण करने पर दस शब्दों का 'ज्ञान' होता, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। अनेक बार उच्चारण करने पर भी एक ही शब्द का बोध होता है। अतएव उच्चारण के द्वारा 'ध्वनि' की उत्पत्ति होती है, न कि 'शब्द' की। तस्मात् 'शब्द' नित्य है। शब्द के साथ अर्थ का 'सम्बन्ध' भी 'नित्य' है। इन सभी बातों के रहते हुए भी यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मीमांसा में वैदिक शब्द तथा वाक्यों का ही विशेष रूप में विचार है। ये शब्द अपौरुषेय तथा नित्य हैं, अर्थात् यह शब्दप्रमाण **स्वतःप्रमाण** है। इन शब्दों के प्रामाण्य के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं होती।

उपमानप्रमाण

सादृश्यजन्य ज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं। इसमें इन्द्रिय के साथ अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता। जैसे—'गाय' के ज्ञान को रखने वाला जब 'गवय' को देखता है, तब उसे अपनी गाय का स्मरण होता है, इन दोनों में 'सादृश्य' है, और इस स्मरण के अनन्तर 'यह गवय है', ऐसा जो ज्ञान होता है, वही **'उपमिति'** है और उसका 'कारण' **'उपमान'** है।

भट्टमत

वह मनुष्य, जिसे 'गाय' का ज्ञान पूर्व से ही है, जब जंगल में जाता है, वहाँ वह एक जानवर को देखता है। उस जानवर को वह अपनी गाय के सदृश देखता है। तत्पश्चात् उसके मन में पूर्वज्ञात गाय का स्मरण होता है कि मेरी गाय मेरे सामने उपस्थित जानवर के सदृश है। इस **'सादृश्य'** से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका विषय है—वर्तमान जानवर के सादृश्य-

विशिष्ट अपनी गाय का स्मरण। यही है **'उपमिति'**। इसमें सादृश्य का 'प्रत्यक्ष' तथा गाय का 'स्मरण' होता है। इन दोनों बातों का एकत्र ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से और न स्मरण से होता हैं। तस्मात् 'उपमान' नाम के प्रमाण को स्वीकार करना पड़ता है।[1]

प्रभाकरमत

'सादृश्य' के द्वारा अदृष्ट विषय के 'ज्ञान' को **'उपमान'** कहते हैं। जैसे—'गाय' को जानने वाला पुरुष 'गवय' को देखता है। तब 'गवय' के प्रत्यक्ष ज्ञान से 'सादृश्य' के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में अविद्यमान 'गाय' का ज्ञान भी उसे हो जाता है। इसी ज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं, अर्थात् सादृश्य के प्रत्यक्ष से अविद्यमान गाय का जो सादृश्य-ज्ञान होता है, उसे ही **'उपमान'** कहते हैं।

उपमान के स्वरूप में भेद—उपर्युक्त बातों से मालूम होता है कि भट्टमत में अविद्यमान गाय का **'स्मरण'** तथा प्रभाकरमत में अविद्यमान गाय का **'सादृश्य-ज्ञान'** ही **'उपमान'** है।

अर्थापत्ति

दृष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति जिस अर्थ के बिना न हो, उस अर्थ के ज्ञान को **'अर्थापत्ति'** कहते हैं। जैसे—'देवदत्त दिन में कुछ भी नहीं खाता, फिर भी खूब मोटा है।' इस वाक्य में 'न खाना, तथापि मोटा होना', इन दोनों कथनों में समन्वय की उपपत्ति नहीं होती। अतः उपपत्ति के लिए 'रात्रि में भोजन करता है', यह कल्पना की जाती है। इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि 'यद्यपि दिन में वह नहीं खाता, परन्तु रात्रि में खाता है।' अतएव देवदत्त मोटा है। यहाँ पर प्रथम वाक्य में उपपत्ति लाने के लिए 'रात्रि में खाता है', यह कल्पना स्वयं की जाती है। इसी को **'अर्थापत्ति'** कहते हैं।

अर्थापत्ति के भेद

यह दो प्रकार की है—'दृष्टार्थापत्ति', जैसे—ऊपर के उदाहरण में तथा 'श्रुतार्थापत्ति', जैसे—सुनने में आता है कि देवदत्त जो जीवित है, घर में नहीं है। इससे 'देवदत्त कहीं और स्थान में है', इसकी कल्पना करना **'अर्थापत्ति'** है। अन्यथा 'जीवित होकर घर में नहीं रहना', इन दोनों बातों में समन्वय नहीं हो सकता।

---

[1] **श्लोकवार्त्तिक, उपमान, ३७-४३**

प्रभाकर का मत है कि किसी भी प्रमाण से ज्ञात विषय की उपपत्ति के लिए **'अर्थापत्ति'** हो सकती है, केवल दृष्ट और श्रुत से ही नहीं।

यह बात साधारण रूप से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती, तस्मात् **'अर्थापत्ति'** नाम का एक भिन्न 'प्रमाण' मीमांसक मानते हैं।

अनुपलब्धि या अभाव

अभावप्रमाण—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जव किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, तब 'वह वस्तु नहीं है', इस प्रकार उस वस्तु के 'अभाव' का ज्ञान हमें होता है। इस 'अभाव' का ज्ञान इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि के द्वारा तो हो नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रियसन्निकर्ष 'भाव' पदार्थों के साथ होता है। अतएव **'अनुपलब्धि'** या **'अभाव'** नाम के एक ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण को मीमांसक मानते हैं, जिसके द्वारा किसी वस्तु के **'अभाव'** का ज्ञान हो।

प्रभाकरमत

यह तो मीमांसकों का एक साधारण मत है। किन्तु **प्रभाकर** इसे नहीं स्वीकार करते। उनका कथन है कि जितने **'प्रमाण'** हैं, सबके अपने-अपने स्वतन्त्र 'प्रमेय' हैं, किन्तु **'अभाव'** प्रमाण का कोई भी अपना 'विषय' नहीं है। जैसे—'इस भूमि पर घट नहीं है', इस ज्ञान में यदि वहाँ घट होता, तो भूतल के समान उसका भी ज्ञान होता, किन्तु ऐसा नहीं है। फिर हम देखते क्या हैं? 'केवल भूमि', जिसका ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से होता है। वस्तुतः 'अभाव' का अपना स्वरूप तो कुछ भी नहीं है। वह तो जहाँ रहता है, उसी आधार के साथ कहा जाता है। इसलिए यथार्थ में भूतल के ज्ञान के अतिरिक्त 'घट नहीं है', इस प्रकार का ज्ञान होता ही नहीं। अतएव **'अभाव' 'अधिकरणस्वरूप'** ही है। इसका पृथक् अस्तित्व नहीं है।[1]

ये ही पाँच या छः प्रमाण मीमांसक लोग मानते हैं।

सम्भवप्रमाण—कुमारिल ने **'सम्भव'** की चर्चा की है। जैसे—'एक सेर दूध में आधा सेर दूध तो अवश्य है'; अर्थात् एक सेर होने में सन्देह हो सकता है, किन्तु उसके आधा सेर होने में तो कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। इसे ही **'सम्भव'** नाम का प्रमाण **'पौराणिकों'** ने माना है। कुमारिल ने इसे 'अनुमान' के अन्तर्गत माना है।

---

[1] **शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ८३-८५; प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ११८-१२६।**

ऐतिह्यप्रमाण—एवं **'ऐतिह्य'** का भी उल्लेख कुमारिल ने किया है। जैसे 'इस वट के वृक्ष पर भूत रहता है।' यह वृद्ध लोग कहते आये हैं। अतः यह भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। परन्तु इस कथन की सत्यता का निर्णय नहीं हो सकता, अतएव यह प्रमाण नहीं है। यदि प्रमाण है तो यह 'आगम' के अन्तर्भूत है। किन्तु इन दोनों को कुमारिल ने भी, अन्य मीमांसकों की तरह, स्वीकार नहीं किया।[1]

प्रतिभाप्रमाण—**'प्रतिभा'** अर्थात् **'प्रातिभ ज्ञान'** सदैव सत्य नहीं होता, अतएव इसे भी मीमांसक लोग प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार करते।[2]

प्रामाण्यवाद

न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र में **'प्रामाण्यवाद'** सबसे कठिन विषय कहा जाता है। मिथिला में विद्वन्मण्डली में प्रसिद्ध है कि एक समय, १४वीं सदी में एक बहुत बड़े विद्वान् और कवि किसी अन्य प्रान्त से मिथिला के महाराज की सभा में आये। उनकी कवित्वशक्ति और विद्वत्ता से सभी चकित हुए। वे मिथिला में रह कर 'प्रामाण्यवाद' का विशेष अध्ययन करते थे। कुछ दिनों के पश्चात् महाराज ने उनसे एक दिन नवीन कविता सुनाने के लिए कहा, तो बहुत देर सोचने के बाद उन्होंने एक कविता की रचना की—**'नमः प्रामाण्यवादाय मत्कवित्वापहारिणे।'** इसकी दूसरी पंक्ति की पूर्ति करने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की। वास्तव में **'प्रामाण्यवाद'** बहुत कठिन है और इसका अध्ययन करने वालों का ध्यान और कहीं नहीं जा सकता है।

प्रामाण्यविचार का महत्त्व

उपर्युक्त प्रमाणों के सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि इन प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण के द्वारा पृथक्-पृथक् जब हमें 'ज्ञान' होता है, तब वह 'ज्ञान' स्वयं यथार्थ माना जाय या उसकी यथार्थता के लिए किसी दूसरे प्रमाण की सहायता ली जाय? अर्थात् प्रत्येक प्रमाण स्वतन्त्र रूप से ज्ञान को उत्पन्न करता है और वह ज्ञान स्वयं यथार्थ है अथवा एक प्रमाण के द्वारा एक ज्ञान उत्पन्न होता है तथा दूसरे प्रमाण के द्वारा उस ज्ञान

प्रामाण्यविचार का स्वरूप

[1] श्लोकवार्त्तिक, अभाव, ५७-५८।

[2] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ८७।

का याथार्थ्य सिद्ध होता है। यही **प्रामाण्यवाद** का विषय है। इसमें नैयायिकों के साथ मीमांसकों का बहुत शास्त्रार्थ-विचार होता रहा है। नैयायिक **'परतः प्रामाण्य'** के तथा मीमांसक **'स्वतः प्रामाण्य'** के समर्थक हैं।

इसके पूर्व कि इस विषय का हम विचार करें, इतना कह देना आवश्यक है कि मीमांसक **'वेद'** को नित्य, अपौरुषेय तथा स्वतः प्रमाण मानते हैं। इनके मत में

मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवादी होने का कारण

वस्तुतः एकमात्र प्रमाण है—**'वेद'**, जिसे हम **'शब्दप्रमाण'** या **'आगम'** भी कहते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो मीमांसा का अपना विषय भी नहीं है। अतएव मीमांसकों को प्रमाण का **'स्वतः प्रामाण्य'** मानना स्वाभाविक है, अन्यथा 'वेद' का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इसी कारण जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भी चर्चा मीमांसक लोग करते हैं, तो उसके भी प्रामाण्य के सम्बन्ध में, वेद-प्रामाण्य के आधार पर, **'स्वतः प्रामाण्य'** ही मानते हैं।

मीमांसकों का कहना है कि इन्द्रिय के संयोग से दूर से ही जल को देखकर 'वहाँ जल अवश्य है', इस ज्ञान को यथार्थ मान कर ही लोग जल लाने के लिए वहाँ जाते

मीमांसकमत

हैं। इसमें सन्देह या अयथार्थता की सम्भावना नहीं है। ज्ञान तो यथार्थ ही होता है। उसकी सत्यता में सन्देह करना ही व्यर्थ है। **प्रभाकर** ने तो स्पष्ट कहा है कि 'ज्ञान' हो और वह 'मिथ्या' हो, यह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ज्ञान होने से ही वह यथार्थ है। वह मिथ्या हो ही नहीं सकता। **कुमारिल** ने भी इसे स्वीकार किया है। इस प्रकार से मीमांसक लोग प्रत्येक प्रमाण में **'स्वतः प्रामाण्य'** मानते हैं।

इसके विरुद्ध में नैयायिकों का कहना है कि जब इन्द्रिय के संयोग से जल का ज्ञान होता है और लोग जल लाने के लिए जाते हैं, तो उनके मन में 'सन्देह' रहता

नैयायिकमत

है कि 'जल मिले या न मिले', अर्थात् 'वहाँ जल है', यह ज्ञान सन्देहयुक्त है। पश्चात् वहाँ जाकर जल के मिलने पर हम निर्णय करते हैं कि 'मुझे जो पूर्व में 'वहाँ जल है', ऐसा ज्ञान हुआ था, वह यथार्थ है।' अर्थात् जल-ज्ञान की सत्यता जल को प्राप्त करने पर ही निश्चित होती है। अपने मत में भी यही प्रक्रिया नैयायिक लोग मानते हैं। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से, अर्थात् चक्षु और घट के सन्निकर्ष से, 'अयं घटः' 'यह घड़ा है', ऐसा ज्ञान होता है। इसे नैयायिक लोग **'व्यवसाय'** कहते हैं। यह ज्ञान या व्यवसाय ठीक है या नहीं, इसका निश्चय उन्हें पश्चात् 'अहं घटज्ञानवान' 'मुझे घट का ज्ञान

है', इस ज्ञान से, जिसे नैयायिक **'अनुव्यवसाय'** कहते हैं, होता है। इस प्रकार नैयायिक **'परतः प्रामाण्य'** मानते हैं।

यहाँ प्रधान रूप से दो मत हैं। किन्तु मीमांसकों में भी तीन विभिन्न मत हैं—(१) प्रभाकर (गुरुमत), (२) भाट्ट (भट्टमत) तथा (३) मुरारि मिश्र (मिश्रमत)।

प्रभाकरमत

प्रभाकरमत में ज्ञान स्वतः प्रमाण तथा स्वप्रकाश है। ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ही उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है। इसलिए इनके मत में प्रमाण का प्रामाण्य आप से आप सिद्ध है। ज्ञान होने से ही वह यथार्थ है। अतएव इन्हें ज्ञान के प्रामाण्य के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। अतः ये स्वभाव से ही **'स्वतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

भट्टमत

भट्टमत में भी स्वतः प्रामाण्य माना गया है, अर्थात् जिससे 'ज्ञान' उत्पन्न होता है, उसीसे उस ज्ञान का प्रामाण्य भी सिद्ध है, ऐसा भाट्ट लोग स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि चक्षु और घट के सन्निकर्ष से 'अयं घटः', यह 'ज्ञान' होता है। किन्तु इनके मत में 'ज्ञान' स्वप्रकाश तो है नहीं, अतः उस ज्ञान का भान भट्टमीमांसक को साक्षात् नहीं होता। वह अतीन्द्रिय है। तस्मात् ज्ञान होने के पश्चात् 'मया ज्ञातोऽयं घटः' (मुझ से यह घट जाना गया), ऐसा उन्हें भान होता है। जब वह 'घट' 'ज्ञात' हुआ, तब उसमें **'ज्ञातता'** नाम का एक धर्म उत्पन्न होता है। इस **'ज्ञातता'** का प्रत्यक्ष ज्ञान भट्टमत में होता है।[1] यह धर्म घट के 'ज्ञात' होने पर ही हो सकता है और 'घट का ज्ञान' होने से ही 'घट ज्ञात' हो सकता है। अन्यथा न घट 'ज्ञात' होगा और न उस पर **'ज्ञातता'** धर्म ही होगा। बिना 'ज्ञान' के अस्तित्व को स्वीकार किये **'ज्ञातता'** उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव **'ज्ञातता'** की उपपत्ति हो, इसलिए 'अर्थापत्ति' प्रमाण के द्वारा भट्ट-मीमांसक 'ज्ञान' के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसी **'ज्ञातता'** से उस ज्ञान के प्रामाण्य को भी भट्ट मानते हैं। यही उनका **स्वतः प्रामाण्य** है।

मुरारिमत

ये दोनों मत मीमांसा में पूर्व से ही बहुत प्रसिद्ध थे। पश्चात् एक नवीन मत का प्रचार हुआ। तब से प्रामाण्यवाद पर तीन मत हो गये और यही कारण था कि विद्वानों में लोकोक्ति है—**'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'**।[2]

---

[1] **इस ज्ञान का स्वरूप है—अहं घटत्वप्रकारकज्ञानवान्, घटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात्।**

[2] **उमेश मिश्र—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'—पञ्चम ओरियण्टल कान्फरेन्स प्रोसीडिंग्स, लाहोर।**

मुरारि मिश्र के मत में इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से ज्ञान होने पर 'अयं घटः' यह भान होता है। इस 'अयं घटः' की सत्यता का निश्चय करने के लिए पश्चात् 'अहं घटज्ञानवान्', ऐसा 'अनुव्यवसाय' होता है। इसी अनुव्यवसाय के द्वारा 'अयं घटः' इस ज्ञान का भान तथा उसका प्रामाण्य, दोनों ही निश्चित होते हैं। इस प्रकार यह भी **'स्वतः प्रामाण्य'** हुआ।

प्रभाकरमत में **ज्ञान के स्वप्रकाशत्व** से, **भट्टमत** में **ज्ञातता** से तथा **मिश्रमत में अनुव्यवसाय की सामग्री, अर्थात ज्ञानेन्द्रिय से** 'स्वतः प्रामाण्य' का निश्चय होता है।[1]

मुरारि मिश्र का मत नैयायिकों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। परन्तु भेद इतना है कि **नैयायिकमत** में प्रथम ज्ञान सन्दिग्ध रहता है। **मिश्रमत** में सन्देह नहीं है। कारण है यह कि मिश्रमत में प्रामाण्य-सामग्री वही है जो ज्ञान-सामग्री है, अर्थात् 'मनस्', जो ज्ञान के समय में सर्वदा उपस्थित रहता है।[2]

इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट है कि यथार्थ में **प्रभाकर** के ही मत में **'स्वतः प्रामाण्य'** है। **भट्टमत** में तो 'ज्ञातता' से प्रामाण्य है, न कि 'ज्ञान' से ही। इसी प्रकार **मिश्रमत** में भी 'अनुव्यवसाय' से प्रामाण्य है, न कि 'ज्ञान' से ही प्रामाण्य का निश्चय होता है। फिर भी किसी रूप में ये तीनों, नैयायिकों की अपेक्षा, **'स्वतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

भ्रान्ति-ज्ञान

प्रभाकर के मत में 'भ्रान्ति' और 'ज्ञान' ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध हैं। 'ज्ञान' स्वप्रकाश होने के कारण सदैव यथार्थ है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के रूप में जानना 'भ्रान्ति'-(ज्ञान) है। सीपी (शुक्ति) में रजत का या रज्जु में सर्प का जो भ्रान्ति-ज्ञान कहा जाता है, उसके सम्बन्ध में प्रभाकर का कहना है कि 'सीपी' या 'रज्जु' के साथ चक्षु का

प्रभाकरमत

---

[1] **गुरुनये स्वप्रकाशादिना, मुरारिनये अनुव्यवसायादिना, भट्टनये ज्ञाततालिंगकानुमित्यादिना यावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वत्स्य सर्वसाधारणत्वात् प्रामाण्यसिद्धिः।**

[2] **मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः इति मुरारिमिश्राः——वर्द्धमान——कुसुमाञ्जलिप्रकाश, पृष्ठ २१९; मिश्रमुद्दिश्याह——तन्मते ज्ञानेन्द्रियसन्निधिरेव प्रामाण्यग्रहसामग्रीत्वेन तत्प्रतिबन्धादेव संशयानुत्पत्तिः——पक्षधर मिश्र——आलोक, प्रत्यक्ष, हस्तलिखित ग्रन्थ, पृष्ठ २५।**

सन्निकर्ष होता है और ज्ञान होता है 'रजत' या 'सर्प' का। परन्तु यह ज्ञान 'रजत' तथा 'सर्प' के साथ चक्षु के सन्निकर्ष से नहीं होता, क्योंकि यह तो वहाँ विद्यमान नहीं है। सीपी तथा रज्जु का ज्ञान कभी नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'इदं रजतम्' या 'रज्जौ सर्पः' में दो भिन्न विषय हुए और दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है—रज्जु का चक्षु से और रज्जु में विद्यमान सादृश्य के कारण सर्प का स्मरणात्मक ज्ञान होता है। रज्जु या सीपी के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर भी नेत्र-दोष या मन्द प्रकाश के कारण सीपी और रज्जु के विशेष गुणों को न देखकर उनके सदृश रजत तथा सर्प के गुणों का स्मरणात्मक ज्ञान देखने वाले को होता है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी खास रजत या सर्प का स्मरण नहीं होता। अतएव इस रजत या सर्प का ज्ञान न तो 'प्रत्यक्ष' है और न 'अनुमान' है। यह 'स्मरणात्मक' है और यह 'भ्रान्ति' नहीं है। यहाँ एक वस्तु दूसरे रूप में नहीं देख पड़ती। एक सीपी तो है बाह्य जगत् में और वह है चक्षु का विषय तथा दूसरी (रजत, संस्काररूप में) 'आत्मा' में है और वह है मन का विषय। फिर 'भ्रान्ति' तो हुई नहीं। अतएव ये दोनों ज्ञान भिन्न हैं और यथार्थ हैं।

फिर लोगों को 'भ्रान्ति' मालूम कैसे होती है? इसके उत्तर में प्रभाकर का कहना है कि उन दोनों ज्ञानों को, अर्थात् 'रजतज्ञान' तथा 'शुक्तिज्ञान' को, एक में मिला देना ही 'भ्रान्ति' है, क्योंकि न तो रजत 'शुक्ति' है और न शुक्ति ही 'रजत' है। एक में मिला देने से एक वस्तु को दूसरी वस्तु के रूप में जानना ही तो 'भ्रम' है। रजतज्ञान और शुक्तिविषय में जो भेद है, उसका भान नहीं होने से यह 'भ्रान्ति' है। इसे **'अख्याति'** कहते हैं।

कुमारिलमत

मिथ्या ज्ञान को कुमारिल तथा मुरारि **'अन्यथाख्याति'** कहते हैं। भट्ट का कहना है कि 'इदं रजतम्' या 'रज्जौ सर्पः' यह ज्ञान तो यथार्थ है, क्योंकि जिस समय एक व्यक्ति को रजत में चक्षु के सन्निकर्ष से सर्प का ज्ञान होता है, वह ज्ञान तो वास्तविक सत्य होता है, क्योंकि उस व्यक्ति में भय, कम्पन, आदि सर्प-ज्ञान का फल स्पष्ट है। पश्चात् किसी दूसरे के ज्ञान से उस पूर्व-व्यक्ति का ज्ञान मिथ्या हो जाय, यह तो भिन्न विषय है। पूर्व में तो उस व्यक्ति के ज्ञान में कोई भ्रम नहीं था।

परन्तु **पक्षधर मिश्र** आदि विद्वानों के अनुसार 'रज्जौ सर्पः' 'भ्रान्ति-ज्ञान' है, क्योंकि इसमें सर्पत्व-प्रकारक सर्प-विषयक ज्ञान का रज्जुत्व-प्रकारक रज्जु-विषय में

'आरोप' किया जाता है। सर्पत्व तो सदैव सर्प में रहता है, वह कभी भी रज्जु में नहीं रह सकता। परन्तु उक्त स्थल में, अन्य विषय में अन्य प्रकार का ज्ञान होता है। अतएव यह 'भ्रमात्मक ज्ञान' है।

आलोचन

इस प्रकार संक्षेप में मीमांसा-दर्शन का विचार समाप्त हुआ। मनन करने से यह स्पष्ट है कि **'भाट्टमत'** व्यावहारिक जगत् से, न्याय-वैशेषिक के समान, विशेष सम्बद्ध है। इस मत में **'आत्मा'** तो जड़ है, किन्तु **ज्ञानशक्ति** उसमें सदैव रहती है। इसी से उसे 'बोधस्वरूप' भी कहते हैं, किन्तु यह जाग्रत् अवस्था के लिए ही कहा गया है। स्वप्नावस्था में 'आत्मा' में ज्ञान नहीं रहता।

प्रभाकरमत में भी **'आत्मा'** जड़ है, किन्तु **'ज्ञान'** स्वप्रकाश है। इसे जान कर यह स्पष्ट है कि प्रभाकरमत न्याय तथा भट्टमत से कुछ ऊँचे स्तर का है। दोनों मतों ने 'आत्मा' के अस्तित्व को पूर्ण रूप से सिद्ध किया है और क्रमशः उसके गुणों के वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा में मीमांसक लोग रहते हैं।

ईश्वर—मीमांसकों को **'ईश्वर'** या **'परमात्मा'** से विशेष कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि ये **'नास्तिक'** नहीं कहलाते, क्योंकि 'ईश्वर' के अस्तित्व का खण्डन तो इन्होंने नहीं किया।

मुक्ति—मुक्तावस्था में भी मीमांसक की 'जीवात्मा' स्वतन्त्र है और परस्पर भिन्न है। मुक्तावस्था में भी न्याय-वैशषिक की तरह 'पुरुषबहुत्व' को इन्होंने भी स्वीकार किया है। पदार्थों में भी अनेक नित्य पदार्थ ये मानते हैं।

इन सबको देखकर यह कहा जा सकता है कि मीमांसा-दर्शन भी नीचे स्तर से तत्त्व-ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है और इसका गन्तव्य पद अभी बहुत दूर है।

दशम परिच्छेद

सांख्य-दर्शन

सांख्यशास्त्र का स्वरूप

पूर्व में अनेक बार यह कहा गया है कि भारतीय दर्शन-शास्त्रों का मुख्य लक्ष्य वही है जो मनुष्य के जीवन का। मानुषिक जीवन में दु:ख के अनुभव के साथ ही उसकी निवृत्ति के उपायों के लिए जिज्ञासा भी उत्पन्न होती ही है। समय-समय पर चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जीवन-यात्रा के भिन्न-भिन्न स्तरों में साधक को क्रमश: दु:ख-निवृत्ति के कुछ अंशों का अनुभव भी होता ही रहता है और इसी से प्रोत्साहित होकर साधक एक भूमि से दूसरी भूमि पर जाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। यह तो मनुष्य-जीवन का व्यावहारिक रूप है। यही बात सिद्धान्तरूप में हमारे दर्शनों में भी है।

पहले कहा गया है कि परम पद की प्राप्ति तथा दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति 'आत्मा' के 'दर्शन से ही होती है, अतएव आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। अभी तक यह देखने में आया है कि सभी दर्शनों में प्रधानता 'आत्मा के ज्ञान' को ही दी गयी है।

वेद तथा उपनिषदों में तो 'आत्मा' के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कही गयी हैं, किन्तु वहाँ किसी एक क्रम के अनुसार विचार नहीं है। जब हम वर्गीकरण के अनुसार आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब हमें आत्मा के स्वरूप का क्रमिक ज्ञान प्राप्त होता है। **चार्वाकों** ने आत्मा के 'अस्तित्व' को माना है, किन्तु उसे वे भूत तथा भौतिकों से पृथक् नहीं कर पाये। **जैनों** ने आत्मा के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया तथा उसे 'उपयोगमय' भी माना, परन्तु आत्मा को सावयव, देह-परिमाण, आदि भौतिक धर्म से छुटकारा नहीं मिला। **बौद्धों** ने आत्मा को चित्त-सन्तति के समान स्वीकार किया, आत्मा-रूपी पृथक् तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं

किया। **न्याय-वैशेषिक** तथा **मीमांसा** ने भी आत्मा की पृथक् सत्ता मानी। आत्मा का अपना स्वरूप है, यह भी मीमांसा ने स्वीकार किया। ज्ञान को 'स्वप्रकाश' तथा 'नित्य' भी मीमांसा ने स्वीकार किया, किन्तु 'आत्मा' के सम्बन्ध में 'विभुत्व' तथा 'नित्यत्व' को छोड़ कर और कोई विशेष सूक्ष्म विचार नहीं किया।

यद्यपि इन लोगों ने भूत तथा भौतिकों से पृथक् उसकी सत्ता स्थिर की, फिर भी आत्मा 'द्रव्य' ही रही और एक प्रकार से 'जड़त्व' से छुटकारा नहीं पा सकी। इस आत्मा के विशेष ज्ञान से 'आत्मा एक पृथक् सत् वस्तु है', ऐसा ज्ञान साधक को होता है, किन्तु इससे सन्तोष नहीं होता। अतएव इसके सम्बन्ध में विशेष खोज करने के लिए साधक आगे बढ़ता है, अर्थात् न्याय-मीमांसा की व्यावहारिक भूमि से ऊँचे स्तर की तरफ वह चलता है।

यद्यपि परम पद के पहुँचने के मार्ग में प्रत्येक बिन्दु एक भिन्न स्तर है, वहाँ से एक भिन्न रूप में आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है और वही एक दर्शन शास्त्र हो जाता है, तथापि सभी स्तरों का यहाँ विचार करना सरल और सम्भव नहीं है। इसी लिए मुख्य-मुख्य भूमियों से ही आत्मा के स्वरूप का विचार किया जा रहा है। अवान्तर भूमियों का विचार छोड़ कर हम उस स्तर से यहाँ विचार करने जा रहे हैं, जिसे **'सांख्य'** तथा **'योग'** के नाम से प्रसिद्धि मिली है।

'सांख्य' शब्द का अर्थ

'संख्या' शब्द सम् पूर्वक 'चक्षिङः ख्याञ्' (ख्याञ्) धातु से बना है। इसका अर्थ है—'सम्यक् ख्यानम्' अर्थात् 'सम्यक् विचार'।[1] इसी को 'विवेक-बुद्धि' कहा है। इसी लिए 'संख्यावान्' को 'पण्डित' का पर्यायवाची कोशकारों ने कहा है। सभी जिज्ञासुओं को मालूम है कि अनादि काल से 'आत्मा' अविद्या से आच्छादित है। यही उसका बन्धन है। अविद्या के ही कारण 'आत्मा' को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। स्वरूप के ज्ञान के बिना दुःख की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। अतएव स्वरूपज्ञान, अर्थात् अविद्या से आत्मा को पृथक् करना, आवश्यक है। अर्थात् 'सत्त्व-रजस्-तमो-रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है', इस प्रकार का ज्ञान जीव को प्राप्त करना है। यह भी ज्ञान क्रमशः सोपानपरम्परा के अनुसार होता है। इसी पृथक्करण को **'विवेकख्याति'**

---

[1] **'चर्चा संख्या विचारणा'—अमरकोश, १-५-२ ।**

या '**विवेक**' या '**प्रकृति-पुरुष-विवेक**' कहते हैं।[1] इसी को '**सत्त्वपुरुषान्यताख्याति**' भी कहते हैं। इसी लिए पंचशिखाचार्य ने कहा है—'**एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्**'

इस विवेक-बुद्धि की प्राप्ति '**सांख्य-दर्शन**' के विषयों को जानने से मिलती है। इसलिए इसे '**सांख्य-दर्शन**' कहते हैं।

सांख्य की प्राचीनता

प्राचीनों की उक्ति है—'**न हि सांख्यसमं ज्ञानम्**', अर्थात् यथार्थ ज्ञान तो **सांख्य** में ही है, ऐसा ज्ञान दूसरे शास्त्र में नहीं है। जितने जिज्ञासु होते हैं, जो विद्वान् हैं, जिन्हें दुःख-निवृत्ति की इच्छा है, सभी को तात्त्विक ज्ञान की आवश्यकता है। विना ज्ञान के किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती। इसलिए भगवान् ने गीता में भी कहा है—

'**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**'[2]

ज्ञान के समान पवित्र इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है।

'**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति**'[3]

ज्ञान को प्राप्त कर शीघ्र ही परा शान्ति को साधक प्राप्त करता है।

'**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः**'[4]

आत्मा के ज्ञान से ही जिनका वह अज्ञान नष्ट हो गया है।

'**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**'[5]

ज्ञान की प्राप्ति से समस्त मल के नाश होने पर साधक पुनः इस संसार में नहीं आते।

कहने का अभिप्राय है कि अपना कल्याण चाहने वाला कोई भी मनुष्य नहीं है जिसे **ज्ञान** का प्रयोजन न हो। इसलिए सांख्यशास्त्र का अध्ययन, अनुशीलन अनादि काल से होता आया है, ऐसा अनुमान होता है। यही कारण है कि उपनिषद् से लेकर साहित्य तथा ज्योतिःशास्त्र के भी ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र के विषयों का किसी न किसी प्रसंग में उल्लेख मिलता ही है। महाभारत, रामायण, पुराणों की तो बात ही क्या, इनमें तो अनेक रूपों में तथा अनेक प्रकार से सांख्य की चर्चा है।

---

[1] **इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या। अहं तेभ्योऽन्यः। तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनम्। एष सांख्यः—शंकराचार्य, गीताभाष्य, १३—२४। अर्थात् ये सत्त्व, रजस् और तमस् मेरे दृश्य हैं। मैं इनसे भिन्न हूँ। इनके व्यापार के साक्षिस्वरूप नित्य और गुणों से भिन्न आत्मा है यह चिन्तन करना है। यही सांख्य है।**

[2] **गीता, ४-३८।** [3] **गीता, ४-३९।** [4] **गीता, ५-१६।** [5] **गीता, ५-१७।**

सांख्य के ज्ञान के बिना कोई विद्वान् ज्ञानी नहीं हो सकता। सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक परमर्षि कपिल ही **'आदि विद्वान्'** कहे गये हैं।[1] शास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सांख्यशास्त्र के समान व्यापक शास्त्र कोई दूसरा नहीं हुआ। यही कारण था कि सांख्यशास्त्र के तत्त्वों के विवेचन में अनेक प्रकार के मतभेद देख पड़ते हैं। जैसे—कहीं 'मूला प्रकृति' एक है, तो किसी ने भिन्न-भिन्न जीवात्मा के लिए भिन्न-भिन्न 'प्रकृति' मानी है;[2] कोई 'महत्' और 'बुद्धि' में भेद मानते हैं[3], कोई इन्हें पर्यायवाचक शब्द कहते हैं;[4] किसी के मत में 'प्रकृति' स्वतन्त्र है और 'पुरुष' से भिन्न है, परन्तु किसी और के मत में 'प्रकृति' 'ईश्वर' की शक्ति है।[5] महाभारत[6] में कहीं २४, कहीं २५, तो कहीं २६ तत्त्वों का उल्लेख है। गीता में 'प्रकृति' दो प्रकार की है—'परा' और 'अपरा'। ये भेद 'सांख्यकारिका' में नहीं हैं, किन्तु इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु गीता में कहीं 'प्रकृति' को 'माया' कहा है, कहीं उस से भिन्न।[7] सांख्य की 'प्रकृति' में और गीता की 'प्रकृति' में और भी अनेक भेद हैं।[8] इन भेदों को देखने से यह मालूम होता है कि सांख्य के तत्त्वों का विशेष विवेचन लोग करते थे। जिन्हें जिस प्रकार का विशेष अनुभव हुआ, उन्होंने उसी प्रकार उन तत्त्वों को समझा और उसी तरह उनका विश्लेषण भी किया।

सांख्य-दर्शन तो वास्तव में मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्त्व स्थूल नहीं हैं। वे हमारे बौद्धिक जगत् के तत्त्व हैं। इस जगत् में केवल सूक्ष्म ही तत्त्व हैं। उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म हैं। अतएव जिसमें जितनी बुद्धि होती है, वह उतना सूक्ष्म विचार कर सकता है। इसलिए सांख्य के तत्त्वों के विचार में भेद होना असम्भव नहीं। हाँ, मूल विचार में कोई भी भेद नहीं है।

---

[1] देखिए—योगभाष्य, १-२५।

[2] मौलिक्यसांख्य ह्यात्मानमात्मानं प्रति प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मसु अपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः—गुणरत्न-षड्दर्शनसमुच्चय-प्रकाश, पृ० ९९, विब्लिओथेका इंडेका संस्करण।

[3] 'बुद्धेरात्मा महान् परः'—कठोपनिषद्, १-३-१०।

[4] सांख्यकारिका, ३। [5] श्वेताश्वर, ४-१०।

[6] शान्तिपर्व, ३०३-३०८। [7] ९-८।

[8] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, परिच्छेद ४।

१६वीं सदी के बाद के विज्ञान भिक्षु ने जो 'सांख्यसूत्र' तथा उसके ऊपर 'प्रवचन-भाष्य' लिखा है, उसमें भी बहुत-सी भिन्न बातों का उन्होंने प्रतिपादन किया है। विज्ञान भिक्षु वास्तव में वेदान्ती थे। अतएव उनका विचार वेदान्त-मिश्रित है, उसे सांख्यमत का सैद्धान्तिक ग्रन्थ ज्ञानी लोग नहीं मानते, फिर भी सांख्य के तत्त्वों के विचार का यह एक स्वतन्त्र रूप है। इस प्रकार सांख्यशास्त्र की व्यापकता, प्राचीनता तथा महत्त्व को अनादि काल से विद्वानों ने माना है।

सांख्य के रहस्य का लोप

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि एक समय था, जब सांख्य-दर्शन का अध्ययन बहुत व्यापक रूप में होता था। खेद का विषय है कि आगे उसके रहस्य को विद्वान् लोग भूल गये। प्राचीन परम्परा नष्ट हो गयी और विद्वानों ने सांख्यभूमि को भी न्याय-वैशेषिक-भूमि के समान ही स्थूल जगत् के तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र मान लिया और उसी प्रकार इसके तत्त्वों की भी व्याख्या करने लगे, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होगा।

बौद्धिक पदार्थों के चिन्तन से दूर होना

इस समय **सांख्य** के रहस्य को जानने वाले व्यक्ति इस देश में बहुत कम रह गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि शास्त्रविचार की आध्यात्मिक प्रवृत्ति बौद्धों के साथ-साथ लड़ते झगड़ते रहने के कारण सर्वथा बहिर्मुखी हो गयी। न्यायशास्त्र के तार्किक रूप ने विद्वानों को अन्तर्दृष्टि से दूर हटा दिया। अतएव बाह्य जगत् के तत्त्वों के स्थूल विचार में ही वे सब लग गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष में बहुत ऊँचे विचार के विद्वान् हुए और उन्होंने दर्शनों के ऊपर बहुत विचार किया। इनकी विद्वत्ता पाण्डित्यपूर्ण थी, परन्तु बहिर्मुखी थी। जहाँ तक दार्शनिक विचार बाह्य जगत् से विशेष सम्बन्ध रखता है, वहाँ तक तो इनके पाण्डित्य ने दर्शनशास्त्र में चमत्कार-पूर्ण विचारों को दिखाया, किन्तु जहाँ से उस विचार का क्षेत्र एक प्रकार से अलौकिक जगत् में प्रवेश करता है, वहाँ इनका पाण्डित्य बहुत सफल नहीं है। वहाँ तो ज्ञानियों की अन्तर्दृष्टि होने से ही सफलता मिलती है।

यह कहना ठीक नहीं है कि इन विद्वानों में अन्तर्दृष्टि वाले लोग हुए ही नहीं। हुए तो अवश्य, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है और फिर भी अधिकांश लोगों ने, सम्भव है, व्यक्तिगत रूप में अपने लिए ही अपने ज्ञान का उपयोग किया हो। यही कारण है कि आधुनिक काल में सांख्यशास्त्र के तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का परिचय अन्धकार में पड़ा हुआ है।[1]

---

[1] समझने के लिए श्री उमेश मिश्र द्वारा लिखित 'सांख्ययोगदर्शन' देखिए।

सांख्य-दर्शन की भूमि

जैसा ऊपर कहा गया है, प्रत्येक दर्शन का एक अपना स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र दृष्टि है, प्रत्येक दर्शन एक स्वतन्त्र बिन्दु पर स्थिर होकर दार्शनिक दृष्टि से विश्व के तत्त्वों का अपने-अपने अनुभवों के अनुकूल विचार करता है। परन्तु सभी दर्शन हैं तो एक ही परमपद के पाने की इच्छा रखने वाले पथिक। कोई आगे है और कोई पीछे। **न्याय-वैशेषिक-मत** में पदार्थों के तात्त्विक विचारों से मालूम हुआ कि इनके मत में नौ नित्य द्रव्य हैं, आत्मा जड़ है, मोक्षावस्था में भी आत्मा और मन का सम्बन्ध रहता ही है, आत्मा में 'स्वरूपयोग्यता' मात्र है, अद्वैत का स्थान नहीं है, इत्यादि। किन्तु उपर्युक्त बातों से जिज्ञासु को इस भूमि से सन्तोष नहीं होता। अतएव जहाँ न्याय-वैशेषिक या मीमांसा की भूमि का अन्त होता है, उसके आगे वह अपनी दृष्टि को, अपनी खोज को, बढ़ाता है, अर्थात् चार भूतों के भिन्न-भिन्न परमाणु, आकाश, काल, दिक्, मन तथा आत्मा, इन नौ नित्य तत्त्वों पर विशेष विचार करने लगता है। बाद को उसे यह मालूम होता है कि ये सभी नौ तत्त्व वस्तुतः नित्य नहीं हैं, जैसा न्याय-वैशेषिक ने प्रतिपादन किया है। इनका सूक्ष्म रूप में विलयन हो सकता है। फिर इन्हीं नौ तत्त्वों का सूक्ष्म रूप में विश्लेषण करने को वह उद्यत हो जाता है। विश्लेषण के द्वारा, जैसा आगे स्पष्ट होगा, वह इन **नौ** तत्त्वों को केवल **दो** तत्त्वों में, **'प्रकृति'** तथा **'पुरुष'** में, अन्तर्भूत पाता है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक का अन्त होता है, वहीं से सांख्य का विचार आरम्भ होता है। जो भौतिक परमाणु तथा मन, आकाश, आदि न्याय में सूक्ष्मतम या रूपरहित होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं हैं, वे ही सांख्य में स्थूलतम तत्त्व हैं और सांख्य-भूमि में सभी को उनका प्रत्यक्ष होता है। हाँ, इन दोनों का मापदण्ड भिन्न है, क्योंकि भूमि भिन्न है, दृष्टि भिन्न है। एक निम्न स्तर का है, दूसरा ऊँचे स्तर का है। न्याय-वैशेषिक का जगत् स्थूल है, व्यावहारिक है; सांख्य का जगत् सूक्ष्म है, बुद्धिगम्य है। परन्तु जिस प्रकार न्याय का क्षेत्र 'सत्' है, उसी प्रकार सांख्य का भी क्षेत्र 'सत्' है। एक की सत्ता बाह्य है, दूसरे की सत्ता आंतरिक है। यही इनका मौलिक भेद है।

सांख्य-दर्शन के आचार्य तथा उनके ग्रन्थ

सांख्य-दर्शन के आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। ४८ अवतारों में पौराणिकों ने इनकी भी गिनती की है। भागवत में इन्हें विष्णु का पञ्चम अवतार माना गया है।

इन्होंने सांख्य-दर्शन के रहस्यों को सूत्र-रूप में प्रतिपादित किया था, ऐसी परम्परा सुनने में आती है। परवर्ती सांख्याचार्य कपिल मुनि के प्रशिष्य 'पञ्चशिखाचार्य' ने भी कहा है—

कपिल

'निर्माणचित्त'मधिष्ठाय भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'

अर्थात् सृष्टि के आदि में विष्णुरूप भगवान् ने योग-बल से एक चित्त का निर्माण कर, स्वयं एक अंश से उसमें प्रवेश कर, **'कपिल'** के रूप को धारण कर, महर्षि कपिल के रूप में, करुणा से युक्त होकर, परम तत्त्व की जिज्ञासा करने वाले अपने प्रिय शिष्य 'आसुरि' को सांख्य-दर्शन के तत्त्वों का उपदेश दिया।

सम्भव है कि यही उपदेश सूत्ररूप में रहा हो, किन्तु इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इनके नाम से कोई अन्य ग्रन्थ प्रसिद्ध भी नहीं है।

आसुरि

पुराणों में तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में भी लिखा है कि कपिल के साक्षात् शिष्य **'आसुरि'** थे। इनकी रचना के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

पञ्चशिख

आसुरि के प्रथम शिष्य[2] **'पञ्चशिख'** थे। इन्होंने सांख्य-दर्शन पर एक 'सूत्र-ग्रन्थ' लिखा था। ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनके नाम से कतिपय सूत्रों का उल्लेख मिलता है। योगभाष्य में आठ सूत्रों का उल्लेख है।[3] विज्ञान भिक्षु तथा वृद्ध वाचस्पति मिश्र का कहना है कि ये सूत्र पञ्चशिख के रचित हैं। इनमें से किसी-किसी सूत्र का अन्य ग्रन्थों में भी उल्लेख है।

---

[1] योगी लोगों में तपस्या के कारण सूक्ष्म शरीर या चित्त बनानेकी शक्ति हो जाती है, जिसके द्वारा वे अपनी इच्छा से अनेक शरीर धारण कर लेते हैं और अपूर्व कार्यों का सम्पादन करते हैं। इसे 'निर्माणकाय' कहते हैं। इसी प्रकार योगशक्ति से अनेक प्रकार के चित्तों का भी निर्माण योगी लोग कर लेते हैं और उनके द्वारा ज्ञान का प्रचार करते हैं। इसे 'निर्माणचित्त' कहते हैं। बौद्ध-दर्शन में इसका विशेष विचार है। ज्ञानी लोग मृत्यु के समय पूर्व-पूर्व-जन्म के अन्त कर्मों का भोग कर नाश करने के लिए ज्ञान-योग के बलसे 'कायव्यूह' के द्वारा अनन्त शरीर सूक्ष्म रूप से निर्माण कर, भोगों के द्वारा सभी कर्मों को क्षय कर, अन्त में परमपद को प्राप्त करते हैं। यह सब इसी का स्वरूप है।

[2] महाभारत, शान्तिपर्व, २१८-६-१०।

[3] १-४; १-२५; १-३६; २-५; २-६; २-१३; ३-१३; ३-४१।

इनके अतिरिक्त 'भामती' आदि ग्रन्थों में भी कुछ सूत्र मिलते हैं।[1] इन सूत्रों का यहाँ एकत्र संकलन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

(१) **एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।**[2]

अर्थात् 'एक ही दर्शन, ख्याति ही दर्शन'। अभिप्राय यह है कि लौकिक भ्रान्ति-दृष्टि में 'ख्याति' या 'बुद्धि की वृत्ति' ही 'दर्शन' है। इस प्रकार अविद्या के कारण बुद्धि-वृत्ति को 'दर्शन', अर्थात् 'पौरुषेय चैतन्य' के साथ एकाकार मान लिया जाता है।

(२) **आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।**[3]

(३) **तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते।**[4]

अभिप्राय यह है कि अणुमात्र तथा सभी करणों की अपेक्षा सूक्ष्म उस अस्मिता-मात्र या बुद्धितत्त्व का एवं उसके आध्यात्मिक सूक्ष्म भान के अनुसरण पूर्वक केवल 'अस्मि' या 'मैं हूँ', इस रूप का ही भान होता है।

(४) **व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेन अभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनु-नन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचति आत्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।**[5]

अभिप्राय यह है कि व्यक्त या अव्यक्त सत्त्व को, अर्थात् स्त्री, पुत्र, पशु, आदि चेतन तथा शय्या, आसन, आदि अचेतन वस्तु को, अपना ही स्वरूप मानकर, उनकी सम्पत्ति को भी अपनी ही सम्पत्ति मानकर, लोग आनन्दित होते हैं और उनकी विपत्तियों को अपनी ही विपत्ति समझ कर, लोग शोक में पड़े रहते हैं, ये सभी मोह में पड़े हैं।

(५) **बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्त-त्रात्मबुद्धिं मोहेन।**[6]

अभिप्राय यह है 'बुद्धि' से परे, अर्थात् भिन्न रूप का, जो 'पुरुष' है, उसे अपने से आकार (स्वरूप-सदाविशुद्धि), शील (औदासीन्य) विद्या (चैतन्य) आदि के द्वारा भिन्न न देखकर, मोह से उस में (अर्थात् बुद्धि में) आत्मबुद्धि करे।

---

[1] ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य की टीका, २-२-१०।

[2] योगभाष्य, १-४।

[3] योगभाष्य, १-२५, इसका अभिप्राय पहले कहा गया है। देखिए, पृष्ठ २७३, टिप्पणी[1]।

[4] योगभाष्य, १-३६। [5] योगभाष्य, २-५। [6] योगभाष्य, २-६।

(६) **'स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः स प्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नाऽपकर्षायालं, कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति'।**[1]

अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने से प्रधान पुण्य-कर्माशय उत्पन्न होता है, किन्तु साथ ही साथ (यज्ञ में पशु-हिंसा करने के कारण) पाप-कर्माशय भी उत्पन्न होता ही है। उस प्रधान पुण्य के साथ गौण रूप से पाप का भी स्वल्प सम्पर्क है। प्रायश्चित्त आदि करने से उस पाप का परिहार हो सकता है और वह पाप कथञ्चित् सह्य किया जा सकता है। किन्तु कुशल अर्थात् विशेष पुण्य-कर्माशय का वह (पाप) नाश नहीं कर सकता है, क्योंकि हमारे और भी अन्य कुशल पुण्य-कर्म हैं, जहाँ यह स्वल्प पाप-कर्माशय 'आवाप' को प्राप्त कर, अर्थात् क्षीण होकर, स्वर्ग में थोड़ा ही दुःख देगा।

(७) **'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते'।**[2]

अभिप्राय यह है कि बुद्धि के जो धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ये आठ भावरूपों के अतिशय हैं तथा वृत्ति के जो शान्त, घोर और मूढ़, ये तीन अतिशय (उत्कटता) हैं, इनमें परस्पर विरोध होता है, अर्थात् जब धर्म का उत्कर्ष होता है, तब अधर्म का उत्कर्ष नहीं होता, इत्यादि; किन्तु बुद्धि का साधारण भाव या वृत्ति अतिशय के साथ विरोध नहीं करती, मिलकर ही कार्य करती है।

(८) **'तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति'।**[3]

अभिप्राय यह है कि समान देश, अर्थात् आकाश में रहने वाले सभी श्रवण-ज्ञान-युक्त व्यक्तियों का एक ही देशावच्छिन्न श्रुतित्व है, अर्थात् सभी के श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश ही है।

(९) **'तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः'।**[4]

अभिप्राय यह है कि पुरुष और प्रकृति के संयोग के हेतु के परित्याग से दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो सकता है।

---

[1] योगभाष्य, २-१३।

[2] योगभाष्य, ३-१३।

[3] योगभाष्य, ३-४१।

[4] ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य की टीका भामती, २-२-१०।

(१०) **'आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन'** ।[1]

(११) **'कर्मक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्'** ।[2]

किसी का मत है कि 'षष्टितन्त्र' भी पञ्चशिख का ही ग्रन्थ है।

विन्ध्यवास या विन्ध्यवासिन् एक बहुत प्रसिद्ध सांख्य के आचार्य थे। इनका मत अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित मिलता है। कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक'[3], 'भोज-वृत्ति'[4], 'मेधातिथिभाष्य'[5] अभिनवभारती[6] आदि ग्रन्थों में भी इनके मत की चर्चा है।

विन्ध्यवास

मृत्यु के पश्चात् **'आतिवाहिक शरीर'** के द्वारा जीव अन्यत्र जाता है। इस मत को विन्ध्यवास नहीं स्वीकार करते, यह कुमारिल ने कहा है।[7]

इनके अतिरिक्त वार्षगण्य, जैगीषव्य, वोढु, देवल, आदि भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य थे। किन्तु किसी का भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

विज्ञान भिक्षु १६वीं सदी में बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। कहा जाता है कि वर्त-मान 'सांख्यसूत्र' और उसका भाष्य 'सांख्यप्रवचन-भाष्य', ये दोनों इन्हीं की रचनाएँ हैं। इन्होंने 'योगवार्त्तिक' तथा ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृत-भाष्य' भी लिखे हैं। इनके अतिरिक्त 'सांख्यसार' एवं 'योगसार' भी इन्होंने लिखे हैं। यह बहुत स्वतन्त्र मत के विद्वान् थे। यही कारण है कि इनकी व्याख्याओं में बहुत स्वातन्त्र्य है और सांख्य एवं वेदान्त के मतों का मिश्रण है। इनका मत सांख्य तथा वेदान्त दोनों के समन्वयरूप में है। इसलिए ज्ञानी विद्वान् लोग 'सांख्यसूत्र' को सांख्य परम्परा का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानते।

विज्ञान भिक्षु

ईश्वरकृष्ण का समय ईसा के पूर्व दूसरी सदी कहा जा सकता है। पञ्चशिख के बाद सम्भव है कि सांख्य के अनेक आचार्य हुए हों, किन्तु वे प्रसिद्ध नहीं थे। उनके बाद सबसे प्रसिद्ध 'ईश्वरकृष्ण' ही हुए। इन्होंने 'षष्टि-तन्त्र' के आधार पर सांख्य-दर्शन पर **'सांख्यकारिका'** नाम का एक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखा। यही ग्रन्थ आज भी आदरणीय है। इसको पढ़कर

ईश्वरकृष्ण

---

[1] योगवार्त्तिक, पृष्ठ ४६६ (४.२५)

[2] योगवार्त्तिक, पृष्ठ ४७४ ((४.३२)

[3] पृष्ठ ३९३, कारिका १४३; ७०४; ६२।

[4] ४-२२।

[5] मनुसंहिता, १-५५। [6] नाट्यशास्त्र की व्याख्या, कारिका ११।

[7] अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना—श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद ६२।

सांख्य-दर्शन का परम्परागत ज्ञान हमें प्राप्त होता है। इसको 'कनकसप्तति', 'सांख्य-सप्तति', 'सुवर्णसप्तति', आदि भी लोग कहते हैं।

इन नामों को देखकर यह निश्चय होता है कि इस ग्रन्थ में सत्तर कारिकाएँ थीं। किन्तु वर्तमान काल में इस ग्रन्थ में केवल उनहत्तर कारिकाएँ ही उपलब्ध होती हैं।

सांख्यकारिका

'गौडपाद-भाष्य' में, जो इस ग्रन्थ पर प्राय: सबसे प्राचीन उपलब्ध टीका है, केवल उनहत्तर ही कारिकाएँ हैं। यह गौडपाद यदि शंकराचार्य के परम गुरु हों तो, कहा जा सकता है कि सातवीं सदी के पूर्व ही यह एक कारिका नष्ट हो गयी थी। परन्तु बाद में किसी ने अन्त में तीन कारिकाएँ जोड़ दीं जिन पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका 'तत्त्वकौमुदी' में व्याख्या भी की है।

वह कौन-सी कारिका थी जो नष्ट हो गयी, इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने, मुख्यत: लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने, बहुत विचार किया है, फिर भी कोई एक मत नहीं है। हम भी अपना विचार समय पर कहेंगे।

सांख्यकारिका की टीकाएँ–'सांख्यकारिका' के ऊपर निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं—

(१) **'माठरवृत्ति'** या 'माढरवृत्ति'—यह सबसे प्राचीन है। इसका उल्लेख जैनों के 'अनुयोगद्वार' नाम के, दूसरी सदी के, ग्रन्थ में है। इन्हें कनिष्क का समसामयिक लोग मानते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। काशी 'चौखम्भा संस्कृत सिरीज' के अध्यक्ष ने 'माठरवृत्ति' के नाम से एक टीका प्रकाशित की है। यह टीका भिन्न है। मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि यह नवम सदी से पहले की कभी नहीं हो सकती।[1] मालूम होता है कि 'गौडपाद-भाष्य' के आधार पर बृहद् रूप में इसे किसी ने लिखा है।

(२) **गौडपाद-भाष्य**—यह प्राचीनतम टीका मालूम होती है। इसमें उनहत्तर कारिकाओं पर **भाष्य** है। शंकराचार्य के परम गुरु का नाम गौडपाद था, ऐसी लोगों की धारणा है। ये ही 'माण्डूक्यकारिका' के संकलयिता प्रसिद्ध वेदान्ती **'गौडपाद'** हैं। ये दोनों एक हैं अथवा भिन्न, इसका निर्णय करना कठिन है। एक तो सांख्याचार्य हैं, दूसरे वेदान्ताचार्य। लेखशैली भिन्न है। ज्ञान का स्तर भी भिन्न है। परन्तु शास्त्र भी तो भिन्न

---

[1] **देखिए—उमेश मिश्र—गौडपादभाष्य ऐंड माठरवृत्ति—इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़, भाग ७ (१)**

स्तर का है, इसलिए लेखनशैली में भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर भी निर्णय करना कठिन है। इन्होंने अपने **भाष्य में दो स्थलों पर सांख्य के वास्तविक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है,**[1] जिससे सांख्य के स्वरूप का कुछ ज्ञान हो जाता है, किन्तु **अन्यत्र तो इनकी** भी व्याख्या बहुत सन्तोषजनक नहीं मालूम होती।

(३) **जयमंगला**—यद्यपि इस टीका के सम्पादक डा० हरदत्त शर्मा ने कहा है कि इसके रचयिता 'शंकराचार्य' हैं, किन्तु यह विश्वसनीय नहीं मालूम होता। प्रायः इसके रचयिता कोई बौद्ध विद्वान् थे, जिनका नाम 'शंकरार्य' था, जिन्होंने इस टीका के प्रारम्भ में 'बुद्ध' को मङ्गलाचरण में प्रणाम किया है। मालूम होता है किसी ने इसमें पूर्व लेखक की त्रुटि समझकर, **'चा'** जोड़ दिया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। हमारे गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज ने भी इस ग्रन्थ की भूमिका में यही बात लिखी है। इस टीका का समय वाचस्पति मिश्र के पूर्व ही कहा जा सकता है।

(४) **चन्द्रिका**—नारायण तीर्थ (१७वीं सदी) इसके रचयिता हैं। वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' की यह अनुयायिनी टीका मालूम होती है।

(५) **सरलसांख्ययोग**—२०वीं सदी के हुगली के प्रसिद्ध हरिहरारण्यक ने बंगला में यह व्याख्या लिखी है।

(६) **तत्त्वकौमुदी**—वाचस्पति मिश्र (प्रथम) (१०म शतक) ने सांख्यकारिका पर **'तत्त्व-कौमुदी'** नाम की एक विस्तृत व्याख्या लिखी है। सर्वांगपूर्ण होने के कारण सांख्यशास्त्र का प्रधान ग्रन्थ एक प्रकार से यही टीका मानी जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें बड़ी विद्वत्ता है, परन्तु खेद यह है कि वाचस्पति मिश्र ने इस व्याख्या को न्याय-भूमि की दृष्टि से लिखा है। वाचस्पति मिश्र मिथिला के एक बहुत बडे विद्वान् थे। इन्होंने न्यायशास्त्र कार्णाटक गुरु त्रिलोचन से पढ़ा था। सभी दर्शनों पर इन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु प्रधानतया यह नैयायिक थे। इन्होंने सांख्य के तत्त्वों को व्यावहारिक बाह्य जगत् के तत्त्वों के समान ही मान लिया और न्यायशास्त्र की प्रक्रिया से उन तत्त्वों का विवेचन किया। इसलिए

---

[1] कारिका ६ तथा ११।

यह टीका स्थल-स्थल पर कुछ कठिन भी हो गयी और सांख्यशास्त्र के विचारों से सर्वथा पराङ्मुख हो गयी है, जैसा तत्त्वों के विचार के समय आगे कहा जायगा। फिर भी आजकल के विद्वानों की दृष्टि में इसका बहुत आदर है। इसे ही पढ़कर विद्वान् अपने को सांख्यशास्त्र का पूर्णज्ञाता मानते हैं। परन्तु यह एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है, जिस ओर लगभग बीस वर्ष पूर्व हमने विद्वानों की दृष्टि आकर्षित की थी।

इसके ऊपर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं, जिनमें बलराम उदासीन की व्याख्या आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में उत्तम है। परन्तु खेद है कि किसी विद्वान् ने आज तक वाचस्पति मिश्र के दृष्टि-भेद की तरफ ध्यान नहीं दिया। वाचस्पति मिश्र ने न्याय की दृष्टि से सांख्य के तत्त्वों का विचार किया है, यह सर्वथा निर्मूल है।

(७) **युक्तिदीपिका**—यह भी सांख्यकारिका की एक सुन्दर टीका है, परन्तु इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें प्राचीन मतों का भी उल्लेख है। इसके अन्त में **'कृतिरियं श्रीवाचस्पतिमिश्राणाम्'** लिखा है, किन्तु यह भूल है। यह टीका प्राचीन नहीं है, यह इसके लेख से स्पष्ट है।

(८) **सुवर्णसप्ततिशास्त्र**—लोगों की धारणा है कि यह 'सांख्यकारिका' के ऊपर 'परमार्थ' की टीका है। पं० ऐय्यास्वामी शास्त्री ने इसे चीनी भाषा से संस्कृत में अनुवाद कर प्रकाशित किया है। कहा जाता है कि ५४६ ईस्वी में बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने **सांख्यसप्तति** का संस्कृत भाषा से चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इसका मूल संस्कृत-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस टीका में सत्तर कारिकाएँ हैं। आधुनिक कारिका तिरसठ और एकहत्तर इसमें नहीं हैं। इसलिए शास्त्री का कहना है कि यह ग्रन्थ पूरा है, इसमें से कोई भी कारिका नष्ट नहीं हुई है। परन्तु गौड़पाद-भाष्य में तथा अन्य सभी टीकाओं में कारिका तिरसठ पर व्याख्या है, इसलिए कारिका तिरसठ का अस्तित्व हम कैसे विस्मरण कर दें? तब यह प्रश्न और भी बहुत जटिल हो जाता है।

तत्त्वदृष्टि से मुझे यह विश्वास है कि एक कारिका अवश्य नष्ट हो गयी है। इसी कारण सांख्यशास्त्र का वास्तविक रूप आज भी अन्धकार में पड़ा है।

इन ग्रन्थों में केवल ईश्वरकृष्ण की कारिकामात्र को सांख्य का प्रामाणिक ग्रन्थ सदा से माना गया है। शंकराचार्य, आदि विद्वानों ने भी इसी को प्रामाणिक मान कर

विवेचन किया है। अतएव हम भी इसी कारिका के आधार पर यहाँ सांख्यशास्त्र का विचार करेंगे।

तत्त्वों का विचार

यह पहले कहा गया है कि सांख्य-दर्शन के सभी तत्त्व सूक्ष्म हैं। इसके स्थूलतम तत्त्व भी हमारी स्थूल दृष्टि से देखे नहीं जा सकते। जिन तत्त्वों को न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा ने नित्य कहा है और जिनके अन्दर उनकी दृष्टि नहीं जा सकती, वे तत्त्व सांख्य में स्थूलतम हैं। ये सभी बातें क्रमशः स्पष्ट हो जायँगी। जैसे—

न्यायवैशेषिक के नित्य पदार्थ

पृथिवी परमाणु, जलीय परमाणु, तैजस परमाणु, वायवीय परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मनस्, ये न्याय-वैशेषिक के नौ नित्य-द्रव्य हैं, जिनमें निम्न-लिखित पाँच 'भत हैं'। इनके स्वरूप ये हैं—

पृथिवी परमाणु=पृथिवी द्रव्य+गन्ध,

जलीय परमाणु=जलीय द्रव्य+रस,

तैजस परमाणु=तैजस द्रव्य+रूप,

वायवीय परमाणु=वायवीय द्रव्य+स्पर्श,

आकाश=आकाश द्रव्य+शब्द।

इससे यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक के मत से 'परमाणु' में द्रव्य और गुण दोनों मिश्रित हैं। आकाश स्वयं नित्य और विभु है, जिसका विशेष-गुण 'शब्द' है। इसी प्रकार 'आत्मा' नित्य और विभु है। उसमें ज्ञान आदि विशेष-गुण हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर सांख्य के तत्त्वों का विचार करना चाहिए।

सांख्य की भूमि में तीन प्रकार के 'तत्त्व' हैं—**'व्यक्त', 'अव्यक्त'** तथा **'ज्ञ'**। **'ज्ञ'** चेतन है। **'अव्यक्त'** को मूला प्रकृति या प्रधान कहते हैं। यह जड़ है। **'व्यक्त'** के तेईस भेद हैं और ये **कार्य-कारण की परम्परा में मूला-प्रकृति के परिणाम हैं।** सांख्य के जगत् में ये ही पचीस प्रमेय या तत्त्व हैं। इन पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त और कुछ भी उस भूमि में नहीं है। इन्हीं तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से सांख्यशास्त्र के अनुसार दुःख की निवृत्ति होती है, जैसा कहा है—

सांख्य के तत्त्व

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्"[1]

व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के विशेष ज्ञान से परम तत्त्व की प्राप्ति होती है। विवेक, ज्ञान या ख्याति ही इनके मत में **'मोक्ष'** है। अतएव इन्हीं तीन प्रकार के तत्त्वों का विशेष विचार करना यहाँ आवश्यक है।

इन तत्त्वों को समझने के लिए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन तत्त्वों में एक तत्त्व **'चेतन'** है, जिसे 'ज्ञ' या **'पुरुष'** भी कहते हैं और अवशिष्ट दोनों, **'व्यक्त'**, और **'अव्यक्त'**, जड़ हैं। **'पुरुष'** निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त है, जैसा आगे कहा जायगा। अन्य दोनों तत्त्व त्रिगुण, अविवेकी, आदि धर्मों से युक्त हैं। ये ही तीनों तत्त्व सूक्ष्म जगत् के पदार्थ हैं। इन पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार ये सूक्ष्म जगत् के कार्य का निर्वाह करते हैं, इन बातों को समझने के लिए हमें सबसे पहले 'परिणाम' तथा 'कार्यकारणभाव' के स्वरूप को जानना उचित है।

प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई 'धर्म'[2] होता ही है। यह धर्म नित्य नहीं है। यह बदलता ही रहता है। इसी बदलने को 'परिणाम' कहते हैं। अर्थात् किसी वस्तु

परिणाम

में पूर्व में वर्तमान धर्म का हट जाना और उसके स्थान में दूसरे धर्म का आ जाना ही **'परिणाम'** है। यह परिणाम व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों में सतत होता ही रहता है।

ज्ञानियों ने सभी वस्तुओं के अवयवों की परीक्षा कर यह निश्चय किया है कि वस्तुतः जगत् की प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनों गुणों से ही बनी है।

गुणों का स्वरूप

इन्हीं तीनों गुणों के संस्थान-भेद से वस्तुओं में भेद है। इनमें 'सत्त्व' का स्वरूप है—प्रकाश तथा हलकापन, 'तमस्' का धर्म है—अवरोध, गौरव, आवरण, आदि और 'रजस्' का धर्म है—चल, अर्थात् सतत क्रियाशील रहना। ये सत्त्व, रजस् और तमस् सांख्यदर्शन में 'गुण' कहलाते हैं। ये अपने धर्म या स्वरूप से पृथक् कभी नहीं होते, अर्थात् रजोगुण के रहने के कारण प्रत्येक वस्तु क्रियाशील है। इसी रजस् के कारण प्रतिक्षण में तत्त्व का एक धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म को स्वीकार करना 'परिणाम' होता रहता है। रजोगुण भी सभी वस्तुओं में रहता ही है, अतएव स्वभाव से ही प्रत्येक वस्तु परिणामशील है। चेतन को छोड़कर परिणाम-शून्य अन्य कोई भी वस्तु सांख्यदर्शन में नहीं है।

---

[1] सांख्यकारिका, २।

[2] तत्त्व या वस्तु में रहने वाली एक शक्ति या उस वस्तु का अपना ही स्वरूप 'धर्म' है। यह बदलता रहता है, किन्तु इसका नाश नहीं होता।

परिणाम के भेद—'धर्म', 'लक्षण' और 'अवस्था' के भेद से 'परिणाम' तीन प्रकार का है—

(१) **धर्म-परिणाम**—'धर्म' के अभिभव तथा प्रादुर्भाव से धर्मों में जो परिणाम होता है, उसे **'धर्म-परिणाम'** कहते हैं। जैसे—पृथिवी आदि भूतों का गाय या घट 'धर्म' परिणाम है।

(२) **लक्षण-परिणाम**—धर्मों के भूत, वर्तमान तथा भविष्य रूप को **'लक्षण-परिणाम'** कहते हैं। इसमें समय के परिवर्तन का वैलक्षण्य है।

(३) **अवस्था-परिणाम**—विद्यमान वस्तु में अवस्था के कारण वैलक्षण्य होना **अवस्था-परिणाम** है। जैसे—'घट' का नया तथा पुराना होना या 'गाय' का शिशुत्व, बाल्य, कौमार, वार्धक्य, आदि **'अवस्था-परिणाम'** है।

ये परिणाम प्रतिक्षण जड़ वस्तुओं में होते रहते हैं। और ये इतने सूक्ष्म हैं कि शब्दों के द्वारा इनका वर्णन करना सम्भव नहीं होता। इस परिणाम के स्रोत में अन्धकार के गर्भ में छिपा हुआ 'अनागत' 'वर्तमान' हो जाता है और वही फिर 'भूत' होकर 'अव्यक्त रूप' में विलीन हो जाता है। यह प्रक्रिया अनादि और अनन्त है। इसका कभी विराम नहीं होता। इसी **'अव्यक्तावस्था'** को 'अव्यक्त' या 'मूला प्रकृति' कहते हैं। 'अनागत' का अव्यक्त अवस्था से 'व्यक्त' में, अर्थात् वर्तमान रूप में, आ जाना, अर्थात् मूला प्रकृति से महत्, अहंकार, आदि का व्यक्त होना **'विसदृश-परिणाम'**[1] है तथा व्यक्त से पुनः भूत अवस्था में, अर्थात् अव्यक्त रूप में, हो जाना **'सदृशपरिणाम'** है। उपर्युक्त तीनों परिणामों में 'तत्त्व' अव्यक्त से व्यक्त और पुनः व्यक्त से अव्यक्त सदैव होता रहता है। धर्मों का धर्मान्तर में परिणत होना **'अवस्था'** और धर्म का लक्षणान्तर होना भी **'अवस्था'** ही है। वस्तुतः परिणाम एक ही है। किन्तु भेद है स्वरूप में।[2]

व्यक्तावस्था में तथा अव्यक्तावस्था में, जब सभी कार्य-भेद अपनी-अपनी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, तब भी यह भेद होता ही रहता है। इसे **'सदृशपरिणाम'** कहते हैं। इसका कारण है कि 'प्रकृति', सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनों गुणों की

---

[1] **बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतान्येव तत्कार्यम्। तच्च कार्यम् प्रकृतिविरूपम् प्रकृतेरसदृशम्—गौडपादभाष्य, कारिका ८।**

[2] **योगभाष्य, ३-१३।**

'साम्यावस्था' है। उसके गर्भ में 'रजस्' है, जिसका स्वभाव है कि एक क्षण के लिए भी वह स्थिर न रहे, प्रत्युत सतत चलशील ही रहे। इसी चल रजस् के कारण प्रकृति में परिणाम होता ही रहता है। अतएव प्रकृति 'स्वतः परिणामिनी' कही जाती है।

मूला प्रकृति 'अव्यक्त' है। यह तीनों गुणों की **'साम्यावस्था'** है, अर्थात् अव्यक्तावस्था में 'सत्त्व' सत्त्वरूप में, 'रजस्' रजोरूप में तथा 'तमस्' तमोरूप में परिणत होते ही रहते हैं। इसमें कोई वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यह स्मरण करा देना आवश्यक है कि कर्म की गति अनादि है। अविद्या अनादि है। अविद्या तथा जीव का सम्बन्ध भी अनादि है। परन्तु ये, कर्मगति, अविद्या तथा अविद्यासम्बन्ध, अनित्य हैं। इनका नाश यद्यपि परिणाम के द्वारा ही होता है, तथापि नाश के लिए भी सृष्टि का होना आवश्यक है। अव्यक्त रूप में रहने से सृष्टि नहीं हो सकती। अब प्रश्न है कि सृष्टि होती है कैसे? न्याय-वैशेषिक में तो ईश्वरेच्छा से परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है और फिर परमाणु से आरम्भक संयोग के द्वारा क्रमशः सृष्टि होती है, अर्थात् 'ईश्वरेच्छा' निमित्त कारण है और 'परमाणु' उपादान (समवायि) कारण है। सांख्य में अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि किस प्रकार होती है? वस्तुतः कारण ही क्या है? इत्यादि विचार आवश्यक हैं।

सृष्टि का कारण

कार्य-कारण का स्वरूप—इसी के साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि कार्य और कारण में क्या सम्बन्ध है? 'कार्य' कारण से भिन्न है या अभिन्न?

न्यायमत में 'कार्य' 'कारण' से भिन्न है, और 'कारण' में 'कार्य' का अभाव है, फिर भी 'कार्य' एक किसी विशेष 'कारण' में ही उत्पन्न होता है, जिसके साथ उस 'कार्य' का एक रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है। इस रहस्य को नैयायिकों ने 'स्वभाव' के अधीन कर दिया है, किन्तु वस्तुतः न्यायमत में इसका समाधान नहीं है।

सांख्य की दृष्टि सूक्ष्म है। यह ऊँचे स्तर पर पहुँच कर तत्त्व का विचार करता है। अपने स्तर के सूक्ष्म विषयों के रहस्य का इसे ज्ञान है। इसके मत में 'कार्य' वस्तुतः 'कारण' में वर्तमान है, अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व 'कार्य' कारण में, अव्यक्त रूप में, रहता है। कार्य की उत्पत्ति और नाश का अर्थ 'उस विषय की सत्ता का होना तथा न होना' नहीं है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है 'अव्यक्त से व्यक्त होना' तथा कार्य के नाश का अर्थ है 'व्यक्त से अव्यक्त होना'। यह भी एक प्रकार का परिणाम है, जिसके कारण अव्यक्तमूला प्रकृति में अव्यक्त रूप में वर्तमान वस्तु व्यक्त हो जाती है। सांख्य में न किसी की 'उत्पत्ति' और न किसी का 'नाश' होता है। वस्तुतः

'उत्पत्ति' और 'नाश' दोनों ही एक धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म का ग्रहण करना है। केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है, वस्तु में नहीं। इसी को **'सत्कार्यवाद'** कहते हैं। इस मत में यद्यपि 'कारण' से 'कार्य' पृथक् देख पड़ता है, दोनों के नाम भिन्न हैं, तथापि वस्तुतः 'कारण' से 'कार्य' भिन्न नहीं है। 'कार्य' अपने 'कारण' में ही रहता है। भेद है धर्म का। अतएव ये लोग **'भेदसहिष्णु अभेदवादी'** हैं। इनका सिद्धान्त है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'[1]

अर्थात् 'असत्' से 'सत्' नहीं होता और 'सत्' का अभाव नहीं होता।

ईश्वरकृष्ण ने **'सत्कार्य'** को सिद्ध करने के लिए ये पाँच युक्तियाँ दी हैं—

(१) **असदकरणात्**—असतः अकरणात्—अर्थात् जो नहीं है (असत् है) उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं (अकरण) है, अर्थात् उसमें कारण-व्यापार नहीं हो सकता। जैसे—खरहे का सींग (जो असत् है) कभी कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। अतएव यदि 'कारण' में 'कार्य' असत् होता, तो वह 'कारण' कभी भी उस कार्य को उत्पन्न न कर सकता।

(२) **उपादानग्रहणात्**—किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए एक किसी विशेष कारण (उपादान) की ही खोज की जाती है। इससे स्पष्ट है कि वह विशेष कारण ही उस वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं, अर्थात् वह विशेष कारण उस कार्य से किसी प्रकार सम्बद्ध होने के कारण ही उसे उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव उस 'कार्य' के लिए उस विशेष कारण की शरण लेनी पड़ती है। यदि 'कार्य' उस विशेष कारण से सम्बद्ध न होता तो, वह 'कारण' उसे कभी व्यक्त, अर्थात् उत्पन्न नहीं कर सकता था। 'कार्य' से असम्बद्ध 'कारण' वस्तुतः 'कारण' ही नहीं है। अर्थात् उपादान कारण में 'कार्य' किसी एक रूप में अवश्य वर्तमान है।

(३) **सर्वसंभवाभावात्**—यदि उपादान कारण के साथ कार्य का सम्बद्ध होना आवश्यक न होता, तो उस 'कारण' को उपादान मानना तथा उस 'कार्य'

---

[1] भगवद्गीता, २-१६।

के लिए उस उपादान की शरण लेना, दोनों ही व्यर्थ होते। फिर तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु ऐसी स्थिति तो कहीं देखने में नहीं आती। यह अनुभव-विरुद्ध है। सभी वस्तुएँ सभी कारण से उत्पन्न नहीं होतीं। अतएव 'कार्य' 'कारण' में सत्, अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी, विद्यमान है।

(४) **शक्तस्य शक्यकरणात्**—पहले यह कहा गया है कि मीमांसा-मत में एक 'शक्ति'-पदार्थ माना जाता है। कारण में रहने वाली और कार्य को उत्पन्न करने वाली यही 'शक्ति' कार्य को उत्पन्न करती है। 'कार्य' को 'कारण' में रहने की या 'कारण' से किसी प्रकार सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं है। अतएव, जिस प्रकार मीमांसक कहते हैं, कारण में कार्य के न रहने पर भी, कारण में रहने वाली शक्ति कार्य को उत्पन्न करने में नियन्त्रण रखेगी, फिर सभी सबसे उत्पन्न नहीं होंगे। अतः सत् कार्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में सांख्य कहता है कि किसी 'कारण' में कोई शक्ति है, जिससे कोई विशेष 'कार्य' उत्पन्न होता है या नहीं, यह भी तो उस कार्य को देखकर ही कहा जा सकता है, अर्थात् उस कारण में उस कार्य के सम्बद्ध रहने से ही मालूम होता है। सम्बद्ध रहने से उसकी उत्पत्ति होती है और सम्बद्ध न रहने से उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् 'कार्य' कारण-व्यापार के पूर्व 'कारण' में विद्यमान है।

(५) **कारणभावात्**[1]—सांख्य में 'कारण' और 'कार्य' में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि 'कारण' है, तो 'कार्य' भी है, ऐसा मानना पड़ेगा। सत्-रूप कारण के साथ असत्-रूप कार्य में अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव 'कारण' में 'कार्य' विद्यमान है, यह मानना पड़ता है।

इन हेतुओं के द्वारा सांख्य **सत्कार्यवाद** की स्थापना करता है, **अर्थात् समस्त** विश्वरूप **कार्य** मूलप्रकृतिरूप **कारण** में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहता है।

---

[1] **सांख्यकारिका, ९।**

तत्त्व-विचार

यह प्रकृति तीनों गुणों की **'साम्यावस्था'** है। इसमें रजोगुण क्रियाशील है, किन्तु तमोगुण तो अवरोध-रूप में इस 'प्रकृति' को कार्य उत्पन्न करने में बाधा देता है। परन्तु पूर्व-पूर्व-जन्मों के कर्मों का फलस्वरूप अदृष्ट तो जीवों के साथ रहता ही है। वे अदृष्ट जब पाकोन्मुख होते हैं, अर्थात् पुनः संसार में आकर जीव को सुख-दुःखादि के रूप में भोग देने को उन्मुख होते हैं, तब उस तमोगुण का प्रभाव हट जाता है और 'प्रकृति' में क्षोभ (चांचल्य) उत्पन्न होता है। पश्चात् प्रकृति का अवरोध हट जाता है और रजोगुण के रहने के कारण स्वतः परिणामिनी वह मूला प्रकृति अव्यक्त रूपों को 'महत्', 'अहंकार', आदि व्यक्त तत्त्वों के रूप में प्रकाशित करती है।

प्रकृति से तत्त्वों की अभिव्यक्ति

अब प्रश्न होता है कि क्षोभ होने पर मूला प्रकृति से सबसे पहले सात्त्विक बुद्धि की ही अभिव्यक्ति क्यों हुई ?

समाधान में यह कहा जा सकता है कि तमोगुण का प्रभाव तो अदृष्ट के फलोन्मुख होने से ही हट गया, रजोगुण तो सत्त्वगुण का संचालन करने में ही लगा हुआ था, अतएव सत्त्वगुण ही प्रधान होकर बुद्धि की अभिव्यक्ति कर सका।

दूसरी बात यह भी है कि क्षोभ तो फलोन्मुखावस्था में पुरुष के बिम्ब के सम्पर्क से ही होता है। पुरुष का बिम्ब चित् और प्रकाश-स्वरूप है। गुणों में 'सत्त्वगुण' ही प्रकाश-स्वरूप है। अतएव चिद् बिम्ब का सम्पर्क फलोन्मुखावस्था में, सत्त्वगुण के ही साथ होना स्वाभाविक है। इसी लिए उस अवस्था में चिद् बिम्ब का सम्पर्क 'सत्त्वगुण' के साथ होते ही प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न हुआ और उससे सात्त्विकी बुद्धि की ही प्रथम बार अभिव्यक्ति हुई।

प्रकृति के सात्त्विक अंश से **'महत् तत्त्व'** की, जिसे **'बुद्धितत्त्व'** भी कहते हैं, अभिव्यक्ति होती है, इसलिए 'महत्' को प्रकृति की 'विकृति' कहते हैं। महत् में भी सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। किन्तु इसमें प्राधान्य है 'सत्त्व' का, अतएव सत्त्व के धर्म, अर्थात् प्रकाश और लघुत्व, बुद्धि में हैं।[1]

---

[1] सांख्यकारिका, १३।

बुद्धितत्त्व अध्यवसायात्मक है, अर्थात् किसी कार्य के करने में जो निश्चय किया जाता है कि, 'यह कार्य हम अवश्य करेंगे', वह बुद्धि का स्वरूप है। रजोगुण के कारण बुद्धि भी चल है, अतएव इसका भी परिणाम होता है। उस समय **'विकृति'** होते हुए भी बुद्धि **'प्रकृति'** होकर **'अहंकार'** को उत्पन्न करती है। अतएव यह 'बुद्धि' **'प्रकृति-विकृति'** है।

बुद्धि

इसके दो प्रकार के रूप होते हैं---'सात्त्विक', जैसे---धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य, एवं 'तामसिक', जैसे---अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य।[1] जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन 'बुद्धि' है और यही 'बुद्धि' पुनः प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को भी अभिव्यक्त करती है, अर्थात् बुद्धि के ही द्वारा भोग तथा मुक्ति भी होती है।[2] बुद्धि के ये धर्म 'भाव' भी कहलाते हैं और ये 'लिंगशरीर' में रहते हैं।[3]

बुद्धि में भी सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीनों गुण हैं। सत्त्व प्रधान है, अन्य गुण गौण हैं। प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण 'बुद्धितत्त्व' से परिणाम के द्वारा **'अहंकार'**-तत्त्व बन जाता है। बुद्धितत्त्व में रहने वाले रजोगुण से 'अहंकार' उत्पन्न होता है। इसमें रजोगुण का प्राधान्य है। यह अभिमानात्मक है, अर्थात् 'मैं', 'मुझे', आदि जो अपने में अभिमान होता है, वह 'अहंकार' का स्वरूप है।

अहंकार

ये तीनों गुण आपस में एक दूसरे को अभिभूत करते रहते हैं। कदाचित् रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत कर 'सत्त्व' प्रीति तथा प्रकाश-रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है, कदाचित् सत्त्व तथा तमोगुण को अभिभूत कर 'रजोगुण' अप्रीति तथा प्रवृत्ति-रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है; कदाचित् सत्त्व तथा रजस् को अभिभूत कर 'तमोगुण' विषाद एवं स्थिति-रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है। ये गुण अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करने में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

गुणों का स्वभाव

ये गुण आपस में मिलकर, एक दूसरे को सहायता देकर, कार्य को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् इनमें जो परस्पर सहायता देने का स्वभाव है, वही परिणाम रूप में कार्य

---

[1] सांख्यकारिका, २३।

[2] सांख्यकारिका, ३७।

[3] सांख्यकारिका, ४०।

को अभिव्यक्त करता है। ये तीनों गुण परस्पर मिल कर ही रहते हैं। कभी कोई भी एक दूसरे से पृथक् होकर नहीं रहता। इनमें अविनाभाव सम्बन्ध है।[1] अतएव इस जगत् में शुद्ध सात्त्विक या शुद्ध राजसिक या शुद्ध तामसिक कोई भी वस्तु नहीं है। जिसमें जिसकी प्रधानता हो, वह उस नाम से कहा जाता है।

इसी कारण से 'अहंकार'-तत्त्व में भी तीनों गुण वर्तमान हैं। **अहंकार** बुद्धि की 'विकृति' है, परन्तु इससे जब दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है, उस समय 'अहंकार' भी 'प्रकृति' का धर्म धारण कर लेता है। यह भी गुणों का स्वभाव है। अतएव अहंकार भी **'प्रकृति-विकृति'** है।

अहंकार का स्वरूप—अहंकार अभिमानात्मक है। इसमें भी तीनों गुणों के मिलने के कारण इसके तीन रूप हैं—

'वैकृत', जिसमें 'सात्त्विक गुण' विशेष है। इससे ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है।

'भूतादि', जिसमें 'तमोगुण' का वैशिष्ट्य है। इससे पाँच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है।

'तैजस', जिसमें 'रजोगुण' की विशेषता है। 'तैजसरूप अहंकार' सात्त्विक तथा तामस इन दोनों अंशों को अपने-अपने कार्य करने में सहायता देता है।[2]

इन अंशों से युक्त अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की, अर्थात् मनस्, पाँच ज्ञानेन्द्रियों[3] की तथा पाँच कर्मेन्द्रियों[4] की, अभिव्यक्ति होती है, किन्तु इन्हीं गुणों के अवान्तर तारतम्य से इन ग्यारहों में भी अन्तर है। ये ग्यारह केवल **'विकृति'** हैं। ये कभी भी 'प्रकृति' का रूप नहीं धारण करती हैं। इनसे कोई अन्य तत्त्व अभिव्यक्त नहीं होता।

इन्द्रियाँ

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक्, ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' या 'बुद्धीन्द्रियाँ' हैं। इनके विषय क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श हैं। ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने

---

[1] सांख्यकारिका, १२।

[2] सांख्यकारिका, २४-२५।

[3] सांख्यकारिका, २६।

[4] सांख्यकारिका, २६।

विषयों के प्रति केवल 'आलोचनात्मक', अर्थात् 'द्वाररूप में सामर्थ्य-प्रदर्शनमात्र', वृत्ति है। वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, ये पाँच **'कर्मेन्द्रियाँ'** हैं। इनके विषय क्रमशः वचन (वर्णोच्चारण), आदान, विहरण, उत्सर्ग (मलत्याग) तथा लौकिक आनन्द हैं।

इनमें से ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने के समय 'मन' ज्ञानेन्द्रिय के समान रूप का तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय-स्वरूप का हो जाता है। इसी लिए इसे 'उभयात्मक' कहा है।[1] यह दोनों प्रकार की इन्द्रियों की सहायता करता है।

किसी कार्य को करने के समय में 'मन' में—'किया जाय या न किया जाय'—इस प्रकार जो संकल्प-विकल्प होता है, वह 'मन' का धर्म है, स्वरूप है।

'अहंकार' के तामस अंश से शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा, ये पाँच **तन्मात्राएँ** अभिव्यक्त होती हैं। ये सभी तामसिक स्वरूप की हैं। 'तन्मात्र' शब्द का अर्थ है—'तदेव इति तन्मात्रम्', अर्थात् 'वही'। शब्द के आगे 'मात्र' शब्द लगाने का अभिप्राय है—उस शब्द के अर्थ को सीमित करना। अर्थात् 'शब्दतन्मात्र' का अर्थ है—'शब्द ही', और कुछ भी नहीं। कहने का अभिप्राय है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, ये पाँचों धर्म अपने शुद्ध रूप में पृथक्-पृथक् अहंकार से अभिव्यक्त होते हैं। इनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अहंकार से ये पाँच स्थूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं। परन्तु ये फिर भी स्वयं 'अविशेष', अर्थात् सूक्ष्म ही हैं। ये अहंकार से उत्पन्न होने के कारण स्वयं 'विकृति' हैं, किन्तु पश्चात् आकाश आदि स्थूल तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण 'प्रकृति' भी हैं। इसलिए ये पाँच **'प्रकृति-विकृति'** हैं। ये सूक्ष्म हैं, अतएव इन्हें **'अविशेष'** कहा जाता है।[2]

तन्मात्राएँ

शब्दतन्मात्रा आदि पाँच पृथक्-पृथक् अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। इस परिणाम की प्रक्रिया में यद्यपि ये पाँच अहंकार से उत्पन्न हुए हैं, अहंकार का तामस रूप इन पाँचों में समान रूप से पृथक्-पृथक् वर्तमान है, फिर भी ये परस्पर मिले हुए नहीं हैं। अतएव इनसे जो आगे सृष्टि होगी, वह स्वतंत्र रूप में पृथक्-पृथक् होगी। अर्थात् 'शब्दतन्मात्रा' से 'आकाश', 'स्पर्श-

पाँच भूत

[1] सांख्यकारिका, २७।

[2] 'तन्मात्राण्यविशेषाः'—सांख्यकारिका, ३८।

तन्मात्रा' से 'वायु', 'रूपतन्मात्रा' से 'तेजस्', 'रसतन्मात्रा' से 'जल' तथा 'गन्धतंन्मात्रा' से 'पृथिवी' पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हैं।[1] यही पाँच भूतों की सृष्टि है। ये भूत सांख्यमत में स्थूलतम पदार्थ हैं। अतएव इन्हें **'विशेष', अर्थात् स्थूल**, कारिका में कहा है।[2] इसी कारण इसे लोग 'महाभूत' भी कहते हैं। अर्थात् शब्द आदि तन्मात्राएँ सूक्ष्म 'भूत' हैं और उनसे क्रमशः आकाश आदि स्थूल 'महाभूत' अभिव्यक्त होते हैं। फिर भी यह सर्वदा स्मरण रखना है कि ये 'स्थूल महाभूत' एक प्रकार से परमाणु-स्वरूप ही हैं, अतएव ये न्याय-वैशेषिक के 'महाभूतों' से बहुत सूक्ष्म हैं, अर्थात् सांख्य के ये 'स्थूल महाभूत' हैं, किन्तु न्याय-वैशेषिक के ये 'परमाणु' ही हैं।

यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक के 'परमाणु' के समान सांख्य के ये पाँच भूत न्याय-वैशेषिक के स्थूल महाभूतों के समान, जैसा कि कुछ टीकाकारों ने समझा है, कदापि नहीं हैं। शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है और उसमें शब्द है। स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होती है और उसमें स्पर्श है। रूपतन्मात्रा से तेजस्, जिसमें रूप है, रसतन्मात्रा से जल, जिसमें रस है तथा गन्धतन्मात्रा से पृथिवी, जिसमें गन्ध है, उत्पन्न होते हैं। ये स्थूल हैं, अतएव शान्त, घोर तथा मूढ़ हैं।[3] इसे अच्छी तरह समझने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए—

न्याय-वैशेषिक-मत में पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु, इन चार कार्यरूप स्थूल द्रव्यों का सबसे सूक्ष्म, अतएव नित्य द्रव्य है इन चारों का 'परमाणु', अर्थात् स्थूल कार्यरूप पृथिवी छोटी होते-होते एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाती है जिसका उसके बाद विभाग नहीं किया जा सकता है। उस पृथिवी की वही अवस्था चरम अवस्था है। उस पृथिवी का उससे छोटा हिस्सा नहीं हो सकता है। अतएव वह 'नित्य' है। उसी को पृथिवी का 'परमाणु' भी कहते हैं।

परमाणु का स्वरूप

---

[1] गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम्, इत्येवमुत्पन्नानि महाभूतान्येते विशेषाः—गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, ३८।

[2] सांख्यकारिका, ३८।

[3] तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥—सांख्यकारिका, ३८।

इस पृथिवी-'परमाणु' में पृथिवी 'द्रव्य' है और साथ-साथ उसके गन्ध आदि कुछ गुण हैं, अर्थात् यह परमाणु-रूपा 'पृथिवी' भी गुणवती है। इसी प्रकार जल के परमाणु हैं और वे भी द्रव्य और गुण से युक्त, अर्थात् गुणवान् हैं; तेजस् के परमाणु भी द्रव्य और गुण से युक्त, अर्थात् गुणवान् हैं तथा वायु के भी परमाणु द्रव्य और गुण से युक्त, अर्थात् गुणवान् हैं।

पृथिवी-परमाणु=द्रव्य+गुण (गन्ध)
जलीय परमाणु=द्रव्य+गुण (रस)
तैजस परमाणु=द्रव्य+गुण (रूप)
वायवीय परमाणु=द्रव्य+गुण (स्पर्श)

तत्त्वों की अभिव्यक्ति—न्याय-वैशेषिक-मत के अनुसार उनके सूक्ष्मतम भूतों का स्वरूप ऊपर दिखाया गया, अब सांख्यमत का विचार किया जाता है। सांख्यमत में परिणाम होता है। 'प्रकृति' से क्रमशः तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है, जिसका स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से निरूपित किया जा सकता है—
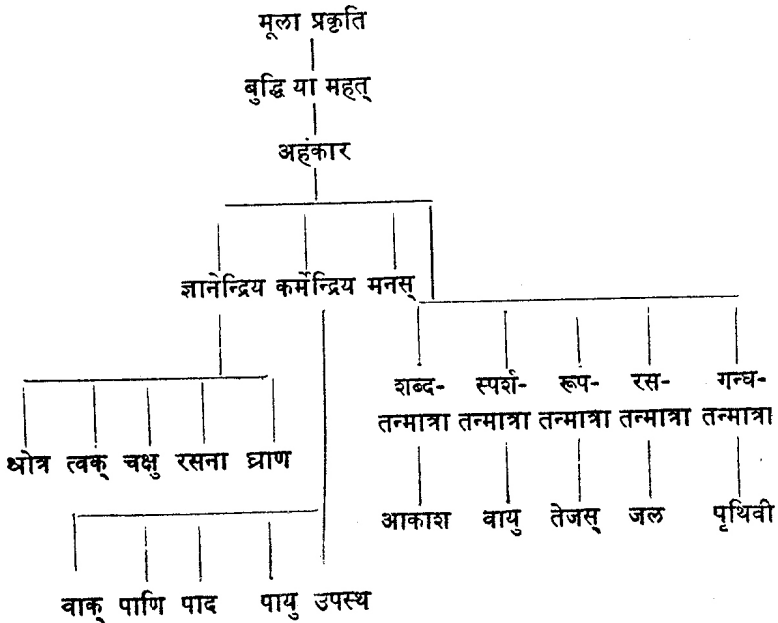
ये सांख्य के चौबीस तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त एक 'पुरुष' तत्त्व है, जिसे मिला कर सांख्य में पचीस तत्त्व हैं। ये ही सांख्य के 'प्रमेय' हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु सांख्य का 'प्रमेय' नहीं है। अब यहाँ विचार करना चाहिए कि सांख्य के आकाश आदि उपर्युक्त पाँच भूतों का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उपर्युक्त न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य के तत्त्वों के स्वरूप का अच्छी तरह विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य के आकाश आदि पाँच भूत न्याय-वैशेषिक के परमाणुओं के समान हैं, न कि उनके महाभूतों के समान। जैसा ऊपर कहा गया है, सांख्य के इन पाँच भूतों में क्रमशः 'शब्दतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'आकाश' में केवल 'शब्द', 'स्पर्शतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'वायु' में केवल 'स्पर्श', 'रूपतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'तेजस्' में केवल 'रूप', 'रसतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'जल' में केवल 'रस' तथा 'गन्धतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'पृथिवी' में केवल 'गन्ध' रहते हैं।

सांख्य के पंचभूत—इस प्रकार ये पाँचों भूत क्रमशः पृथक्-पृथक् रूप में पाँच तन्मात्राओं से अभिव्यक्त हुए हैं। अतः इनमें क्रमशः पृथक्-पृथक् पाँच तन्मात्राएँ भी हैं, अर्थात्

आकाश=आकाश तत्त्व+शब्दतन्मात्रा, अर्थात् शब्द।

वायु=वायु तत्त्व+स्पर्शतन्मात्रा, अर्थात् स्पर्श।

तेजस्=तेजस् तत्त्व+रूपतन्मात्रा, अर्थात् रूप।

जल=जल तत्त्व+रसतन्मात्रा, अर्थात् रस।

पृथिवी=पृथिवी तत्त्व+गन्धतन्मात्रा, अर्थात् गन्ध।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि न्याय-वैशेषिक-मत के जो चार परमाणु हैं तथा सांख्य के जो वायु आदि चार भूत हैं, इनमें प्रायः कुछ भी भेद नहीं है।

'आकाश' न्याय-वैशेषिक-मत में नित्य और व्यापक है, किन्तु सांख्य के मत में वह अव्यापक है तथा अनित्य है।

न्याय-वैशेषिक-मत में पहले निर्गुणरूप वायु आदि चारों भूतों की उत्पत्ति होती है, पश्चात् उनमें क्रमशः अपना-अपना गुण उत्पन्न होता है, अर्थात 'द्रव्य' कारण है

और उसका कार्य है 'गुण'। सांख्य में बिलकुल उलटा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध 'कारण' हैं और इनसे क्रमशः पृथक्-पृथक् आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी, ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं और ये शब्द आदियों के क्रमशः 'कार्य' हैं।

इन अंशों में भेद होने पर भी सांख्य के चार भूत तो न्याय-वैशेषिक के चार परमाणुओं के समान ही मालूम होते हैं।

ये पाँचों भूत एक प्रकार से वेदान्तियों के **'अपञ्चीकृत'** भूतों के समान हैं।

ये तेईस तत्त्व **'मूला प्रकृति'** से क्रम से उत्पन्न होते हैं। ये प्रकृति के 'व्यक्त रूप' हैं। अतएव ये **'व्यक्त'** कहलाते हैं। इनका प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान होता है।[1] इनके अतिरिक्त एक **'अव्यक्त'** तथा एक **'ज्ञ'** के होने से सांख्य में पचीस तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों से सांख्य, अर्थात् बौद्धिक जगत् की सभी वस्तुएँ अभिव्यक्त होती हैं।

व्यक्त के धर्म

'महत् तत्त्व' से लेकर पंचभूत पर्यन्त सभी **'व्यक्त'** हैं। ये सभी अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं और ये **अनित्य, अव्यापक, क्रियाशील**[2] तथा **अनेक**[3] हैं। इनमें प्रत्येक में तीन गुण हैं। वे ही गुण संस्थान-भेद से नाना रूप को अभिव्यक्त करते हैं। इन गुणों में आपस में **'आश्रितत्व'** है। यही कारण है कि प्रत्येक 'व्यक्त' अपने-अपने कारण में **आश्रित** है। ये

---

[1] व्यक्तम् प्रत्यक्षसाध्यम्-गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, ६।

[2] प्रत्येक 'व्यक्त' में 'रजोगुण' है, जो सतत चलायमान रहता है और वैषम्य उत्पन्न करता है। वह एक क्षण के लिए भी वैषम्य उत्पन्न करने वाली क्रिया से निवृत्त नहीं होता। इसी क्रिया के कारण एक 'व्यक्त' से वैषम्य से युक्त दूसार 'व्यक्त' उत्पन्न होता है तथा रजस् के द्वारा वैषम्य उत्पन्न होने के कारण 'व्यक्तों' में स्थूल रूप से 'क्रिया' का भान होता है, उनमें स्थूल चेष्टा होती है। इसी लिए व्यक्त 'सक्रिय' है।

कह नहीं सकते कि टीकाकार ने मरणकाल में एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के धारण करने के समय की क्रिया अथवा संसार-दशा में सूक्ष्म शरीर के आश्रित होकर विचरण करना, आदि अर्थ कहां से और क्यों यहां लाये?

[3] गौडपाद ने 'अनेकम्'—'बुद्धिरहंकारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति'—इन्हें गिना दिया है, जिससे यह स्पष्ट है कि 'व्यक्त' अनेक हैं। परन्तु गौडपाद का अर्थ ठीक नहीं है। यहां कहना है कि प्रत्येक 'व्यक्त' अनेक है, अर्थात् 'महत्' अनेक है, 'अहंकार' अनेक है, इत्यादि, न कि व्यक्तों की ही संख्या अनेक है, जैसा गौडपाद ने कहा है।

'लिंग' हैं, अर्थात् लय के समय में प्रत्येक **'व्यक्त'** अपने-अपने कारण में लय को प्राप्त होता है।

यहाँ 'लिंग' का अर्थ 'हेतु' करना समुचित नहीं मालूम होता, क्योंकि ऐसा करने से अतिव्याप्ति दोष हो जायगा। **'मूला प्रकृति'** भी तो एक प्रकार से **बद्ध पुरुष** के अस्तित्व को प्रमाणित करने में 'लिंग'[1] है। परन्तु यहाँ तो मूला प्रकृति को 'अलिंग' कहना है। इसलिए लय को प्राप्त होना ही 'लिंग' का अर्थ करना उचित है।

प्रत्येक **'व्यक्त'** में तीन गुण हैं जो अभिव्यक्त रूप में हमें देख पड़ते हैं। इन गुणों का वैषम्य रूप 'व्यक्तों' में है। अतएव सभी व्यक्त **'सावयव'** हैं। यद्यपि 'मूला प्रकृति' में भी तीनों गुण हैं, परन्तु वे तीनों गुण 'प्रकृति' में अव्यक्तावस्था में, अर्थात् 'साम्यावस्था' में, हैं। उस अवस्था में उनका भान ही नहीं होता। अतएव उनको **'अवयव'** कहना कारिकाकार को इष्ट नहीं मालूम होता। इसलिए 'प्रकृति' **'निरवयव'** है।[2]

प्रत्येक 'व्यक्त' अपने अस्तित्व के लिए अपने कारण पर निर्भर है। अतएव यह 'परतन्त्र' है।

'व्यक्त' तीनों गुणों से युक्त हैं। ये जड़ 'प्रकृति' के कार्य हैं, इसलिए ये भी जड़ हैं और जड़ होने के कारण **'अविवेकी'** हैं, अर्थात् अपने को दूसरों से पृथक् स्वयं नहीं कर सकते। ये **'विषय'** हैं, अर्थात् ज्ञान से भिन्न और सबके भोग की वस्तु हैं। ये **'सामान्य'** हैं, अर्थात् सकल साधारण **व्यक्तियों** के लिए हैं। ये **'अचेतन'** हैं, अर्थात् चेतन **'ज्ञ'** से भिन्न हैं और जड़ हैं। ये **'प्रसवधर्मि'** हैं। किसी को उत्पन्न करने की योग्यता को 'प्रसवधर्मित्व' टीकाकारों ने कहा है, किन्तु ग्यारह इन्द्रियों में तथा पाँच भूतों में दूसरों को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है। अतएव यह अर्थ उचित नहीं मालूम होता। यहाँ 'सरूप या विरूप या दोनों प्रकार के परिणामों से युक्त होना **'प्रसवधर्मित्व'** का अर्थ उचित मालूम होता है।

---

[1] **सांख्यकारिका, १७।**

[2] **कुछ टीकाकारों ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आदि से युक्त होने से 'व्यक्त' को 'सावयव' कहा है, किन्तु क्या बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां, इनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अभिव्यक्त हैं ?**

सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था **'मूला प्रकृति'** अथवा **'प्रधान'** या **'अव्यक्त'** कहलाती है। यह अति सूक्ष्म होने के कारण परोक्ष है।[1]

अव्यक्त

बुद्धि के द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। यह अनुमान से सिद्ध होता है। 'महत्तत्त्व' आदि इसके कार्य हैं। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतएव महत् आदि का जो कारण है, वही **'प्रधान'** या **'प्रकृति'** है।[2]

'मूला प्रकृति' अव्यक्त है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव इसके अस्तित्त्व के सम्बन्ध में साधारण लोगों को सन्देह उत्पन्न होता है कि **'प्रकृति'** है या नहीं? इसी लिए युक्तियों के द्वारा **'प्रकृति'** के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं—

(१) **भेदानां परिमाणात्**—यह कारण है। 'महत्' आदि तेईस तत्त्व सीमित परिमाण के हैं। सीमित परिमाण वाले कार्यों को उत्पन्न करने के लिए एक व्यापक कारण का होना आवश्यक है। यही **'प्रकृति'** या **'अव्यक्त'** रूप व्यापक कारण है।

(२) **भेदानां समन्वयात्**—'महत्' आदि तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी इन सब में एक साधारण धर्म है, जो सबको एक सूत्र में बांधता है। जो **'समन्वय'** करने वाला, अर्थात् एक भाव को सर्वत्र रखने वाला है, वही **'अव्यक्त'** है।

(३) **(भेदानां) शक्तितः प्रवृत्तेश्च**—'महत्' आदि तत्त्वों में सरूप तथा विरूप परिणाम के लिए प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति व्यक्तों में किसी विशेष 'शक्ति' के कारण होती है। वह 'शक्ति' प्रत्येक 'व्यक्त' में भिन्न-भिन्न है, ऐसा स्वीकार करने में गौरव है। अतएव एक 'शक्ति' का आश्रय मानना आवश्यक है जो सभी व्यक्तों में सरूप-विरूप **परिणाम** की योग्यता को उत्पन्न करे। वह आश्रय **'अव्यक्त'** है। वस्तुतः **'मूला प्रकृति'** या **'अव्यक्त'** में ही तो तीनों गुण हैं। गुणों में ही परिणाम की शक्ति है। यह शक्ति प्रत्येक व्यक्त में 'मूला प्रकृति' से ही आती है और इसी लिए इन व्यक्तों में परिणाम होता है।[3]

---

[1] **सांख्यकारिका, ८।**

[2] **सांख्यकारिका, ८, १४।**

[3] **सांख्यकारिका, १०-११।**

(४) **कारण-कार्य-विभागात्**—कारण और कार्य के रूप में तत्त्वों का विभाग किया जाता है, जैसे 'महत्' कारण है और 'अहंकार' उसका कार्य है। इसी प्रकार 'महत्' भी तो 'कार्य' है, उसका कारण होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों में भी जो दूसरे तत्त्वों को उत्पन्न करने की कारणरूपा शक्ति है, उस कारण का अस्तित्व तो मानना आवश्यक है। वही **'अव्यक्त'** है।

(५) **अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य**—सांख्यशास्त्र में कारण और कार्य में तादात्म्य मानते हैं। **'सरूप या सदृश परिणाम'** के समय 'कार्य' अपने **'कारण'** में लीन होकर एक हो जाता है।[१] इस प्रक्रिया के अनुसार क्रमशः **व्युत्क्रम-रूप** में प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन होता है। इस परिस्थिति में 'महत्' रूप कार्य भी अपने कारण में लीन होगा और तभी समस्त जगत् में तादात्म्य या अविभाग मालूम होगा। अतएव जिसमें 'महत्' आदि कार्य सभी लीन होकर एक मालूम होते हैं, वही **'अव्यक्त'** है।

इन युक्तियों से सभी कार्यों का कारण-रूप एक **'अव्यक्त'** या **'मूला प्रकृति'** है, यह प्रमाणित होता है।[२]

अव्यक्त के धर्म

ऊपर 'व्यक्त' के जो 'कारण से उत्पन्न होना' (हेतुमत्) आदि गुण कहे गये हैं, उनके विपरीत गुण **'प्रधान'** में हैं, अर्थात् **'प्रकृति'** का कोई भी **'कारण नहीं'** है, यह **'नित्य'** है, **'व्यापक'** है तथा **'निष्क्रिय'** है। यद्यपि प्रकृति के गर्भ में रजोगुण के रहने के कारण इसमें भी क्रियाशीलता है, परिणाम होता ही रहता है, किन्तु वह परिणाम साम्यावस्था के रूप में ही रहता है। वहाँ वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। अतएव 'क्रिया' अभिव्यक्त नहीं होती, इसी लिए **'प्रधान'** को **'निष्क्रिय'** कहा है।

यह **'एक'** ही है। यह **'अनाश्रित'** है। इसका **'लय नहीं'** होता। यह **'निरवयव'** है। यद्यपि सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप 'अवयव' प्रकृति में भी हैं, किन्तु वे विषम रूप

---

[१] 'परिणामवाद' में कार्य की 'अनागत' और 'अतीत' ये दो अवस्थाएँ 'अव्यक्त' हैं, 'वर्तमान' अवस्था 'व्यक्त' है। 'अनागत' और 'अतीत', दोनों ही अवस्थाएँ 'कारण' हैं, केवल 'वर्तमान' अवस्था 'कार्य' है। 'अनागत' से 'वर्तमान' में आना 'विसदृश-परिणाम' है और 'वर्तमान' से 'अतीत' में जाना 'सदृश परिणाम' है।

[२] सांख्यकारिका, १४-१६।

में नहीं हैं। अतएव प्रकट रूप में प्रकृति में उनका एक प्रकार से न होना ही कहा जाता है। इसी लिए यह **'निरवयव'** है। प्रधान **'स्वतन्त्र'** है, क्योंकि यह नित्य है।[1] इन धर्मों के कारण **'अव्यक्त'** व्यक्त से भिन्न है।

परन्तु **त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व,** ये धर्म 'व्यक्त' और 'अव्यक्त', दोनों में समान रूप से हैं।

'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया है। अब सांख्य के तीसरे तत्त्व **'ज्ञ'** का विचार करना आवश्यक है। यह 'परोक्ष' है।

'ज्ञ' का विचार

इसे बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में कोई नहीं देख सकता। यह **'त्रिगुणातीत'** और **'निर्लिप्त'** है। इसलिए इसके अस्तित्व को (अनुमान के द्वारा) प्रमाणित करने के लिए कोई 'लिंग' (अर्थात् हेतु) भी नहीं हो सकता। बिना 'लिंग' (हेतु) के अनुमान नहीं हो सकता, अर्थात् अनुमान के द्वारा **'ज्ञ'** की सिद्धि नहीं होती। तस्मात् इसके अस्तित्व के लिए एकमात्र प्रमाण है—**शब्द** या **आगम**। शास्त्र में **'चेतन-ज्ञ'** के अस्तित्व के लिए अनेक प्रमाण हैं। इस प्रकार **'आगम'** या 'आप्तवचन' प्रमाण के ही द्वारा **'ज्ञ'** के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

यह **'ज्ञ' अहेतुमान्** है, अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। यह **'नित्य'** है। यह **'सर्वव्यापी'** है। यह **'निष्क्रिय'** है, व्यापक होने से ही यह सिद्ध है कि इसमें क्रिया नहीं

'ज्ञ' के धर्म

हो सकती। साथ ही साथ यह भी समझना चाहिए कि इसमें 'रजोगुण' नहीं है, यह **'त्रिगुणातीत'** है। अतएव इसको चलाने वाला या इसमें क्रिया उत्पन्न करने वाला 'रजस्' इसमें नहीं है। इसलिए यह **'ज्ञ' 'निष्क्रिय'** है।

यह **'एक'** है। कतिपय टीकाकारों ने इस **'ज्ञ'** को **'अनेक'** कहा है। यह हमारी समझ में नहीं आता कि किस प्रकार यह **'अनेक'** हो सकता है और किस आधार

सांख्य में 'एक' पुरुष

पर इसे हम **'अनेक'** कह सकते हैं? ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय तो स्पष्ट है कि यह **'एक'** है और इसी **'एकत्व'** को लेकर इस **'ज्ञ'** का साधर्म्य 'प्रकृति' के साथ उन्होंने कहा है—**'तथा च पुमान्'**।[2] गौडपाद ने भी अपने **भाष्य** में कहा है—**'पुमानप्येकः'**। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है—**'अजो ह्येकः'**।

---

[1] **सांख्यकारिका, १०।**

[2] **सांख्यकारिका, ११।**

बहुत-से टीकाकारों ने ईश्वरकृष्ण के कथन को ध्यान में न रख कर—

'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' ॥[1]

इस 'सांख्यकारिका' को **'बद्ध पुरुष'** के साथ न लगाकर, **'ज्ञ'** के साथ जोड़कर, सांख्यमत में **'पुरुषबहुत्ववाद'** का प्रचार किया है और इसी से प्रभावित होकर इस देश के तथा पाश्चात्य देशों के प्रायः सभी विद्वानों ने सांख्य में इसी **पुरुषबहुत्ववाद** को स्वीकार कर लिया है।

सांख्य की लुप्त कारिका

इस भ्रान्ति का कारण मालूम होता है **'ज्ञ'** से सम्बन्ध रखने वाली एक 'कारिका' का नष्ट हो जाना। इस नष्ट कारिका में **'ज्ञ'** तथा **'बद्ध पुरुष'** दोनों के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण ने अपना विचार प्रकाशित अवश्य किया होगा। **यह कारिका वर्तमान सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिकाओं के मध्य में रही होगी,** ऐसा मुझे मालूम होता है।

इसकी युक्तियों पर आगे हम विचार करेंगे। तथापि यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वरकृष्ण ने कहा है—**'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'**[2], अर्थात् 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' के विशेष ज्ञान से (दुःख की आत्यन्तिकी तथा ऐकान्तिकी निवृत्ति होगी)। विचार करना है कि ईश्वरकृष्ण ने छठी कारिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि 'बुद्धि' से लेकर 'पृथिवी' पर्यन्त सभी **'व्यक्तों'** का ज्ञान **'प्रत्यक्ष'** से ही होता है। जिन तत्त्वों का प्रत्यक्ष होता है उनके अस्तित्व में तो कभी भी सन्देह नहीं हो सकता। अतएव इन तेईस व्यक्तों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कारिका में कहीं भी प्रयत्न नहीं किया गया है, इसकी आवश्यकता ही नहीं है, वे तो प्रत्यक्ष हैं।

अवशिष्ट **'अव्यक्त'** अर्थात् **'मूला प्रकृति'** एवं **'ज्ञ'**, ये दोनों **परोक्ष** तत्त्व हैं और इनके ज्ञान के लिए छठी कारिका में ही कहा गया है कि **'अतीन्द्रियों'** की प्रतीति

अव्यक्त और बद्ध पुरुष की सिद्धि

'अनुमान' से होती है। सांख्यमत में **'मूला प्रकृति'** तथा **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा' परोक्ष** हैं, **'अतीन्द्रिय'** हैं और इनके अस्तित्व को अनुमान के द्वारा ईश्वरकृष्ण ने सिद्ध किया है।

---

[1] **सांख्यकारिका, १८।**

[2] **सांख्यकारिका, २।**

उन्होंने 'महत्' आदि तेईस 'व्यक्त' रूप कार्यों के द्वारा उनके मूल कारण, अर्थात् **'मूला प्रकृति'** को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है।[1]

इसी बात को ईश्वरकृष्ण ने—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥[2]

इस कारिका के द्वारा प्रमाणित किया है। इस प्रकार 'अव्यक्त' की सिद्धि की गयी है।

यहाँ प्रश्न किया जाता है कि छठी कारिका में **'अतीन्द्रियाणाम्'** में बहुवचन शब्द का प्रयोग है।[3] 'मूला प्रकृति' तो एक है। फिर बहुवचन क्यों ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि **'जीवात्मा'** या **'बद्ध पुरुष'** के अस्तित्व को भी प्रमाणित करना आवश्यक है। 'जीवात्मा' भी 'परोक्ष' है। इसलिए इसकी भी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है और अनुमान के लिए 'हेतुओं' की आवश्यकता होती है। इन हेतुओं का निरूपण ईश्वरकृष्ण ने—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥[4]

इस कारिका में किया है। इनके द्वारा 'पुरुष' की सिद्धि की है। यह 'पुरुष' **'बद्ध पुरुष'** है, **'ज्ञ'** नहीं है, जैसा हमने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है। यह 'बद्ध पुरुष' अनन्त है। अतएव **'अतीन्द्रियाणाम्'** इस बहुवचन से **'मूला प्रकृति'** और **'बद्ध पुरुषों'** का ग्रहण होता है।

अब यहाँ विचारणीय है कि ईश्वरकृष्ण ने **'व्यक्त'** और **'अव्यक्त'** के अस्तित्व तथा धर्मों के सम्बन्ध में तो अपने ग्रन्थ में विचार किया है, किन्तु **'ज्ञ'** के सम्बन्ध में तो

---

[1] **सांख्यकारिका, ८, १४-१६।**

[2] **सांख्यकारिका, १५।**

[3] **सामान्यतस्तु 'दृष्टात्' 'अतीन्द्रियाणाम्' प्रतीतिः 'अनुमानात्'।**
तस्मादपि चासिद्धम् 'परोक्षम्' 'आप्तागमात्' सिद्धम् ॥ सांख्यकारिका, ६।

[4] **सांख्यकारिका, १७।**

कहीं भी कुछ नहीं कहा है। कहना तो आवश्यक है, अन्यथा '**ज्ञ**' का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?

इसी लिए मुझे तो विश्वास है कि 'अव्यक्त' की सिद्धि करने के पश्चात् ईश्वर-कृष्ण ने अवश्य '**ज्ञ**' की सिद्धि के लिए तथा '**बद्ध पुरुष**' के, जिसकी चर्चा वाचस्पति मिश्र ने भी ग्रन्थ के अपने मंगलाचरण में की है, सम्बन्ध में '**एक कारिका**' अवश्य लिखी होगी। उसी कारिका में जिस '**पुरुष**', अर्थात् '**बद्ध-पुरुष**', की चर्चा आयी होगी, उसी के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने सत्रहवीं कारिका लिखी है। साथ ही साथ इसी '**बद्ध-पुरुष**' के सम्बन्ध में कहा है--

'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' ।।[1]

ज्ञ (पुरुष) बहुत नहीं है

अभिप्राय है कि (बद्ध पुरुषों में) जन्म, मरण तथा इन्द्रियों के नियमित विभिन्न रूपों को, उनकी अलग-अलग प्रवृत्ति को तथा सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों के वैषम्य को, देखकर यह सिद्ध होता है कि '**पुरुष बहुत**' हैं। यदि **एक** ही 'पुरुष' होता, तो एक के जन्म से सभी का जन्म; एक के मरण से सभी का मरण तथा एक के अन्ध होने से सभी का अन्धा हो जाना, एक के कार्य करने के लिए प्रवृत्त होने से सभी का प्रवृत्त होना तथा एक के सात्त्विक होने से सभी का सात्त्विक हो जाना सिद्ध हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए **अनेक पुरुष** हैं। यह पुरुष '**ज्ञ**' नहीं हो सकता। इस कारिका का विशद विचार आगे किया गया है।

बद्ध पुरुष बहुत हैं

यहाँ विचारणीय यह है कि उपर्युक्त बातें '**बद्ध पुरुष**' के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं या निर्लिप्त '**ज्ञ**' के सम्बन्ध में ? '**ज्ञ**' तो न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न कभी अन्धा या बहरा होता है, न कभी किसी कार्य को करने के लिए प्रवृत्त होता है तथा त्रिगुणातीत होने के कारण न सात्त्विक है, न राजसिक है और न तामसिक है। अतएव यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त बातें '**बद्ध पुरुष**' के ही सम्बन्ध में कही जा सकती हैं और यही ईश्वरकृष्ण का भी अभिप्राय है। इसलिए '**बहुत्व**' '**ज्ञ**' का विशेषण नहीं है, किन्तु '**बद्ध पुरुष**' का है।

---

[1] **सांख्यकारिका, १८।**

इन बातों को ध्यान में रखकर हमें यह विश्वास है कि **सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिकाओं के मध्य में एक कारिका थी,** जिसमें **'ज्ञ'** के सम्बन्ध में विचार था। **वही कारिका नष्ट हो गयी है।** इसकी तरफ हमारे विद्वानों की दृष्टि प्राय: नहीं गयी। अतएव कारिकाओं के अर्थ करने के समय में उन सबने सांख्य के निर्लिप्त, त्रिगुणातीत **'ज्ञ'** को ही 'अनेक' मान लिया। परन्तु जैसा पहले कहा गया है, यह उचित मालूम नहीं होता।

बद्ध पुरुष की सिद्धि

यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि यह **'ज्ञ'** अनादि 'अविद्या' के प्रभाव से अनादि काल से बद्ध भी है, अर्थात् 'ज्ञ' की एक बद्ध अवस्था भी है, अतएव वह **'पुरुष'** (शरीर में रहने वाला अर्थात् जीवात्मा) भी कहलाता है। किन्तु इस 'बद्ध पुरुष' का भी तो प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव **'जीवात्मा'** है या नहीं, यह साधारण लोगों को मालूम नहीं या उन्हें इसके अस्तित्व में सन्देह होता है। इसलिए यह 'बद्ध पुरुष है', इसे प्रमाणित करने के लिए, जिससे साधारण लोग भी इसके अस्तित्व को मान लें, कुछ साधारण युक्तियाँ भी दी जाती हैं, जिनके द्वारा **'बद्ध पुरुष'** के अस्तित्व की सिद्धि की जा सकती है।[1] जैसे——

(१) **संघातपरार्थत्वात्**——संसार में यह देखा जाता है कि जितने 'संघात' या मिश्रित या अवयवों से युक्त पदार्थ हैं, जैसे पलंग आदि, सभी किसी दूसरे के (उपभोग के) लिए होते हैं। 'महत्' आदि व्यक्त 'संघात' हैं। तस्मात् वे किसी दूसरे के भोग के लिए हैं। वह दूसरा अर्थात् 'पर', **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है, जिसके भोग के लिए महत् आदि 'व्यक्त' ह।

(२) **त्रिगुणादिविपर्ययात्**——'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के **त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व** तथा **प्रसवधर्मित्व** साधारण धर्म (समान धर्म) ऊपर कहे गये हैं। यदि ये धर्म 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के 'समान धर्म' हैं तो प्रश्न होता है कि ये किसके 'असमान धर्म' हैं?

---

[1] **चार्वाक लोग 'जीवात्मा' शरीर आदि से भिन्न अस्तित्व रखने वाला एक पृथक् तत्त्व है, यह नहीं मानते। अतएव 'बद्ध पुरुष' या 'जीवात्मा' के अस्तित्व की सिद्धि के लिए भी युक्तियां दी जाती हैं।**

अतः इनसे भिन्न किसी तत्त्व का होना आवश्यक है, जिसके ये 'असमान धर्म' हैं। वह तत्त्व **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है।

कहने का अभिप्राय है कि 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' में **त्रिगुणत्व, अविवेकित्व**, आदि पूर्वकथित धर्म समान रूप से हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए कारिकाकार ने 'अनुमान' की प्रक्रिया दिखायी है—

प्रतिज्ञा—अविवेक्यादिः सिद्धः,

हेतु—त्रैगुण्यात्,

व्याप्ति—(अन्वय) यत्र यत्र त्रैगुण्यं तत्र तत्र अविवेक्यादिः, यथा आकाशादिपञ्चभूतेषु,

उक्त अनुमान की पुष्टि के लिए 'व्यतिरेक व्याप्ति' भी कारिका-कार ने दिखायी है[1]—

व्यतिरेक व्याप्ति—'तद्विपर्ययाभावात्', अर्थात्

यत्र अविवेक्यादिः नास्ति तत्र त्रैगुण्यं नास्ति, यथा **'पुरुषः'**।

यदि 'पुरुष या जीवात्मा' न माना जाय तो उक्त व्यतिरेक व्याप्ति में दृष्टान्त क्या होगा? दृष्टान्त के न मिलने से 'अनुमान' ही अशुद्ध हो जायगा। अतएव **'त्रिगुणादिविपर्ययात्'** हेतु के द्वारा 'बद्ध पुरुष' है, यह प्रमाणित होता है। इस अर्थ को समझने के लिए हमें—

'अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्' [2]

तथा

'संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्' [3]

इन दोनों कारिकाओं को साथ-साथ समझना चाहिए।

(३) **अधिष्ठानात्**—जिस प्रकार से बिना चेतन सारथि के 'रथ' नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना एक चेतन **अधिष्ठाता** के बुद्धि आदि परिणमित

---

[1] **सांख्यकारिका, १४।**

[2] **सांख्यकारिका, १४।**

[3] **सांख्यकारिका, १७।**

होने में प्रवर्तित नहीं हो सकते। अतः एक चेतन पुरुष का अधिष्ठाता के रूप में होना आवश्यक है। वह 'अधिष्ठाता' **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है। यही पुरुष 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' का अधिष्ठाता है।

(४) **भोक्तृभावात्**—'भोक्ता' का अर्थ है—'सुख, दुःख एवं मोह-रूप भोग्य वस्तुओं का भोग करनेवाला'। यह भोक्ता चेतन ही हो सकता है। 'अव्यक्त' तथा 'व्यक्त' तो जड़ हैं। ये **'भोक्ता'** नहीं हो सकते। ये तो **'भोग्य'** ही हैं। अतएव इनका भोग करने वाले एक चेतन पुरुष का होना आवश्यक है। वही 'भोक्ता' चेतन पुरुष **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है।

(५) **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**—'बद्ध पुरुष' ही अपनी मुक्ति के लिए अनेक उपाय करता है। मुक्त होने पर अपने स्वरूप में 'बद्ध पुरुष' स्थिति को प्राप्त करता है। वह स्थिति **'पुरुष'** की 'कैवल्य' की स्थिति है। यदि 'बद्ध पुरुष' न होता तो कौन बन्धन से मुक्ति पाने के लिए, अर्थात् उस कैवल्य-स्थिति की प्राप्ति के लिए, प्रवृत्त होता ?

'बद्ध' ही जीव मुक्त होने के लिए प्रवृत्त होता है। निर्लिप्त, त्रिगुणातीत **'ज्ञ'** तो बद्ध है नहीं, फिर वह मुक्ति के प्रवृत्त ही क्यों होगा ? अतएव 'पुरुष' है और वह 'बद्ध' है। इस प्रकार **'बद्ध पुरुष'** के अस्तित्व को उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा सांख्य-मत में सिद्ध किया जाता है।

जैसा हमने ऊपर कहा है कि बहुत-से टीकाकारों ने ईश्वरकृष्ण के कथन को[1] ध्यान में न रख कर तथा भ्रान्ति से सांख्यकारिका की १८वीं कारिका को **'ज्ञ'** के साथ जोड़ कर, सांख्यमत में **'पुरुषबहुत्ववाद'** का प्रचार किया है। इस सिद्धान्त के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ भी दी जाती हैं—

(१) **जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्**[2]—जन्म, मरण तथा करणों, अर्थात् इन्द्रियों, के व्यापार प्रति पुरुष के लिए भिन्न रूप से नियमित हैं, अर्थात् एक उत्पन्न होता है, तो दूसरा मरता है। एक अन्धा है, तो दूसरा आँख वाला है। यह संसार में देख पड़ता है। यह भेद उसी स्थिति में सम्भव

---

[1] **सांख्यकारिका, ११।**

[2] **जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।**
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

है, जब अनेक पुरुष हों। एक ही पुरुष होता, तो एक के मरने से सभी मर जाते, एक के अन्धे होने से सभी अन्धे हो जाते। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अतएव बहुत पुरुष मानना आवश्यक है।

(२) **अयुगपत् प्रवृत्तेश्च**—संसार में प्रवृत्ति है। प्रति व्यक्ति में पृथक्-पृथक् प्रवृत्ति देख पड़ती है। यह प्रवृत्ति एक ही समय में, एक ही बार सभी जीव में नहीं है। किसी एक में एक समय प्रवृत्ति है, तो दूसरे में उसी समय निवृत्ति है। इस प्रकार जीवों में एककालीन प्रवृत्ति न देखकर मालूम होता है कि 'अनेक पुरुष' हैं। यदि एक ही पुरुष होता, तो सभी जीवों में एक समय में एक ही प्रकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती।

(३) **त्रैगुण्यविपर्ययात्**—संसार में प्रति वस्तु में सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। 'सत्त्व' से शान्ति, प्रकाश, सुख, आदि मिलते हैं, 'रजस्'से दुःख, अशान्ति, क्रोध, आदि होते हैं तथा 'तमस्' से मोह, अज्ञान, आदि होते हैं। कोई जीव सात्त्विक है, तो उसमें शान्ति आदि हैं; जो राजसिक है, वह अशान्त, क्रोधी, आदि है तथा जो तामसिक है, वह मूढ़ है। ये भेद तभी होंगे जब पुरुष भिन्न-भिन्न हों। यदि एक ही पुरुष होता, तो सभी सात्त्विक या राजसिक या तामसिक होते, परन्तु ऐसा तो नहीं है। अतएव अनेक पुरुष हैं।

इन युक्तियों के आधार पर विद्वानों ने सांख्य में **'पुरुषबहुत्ववाद'** को स्वीकार किया है। परन्तु विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त युक्तियाँ निर्लिप्त और त्रिगुणातीत **पुरुष (ज्ञ)** के लिए नहीं दी जा सकती हैं। निर्लिप्त पुरुष का जन्म और मरण से क्या सम्बन्ध है? वह तो न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है। न तो उसे किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध है, जिससे वह अन्धा और बहरा कहा जा सके। वह तो नित्य, सर्वव्यापक, त्रिगुणातीत है। उसमें रजोगुण तो है नहीं, फिर उसमें प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है? त्रिगुणातीत होने के कारण तीनों गुणों के वैलक्षण्य ही उसमें किस प्रकार हो सकते हैं?

युक्तियों का निराकरण

अतएव ये युक्तियाँ त्रिगुणातीत, निस्संग, निर्लिप्त **'ज्ञ'** के सम्बन्ध में कही ही नहीं जा सकतीं। वस्तुतः विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये युक्तियाँ **'बद्ध पुरुष'** के लिए ही हैं। इन युक्तियों के कारण बद्धावस्था में **'पुरुष'** अनेक हैं।

परन्तु **'बद्ध जीव' अनेक हैं, इसमें तो प्रायः सभी दर्शनों का एक मत है।** तथापि सम्भव है, यहाँ वेदान्तियों के विरुद्ध अपने मत का स्पष्टीकरण करने के लिए इन युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध किया गया हो कि 'जीवात्मा' बद्धावस्था में भी आपस में **सर्वथा** भिन्न है।

यहाँ यह विचार करना उचित है कि 'भगवद्गीता' की तरह 'सांख्य' में तीन प्रकार के पुरुषों का विचार है—**'निर्लिप्त, (ज्ञ)' 'बद्ध पुरुष'** तथा **'मुक्त पुरुष'**। वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वकौमुदी' के मंगल-श्लोक में कहा है—

'अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्'

अर्थात् एक प्रकार के **'पुरुष' (जीव)** हैं, जो प्रकृति की सेवा में लगे रहते हैं तथा दूसरे प्रकार के **पुरुष (जीव)** हैं जो भोग के अनन्तर प्रकृति के संसर्ग को छोड़ देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र ने **'बद्ध'** और **'मुक्त'** पुरुषों का ही वर्णन यहाँ किया है और ये अनेक हैं। इसी लिए दोनों के साथ उन्होंने बहुवचन का प्रयोग किया है।

सांख्य में तीन प्रकार के पुरुष

यदि सभी पुरुष बद्ध ही होते, तो निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, आदि विशेषण किसके लिए सांख्य में प्रयोग किये जाते? 'बद्ध' पुरुष तो अनादि काल से चले आते हैं। मुक्तावस्था में भी, जैसा कि आगे कहा जायगा, 'पुरुष' सत्त्वगुण से सर्वथा मुक्त नहीं है। यही कारण है कि एक मुक्त पुरुष दूसरे मुक्त पुरुष से भिन्न है। ऐसी स्थिति में बद्ध तथा मुक्त जीवों से भिन्न एक निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, स्वतन्त्र **'ज्ञ' पुरुष** न माना जाय, तो ये निर्लिप्त आदि धर्म किस पुरुष के लिए प्रयोग किये जा सकते हैं? अतएव **'ज्ञ'-रूप पुरुष' एक** है और **बद्ध पुरुष'** तथा **'मुक्त पुरुष' अनेक** हैं। इन सभी पुरुषों की **स्वतन्त्र** वास्तविक सत्ता है। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों का **वर्णन है।**

'अनाश्रितत्व', 'अलिंगत्व', 'निरवयवत्व', 'स्वतन्त्रत्व', 'अत्रिगुणत्व', 'विवेकित्व', 'अविषयत्व', 'असामान्यत्व', 'चेतनत्व', 'अप्रसवधर्मित्व', 'साक्षित्व', 'कैवल्य', 'माध्यस्थ', 'औदासीन्य', 'द्रष्टृत्व' तथा 'अकर्तृत्व', ये सभी धर्म निर्लिप्त **पुरुष (ज्ञ)** में हैं।

'ज्ञ' के अन्य धर्म

इसी निर्लिप्त पुरुष का बिम्ब जड़ 'बुद्धि' या 'महत्तत्त्व' पर पड़ता है, तब 'महत्' या 'बुद्धि', जड़ होती हुई भी, चेतन की तरह मालूम होती है। पुनः बिम्ब

से प्रतिबिम्बित बुद्धि का स्वरूप भी उसी प्रतिबिम्ब के द्वारा चेतन, असंग पुरुष पर भी भासित होता है, अर्थात् आरोपित होता है, जिससे 'असंग पुरुष' भी बुद्धि के 'कर्तृत्व' आदि धर्मों से युक्त मालूम होता है। जैसे—एक अच्छे स्फटिक के सामने रखे हुए जपा-पुष्प पर स्फटिक का बिम्ब पड़ता है, जिससे जपापुष्प चमकता है और उसी बिम्ब के द्वारा जपापुष्प का लाल वर्ण स्फटिक पर भी आरोप होता है, जिससे शुद्ध, स्वच्छ स्फटिक भी लाल वर्ण का मालूम होता है। यही **'अविद्या'** है, यही सांख्य में 'बन्धन' है। इसी परस्पर अविद्या के सम्बन्ध से सृष्टि भी होती है।

चेतन और जड़ में परस्पर आरोप

प्रमाण-विचार

उपर्युक्त पचीस प्रमेयों के वास्तविक ज्ञान से दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। प्रमेयों के जानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। सांख्यमत में इन तीनों प्रकार के प्रमेयों का अर्थात् 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का, ज्ञान तीन ही प्रमाणों से होता है। इसलिए सांख्यशास्त्र ने तीन ही प्रमाण माने हैं—**दृष्ट** (प्रत्यक्ष), **अनुमान** तथा **आप्तवचन**। ये तीन प्रमाण सांख्यमत के **पचीस तत्त्वों को ही** जानने के लिए हैं, अन्य किसी वस्तु को जानने के लिए ये नहीं हैं।

सांख्यकारिका में **'प्रमाण'** का लक्षण देने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई। इसका यह कारण कहा जा सकता है कि 'जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो उसे **'प्रमाण'** कहते हैं', यह अर्थ तो सभी को मान्य है और पूर्व की भूमि में ही इसे जिज्ञासु ने जान लिया होगा। इसी भावना से प्रायः **प्रमाण** का कोई पृथक् लक्षण देने की इस ग्रन्थ में आवश्यकता नहीं हुई।

प्रमाण का लक्षण

'प्रत्यक्ष प्रमाण' का लक्षण पञ्चम कारिका में दिया गया है—

प्रत्यक्ष—'प्रतिविषयाध्यवसायः', अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् जो निश्चित ज्ञान है, वही **'प्रत्यक्ष'** है।

इसकी 'प्रक्रिया' न्याय-वैशेषिक से सर्वथा भिन्न है। सांख्यमत में करणों की संख्या तेरह है, जिनमें 'बुद्धि', 'अहंकार' तथा **'मनस्'**, ये तीन **'अन्तःकरण'** हैं और पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' तथा पाँच 'कर्मेन्द्रियाँ', ये दस **'बाह्य करण'** हैं। इनमें से 'बुद्धि', 'अहंकार' तथा 'मनस्', ये 'धारण' करते हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ 'प्रकाश' करती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ 'आहरण'

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया

करती हैं ।[1] बाह्य करणों के 'विषय' वर्तमान होने से प्रधान रूप में उनका ज्ञान बाह्य करणों के द्वारा होता है, किन्तु अन्तःकरण के लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्य, सभी प्रकार के 'विषय' होते हैं।[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान में उपर्युक्त तीनों अन्तःकरण तथा एक वह ज्ञानेन्द्रिय जिसके 'विषय' का प्रत्यक्ष ज्ञान इष्ट है, इन चारों का प्रयोजन होता है। इनमें तीनों अन्तःकरण **'द्वारि'** (अर्थात् द्वार है जिसके) कहे जाते हैं और इन्द्रियाँ **'द्वार'** हैं, जिनसे होकर 'अहंकार' तथा 'मनस्' के साथ 'बुद्धि' विषय के ज्ञान के लिए बाहर जाती है—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥[3]

रूप के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए चित्प्रतिबिम्बित **'बुद्धि'** अहंकार को, तत्-पश्चात् मन को साथ लेकर **'चक्षु'** के द्वार से बाहर निकल जाती है और 'रूप' के साथ सम्पर्क में आकर 'चित्त', अर्थात् 'बुद्धि', 'रूपाकार' या रूपवाली वस्तु के आकार की हो जाती है। **'तदाकाराकारिता' चित्तवृत्ति** होते ही चित्त में प्रतिबिम्बित 'चित्', अर्थात् 'पुरुष', में भी उस विषय (रूप या रूपवत्) का 'आरोप' हो जाता है। वस्तु के आकार का 'चित्त' का हो जाना ही **'प्रत्यक्ष ज्ञान'** है।

इसमें **बहिरिन्द्रिय** 'द्वार' मात्र है, **'मन'** संकल्प-विकल्प करता है, **'अहंकार'** 'मुझे यह ज्ञान हुआ है', इत्यादि 'अहंभाव' के रूप का होता है और **'बुद्धि'** निश्चय करती है कि 'यह (नील) रूप है'। वस्तुतः सभी बातें **'बुद्धि'** ही करती है और करण उसके सहायक[4] हैं।

सांख्यमत में एक ही प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। सांख्य के 'प्रमेय', अर्थात् जानने के विषय पचीस ही तत्त्वमात्र हैं। उन्हीं के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की आवश्यकता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने वाला 'साधक' ऊँचे स्तर का है। लौकिक विषयों से तथा साधारण लोगों से सांख्यमत के प्रत्यक्ष ज्ञान का कुछ भी

---

[1] सांख्यकारिका, ३२।
[2] सांख्यकारिका, ३३।
[3] सांख्यकारिका, ३५।
[4] सांख्यकारिका, ३५।

प्रयोजन नहीं है। अतएव जिन लोगों ने सांख्यमत में भी **'आर्ष'** और लौकिक प्रमाणों का भेद माना है, वे न्याय की भूमि से प्रभावित हैं तथा सांख्यभूमि की तरफ उनका ध्यान नहीं है।

अनुमान

'अनुमान' का लक्षण न्यायमत की तरह लिंग और लिंगी के **ज्ञानपूर्वक** है। इसमें कोई अन्तर नहीं है, अतएव पुनः उन्हीं बातों को दुहराना व्यर्थ है। 'अनुमान' के तीन भेद हैं—'पूर्ववत्', 'शेषवत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट'। इनके भी लक्षण न्याय तथा मीमांसा के समान ही हैं। ईश्वर-कृष्ण ने 'अनुमान' का कोई स्वतन्त्र विभाग स्वयं नहीं किया था, जो पूर्व के शास्त्र-कारों ने तीन विभाग माने थे, उन्हीं को इन्होंने भी स्वीकार कर लिया है। इनके अर्थ में कोई भी भेद नहीं है।

आप्तवचन—**'आगम'** प्रमाण को ही **'आप्तवचन'** कहते हैं। इसका लक्षण न्याय-मीमांसा के समान है।

प्रमाणों का प्रयोजन

'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणात्'[1]—अर्थात् प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है, इसी लिए प्रमाण का विचार शास्त्र में आवश्यक है। तीन ही प्रमाणों से सांख्यशास्त्र के सभी तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। अब यह विचारणीय है कि किस 'प्रमाण' से किस 'प्रमेय' का ज्ञान होता है। सांख्य में **'व्यक्त'**, **'अव्यक्त'** तथा **'ज्ञ'**, ये तीन प्रकार के प्रमेय हैं। **'व्यक्त'** का ज्ञान **'प्रत्यक्ष'** से होता है[2] (**दृष्टात्-प्रत्यक्षात् सामान्यतः-साधारणतत्त्वानां-'व्यक्तानां' प्रतीतिः**), जो अतीन्द्रिय हों, जिनका 'प्रत्यक्ष' से ज्ञान न हो, उनका **'अनुमान'** से ज्ञान होता है। **'अव्यक्त'** अतीन्द्रिय है, परोक्ष है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, अतएव इसका ज्ञान **'अनुमान'** से होता है (**अतीन्द्रियाणाम् अनुमानात् प्रतीतिः**)। इनके अतिरिक्त जो 'परोक्ष' हों और जिनका ज्ञान 'अनुमान' से भी न हो सके उनका ज्ञान **'आप्तागम'** से सिद्ध होता है—

तस्मादपि —अनुमानादपि च असिद्धम् परोक्षम्—अतीन्द्रियम् आप्तागमात् सिद्धम्।[3]

---

[1] **सांख्यकारिका, ४।**

[2] **'व्यक्तम्' प्रत्यक्षसाध्यम्—गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, ६।**

[3] **सामान्यतस्तु 'दृष्टात्' अतीन्द्रियाणाम् प्रतीतिः 'अनुमानात्'।**
तस्मादपि चासिद्धम् 'परोक्षम्' 'आप्तागमात्' सिद्धम् ॥—सांख्यकारिका, ६।

'ज्ञ' अतीन्द्रिय है। इसको जानने के लिए इसमें कोई 'लिंग' नहीं है, क्योंकि यह **'त्रिगुणातीत'**, **'निर्लिप्त'** एवं **'निर्लिंग'** है। अतएव 'अनुमान' से इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए वेदवाक्य के ही द्वारा, अर्थात् **आप्तागम** के द्वारा, **'ज्ञ-पुरुष'** के **अस्तित्व की सिद्धि** होती है।[1]

टीकाकारों ने इस कारिका का अर्थ अन्य प्रकार से किया है, जो सर्वथा संगत नहीं मालूम होता। इस बात को ध्यान में रखना है कि पचीस तत्त्वों के ही ज्ञान के लिए सांख्य में तीन प्रमाण माने गये हैं। इन प्रमाणों को पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय से प्रयोजन नहीं है। फिर 'स्वर्ग', 'अपूर्व', 'देवता', 'कैवल्य', आदि पदार्थों को जानने के लिए इन प्रमाणों का सांख्य में क्या प्रयोजन है? 'स्वर्ग' आदि तो सांख्य के तत्त्व हैं नहीं, तो उनको जानने के लिए प्रमाणों का विचार करना यहाँ संगत ही कैसे हो सकता है?

दूसरे के मतों का विचार

किसी-किसी ने **'ज्ञ-पुरुष'** का भी अनुमान से ही ज्ञान होना माना है, परन्तु इसमें दो बाधाएँ हैं—(१) 'ज्ञ-पुरुष' में 'लिंग' नहीं है। बिना लिंग के अनुमान हो नहीं सकता। (२) यदि 'व्यक्त' के ज्ञान के लिए शास्त्र का या प्रमाण का प्रयोजन नहीं है एवं 'अनुमान' से 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का ज्ञान हो जाता है, तो पुनः तीसरे प्रमाण के मानने में कौन-सी युक्ति दी जा सकती है? यदि सभी प्रमेयों का ज्ञान दो ही प्रमाणों से हो जाय, तो तीसरे प्रमाण को स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं। फिर ईश्वरकृष्ण ने तीन प्रमाण क्यों माने? इन प्रश्नों का समाधान टीकाकारों ने नहीं किया है। अतएव इनकी व्याख्या सन्तोषप्रद नहीं मालूम होती।

तीन प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की सांख्य में आवश्यकता ही नहीं है, इसलिए उनके सम्बन्ध में सांख्य में कोई भी विचार नहीं है।

मुक्ति का विचार

पहले कहा गया है कि 'पुरुष' स्वभाव से निर्लिप्त, निस्संग, त्रिगुणातीत और नित्य है। 'अविद्या' भी नित्य है। इन दोनों का संयोग अनादि काल से है।

---

[1] **सांख्यकारिका, ५-६।**

'प्रकृति' जड़ और नित्य है। 'पुरुष' के साथ-साथ 'प्रकृति' का अस्तित्व अनादि काल से चला आया है। 'पुरुष' का बिम्ब 'प्रकृति' पर पड़ता है, जिससे 'प्रकृति' या 'बुद्धि' चेतन की तरह अपने को समझने लगती है। व्युत्क्रम रूप से बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ता है, जिसके कारण निष्क्रिय, निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य 'पुरुष' भी कर्ता, भोक्ता, आसक्त मालूम होने लगता है। 'पुरुष' और 'प्रकृति' के इसी कल्पित तथा आरोपित सम्बन्ध को **'बन्धन'** कहते हैं। इसी **'बन्धन'** को दूर करना, 'पुरुष' का अपने आपको पहचानना, प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही **'विवेक-बुद्धि'** है। यही **'मुक्ति'** है।

पुरुष और प्रकृति का बन्धन

बन्धन को दूर करना मुक्ति है

ईश्वरकृष्ण का कथन है कि महत् से लेकर भूतों तक की सृष्टि 'प्रकृति' ही करती है। और यह सृष्टि वस्तुतः प्रत्येक 'पुरुष' को मुक्त करने के लिए ही होती है।[1] सृष्टि करने के लिए 'प्रकृति' किसी का साहाय्य नहीं लेती। 'पुरुष' का बिम्ब जो 'प्रकृति' पर पड़ता है, वह भी किसी के प्रयत्न से नहीं। सब **'स्वभाव'** से ही होता है।

सृष्टि का कार्य

'प्रकृति' अचेतना होकर सृष्टि किस प्रकार कर सकती है? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है—'पुरुष' की अध्यक्षता में विद्यमान **'प्रकृति का स्वभाव'**। जिस प्रकार अचेतन दूध गाय के थन से निकल कर बछड़े की वृद्धि के लिए उसके मुंह में **'स्वभाव'** से ही चला जाता है, उसी प्रकार 'पुरुष' की मुक्ति के लिए 'प्रकृति' महत् आदि तत्त्वों की सृष्टि **स्वभाव** से ही करती है।[2] इसमें 'प्रकृति' का अपना स्वार्थ नहीं है। वस्तुतः यह सभी परार्थ, अर्थात् दूसरे के लिए ही है।[3]

'पुरुष' को मुक्त करने के लिए 'प्रकृति' नाना प्रकार के उपायों को रचती है। 'मुक्ति' एक जन्म के प्रयत्न से मिलना सम्भव नहीं है। इसी लिए अपने प्रभुत्व के बल से तथा धर्म, अधर्म, आदि बुद्धि के आठों भावों के साहाय्य से 'प्रकृति' एक शरीर को छोड़ कर अन्य शरीर को धारण करती है। उसके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने का भी एक मात्र उद्देश्य है—'पुरुष को बन्धन से छुड़ाना'। एक शरीर को छोड़ कर अन्य

---

[1] **सांख्यकारिका, ५६।**

[2] **सांख्यकारिका, ५७।**

[3] **सांख्यकारिका, ५६।**

शरीर में जाने के लिए स्थूल शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म शरीर को सांख्य ने माना है। यह **सूक्ष्म शरीर** महत्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राएँ, इन अठारह तत्त्वों से सम्पन्न होता है। सृष्टि के आदि में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक **'सूक्ष्म शरीर'** उत्पन्न होता है। यह किसी स्थूल शरीर में आसक्त नहीं होता। इसमें स्वतन्त्र-रूप से भोग नहीं होता। बुद्धि के आठों भाव इसमें रहते हैं। इसकी गति को कोई भी रोक नहीं सकता। यह स्थूल शरीर के आश्रित हुए बिना रह नहीं सकता। पुरुष के भोग के लिए यह 'सूक्ष्म शरीर' नट के समान नाना प्रकार के शरीर को धारण करता रहता है।[1]

सूक्ष्म शरीर

ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश होने पर 'प्रकृति' और 'पुरुष' एक प्रकार से अपने अपने स्वरूप को पहचान लेते हैं।[2] यही ज्ञान **'विवेक-बुद्धि'** को उत्पन्न करता है।

'विवेक-बुद्धि' प्राप्त होने से पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने को निर्लिप्त तथा निस्संग समझने लगता है। ज्ञान को छोड़कर धर्म, अधर्म, आदि बुद्धि के सात भावों का प्रभाव जब नष्ट हो जाता है, तब सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। 'प्रकृति' की सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर 'प्रकृति' विरत हो जाती है और 'पुरुष' **कैवल्य** को प्राप्त हो जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों तथा पूवजन्मों के संस्कारों के विद्यमान रहने के कारण उसी समय शरीर का पतन नहीं होता। भोग की पूर्ति होने पर ही संस्कारों का भी नाश होगा, तब शरीर का पतन तथा **'विदेह कैवल्य'** की प्राप्ति होती है। जब तक संस्कार है, तब तक **'जीवन्मुक्ति'** की अवस्था में जीव रहता है। घट बनने के पश्चात् कुम्भकार के चक्र के घूमते रहने के समान जीव का शरीर भी 'विवेक-बुद्धि' के प्राप्त

कैवल्य की प्राप्ति

विदेह कैवल्य, जीवन्मुक्ति

---

[1] पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥
—सांख्यकारिका, ४०-४२।

[2] सांख्यकारिका, ३७।

होने के अनन्तर भी भोगों के द्वारा प्रारब्ध कर्म के क्षय पर्यन्त चलता ही रहता है। पश्चात् निरपेक्ष, द्रष्टा, साक्षी होकर 'पुरुष' **प्रकृति को देखता है (प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः)**[1], तथापि वह पुनः 'प्रकृति के बन्धन' में नहीं पड़ता।

आलोचन

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक, इन तीनों प्रकार के दुःखों से पीड़ित जीव दुःख के नाश के लिए प्रयत्न करने लगता है। लौकिक उपाय तथा वैदिक यागादि कर्मकलापों के द्वारा दुःख का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक नाश नहीं होता। अतएव दुःख के कारण **अविद्या** के नाश के लिए एवं विवेक-बुद्धि की प्राप्ति के लिए जीव पुनः प्रयत्न करने लगता है। सांख्यशास्त्र में इस 'विवेक-बुद्धि' की प्राप्ति के लिए उपाय कहे गये हैं। इसी लिए सांख्यशास्त्र का विवेचन करना आवश्यक है।

सांख्य में एक चेतन तत्त्व है **'पुरुष'** तथा एक जड़ तत्त्व है **'प्रकृति'**। अनादि काल से अविद्या के कारण इन दोनों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि जिसके कारण चेतन का बिम्ब 'प्रकृति' पर पड़ता ही रहता है और 'प्रकृति' जड़ होने पर भी उस बिम्ब के सम्पर्क से चेतन की तरह कार्य करने लगती है और बिम्ब से प्रभावित 'प्रकृति' के गुणों का आरोप 'पुरुष' पर पड़ता रहता है, जिससे 'पुरुष' स्वभाव से निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, असंग होने पर भी अपने को कर्ता, भोक्ता, आदि समझने लगता है।

'ज्ञान' के द्वारा इन दोनों तत्त्वों के परस्पर आरोप नष्ट हो जाते हैं, 'पुरुष' अपने को 'प्रकृति' से भिन्न समझने लगता है और 'प्रकृति' भी 'पुरुष' को मुक्त कर उस मुक्त जीव के लिए पुनः सृष्टि नहीं करती। यही तो **'विवेक-बुद्धि'** या **'कैवल्य'** की प्राप्ति है। इसी से सांख्यमत में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति कही जाती है। पश्चात् 'पुरुष' अपने स्वरूप में स्थित होकर 'प्रकृति' को **देखता रहता है**, फिर भी, 'विवेक-बुद्धि' हो जाने के कारण, 'प्रकृति' के बन्धन में वह नहीं पड़ता।

मुक्त पुरुष और प्रकृति

यहाँ विचारणीय है कि क्या 'पुरुष' मुक्तावस्था में त्रिगुण के सम्बन्ध से, अर्थात् 'प्रकृति' के सम्बन्ध से, सर्वथा मुक्त हो जाता है ?

---

[1] सांख्यकारिका, ६५।

इसका समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है—

(१) मुक्तावस्था में 'पुरुष' निरपेक्ष होकर 'प्रकृति' को **देखता है**। यह **'देखना'** तो **'सत्त्वगुण'** का कार्य है। इसलिए कहा जाता है कि 'पुरुष' को मुक्ति में भी सत्त्वगुण से ईषत् सम्बन्ध रह जाता है, अन्यथा वह **'देख'** नहीं सकता था। यदि सत्त्वगुण से किञ्चित् भी सम्बन्ध है, तो फिर 'पुरुष' मोक्षदशा में प्रकृति, अर्थात् सत्त्व, से सर्वथा पृथक् नहीं हो सकता।[1] रजोगुण और तमोगुण का अभिभव तो अवश्य है। परन्तु ये तीनों गुण वस्तुतः पृथक् नहीं रहते और सदैव आपस में मिलकर ही कार्य करते हैं।[2] इसलिए मोक्षदशा में रजस् और तमस् का अभिभव होने पर भी इनके पुनः अभिव्यक्त होने की शंका रह ही जाती है। फिर दुःख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है?

(२) दूसरा विषय है कि सांख्यमत में किसी वस्तु का **नाश** नहीं होता, केवल स्वरूप बदल जाता है। इसलिए—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'[3]

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी अवस्था में 'रजस्' का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। अतएव सांख्यमत में दुःख का सर्वथा निराकरण असम्भव है। यही वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है।[4] दुःख का केवल अभिभव हो जाता है—

'यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखं तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुम्।'[5]

(३) यहाँ एक और भी बात उपर्युक्त समाधान की पुष्टि में कही जा सकती है—

---

[1] **सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाप्यस्य मनाक् संभेदोऽस्त्येव—तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, ६५।**

[2] **अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः—सांख्यकारिका, १२।**

[3] **भगवद्गीता, २-१६।**

[4] **तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्—तत्त्वकौमुदी, कारिका, १।**

[5] **वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, १।**

मुक्ति में भी पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध—**'विवेक-ख्याति'** या **'विवेक-बुद्धि'** को प्राप्त करना ही तो सांख्यमत में 'मुक्ति' है। 'ख्याति' या 'बुद्धि' तो 'सत्त्वगुण, का स्वरूप है। इसलिए यदि मुक्तावस्थामें 'ख्याति' या 'बुद्धि' है, तो 'सत्त्वगुण, अर्थात् **'पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध'** भी मुक्तावस्था में रह ही जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मुक्तावस्था में भी किसी रूप में पुरुष को प्रकृति से वस्तुतः छुटकारा नहीं मिलता है। यही बात योगदर्शन में भी कही गयी है—

> **'विपरीता विवेकख्यातिरिति । अतः तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि'** ।[1] **'अतश्चितिशक्तेर्विपरीता... विवेकख्यातिरपि हेया'** ।[2] **'इयं विवेकख्यातिः धर्मधर्म्यभेदात् तद्वती वृत्तिः सत्त्वगुणात्मिका'** ।[3]

इन बातों को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि सांख्यमत में मोक्षावस्था में भी 'प्रकृति' का 'सात्त्विक अंश' रहता ही है। शरीर के न रहने के कारण पुनः दुःख की अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु दुःख का बीज 'रजस्' अभिभूत होकर भी किसी-न-किसी रूप में रहता ही है।

मुक्तावस्था में भी पुरुष में रहने वाला यह 'सत्त्व' **'शुद्ध सत्त्व'** या **'खण्ड सत्त्व'** कहा जाता है। यही एक जीव का दूसरे जीव से मुक्ति में भेद करता है। इसी के कारण मुक्ति में भी मुक्त जीव की संख्या अनन्त रहती है।

यह तो कहा नहीं जा सकता है कि **सांख्य में** 'चेतन' पदार्थ नहीं है, किन्तु वह 'निर्लिप्त' है, 'निष्क्रिय' तथा 'त्रिगुणातीत' है। 'अकर्ता' होने के कारण सृष्टि की अभिव्यक्ति में वह स्वयं कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। फिर इन बातों के लिए **'ईश्वर'** को मानना सांख्यमत में क्या उचित है?

सांख्य में ईश्वर

---

[1] **योगभाष्य, १-२ ।**

[2] **वाचस्पति मिश्र—तत्त्ववैशारदी, १-२ ।**

[3] **योगवार्त्तिक, १-२ ।**

इसके उत्तर में यह ध्यान में रखना है कि प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपनी सीमा के अन्दर उसी पदार्थ को स्वीकार करता है जिसके बिना अपने दृष्टिकोण से उसका कार्य-सम्पादन न हो सके। न्याय-वैशेषिकों ने प्रलय के बाद परमाणु में 'आरम्भक संयोग' या क्रिया को उत्पन्न करने के लिए **'ईश्वरेच्छा'** या **'ईश्वर'** का अस्तित्व माना है। सांख्य में 'प्रकृति' स्वतः परिणामिनी है। उसे किसी चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं है। साम्यावस्था में 'प्रकृति' में क्षोभ उत्पन्न कर, सृष्टि को आरम्भ करने के लिए यद्यपि चेतन की आवश्यकता है, किन्तु वह चेतन उस स्थिति में भी निर्लिप्त और निष्क्रिय ही है। ऐसी स्थिति में निष्प्रयोजन **'ईश्वर'** के अस्तित्व को मानने में कौन-सी युक्ति है? तथापि सांख्य को **'नास्तिकदर्शन'** नहीं कह सकते। हाँ, यह **'निरीश्वर सांख्य'** कहा जा सकता है।

अन्त में इसे ध्यान में रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक में **नौ** नित्य पदार्थ थे और 'आत्मा' स्वभाव से **जड़** थी। सांख्य में **दो** ही नित्य पदार्थ हैं और 'पुरुष' **चेतन** है। इस प्रकार जिज्ञासु क्रमशः सूक्ष्मतर भूमि में जाकर अद्वितीय तत्त्व को प्राप्त कर सकता है, यह आशा होती है।

एकादश परिच्छेद

योग-दर्शन

योग का महत्त्व

योग-दर्शन का महत्त्व दर्शनशास्त्रों में तो है ही, किन्तु हमारे जीवन से भी इसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य-जीवन के उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। ये चार **'पुरुषार्थ'** कहे जाते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियों की एवं चित्त की शुद्धि एवं नियन्त्रण आवश्यक है। पश्चात् 'चित्त' को स्थिर करना भी आवश्यक है। इन बातों के लिए हमें योगशास्त्र की शरण लेनी पड़ती है। 'चित्तवृत्ति के निरोध' को ही तो **'योग'** कहा जाता है। जब तक शरीर, इन्द्रिय तथा मन साधक के वश में नहीं आते, तब तक उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। मोक्ष या दुःखनिवृत्ति या आत्मा का साक्षात्कार ही तो **'परम पुरुषार्थ'** है। इसमें किसी का मतभेद नहीं है। इसी लिए श्रुति में भी कहा गया है—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'[1]

'योग' को ही 'निदिध्यासन' कहते हैं। परम पद की प्राप्ति की यात्रा में प्रत्येक स्तर के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए 'निदिध्यासन' करना ही पड़ता है। इसके बिना तत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग निष्कण्टक नहीं हो सकता।

संसार में दो प्रकार के तत्त्व हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर, एक जड़ और दूसरा चेतन। आभ्यन्तर तत्त्व **'चित्'** है। प्रत्येक दर्शन में इन तत्त्वों की, किसी-न-किसी रूप में, सहायता आवश्यक है। साक्षात्कार करने से ही तत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्व स्वयं या उसका कोई अंश, जैसे—न्याय का परमाणु, इतना

---

[1] बृहदारण्यक, २-४-५।

सूक्ष्म है कि '**योगज**' प्रक्रिया के बिना उसका ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए योग-शास्त्र की प्रक्रियाओं का ज्ञान सभी दर्शनों के लिए आवश्यक है।

सांख्य में योगशास्त्र की आवश्यकता

सांख्यशास्त्र में तो योग के बिना कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। परमाणु के तुल्य 'पंच भूतों' से लेकर 'महत्' तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्व मनोवैज्ञानिक हैं। 'चेतन' (चित्) और 'प्रकृति' भी इतने सूक्ष्म हैं कि बिना योग की सहायता से उनका आभास भी नहीं मिल सकता। सभी मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्थूलदृष्टि से अगोचर हैं और इनके ज्ञान के लिए चित्त-वृत्ति के व्यापारों का विचार तो योगशास्त्र में ही है। सांख्य के तत्त्वों का प्रत्यक्ष एक प्रकार से स्थूल-दृष्टि वालों के लिए 'योगज प्रत्यक्ष' है। सांख्य की भूमि में सभी व्यापार 'बुद्धि' या 'महत्' तत्त्व के द्वारा होते हैं और बुद्धि का वास्तविक ज्ञान 'योग' से ही होता है। सांख्य परिणामवादी शास्त्र है। सत्त्व, रजस् और तमस् के परिणाम से जगत् चलता है और चित्त की निरोधावस्था में भी परिणाम होता रहता है। इस परिणाम का विचार विशेष रूप में योगशास्त्र में ही हमें मिलता है। अतएव योगशास्त्र के ज्ञान के बिना सांख्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता। सांख्य और योग दोनों के समन्वय से चैत्तिक पदार्थों का ज्ञान होता है। वास्तव में ये दोनों मिलकर एक शास्त्र हैं। इसीलिए गीता में भी कहा गया है--

'सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'[1]

चित्तवृत्तियों का विचार तो सांख्य में नहीं है और इसके ज्ञान के बिना सांख्य के तत्त्वों का रहस्य समझ में नहीं आ सकता। इस प्रकार सांख्य के रहस्य को समझने के लिए तथा दुःखनिवृत्ति के सूक्ष्म उपायों को जानने के लिए एवं परम पद के मार्ग में अग्रसर होने के लिए योग-दर्शन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

वेदान्त में योग का स्थान

वेदान्त के रहस्य को भी हम बिना योग-दर्शन की सहायता से नहीं जान सकते। इतना तो सभी को ध्यान में रखना उचित है कि अन्तःकरण के पूर्व-पूर्व-जन्मों के मलों का नाश कर उसे शुद्ध करने से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। अन्तःकरण के मल को दूर करने के उपाय योग-शास्त्र में ही कहे गये हैं। अतएव सभी के लिए योगशास्त्र का अध्ययन अत्यावश्यक है। दर्शनों में योगशास्त्र के विषयों को हम सैद्धान्तिक रूप में पढ़ते

---

[1] ५-४।

हैं, विचारते हैं, किन्तु 'योग-दर्शन' में उन्हीं को व्यावहारिक रूप में आँखों से देखते हैं। इस प्रकार सांख्य और योग दोनों मिलकर ही तत्त्व-ज्ञान के मार्ग को हमें दिखाते हैं। योग के बिना सांख्य का ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। इसकी पूर्ति करने के लिए हमें योगशास्त्र का अध्ययन तथा मनन करना और उसके विचारों को व्यवहार में लाना आवश्यक है।[1]

योगशास्त्र के आचार्य और ग्रन्थ

योग के समान व्यापक शास्त्र दूसरा नहीं है। वस्तुतः यह शास्त्र तो ऋषियों के अनुभूत तत्त्वों के फल को जानने का साधन है। भिन्न-भिन्न ऋषियों ने समाधि में भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वों का अनुभव किया और अपने अनुभवों को जिज्ञासुओं के कल्याण के लिए लिखा। इसलिए भिन्न-भिन्न अनुभवों का ज्ञान हमें योगशास्त्र में मिलता है। अनुभवों के विवेचन में भेद होने पर भी मूल बातों में तो भेद नहीं है, फिर भी योग की शाखा-प्रशाखाएँ अनेक हैं। इस ग्रन्थ में हमें सभी शाखाओं पर विचार करना इष्ट नहीं है। यहाँ तो केवल दार्शनिक रूप में तत्त्वों का विचार करना है।

पतञ्जलि

इस विचार में एकमात्र सहायक **'पतञ्जलि'** तथा उनके सूत्र हैं। विद्वानों का कहना है कि **'योगसूत्र'** के रचयिता, 'व्याकरण-महाभाष्य' के निर्माता तथा 'चरकसंहिता' के रचयिता एक ही व्यक्ति 'पतञ्जलि' हैं।[2] ईसा से पूर्व दूसरी सदी में इन्होंने जन्म लिया था। कहा जाता है कि यह 'शेषनाग' के अवतार थे। शेषनाग के रूप को धारण करते हुए इन्होंने 'महाभाष्य' की रचना की थी और शिष्यों को पढ़ाया था। यह वैयाकरणों की परम्परा में प्रसिद्ध है।

यही **'योगसूत्र'** योगशास्त्र का मूल ग्रन्थ है। इसमें चार पाद हैं—(१) 'समाधिपाद', (२) 'साधनपाद', (३) 'विभूतिपाद' तथा (४) 'कैवल्यपाद'। योगसूत्र पर

व्यास

'व्यास' का **'भाष्य'** है। यह 'व्यास' महाभारत के रचयिता से भिन्न हैं। यद्यपि 'भाष्य' बहुत विस्तृत है, फिर भी यह कठिन है। इसके ऊपर सम्भवतः और भी टीकाएँ रही हों, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

---

[1] **गीता, ५-४।**

[2] **योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।**
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां 'पतञ्जलिं' प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

दशम शतक के **वाचस्पति मिश्र** की **'तत्त्ववैशारदी'** नाम की भाष्य की टीका सरल और बोधगम्य है। पश्चात् विज्ञान भिक्षु ने भाष्य के ऊपर एक **'वार्त्तिक'** लिखा। यह बहुत ही विस्तृत व्याख्या है। परन्तु विज्ञान भिक्षु बहुत स्वतन्त्र विद्वान् हैं। यह सांख्य-योग के साथ वेदान्त-मत की भी समालोचना कर बैठते हैं, इससे इनके मत को समझने में कुछ कठिनता हो जाती है। इन्होंने **'योगसारसंग्रह'** नाम का एक छोटा ग्रन्थ भी लिखा है।

विज्ञान भिक्षु

योगसूत्र पर **'भोज'** की एक **'वृत्ति'** है। यह सूत्रों पर सुन्दर और सरल छोटी व्याख्या है। **रामानन्द** की **'मणिप्रभा'** नाम की टीका पाण्डित्यपूर्ण है। **सदाशिवेन्द्र-सरस्वती** का **'योगसुधाकर'** भी बहुत सुन्दर टीका है। इनके अतिरिक्त और भी छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं, परन्तु वे बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं और प्रायः उनमें कोई विशेषता भी नहीं है।

पदार्थ-विचार

योगशास्त्र का विषय

योगशास्त्र में केवल बौद्धिक विषयों का विचार है। इनमें वस्तुतः विचार के लिए एकमात्र तत्त्व है **'चित्त'**, अर्थात् बुद्धि। इसी के विविध स्वरूपों का योगशास्त्र में विचार है।

'योग' का अर्थ है--समाधि।[1] इसी को 'चित्तवृत्ति का निरोध' भी कहते हैं। यह 'समाधि' चित्त का ही स्वाभाविक एक धर्म है। इस 'चित्त' की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें **'चित्त की भूमि'** कहते हैं--(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध।

चित्त की भूमि

सांख्य के समान योग में भी ईश्वर को छोड़ कर अन्य तत्त्वों में सत्त्व, रजस् तथा तमस् रहते हैं। 'सत्त्व' का उद्रेक होने से ही साधक समाधिस्थ होता है। रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक से चित्त समाधि के योग्य नहीं होता। **चित्तभूमियाँ ये हैं—**

(१) रजोगुण के प्रभाव से 'चित्त' बहुत चञ्चल होकर सांसारिक विषयों में इधर-उधर भटका करता है, उस अवस्था में उस चित्त को **'क्षिप्त'**

---

[1] **योगः समाधिः—योगभाष्य, १-१।**

कहते हैं, जैसे—दैत्य, दानवों का चित्त अथवा धन के मद से उन्मत्त लोगों का चित्त।

(२) तमोगुण के उद्रेक से 'चित्त' **'मूढ़'** हो जाता है, जैसे–कोई निद्रा में मग्न हो तो उसके चित्त को **'मूढ़'** कहते हैं। राक्षसों के, पिशाचों के तथा मादक द्रव्य खाकर उन्मत्त पुरुषों के 'चित्त' **'मूढ़'** कहे जाते हैं।

(३) सत्त्व का आधिक्य रहने पर भी, रजस् के कारण सफलता और असफलता के बीच में, कभी इधर और कभी दूसरी तरफ, चित्त की वृत्ति भटकती रहती है। कहते हैं कि देवताओं का तथा प्रथम भूमि में स्थित जिज्ञासुओं का चित्त **'विक्षिप्त'** होता है। सत्त्व के आधिक्य के कारण राजसिक वृत्ति के रहने पर भी, इस भूमि में कभी-कभी स्थिरता आ जाती है। **'क्षिप्त'** अवस्था से यही वैशिष्ट्य इस भूमि की है।[1] इसी लिए इस अवस्था के चित्त को **'विक्षिप्त'** कहते हैं।

(४) विशुद्ध सत्त्व के उद्रेक से एक ही विषय में लगे हुए चित्त को **'एकाग्र'** कहते हैं। जैसे—निर्वात दीपकी शिखा स्थिर होकर एक ही ओर रहती है, इधर-उधर नहीं जाती।

(५) चित्त की सभी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर भी उन वृत्तियों के संस्कार-मात्र चित्त में रह जाते हैं। उन संस्कारों से युक्त चित्त **'निरुद्ध'** कहा जाता है।

इनमें प्रथम तीन भूमियों में यद्यपि कथञ्चित् वृत्ति का निरोध है, किन्तु ये तीनों भूमियाँ योगसाधन के लिए वस्तुतः उपयुक्त नहीं हैं, प्रत्युत ये योग की उपघातक हैं। अतएव योग के साधनों से ये दूर कर दी गयी हैं। अन्तिम दोनों भूमियाँ योग के लिए सर्वथा उपयोगी हैं। इसलिए ये ही अन्तिम दोनों भूमियाँ योग-शास्त्र का लक्ष्य हैं, उनमें भी प्रधान रूप से **'निरुद्ध'** अवस्था को ही 'योग' कहते हैं—**योगः चित्तवृत्तिनिरोधः**।[2]

---

[1] **क्षिप्ता द्विशिष्टं, विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा—तत्त्ववैशारदी, १-१।**

[2] **योगसूत्र, १-२।**

'चित्त' त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणों के उद्रेक क्रमशः समय-समय पर 'चित्त' में होते रहते हैं। उसके अनुसार 'चित्त' के भी तीन रूप होते हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति।

प्रख्याशील—इस अवस्था में 'सत्त्व-प्रधान चित्त' रजस् और तमस् से संयुक्त रहता है और 'अणिमा' आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है।

तमोगुण से युक्त होने पर यही 'चित्त' अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य का प्रेमी होता है। मोह के आवरणों से सर्वथा क्षीण केवल रजस् के अंश से युक्त होने पर यही 'चित्त' सर्वत्र प्रकाशमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है।

प्रथम अवस्था में 'चित्त' ऐश्वर्य का प्रेमी मात्र होता है, किन्तु अन्तिम अवस्था में वही 'चित्त' ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेता है।

जब इस चित्त में रजस् के मलों का लेशमात्र भी नहीं रहता, तब सत्त्व-प्रधान 'चित्त' अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और प्रकृति-पुरुष की **'अन्यताख्याति'**, अर्थात् विवेक-बुद्धि, को प्राप्त करता है। पश्चात् वह **'धर्ममेघसमाधि'**[1] में स्थित हो जाता है।[2]

'चित्त' जड़ है और 'पुरुष' चेतन है। अनादि अविद्या के कारण 'पुरुष' और 'प्रकृति' में परस्पर एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध हो जाता है। इससे बुद्धि की वृत्तियों का पुरुष में आरोप होता है और 'मैं शान्त हूँ, दुःखी हूँ तथा मूढ़ हूँ', इस प्रकार के ज्ञान पुरुष में उदित होते हैं। बुद्धि की विषयाकार वृत्तियाँ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हैं, वही 'पुरुष की वृत्ति' कही जाती है।[3] पुरुष का प्रतिबिम्ब 'चित्त' पर पड़ता है। उससे

चित् और चित्त में परस्पर आरोप

[1] 'विवेकज ज्ञान' को प्राप्त कर, उसमें भी परिणामजन्य दुःख देख कर, उसके फल को भी न चाहने वाला योगी 'व्युत्थान' के संस्कार के तथा योग के विघ्नों के अभाव में सर्वथा निरन्तर विवेकख्याति के उदय होने से 'धर्ममेघ' नाम की समाधि को प्राप्त करता है। यह 'धर्ममेघ' सम्प्रज्ञात योग का पराकाष्ठारूप समाधि है। 'धर्म', अर्थात् जीवात्मा तथा पमात्मा के ऐक्य का साक्षात्कार, उसे 'मेघ' के समान जल से जो सिञ्चन करे, उसे ही 'धर्ममेघ' समाधि कहते हैं—योगसूत्रभाष्य, ४-२९।

[2] योगभाष्य, १-२।

[3] योगवार्त्तिक, १-४।

'चित्त' भी अपने को चेतन के समान समझने लगता है और चेतन की तरह कार्य करने लगता है, यही **'चित्त की वृत्ति'** है। इस प्रकार इन दोनों में परस्पर आरोप होता है।

ये **'चित्त की वृत्तियाँ'** तो अज्ञान के कार्य हैं। इनको रोकना आवश्यक है। ये वृत्तियाँ जब धर्म, अधर्म तथा वासनाओं की उत्पत्ति का कारण होती हैं, तब वे क्लेश देती हैं और **'क्लिष्ट'** कही जाती हैं। ये जब **ख्याति**[1] देने वाली होती हैं, तब वे **'अक्लिष्ट'** कहलाती हैं। इन वृत्तियों से 'संस्कार' होते हैं और 'संस्कार' से 'वृत्तियाँ' होती हैं। इस प्रकार **'वृत्ति-संस्कार-चक्र'** अहर्निश चलता रहता है। निरोध की अवस्था में यह चक्र केवल संस्काररूप में रह जाता है या अभ्यास के द्वारा संस्कारों का भी क्षय हो जाने से आत्यन्तिक लय में प्राप्त होकर **'विदेह कैवल्य'** को प्राप्त करता है। निरोध समाधि में लय हो जाना ही योगियों की **'मुक्ति'** है।

चित्त की वृत्ति

ये 'वृत्तियाँ' पाँच प्रकार की होती हैं—'प्रमाण', 'विपर्यय', 'विकल्प', 'निद्रा' तथा 'स्मृति'। इन्हीं में चित्त की अन्य सभी वृत्तियाँ अन्तर्भूत हैं।

प्रमाण—सांख्य की तरह योग में भी 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द', ये तीन **'प्रमाण'** हैं। इन्द्रियरूपी नाली के द्वारा 'चित्त' बाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग को प्राप्त कर विषयाकार हो जाता है, अर्थात् वस्तु के आकार को प्राप्त जो 'चित्तवृत्ति' होती है, वही **'प्रत्यक्ष' प्रमाण** है। वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में 'मैं घट को जानता हूँ', इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। यही पौरुषेय चित्तवृत्ति-बोध है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो चित्तवृत्ति के जाने-आने के मार्ग, अर्थात् **द्वारमात्र** हैं। **'अनुमान'** तथा **'शब्द' प्रमाण** में योगशास्त्र का सांख्यशास्त्र से कोई भेद नहीं है। इसलिए इनकी पुनः व्याख्या करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

वृत्ति के भेद

प्रत्यक्ष प्रमाण

विपर्यय—किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को **'विपर्यय'** कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने **'संशय'** को भी **'विपर्यय'** कहा है। जिस ज्ञान का निश्चित प्रमाण के द्वारा बोध हो जाय, वह **'मिथ्या ज्ञान'** है।

---

[1] रजस् और तमस् से रहित बुद्धिसत्त्व की प्रशान्तवाहिनी प्रज्ञा को 'ख्याति' कहते हैं।

विकल्प—शब्द-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, किन्तु वस्तु-शून्य, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो उस वस्तु का अत्यन्त अभाव रहे, ऐसे ज्ञान को **'विकल्प'** कहते हैं। जैसे—**'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'** (चैतन्य पुरुष का स्वरूप है)। यह **'विकल्प'** का एक उदाहरण है। यहाँ यह जानना चाहिए कि 'चैतन्य' ही तो 'पुरुष' है, फिर किसका स्वरूप? 'पुरुष' और 'चैतन्य' में भेद का भान क्यों? यह तो वास्तव नहीं है। फिर भी 'चैतन्य' को 'पुरुष' से पृथक् समझना **'विकल्प'** है।

निद्रा—किसी वस्तु के अभाव-ज्ञान का आलम्बन करने वाली वृत्ति **'निद्रा'** है। इस अवस्था में 'तमस् के आधिक्य से 'जाग्रत्' और 'स्वप्न' की वृत्तियों का 'अभाव' रहता है। **'निद्रा'** ज्ञान का अभाव नहीं है। यह भी एक 'वृत्ति' है, सो कर उठने वाले पुरुष को 'जाग्रत्' अवस्था में 'मैं खूब सोया', 'मेरा मन शान्त है', 'मैंने कुछ नहीं समझा', इत्यादि बोध होते हैं। इसलिए **'निद्रा'** को भी 'वृत्ति' कहते हैं।

स्मृति—अनुभूत किये गये विषयों का ठीक-ठीक उसी रूप में (असंप्रमोष) स्मरण होना **'स्मृति'** है।

ये ही वृत्तियाँ कार्य उत्पन्न कर, सूक्ष्म रूप से 'संस्कार' के रूप में, हमारे अन्तः-करण में रहती हैं। समय पाकर 'सादृश्य' आदि के द्वारा उद्बुद्ध होने से ये सस्कार पुनः 'वृत्ति' का रूप धारण करते हैं। यह चक्र सतत चलता रहता है।

इन्हीं वृत्तियों के निरोध से क्रमशः तत्त्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों का निरोध करना **'योग'** है।

वृत्तिनिरोध के उपाय

यह **'निरोध'** अभ्यास और वैराग्य से होता है। चित्तरूपी नदी दोनों तरफ बहती है—एक तो वह विवेक के मार्ग से कैवल्य तक जाती हुई कल्याण देने वाली है और दूसरी आत्मा और अनात्मा के अविवेक के मार्ग से जाती हुई पाप कराने वाली है। वैराग्य के द्वारा नदी का पाप-स्रोत रोका जाता है और विवेकदर्शन के अभ्यास, अर्थात् चित्त की सत्त्व में प्रशान्त-वाहिता को स्थिर रखने के प्रयत्न, से विवेक-स्रोत का उद्घाटन होता है। अतएव चित्तवृत्ति का निरोध इन दोनों स्रोतों पर निर्भर है।

समाधि के भेद—इस 'निरोध' की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक **संप्रज्ञात** और दूसरी **असंप्रज्ञात**।

चित्त में अनेक 'वृत्तियाँ' होती हैं। जब 'चित्त' किसी एक वस्तु पर एकाग्र होकर लगता है, तब उसकी वही एकमात्र वृत्ति जाग्रत् रहती है, अन्य वृत्तियाँ सभी क्षीण शक्ति की होकर उसी एक वृत्ति को प्रौढ़ बनाती हैं। उसी एक वृत्ति में ध्यान लगाने से उसमें **'प्रज्ञा'** का उदय होता है और उससे अन्य वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसी को **'संप्रज्ञात समाधि'** कहते हैं। इसी को **'सबीज समाधि'** भी कहते हैं। इस समाधि में कोई न कोई आलम्बन रहता है और समाधि की अवस्था में उन आलम्बनों का भान भी होता है।

संप्रज्ञात या सबीज समाधि

इस अवस्था में 'चित्त' एकाग्र रहता है, सत्-रूप अर्थ को, अर्थात् यथार्थ तत्त्व को, प्रकाशित करता है, 'क्लेशों' का नाश करता है, कर्मजन्य बन्धनों को शिथिल कर देता है, निरोध के समीप पहुँच जाता है।[1]

संप्रज्ञात समाधि के भेद—यह **संप्रज्ञात समाधि** चार प्रकार की होती है—'वितर्कानुगत', 'विचारानुगत', 'आनन्दानुगत' तथा 'अस्मितानुगत'।

वितर्कानुगत—वस्तुएँ स्थूल और सूक्ष्म होती हैं। जब चित्त स्थूल विषय से सम्बद्ध होकर उसके आकार का हो जाता है, तब उसे **'वितर्क'** कहते हैं। इस अवस्था में साधक 'चतुर्भुजधारी भगवान्'—ऐसी स्थूल वस्तु को ध्यान में रखता है। स्थूल आलम्बन से आरंभ कर सूक्ष्म में चित्त जाता है। **'सवितर्क'** समाधि में शब्द (जैसे—'गौः'), उसका 'अर्थ' और उसका 'ज्ञान', ये तीनों एक होकर भावना में रहते हैं। जहाँ शब्द छोड़कर केवल अर्थ की भावना हो, उसे **'निर्वितर्क'** समाधि कहते हैं।

विचारानुगत—चित्त का आलम्बन जब सूक्ष्म है, अर्थात् सूक्ष्म वस्तु के सम्बन्ध से सूक्ष्माकाराकारित होता है, तब उसे **'विचार'** कहते हैं।

आनन्दानुगत—इन्द्रिय आदि सात्त्विक सूक्ष्म वस्तु के आलम्बन से सत्त्व का प्रकर्ष हो जाता है। सत्त्व से सुख-आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए उस समय साधक को **'आनन्द'** होता है।

अस्मितानुगत—इन्द्रियाँ **'अस्मिता'** से उत्पन्न होती हैं। चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि **'अस्मिता'** है। इस समय चित्त और चित् में **'एकात्मिका संवित्'** रहती है। इस

---

[1] **योगभाष्य, १-१।**

प्रकार **'अस्मिता'** इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है। इसको आलम्बन बना कर जो 'समाधि' हो, वह **'अस्मितानुगत समाधि'** कही जाती है।

'संप्रज्ञात' की अवस्था में **प्रज्ञा** का उदय होता है। इसमें आलम्बन रहता है और 'ज्ञान', 'ज्ञाता' तथा 'ज्ञेय', इन तीनों की भावना बनी रहती है। परन्तु

असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि

जब ये तीनों भावनाएँ अत्यन्त एकीभूत हो जाती हैं, सभी वृत्तियाँ परम वैराग्य से निरुद्ध हो जाती हैं, एक प्रकार से आलम्बन का अभाव हो जाता है, **संस्कारमात्र** शेष रह जाता है, उस समाधि को **'असंप्रज्ञात'** कहते हैं। इसे **'निर्बीज समाधि'** भी कहते हैं, क्योंकि इसमें 'क्लेश' तथा 'कर्माशय' नहीं रहते।

असंप्रज्ञात समाधि के भेद—इसके दो भेद हैं—'भवप्रत्यय' तथा 'उपाय-प्रत्यय'। 'भव' का अर्थ है 'अविद्या'। अनात्मा में आत्मा की ख्याति **'अविद्या'** है, ।

भवप्रत्यय

इस **'अविद्या'** के कारण जो निरोध समाधि हो, वही **'भवप्रत्यय असंप्रज्ञात'** समाधि है। जब चित्त की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, उस समय चित्त कोई आकार नहीं धारण करता, वह स्थिर होकर रहता है। अर्थात् 'भूतों' को या 'इन्द्रियों' को ही, किसी एक को, आत्मा मानकर उसकी उपासना से उत्पन्न वासनाओं से वासित अन्तःकरण वाले, रक्त, मांस, मेद, अस्थि,

षाट्कौशिक शरीर

मज्जा तथा शुक्र, इन छः वस्तुओं से बने हुए **'षाट्कौशिक'** शरीर का पतन होने पर , इन्द्रियों में या भूतों में लीन होकर, सस्कारमात्र से युक्त मन को रखने वाले जीव **'विदेह'**[1] कहे जाते हैं। अर्थात् इनमें इनकी वासनाओं का संस्कारमात्र ही रह जाता है। इस संस्कारमात्र से युक्त चित्त

विदेह जीव

के द्वारा 'हमें कैवल्य पद प्राप्त हो गया है', ऐसा ध्यान करने वाले जीव **'विदेह'** कहे जाते हैं। इस अवस्था में वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, फिर भी केवल संस्कार को लेकर ही ये भोग करती हैं। इसी लिए **'कैवल्य अवस्था'** के कथंचित् समान यह **'विदेहावस्था'** है, परन्तु विवेक-ख्याति न प्राप्त कर केवल संस्कार से युक्त रहने के कारण यह अवस्था 'विदेहावस्था' से भिन्न भी है। अवधि की पूर्ति होने के अनन्तर ये पुनः संसार में आ जाते हैं। इसलिए अविद्या से युक्त यह समाधि है।

---

[1] षाट्कौशिक शरीर जिनके न हों वे 'विदेह' कहे जाते हैं।

इस प्रकार अव्यक्त, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राओं में से किसी एक को आत्मा मानकर उसकी उपासना से वासित अन्तःकरण वाला जीव, शरीर का पतन होने पर, उपर्युक्त अव्यक्त आदि किसी में लय को प्राप्त, विवेक-ख्याति को न पाकर भी कैवल्यपद को प्राप्त किये हुए के समान अपने को समझता हुआ, **'प्रकृतिलय'** कहलाता है। अवधि की पूर्ति के पश्चात् पुनः यह संसार में आ जाता है, जिस प्रकार वर्षा के समाप्त होने पर मिट्टी में मिल गया हुआ मेंढक का शरीर पुनः वर्षा के जल को पाकर अपना शरीर धारण कर लेता है।

प्रकृतिलय

इस समाधि में विवेक-ख्याति नहीं होती तथा इसके अनन्तर ये लोग पुनः संसार में आ जाते हैं। अतएव यह अवस्था उपादेय नहीं है। यह एक प्रकार से मोहावस्था ही है।

'उपाय-प्रत्यय' योगियों को ही होता है। यह 'श्रद्धा'[1] (चित्त की प्रसन्नता), 'वीर्य' (धारणा), 'स्मृति' (ध्यान), 'समाधि' (संप्रज्ञात) तथा 'प्रज्ञा' (ज्ञान प्रसाद-मात्र) से उत्पन्न होता है। श्रद्धा योगियों की माता के समान रक्षा करती है, अर्थात् कुमार्ग में नहीं जाने देती है। विवेक-बुद्धि की इच्छा करने वालों को 'श्रद्धा' से 'वीर्य', उससे 'स्मृति' उत्पन्न होती है, जिससे चित्त शान्त और अविक्षिप्त हो कर समाधि में स्थित हो जाता है, अर्थात् संप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है। पश्चात् उस संप्रज्ञात समाहित चित्त में प्रज्ञ-विवेक उत्पन्न होता है और वह यथावत् वस्तु को जानने में लगता है। इसके अभ्यास से उसे विषयों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उसके पश्चात् वह 'असंप्रज्ञात समाधि' में स्थिर हो जाता है।

उपाय-प्रत्यय

भवप्रत्यय में 'ज्ञान' का उदय नहीं होता और 'अविद्या' रहती है। अतएव उसमें संसार की तरफ झुक जाने की आशंका रहती है, किन्तु दूसरे, अर्थात् **उपाय-प्रत्यय** में 'प्रज्ञा' का उदय होने के कारण 'अविद्या' का नाश हो जाता है और पश्चात् क्लेशों का भी नाश होता है और ज्ञान में चित्त प्रतिष्ठित हो जाता है।

भव और उपाय-प्रत्यय

---

[1] इन्द्रियलय वालों को भी अपने आलम्बन में श्रद्धा होती है, किन्तु वे लोग आचार्य के उपदेश से तत्त्व को नहीं जानते और उनके चित्त प्रसन्न नहीं होते। इसलिए वे अविद्या में रहते हैं।

विघ्न—'चित्त' को विक्षेप में ले जाने वाले निम्नलिखित **विघ्न** हैं—

रोग, अकर्मण्यता, संशय, समाधि के साधनों की चिन्ता न करना (प्रमाद), आलस्य (भारी होने के कारण शरीर तथा चित्त की कार्य करने के प्रति अप्रवृत्ति),

चित्तविक्षेप के कारण

विषयों में आसक्ति, भ्रान्तिदर्शन (विपर्ययज्ञान), समाधि की भूमिको न पाना, भूमि को पाकर भी उसमें चित्त की स्थिरता का न होना।

विक्षेपचित्त वाले को दुःख, दौर्मनस्य (इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त में क्षोभ होना), शरीर में कम्पन, श्वास तथा प्रश्वास होते हैं।

चित्त को प्रसन्न करने के उपाय

इन सबको रोकने के लिए एक तत्त्व में चित्त को अवलम्बित करने का **अभ्यास** करना चाहिए। साथ ही साथ सब प्राणियों में **मैत्री** की भावना, दुःखियों के प्रति **करुणा** की भावना, पुण्यात्माओं के प्रति **प्रसन्नता,** पापियों के प्रति **उपेक्षा** की भावना से चित्त को शान्त करना चाहिए।

जो लोग समाहितचित्त नहीं हैं, वे भी तपस्या, स्वाध्याय, किये हुए सभी कार्यों के फल को ईश्वर में समर्पण के द्वारा योग में प्रवृत्त हो सकते हैं। इन क्रियाओं से समाधि की भावना और क्लेशों का नाश होता है। पश्चात् प्रज्ञा का उदय और 'सत्त्व' और 'पुरुष' में भेद का ज्ञान होता है।

क्लेश का स्वरूप

'चित्त' अविद्या से आच्छादित रहता है। इसमें मिथ्या ज्ञान होता है और भ्रान्ति होती है। अतएव चित्त को विशुद्ध करने के लिए मिथ्या ज्ञान का नाश करना आवश्यक है। मिथ्याज्ञान से ही **'क्लेश'**, अर्थात् विपर्यय की उत्पत्ति होती है। ये **'क्लेश'** वृत्ति के द्वारा फैल कर चित्त पर गुणों के अधिकार को दृढ़ कर देते हैं, परिणाम को स्थापित करते हैं, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, इत्यादि कार्य-कारण की परम्परा को अभिव्यक्त करते हैं तथा आपस में अनुग्राहक बन कर कर्मों के (जाति, आयु तथा भोग-रूप) फलों को सम्पन्न करते हैं, अर्थात् कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म, इस परम्परा को चलाते रहते हैं।

क्लेश के भेद—क्लेश पांच प्रकार का होता है—'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', 'द्वेष' तथा 'अभिनिवेश'। एक प्रकार से **अविद्या** से ही अन्य चार होते हैं।

अविद्या—अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा का ज्ञान रखना **'अविद्या'** है।

अस्मिता—दृक्-शक्ति **'पुरुष'** है तथा दर्शन-शक्ति **'बुद्धि'** है। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। इन दोनों को एक मानना **'अस्मिता'** है।

राग—सुख के लिए अत्युत्कट इच्छा को **'राग'** कहते हैं।

द्वेष—दुःख के साधनों में जो क्रोध हो, वही **'द्वेष'** है।

अभिनिवेश—मृत्युभय। यह जीवमात्र के लिए स्वाभाविक है।

इन क्लेशों से कर्माशय, अर्थात् धर्माधर्म, बनते हैं। पश्चात् उन्हीं से जाति, आयु तथा भोग उत्पन्न होते हैं और पश्चात् उनसे सुख और दुःख होते हैं।

योग के साधन

अष्टांग योग—क्लेशों से मुक्त होने के लिए, चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ अंगों (साधनों) का अभ्यास करना आवश्यक है। ये हैं—'यम', 'नियम', 'आसन', 'प्राणायाम', 'प्रत्याहार', 'धारणा', 'ध्यान' तथा 'समाधि'।

(१) **यम**—कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम को **'यम'** कहते हैं। जैसे—

'अहिंसा'—सर्वथा तथा सर्वदा सभी भूतों के ऊपर द्रोह न करना।

'सत्य'—वचन में और मन में यथार्थ होना, अर्थात् जैसा देखा या अनुमान किया या सुना, उसी प्रकार वचन और मन को रखना।

'अस्तेय'—परद्रव्य का अपहरण न करना और न उसकी इच्छा करना।

'ब्रह्मचर्य'—इन्द्रियों में, विशेषकर गुप्तेन्द्रियों में, लोलुपता न रखना।

'अपरिग्रह'—परद्रव्य को स्वीकार न करना।

ये **यम** हैं। इनका पालन आवश्यक है।

(२) **नियम**—नियमों का भी पालन आवश्यक है। **नियम** ये हैं—'शौच', 'सन्तोष', 'तपस्या', 'स्वाध्याय' तथा 'ईश्वरप्रणिधान'। इनके अर्थ तो स्पष्ट हैं।

(३) **आसन**—चित्त को स्थिर रखने वाले तथा सुख देने वाले जो बैठने के प्रकार हैं, उन्हें **'आसन'** कहते हैं। जैसे—'पद्मासन', 'वीरासन', 'भद्रासन', आदि। स्थिर आसन से मन तथा वायु भी स्थिर होती है और शीतोष्ण द्वन्द्व क्लेश नहीं देता।

(४) **प्राणायाम**—स्थिर आसन होने से श्वास तथा प्रश्वास की गति के विच्छेद को **'प्राणायाम'** कहते हैं।

(५) **प्रत्याहार**—अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों को हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी करना **'प्रत्याहार'** है।

(६) **धारणा**—चित्त को किसी स्थान में स्थिर कर देना **'धारणा'** है। जैसे—नाभिचक्र में, हृत्कमल में अथवा किसी बाह्य वस्तु में ही चित्त को स्थिर करना भी **'धारणा'** है।

(७) **ध्यान**—किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एक प्रवाह में संल्लग्न होता है, तब उसे **'ध्यान'** कहते हैं। इस स्थिति में एक समय में एक ही ज्ञान का प्रवाह रहता है, दूसरा उसके साथ मिश्रित नहीं होता। ध्यान में ध्यान, ध्येय तथा ध्याता का पृथक्-पृथक् भान होता है।

(८) **समाधि**—ध्यान ही ध्येय के आकार में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे, तो वही **'समाधि'** है। 'समाधि' में ध्यान और ध्याता का भान नहीं होता, केवल 'ध्येय' रहता है। उसी के आकार को चित्त 'धारण' कर लेता है। एक प्रकार से उस अवस्था में ध्यान, ध्याता तथा ध्येय, तीनों की एक-सी प्रतीति होती है।

धारणा, ध्यान तथा समाधि, इन तीनों के लिए **'संयम'** एक शब्द है। संयम में सफल होने से प्रज्ञा या आलोक का उदय होता है। एक भूमि पर अधिकार प्राप्त करने पर ही दूसरी भूमि में 'संयम' का उपयोग किया जाता है।

योग की भूमि

योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं को योग की **'भूमि'** कहते हैं। योग-साधन में लगा हुआ योगी क्रमशः इन भूमियों पर अपना अधिकार

प्राप्त करता है। चारों भूमियों पर अधिकार प्राप्त करने के कारण योगियों के भी चार भेद हैं—(१) प्रथमकल्पिक, (२) मधुभमिक, (३) प्रज्ञाज्योति तथा (४) अतिक्रान्तभावनीय ।

योगी के चार भेद

(१) **'प्रथमकल्पिक'**—अष्टांग योग का अभ्यास करते हुए जिस साधक का अतीन्द्रिय ज्ञान समाधि की तरफ केवल प्रवृत्तमात्र हुआ है, अभी उसने 'परचित्त' आदि पर अपना वश नहीं प्राप्त किया है, ऐसे अभ्यासी योगी को **'प्रथमकल्पिक'** कहते हैं।

(२) **'मधुभूमिक'**—निर्विचार-समाधि में स्थित समाहित-चित्त साधक की जो प्रज्ञा होती है, वह **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** कही जाती है। यह अवस्था यथार्थ में योग का निश्चित साधन होने के कारण **'ऋतम्भरा'** कही जाती है। इसमें अन्यथा होने की कुछ भी आशंका नहीं होती। इसी लिए कहा गया है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥[१]

'ऋतम्भरा प्रज्ञा' को प्राप्त किया हुआ योगी भूत तथा इन्द्रियों को अपने वश में लाने की इच्छा रखता है। इस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करने से वह **'मधुभूमि'** को प्राप्त कर लेता है।

'मधुभूमि' को प्राप्त कर योगी विशुद्ध अन्तःकरण का हो जाता है। इस अवस्था में देवता लोग उस योगी को स्वर्ग में आने का निमन्त्रण देते हैं तथा स्वर्गीय उपभोग-साधन—विमान, अप्सरा, कल्पवृक्ष, आदि के द्वारा प्रलोभन देते हैं तथा अपने अभिलषित कार्यों का सम्पादन करने में उसकी सहायता चाहते हैं। योगी को इन प्रलोभनों में दोष देखना चाहिए और इनकी तरफ ध्यान न देकर समाधि में चित्त को लगाना चाहिए। यह दूसरी अवस्था है।

(३) **प्रज्ञाज्योति**—इस भूमि में आकर योगी भूत और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। 'परचित्त' के ज्ञान आदि को प्राप्त कर, उस सिद्धि

---

[१] **योगसूत्र-भाष्य, १-४८।**

से च्युत न होने पाये, इसके लिए वह अपनी दृढ़ रक्षा करता है।[1] परन्तु फिर भी उसे ऊँचे स्तर पर जाना है, अतएव **'विशोकादि'**[2] साधन से लेकर असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति पर्यन्त पहुँचने के लिए वह साधन में लगा रहता है। यह **'प्रज्ञाज्योति'** नाम की तीसरी अवस्था है।

(४) **'अतिक्रान्तभावनीय'**—इस अवस्था में पहुँच कर योगी का एक मात्र ध्येय रहता है—'चित्त का लय करना', अर्थात् 'असंप्रज्ञात' समाधि में पहुँचकर चित्त का लय करना छोड़ कर, अब उसे अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि सात प्रकार की **'प्रान्तभूमि-प्रज्ञा'** उसे प्राप्त हो चुकी है, अतएव अब कुछ और करने को अवशिष्ट नहीं बचा है।

प्रज्ञा के भेद—विवेकख्याति को पाकर प्रसन्नचित्त योगी को **सात प्रकार की प्रान्तभूमि-प्रज्ञा** प्राप्त होती है। चित्त के अशुद्धिरूप आवरणमल का नाश होने के कारण तामसिक, राजसिक, संसारी ज्ञान न होने से विवेकी साधक की सात प्रकार की **प्रज्ञा** होती है। विषय के भेद से 'प्रज्ञा' का भेद होता है। ये सात **प्रज्ञाएँ** निम्न-लिखित हैं—

(१) प्रकृति के परिणामों से उत्पन्न दुःख **'हेय'** हैं। सभी हेय तत्त्वों का ज्ञान उसने प्राप्त कर लिया है, अब उस साधक का अन्य **परिज्ञेय** कुछ भी नहीं है।

(२) हेय के सभी कारण नष्ट हो चुके हैं, अब उन्हें क्षीण करने की आवश्यकता नहीं है। अब कोई **'क्षेतव्य'** नहीं बचा है।

(३) निरोधसमाधि के द्वारा साध्य **'हान'** को मैंने संप्रज्ञात समाधि की अवस्था ही में साक्षात् निश्चय कर लिया है, अब मुझे इसके परे **निश्चय करने को** कुछ भी नहीं है।

(४) विवेकख्यातिरूप 'हान' के उपाय को मैंने प्राप्त कर लिया है, अब इसके **परे प्राप्त करने को** कुछ भी अवशिष्ट नहीं है।

---

[1] **योगभाष्य, ३-५१।**

[2] **योगसूत्र-भाष्य, १-३६।**

इन चार प्रकार के **प्रज्ञा** के कार्यों को **'विमुक्ति'** कहते हैं। उस साधक के चित्त की **विमुक्ति** तीन प्रकार की है—

(५) 'बुद्धि' भोग का सम्पादन कर चुकी है, विवेकख्याति हो गयी है।

(६) सत्त्व, रजस् तथा तमस्, ये तीनों गुण अपने कारण में लीन होने के लिए अभिमुख होकर कारण के साथ-साथ लय को प्राप्त होते हैं। उनका अब कोई कर्तव्य न रहने के कारण, पुनः उनकी अभिव्यक्ति भी न होगी।

(७) इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से रहित, स्वरूपमात्र ज्योति, अर्थात् ज्योतिःस्वरूप अमल **केवली** पुरुष जीवित अवस्था में ही **'मुक्त'** हो जाता है।

इन सातों **प्रान्तभूमिप्रज्ञाओं** का साक्षात् अनुभव करने वाला पुरुष **'कुशल'** कहलाता है। प्रधानलयावस्था में भी गुणातीत होने के कारण चित्त का लय होने पर भी पुरुष **'मुक्त-कुशल'** कहा जाता है।[1]

'धारणा', 'ध्यान' एवं 'समाधि', ये 'संप्रज्ञात समाधि' के **अन्तरंग** हैं, परन्तु 'निर्बीजसमाधि' के **बहिरंग** हैं।

परिणाम

योगशास्त्र में 'चित्त' के स्वरूप का और उसकी वृत्तियों के निरोध का विचार है। 'चित्त' त्रिगुणात्मक है, अतएव परिणामी है। उसमें रजोगुण है और सदा क्रियाशील होना रजोगुण का स्वभाव है। अतएव किसी भी अवस्था में 'चित्त' रहे, उसमें क्रिया होती ही रहेगी। **चित्त** की दो मुख्य अवस्थाएँ होती हैं—एक तो **'कार्यावस्था'** जिसमें वृत्तियों के द्वारा सदैव कोई न कोई क्रिया होती ही रहती है। इसे हम **'संसारावस्था'** भी कह सकते हैं। योगशास्त्र में इसे **'व्युत्थान'** अवस्था कहा गया है। दूसरी वह अवस्था है जिसमें वृत्तियाँ चित्त में ही निरुद्ध हो गयी हैं। इस अवस्था में स्थूल दृष्टि से कोई भी क्रिया नहीं देख पड़ती है। इसे **'निरोध'** अवस्था कहते हैं।

चित्त का स्वरूप

[1] **योगसूत्रभाष्य, २-२७।**

किन्तु 'चित्त' किसी भी अवस्था में हो, उसमें क्रिया होती ही रहती है। क्रियाओं के द्वारा जो परिवर्तन 'चित्त' में होता रहता है उसे ही **'परिणाम'** कहते हैं। अर्थात् एक स्थिर वस्तु में, अर्थात् 'धर्मी' में, क्रिया के द्वारा एक धर्म का तिरोभाव होकर दूसरे धर्म का आविर्भाव होना ही **'परिणाम'** कहा जाता है।[1] 'व्युत्थान' अवस्था से 'निरोध' अवस्था को प्राप्त होना भी 'चित्त' का **'परिणाम'** है। सत्कार्यवाद को मानने वाले योगशास्त्र में 'व्युत्थान' और 'निरोध', ये दोनों अवस्थाएँ धर्मों का केवल 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' हैं। अर्थात् 'व्युत्थान' से 'निरोध' को प्राप्त होने में 'व्युत्थान' का 'तिरोभाव' और 'निरोध' का 'आविर्भाव' एवं 'निरोध' से 'व्युत्थान' को प्राप्त होने में 'निरोध' का 'तिरोभाव' तथा 'व्युत्थान' का 'आविर्भाव' होता रहता है। ये सभी **परिणाम** हैं।

परिणाम का स्वरूप

किन्तु 'निरोध'काल में भी 'व्युत्थान' का 'तिरोभाव' तो चित्त म ही रहता है और साथ-साथ 'निरोध' का 'आविर्भाव' भी उसी चित्त में रहता है। 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव', ये दोनों ही चित्त के ही धर्म हैं। ये दोनों धर्म एक ही 'निरोध, काल में चित्त में रहते हैं। अभिप्राय यह है कि निरोधकाल में 'व्युत्थान' का तिरोभाव होने से, उसमें साधारण रूप में कोई क्रिया तो देख नहीं पड़ती एवं 'निरोध' का आविर्भाव होने पर भी उसमें कोई परिवर्तन देख नहीं पड़ता, परन्तु यह स्पष्टहै कि 'तिरोभाव'-रूप तथा 'आविर्भाव'-रूप संस्कार तो उस चित्त में साथ ही साथ वर्तमान हैं। हमें यह देख पड़ता है कि साधक क्रमशः अधिक समय तक चित्तवृत्ति का निरोध करता है, अर्थात् 'व्युत्थान-संस्कार' दुर्बल होता जाता है और निरोध-संस्कार उत्तेजित हो जाता है। इस प्रकार क्रमिक और निरन्तर अभ्यास के द्वारा एक दिन साधक के चित्त से 'व्युत्थान-संस्कार' सदा के लिए विलीन हो जायगा और 'निरोध-संस्कार' पूर्ण बलवान् होकर दृढ़ हो जायगा और चित्त शान्त प्रवाह में मग्न हो जायगा।[2] इन दोनों संस्कारों का परिणाम **निरोधावस्था** में प्राप्त 'चित्त' में ही होता है। अतएव यह **'निरोध-परिणाम'** कहा जाता है।

निरोध-परिणाम

---

[1] **योगभाष्य, ३-१३।**

[2] **योगसूत्र, ३-१०।**

चित्त के अनेक धर्मों में, **'सर्वार्थता'**[1] अर्थात् **'विक्षिप्तता'** और 'एकाग्रता',[2] ये भी दो धर्म हैं। समाधिकाल में 'सर्वार्थता' का क्षय और 'एकाग्रता' का उदय होता है, अर्थात् 'सर्वार्थता' का संस्कार एवं उससे उत्पन्न प्रत्ययों का क्षय तथा 'एकाग्रता' का संस्कार एवं उससे उत्पन्न 'एकप्रत्ययता' का उदय, दोनों ही साथ-साथ चित्त में होते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में 'चित्त' धर्मी के रूप में विद्यमान होकर समाहित रहता है। यही **समाधि-परिणाम** है।[3]

समाधि-परिणाम

'निरोध-परिणाम' में व्युत्थान और निरोध के संस्कारों के ही क्षय और उदय होते हैं, किन्तु **'समाधि-परिणाम'** में संस्कार तथा प्रत्यय दोनों के ही क्षय और उदय होते हैं।

पूर्वकाल में विद्यमान विक्षिप्त प्रत्ययों का, समाधि में स्थित चित्त में, 'लय' होता है और तत्सदृश अन्य प्रत्ययों का 'उदय' होता है, अर्थात् समाधिकाल में शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय, दोनों तुल्य रूप में चित्त में प्रवाहित होते रहते हैं। इन दोनों का तुल्य रूप में प्रवाहित होना ही चित्त का **'एकाग्रता-परिणाम'** कहा जाता है। **एकाग्रता-परिणाम** में सदृश-प्रवाहिता अत्यन्त आवश्यक है। यही इस परिणाम की विशेषता है।[4]

एकाग्रता-परिणाम

एकाग्रता-परिणाम समाधिमात्र में होता है। **समाधि-परिणाम** 'संप्रज्ञात समाधि' में होता है। **निरोध-परिणाम** 'असंप्रज्ञात समाधि' में होता है।

एकाग्रता-परिणाम 'प्रत्यय'-रूप चित्त के धर्म का, **समाधि-परिणाम** 'प्रत्यय' और 'संस्कार'-रूप चित्त के धर्म का तथा **निरोध-परिणाम** केवल 'संस्कार'-रूप चित्त के धर्म का होता है।

इनके अतिरिक्त भूतों में तथा इन्द्रियों में भी परिणाम होते हैं, जिन्हें **धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम** तथा **अवस्था-परिणाम** कहते हैं। ये सभी प्रकार के परिणाम उपर्युक्त परिणामों में भी होते हैं। जैसे—

भूतों में परिणाम

---

[1] चित्त सदैव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आदि अनेक वस्तुओं की चिन्ता में लगा रहता है। इसे ही चित्त की 'सर्वार्थता' या 'विक्षिप्तता' कहते हैं।

[2] सभी विषयों से हटकर एक ही विषय में चित्त के लगने को 'एकाग्रता' कहते हैं।

[3] योगसूत्रभाष्य, ३-११।

[4] योगसूत्रभाष्य, ३-१२।

धर्म-परिणाम—चित्तरूप 'धर्मी' में व्युत्थान-धर्म का तिरोभाव और निरोध-धर्म का प्रादुर्भाव ही **धर्म-परिणाम** है।

लक्षण-परिणाम—**'लक्षण'** का अर्थ है **'काल'**। धर्मों का तीनों कालों के रूप में होना लक्षण-परिणाम है। ऊपर कहा गया है कि **समाधि-परिणाम** में 'व्युत्थान' का 'तिरोभाव' तथा 'निरोध' का 'आविर्भाव' होता है। **निरोध** में तीनों कालों का बोध होता है। प्रत्येक वस्तु के 'अनागत', 'वर्तमान' तथा 'अतीत', ये तीन स्वरूप हैं। **'निरोध' 'अनागत'** रूप को छोड़ कर **'वर्तमान'** रूप को धारण करता है, जिस समय उसकी अभिव्यक्ति होती है, फिर वही 'अतीत' रूप को भी प्राप्त होता है। इन तीनों कालों में सहमाहित चित्त 'धर्मी' के रूप में विद्यमान रहता है। किसी भी एक काल में अन्य दोनों कालों से रहित वह नहीं रहता। अर्थात् 'वर्तमान' काल में भी 'अनागत' तथा 'अतीत' काल से पृथक् वह नहीं होता। इसी प्रकार व्युत्थान में भी वर्तमान, अतीत तथा अनागत, सभी रहते हैं। अनागत, वर्तमान तथा अतीत, इन कालों से कभी भी कोई भी वस्तु पृथक् नहीं होती। इस प्रकार **लक्षण-परिणाम** सभी भूतों तथा इन्द्रियों में होता है।

लक्षण-परिणाम

निरोध-परिणाम में कहा गया है कि निरोध के समय में 'व्युत्थान-संस्कार' दुर्बल होते हैं तथा 'निरोध-संस्कार' बलवान् होते हैं। यही दुर्बल और सबल होना **'अवस्था-परिणाम'** कहा जाता है। इसी बात को एक उदाहरण के द्वारा समझा देना अनुपयुक्त न होगा—

अवस्था-परिणाम

भूत या पृथिवी आदि 'धर्मी' हैं। इनसे गाय आदि या घट आदि जो होते हैं, वे **'धर्म'** हैं, अतएव 'पृथिवी' आदि के **'घट'** आदि **धर्मपरिणाम** हैं। इन धर्मों में जो अतीत, अनागत तथा वर्तमान रूप होते हैं, वे **लक्षण-परिणाम** हैं। वर्तमान रूप को धारण किये हुए गाय आदि के जो बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य रूप हैं, वे **अवस्था-परिणाम** हैं। इसी प्रकार 'घट' में भी 'नया', 'पुराना', आदि का होना **अवस्था-परिणाम** कहा जाता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों में भी ये परिणाम होते हैं। 'चक्षु' को लेकर विचार करने से 'नील' आदि रूपों का जो 'आलोचन' है, वह **धर्म-परिणाम** है; धर्म में जो वर्तमान, अतीत और अनागत रूप होते हैं, वे ही **लक्षण-परिणाम** हैं तथा उसी में जो स्फुटत्व, अस्फुटत्व रूप होता है, उसे ही **अवस्था-परिणाम** कहते हैं।

इन्द्रियों में परिणाम

ये सभी परिणाम 'धर्मी' में धर्म, लक्षण तथा अवस्था को लेकर ही होते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों को धारण करते हुए भी 'धर्मी' सभी अवस्थाओं में, अर्थात् अनागत, वर्तमान तथा अतीत अवस्थाओं में, स्थिर-रूप अपने स्वरूप को कभी भी नहीं छोड़ता। जैसे—'मिट्टी' में 'घट' 'अनागत' अवस्था में है, बाद को 'घट' होकर 'वर्तमान' अवस्था को वह प्राप्त हो जाता है। पश्चात् वही 'घट' नष्ट होकर 'अतीत' अवस्था को प्राप्त होता है। ये तीन स्वरूप देखने में आते हैं। इन तीनों में 'धर्मी', अर्थात् 'मिट्टी', विद्यमान रहता ही है। अतएव वस्तुतः **'परिणाम'** एक ही है, किन्तु भाव के भेद से यह पृथक्-पृथक् मालूम होता है—

> **एते धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते।**[1]

कैवल्य

ऊपर कहे गये तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा पाँच प्रकार के क्लेशों का नाश होता है और चित्त की वृत्ति के निरोध के लिए समाधि की भावना होने लगती है। साथ ही साथ यम, नियम, आदि 'अष्टांग योग' का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। इनके अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है। इसके पश्चात् वैराग्य के उदय होने से 'संप्रज्ञात' समाधि, तत्पश्चात् 'असंप्रज्ञात' समाधि में चित्त दृढ़ हो जाता है।

योगसाधन में विघ्न—वैराग्य होने से किसी प्रकार की तृष्णा नहीं रहती। योग के अभ्यास से योग के विघ्न-स्वरूप अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनसे भी योगी को विरक्त होना चाहिए। ये सिद्धियाँ साधक को आगे बढ़ने में विघ्न देती हैं।

'विवेक-ज्ञान' भी तो सत्त्वगुण का धर्म है। वह भी 'बन्धन' का कारण है। उसे भी छोड़ना चाहिए। इसके पश्चात् क्लेश के कारण, दग्ध-बीज के समान शक्तिहीन होकर, मन के साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। इन सबका लय हो जाने पर पुरुष को आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुःखों से मुक्ति मिलती है। इसके बाद पुरुष को गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। इसे ही **'कैवल्य'** कहते हैं। इस अवस्था में **'पुरुष'** या 'चितिशक्ति', स्वच्छ ज्योतिर्मय अपने स्वरूप में, **केवली** होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। यही योग की **'मुक्ति'** है।

---

[1] **योगभाष्य, ३-१३।**

यही बात पतञ्जलि ने कही है—

'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति'

अर्थात् विवेकज ज्ञान प्राप्त होने पर, या न प्राप्त होने पर भी, 'बुद्धिसत्त्व' तथा 'पुरुष' की जो शुद्धि एवं सादृश्य है, वही **'कैवल्य'** है।[1]

कर्मविचार

सभी दर्शनों में 'कर्म' का विचार किया गया है। वस्तुतः 'कर्म' हमारे जीवन का तथा दर्शन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार की प्रत्येक वस्तु में 'रजोगुण' रहता ही है। रजोगुण का स्वभाव है—क्रियाशील होना। अतएव प्रत्येक वस्तु में किसी-न-किसी रूप में 'क्रिया' रहती ही है। इसी लिए भगवान् ने गीता में कहा भी है —

कर्म का महत्त्व

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' ।।[2]

अतएव सभी प्राणियों को **'कर्म'** करना ही पड़ता है। योगशास्त्र में तो इसका बहुत ऊँचा स्थान है। परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए 'कर्म' एक प्रधान साधन है। कर्म करने के अनन्तर उससे चित्त में **'संस्कार'** अर्थात् **'कर्माशय'** उत्पन्न होता है और वही **'वासना'** को उत्पन्न करता है और फिर उसी **'वासना'** के अनुकूल जीव की उत्पत्ति तथा संसार में उसके **कर्म** होते हैं। यह **'कर्मचक्र'** अबाधित गति से अनवरत संसार में चलता ही रहता है। कर्म की गति अनादि है। 'अविद्या' अनादि है और इसी अविद्या के कारण 'कर्म' की उत्पत्ति होती है।

कर्म चार प्रकार का होता है—'कृष्ण', 'शुक्ल-कृष्ण', 'शुक्ल' तथा 'अशुक्ल-अकृष्ण'। दुर्जनों के कर्म **'कृष्ण'** होते हैं। बाह्य साधनों से उत्पन्न **'शुक्ल-कृष्ण'** कर्म साधारण लोगों के होते हैं। जीवन-यापन करने के लिए उन्हें साधारण रूप से पुण्य और पाप दोनों ही करने पड़ते हैं। अतएव **'शुक्ल-कृष्ण'** कर्म के द्वारा दूसरों को पीड़ा देने से तथा उनके प्रति अनुग्रह

कर्म के भेद

---

[1] **योगसूत्र, ३-५५।**

[2] ३-५।

दिखाने से उनका कर्माशय सञ्चित होता है। तपस्या, स्वाध्याय तथा ध्यान में निरत लोगों के 'कर्म' केवल मन के अधीन होते हैं, इसलिए उन्हें बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती। अतएव उस प्रकार के कर्मों के द्वारा निश्चित रूप से न तो दूसरों को पीड़ा ही दी जा सकती है और न अनुग्रह ही दिखाया जा सकता है। इन कर्मों को **'शुक्ल'** कर्म कहते हैं।

योगी लोग उन्हीं कर्मों को करते हैं जिनके द्वारा उनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो सकें। अतएव उनके चित्त में विद्यमान पुण्य और पापों के संस्कार भी निवृत्त हो जाते हैं। वे लोग पाप उत्पन्न करने वाले कर्म तो करते ही नहीं, किन्तु तप, ध्यान, आदि के द्वारा पुण्य-जनक जो कर्म करते हैं, उनके फल को प्राप्त करने की इच्छा भी उन्हें नहीं होती। इसलिए उनके कर्म **'अशुक्ल-अकृष्ण'** कहे जाते हैं।[1] कर्म के फलों की इच्छा न होने से **'अशुक्ल'** तथा निषिद्ध कर्मों को न करने के कारण **'अकृष्ण'** योगियों के कर्म होते हैं।

साधारण लोगों के 'कर्म' प्रथम तीन प्रकार के ही होते हैं। इन तीनों कर्मों से उसी प्रकार की वासनाएँ भी उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार के वे कर्म होते हैं। **'दिव्य कर्म'** करने से उसी के अनुरूप **'दिव्य वासना'** उत्पन्न होती है। मानुषिक कर्मों से उत्पन्न वासनाओं के फलों के भोग के समय में दिव्य कर्म के फलों का कभी भी भोग नहीं होता है। इसी प्रकार नारकीय तथा तैर्यक् वासनाओं के लिए भी उपर्युक्त ही नियम हैं।[2]

वासनाओं की नियमित प्रवृत्ति

वासनाओं की लीला भी बहुत नियन्त्रित तथा विचित्र होती है। कभी भी कोई फल-भोग बिना उसकी वासना के नहीं होता। देश और काल इस नियम में बाधा नहीं देते। कोई भी कर्मफल आकस्मिक नहीं होता। मरने के पश्चात् ही किसी का जन्म पूर्व-वासनाओं की सहायता के बिना नहीं होता। जिस योनि में जिसका जन्म होने को होता है, उस योनि के कर्म-फलों का भोग करने के योग्य पूर्व-पूर्व-जन्मान्तरों में किये हुए तदनुरूप कर्मों से उत्पन्न वासनाएँ अभिव्यक्त हो जाती हैं। जैसे—एक जीव पहले मनुष्य था। वह मरने के पश्चात् पशुयोनि में उत्पन्न होने को जा रहा है। इस अवसर पर उस मनुष्य ने अनेक पूर्व-जन्मों में पशुयोनि के उचित कर्म किये थे और तदनुकूल उसकी

---

[1] योगसूत्रभाष्य, ४-७।

[2] योगसूत्रभाष्य, ४-८।

पाशविक वासनाएँ भी चित्त में विद्यमान थीं। अब अनेक जन्म व्यतीत होने पर भी, पाशविक जन्म लेने के इस अवसर पर, वे ही वासनाएँ उद्बुद्ध होकर उसके इस पशुयोनि में जन्म लेने का कारण होंगी।[1] ये वासनाएँ अनादि काल से चली आती हैं।

ये वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन के द्वारा स्थिर रहती हैं और इनके न रहने पर, अर्थात् नाश होने से, नहीं रहतीं। जैसे—

वासना के कारण

हेतु—धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग और दुःख से द्वेष; इन दोनों से 'प्रयत्न', जिसके कारण मन में, वचन में तथा शरीर में चेष्टाएँ होती हैं, जिनके द्वारा जीव किसी को अनुगृहीत करता है या पीड़ा देता है। इससे धर्म और अधर्म, सुख और दुःख तथा राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से इन छः धर्म आदि 'शलाकाओं' के सहारे यह **'संसारचक्र'** चलता है। यही 'संसारचक्र' वासनाओं का **'हेतु'** है। प्रतिक्षण क्रियाशील इस संसार-चक्र की नेत्री है—**'अविद्या'**। यही है सभी क्लेशों का मूल, इसलिए यही है वासनाओं का वास्तविक **हेतु**।

फल—जिसको आश्रय या लक्ष्य मान कर उपर्युक्त धर्म आदि की विद्यमानता हो, वही **'फल'** है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्यरूप फल कारणरूप वासना में रहता ही है।

आश्रय—साधिकार मन वासनाओं का **'आश्रय'** है। अधिकार से च्युत निराश्रय होकर रहने वाले मन में वासना नहीं रह सकती है।

आलम्बन—अभिमुख में प्राप्त वस्तु जिस वासना को उत्पन्न करे, वही उस वासना का **'आलम्बन'** होता है।

इस प्रकार 'हेतु' आदि ही 'वासना' को उत्पन्न करते हैं और इनके न होने से 'वासना' उत्पन्न नहीं होती।[2]

संस्कार—ऊपर कहा गया है कि 'कर्म' करने के पश्चात् उससे **'कर्म-संस्कार'** या **'कर्माशय'** बनता है। ये 'संस्कार' पुण्यात्मक तथा अपुण्यात्मक होते हैं और काम, लोभ, मोह तथा क्रोध से उत्पन्न होते हैं। ये पुनः 'दृष्टजन्मवेदनीय' तथा 'अदृष्टजन्म-

---

[1] **योगसूत्रभाष्य, ४-९।**

[2] **योगसूत्रभाष्य, ४-११।**

वेदनीय' हैं। इनमें तीव्र वैराग्य से की गयी तपस्या, मन्त्रजप तथा समाधि के द्वारा अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि एवं महानुभावों की आराधना से उत्पन्न **'कर्माशय'** 'पुण्यात्मक' होते हैं। ये सद्यः अपना फल देते हैं। इसी प्रकार तीव्र अविद्या आदि क्लेशों से भयभीत, व्याधिग्रस्त, दीन, शरणागत तथा महानुभावों के प्रति अथवा तपस्वियों के प्रति बारंबार अपकार करने से 'पापात्मक' **'कर्माशय'** उत्पन्न होता है। ये भी सद्यः अपना फल देते हैं।

नारकीयों का 'दृष्टजन्मवेदनीय' कर्माशय नहीं होता और **जीवन्मुक्तों** का 'अदृष्टजन्मवेदनीय' कर्माशय नहीं होता।[1]

ईश्वर

योगशास्त्र में **'ईश्वर'** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही तो **योग** है। **'ईश्वर'** या उसके वाचक **'प्रणव'** के जप से तथा उसके अर्थ की भावना करने से चित्त 'एकाग्रता' को प्राप्त करता है[2], जिसके द्वारा क्रमशः चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है। इसलिए 'ईश्वर' के सम्बन्ध में यहाँ विचार करना आवश्यक है।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में **'ईश्वर'** का—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

लक्षण किया है, अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, इन पाँच क्लेशों से; पुण्य एवं पाप कर्मों से; कर्मों से उत्पन्न जाति, आयु तथा भोग-रूप फलों से; उनसे उत्पन्न वासनाओं से (जो चित्त में रहते हैं) असंस्पृष्ट; एक **विशेष प्रकार** के **'पुरुष'** को **'ईश्वर'** कहते हैं। उपर्युक्त वासनाओं के कारण ही 'जीव' को भोग करना पड़ता है, परन्तु **'ईश्वर'** इन भोगों से असंयुक्त है।

ईश्वर का लक्षण

'ईश्वर' के स्वरूप को अन्य जीवों के स्वरूप के साथ तुलना दिखाकर स्पष्ट करना आवश्यक है। प्रश्न होता है कि **'ईश्वर'** क्या **'केवली पुरुष'** के

---

[1] **योगभाष्य, १-१२।**

[2] **योगभाष्य, १-२८।**

समान है? समाधान में कहा जाता है—नहीं। 'प्राकृतिक[1]', 'वैकारिक[2]' तथा 'दाक्षिणिक[3]', इन तीन बन्धनों से मुक्त होकर ही 'जीव' **'केवली पुरुष'** होते हैं, किन्तु 'ईश्वर' में न कभी बन्धन था और न कभी होगा। इसलिए **'ईश्वर' 'केवली पुरुष'** से भिन्न है।[4]

केवली से भिन्न ईश्वर

'मुक्त पुरुषों' से भी भिन्न **'ईश्वर'** है, क्योंकि 'मुक्त पुरुष' पहले बन्धन में रहकर पश्चात् मुक्त होते हैं। जैसे—कपिल आदि ऋषि पहले बन्धन में थे, पश्चात् मुक्त हुए। 'ईश्वर' पूर्व में कभी भी बन्धन में नहीं था।[5] इसलिए **मुक्त पुरुषों** से भी भिन्न **'ईश्वर'** है।

मुक्त पुरुष से भिन्न ईश्वर

'प्रकृति' को ही आत्मा समझने वाला 'पुरुष', शरीर का नाश होने पर, अर्थात् मरने पर, 'प्रकृतिलीन' हो जाता है अथवा **'प्रकृतिलीन पुरुष'** मुक्तवत् होकर भी पुनः हिरण्यगर्भ के स्वरूप को धारण करता है। इस प्रकार 'प्रकृतिलीन पुरुष' को उत्तर-काल में बन्धन होने की सम्भावना रहती है। **'ईश्वर'** को उत्तर काल में भी बन्धन नहीं होता। इसलिए **'ईश्वर' 'प्रकृतिलीन पुरुष'** से भिन्न है।

प्रकृतिलीन पुरुष से भिन्न ईश्वर

'ईश्वर' में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, आदि गुण हैं। इसी लिए यह **'ईश्वर'** कहा जाता है। प्रकृष्ट सत्त्व-रूप उपादान के कारण ही **'ईश्वर'** में शाश्वतिक 'उत्कर्ष' है, अर्थात् 'ईश्वर' में अनादि विवेक-ख्याति है, सर्वज्ञता तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व है। यह सर्वापेक्षया उत्तम, अर्थात् निरतिशय है। 'ईश्वर' से अधिक अतिशय गुण-सम्पन्न दूसरा कोई नहीं है। **'ईश्वर'** वही है, जिसमें उपर्युक्त गुणों की पराकाष्ठा हो। इन

'ईश्वर' सदा मुक्त और सदा ईश्वर

---

[1] **जड़ 'प्रकृति' को ही 'आत्मा' समझ कर उसमें लीन हो जाना 'प्राकृतिक बन्धन' है।**

[2] **'महत्तत्त्व' आदि 'विकार' को ही आत्मा समझ कर उसमें तन्मय हो जाना 'वैकारिक बन्धन' है। 'विदेहों' को वैकारिक बन्धन होता है।**

[3] **'आत्मा' के स्वरूप को न जान कर यज्ञ आदि करने में ही सदा निरत रहना 'दाक्षिणिक बन्धन' है। दिव्य और अदिव्य विषयों का भोग करने वाले को 'दाक्षिणिक बन्धन' होता है।**

[4] **योगभाष्य, १-२४।**

[5] **योगभाष्य, १-२४।**

बातों का ज्ञान हमें 'शास्त्र' से प्राप्त होता है। ये सब अनादि काल से **'ईश्वर'** में हैं। अतएव **'ईश्वर'** सदैव **'ईश्वर'** है, अर्थात् **'ऐश्वर्य-सम्पन्न'** है तथा सदैव **'मुक्त'** है।[1] यह 'सर्वज्ञ' है।

यह जानना चाहिए कि ऐसी स्थिति में भी यह एक **'पुरुष विशेष'** ही है।[2] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि ने सांख्यशास्त्र के पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त **ईश्वर-रूप** में एक भिन्न तत्त्व **नहीं** माना। अनेक प्रकार के वैलक्षण्यों से युक्त होने पर भी, यह एक प्रकार का **'पुरुष विशेष'** ही है।

ईश्वर के गुण

इसे अपने उपकार के लिए कुछ करना नहीं है, फिर भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह करना इसका उद्देश्य है।[3] ज्ञान तथा धर्म के उपदेशों के द्वारा कल्प, प्रलय तथा महाप्रलय में, 'संसार के लोगों का उद्धार हम करेंगे', इस प्रकार जीवों के प्रति अनुग्रह देखाने की प्रतिज्ञा **'ईश्वर'** ने की है।[4] यह पूर्व के कपिल आदि गुरुओं का भी **गुरु** है।[5]

ईश्वर का प्रतीक

'प्रणव' 'ईश्वर' का वाचक शब्द है।[6] इसका जप एवं इसके अर्थ की भावना करने से चित्त की एकाग्रता होती है।[7] यही पुराणों में कहा गया है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥[8]

अर्थात् 'प्रणव' के जप के द्वारा 'योग' का अभ्यास करे। समाधि की प्राप्ति होने पर पुनः 'प्रणव' का जप करना चाहिए। (इस प्रकार) स्वाध्याय, अर्थात् जप एवं

---

[1] योगभाष्य, १-२४।
[2] योगभाष्य, १-२४।
[3] योगभाष्य, १-२५।
[4] योगभाष्य, १-२५।
[5] योगसूत्र, १-२६।
[6] योगसूत्र, १-२७।
[7] योगसूत्रभाष्य, १-२८।
[8] विष्णुपुराण।

योग-सम्प्राप्त, अर्थात् असंप्रज्ञात् समाधि, इन दोनों से **परमात्मा** का साक्षात्कार होता है।

चित्तविक्षेपों का नाश—'ईश्वर' के प्रणिधान से 'प्रत्यक्, चेतन', अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है और योग के विघ्नों का, अर्थात् व्याधि, चित्त की अकर्मण्यता (स्त्यान), संशय, समाधि के साधनों की भावनाओं का अभाव (प्रमाद), शरीर और चित्त का आलस्य, तृष्णा, विपर्ययज्ञान, 'मधुमती' आदि समाधि की भूमियों की अप्राप्ति, लब्ध-भूमि में स्थिर होकर न रहना, इन नौ चित्त के विक्षेपों का नाश होता है।[1]

ईश्वर के चिन्तन से लाभ

मुक्ति का साधन—समाहित-चित्त होकर 'ईश्वर' के चिन्तन से सात्त्विकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। योगी के मन में इच्छा के अनभिघात-रूप ऐश्वर्य का क्रमिक सञ्चार होता है। इसमें भी बहुत विघ्न होते हैं। उन विघ्नों का नाश 'ईश्वर' के ध्यान से होता है। इसलिए चित्त को समाधिस्थ बना कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए **ईश्वर का चिन्तन** एक बहुत ही उपयुक्त साधन है।

आलोचन

ऊपर कहा गया है कि **'ईश्वर'** को एक भिन्न तत्त्व के रूप में मानने की अभिलाषा पतञ्जलि को नहीं है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है—**'पुरुषविशेषः ईश्वरः'**। अतएव योगशास्त्र में भी, सांख्यशास्त्र के समान, पचीस ही तत्त्व हैं। इस प्रकार योग में तीन प्रकार के पुरुष हैं—'बद्ध', 'मुक्त' तथा 'ईश्वर'।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सांख्य में भी तीन प्रकार के 'पुरुष' हैं—'बद्ध', 'मुक्त' तथा 'ज्ञ'। परन्तु **'ज्ञ'** और **'ईश्वर'** में एक प्रकार से कुछ भेद है। जिस प्रकार **सांख्यशास्त्र** निर्लिप्त पुरुष (ज्ञ) तथा अव्यक्त (प्रकृति) का प्रतिपादन करने पर भी एक प्रकार से **सैद्धान्तिक रूप** को ही धारण करता है, परन्तु **'योगशास्त्र'** सूक्ष्म समाहित-चित्त का प्रतिपादन करता हुआ योगज ऐश्वर्यों का प्रदर्शन करता है और अपनी **व्यावहारिकता** का परिचय देता है, उसी प्रकार सांख्यशास्त्र का **'ज्ञ'** (पुरुष) निर्गुण, चिन्मय,

सांख्य और योग के पुरुष

---

[1] **योगभाष्य, १-३०।**

पुष्कर-पलाशवत् निर्लिप्त, अकर्ता तथा उदासीन होकर **सैद्धान्तिक** रूप में विद्यमान रहता है, परन्तु योगशास्त्र का **'ईश्वर'** (पुरुष) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, सर्वज्ञ, संसार का उद्धार करने वाला, सभी का पथ-प्रदर्शक तथा परम गुरु होकर साधकों को अद्वितीय तत्त्व का साक्षात्कार कराने में परम साधक है। एक प्रकार से योगशास्त्र में **ईश्वर** (पुरुष) सर्वज्ञ, सर्वकर्ता तथा औदासीन्य-रहित है। यह व्यावहारिक जगत् को सँभालने वाला है। अपने-अपने शास्त्र के अनुकूल दो रूपों में **'पुरुष'** इन दोनों शास्त्रों में देख पड़ता है।

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-दर्शन

(शाङ्कर वेदान्त)

उपक्रम

जीव को दुःख का प्रतिकूल-रूप में अनुभव होता है, अतः उससे जीव घृणा कता है, उससे छुटकारा पाने के लिए उपाय ढूँढ़ता है। **अविद्या ने** अनादि काल से 'आत्मा' के स्वरूप को मेघ की तरह आच्छादित कर रखा है। इसी कारण जिज्ञासु को 'आत्मा' के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः 'आत्मा' और 'परमात्मा' एक हैं। अविद्या से आच्छन्न होने के कारण उसी 'आत्मा' ने 'जीव' नामधारी होकर अपने को आत्मा से भिन्न समझ रखा है। इस प्रकार वह अपने को खो चुकी है।

नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित होकर उनसे छुटकारा पाने के साधन को ढूँढ़ता हुआ साधक आचार्य के समीप जाता है। उनसे अपने दुःख से छुटकारा पाने का उपाय पूछता है। उसके दुःख से दुःखी होकर, उस पर अनुकम्पा दिखाते हुए आचार्य उपदेश देते हैं—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'**—अरे ! आत्मा को देखो, उसी से दुःख की निवृत्ति होगी। आत्मा को देखने से वस्तुतः 'जीव' अपने को ही देखेगा। अनादि काल से खोये हुए अपने स्वरूप को देखकर उसे कितना आनन्द होगा ! इतने समीप में, अपने शरीर के ही अन्दर, विद्यमान अपने को अब तक वह नहीं देखता था। अपने आप को ढूँढ़ने के लिए उसे कहीं जाना नहीं था। फिर भी वह भूले-भटके की तरह अपने को खोकर दुःखी था, पागल था। आज उस खोये हुए अपने को, अपने ही शरीर में पाकर उसे कितना आश्चर्य होगा, कितना आनन्द होगा, किन्तु क्या यथार्थ में वह उस 'आनन्द' का अनुभव कर सकेगा ? यह ध्यान रखने की बात है कि वह अपने को 'साक्षात्' देखेगा। दर्पण में अपने मुख के प्रतिबिम्ब

के समान कल्पित रूप में अपने को नहीं देखेगा। 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के मध्य में किसी के रहने से दृश्य का साक्षात् दर्शन द्रष्टा को नहीं हो सकता। इसलिए दो ही हैं—एक 'द्रष्टा' और दूसरा 'दृश्य'। परन्तु 'द्रष्टा' अपने को तभी साक्षात् देखेगा और पहचानेगा, जब देखने की वस्तु भी 'द्रष्टा' ही हो, उससे भिन्न न हो, 'दृश्य' न हो। 'दृश्य' तो 'द्रष्टा' से भिन्न है, वह 'द्रष्टा' का अपना **स्व-रूप** नहीं है। जब दोनों ही 'द्रष्टा' हो जायँगे, दोनों में किसी प्रकार का भेद न होगा, तब कौन किसे देखेगा? याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है—

'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्'[1]

फिर **दो** नहीं रहेंगे, और **दो** नहीं रहने से **एक** का भी भान नहीं रहेगा। एक और दो, ये तो सापेक्ष संख्याएँ हैं। अनादि काल से खोये हुए 'अपने' को 'आप' ही पाकर आनन्द-समुद्र में वह मग्न हो जाता है, अपने को भूल जाता है। इस स्वरूप के वर्णन के लिए शब्द में सामर्थ्य नहीं। यह स्वरूप अनिर्वचनीय, अवाङ्मनसगोचर है।

इसी खोयी हुई आत्मा को **देखने** का उपदेश आचार्य ने दिया था। आज उसका **'दर्शन'** हुआ। दर्शन होना क्या है, अपने आपको भी 'अवाङ्मनसगोचर' बना देना। कितने सुन्दर शब्दों में पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी भावना को कहा है—

रे चेतः! कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥

यही उद्देश्य लेकर साधक परम पद की यात्रा में प्रवृत्त होता है। जब तक इस अवस्था में साधक नहीं पहुँचता, उसकी जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं होती, दुःख का आत्यन्तिक नाश नहीं होता तथा कर्म की गति से भी उसे मुक्ति नहीं मिलती। यही तो वस्तुस्थिति है।

---

[1] बृहदारण्यक उपनिषद्, २-४-१४; **यदा तु पुनः परमार्थविवेकिनो ब्रह्मविदो विज्ञातैव केवलोऽद्वयो वर्तते, तं विज्ञातारम् अरे केन विजानीयादिति—शांकर भाष्य।**

इसी की खोज में सभी चल पड़े हैं, कोई आगे और कोई पीछे मार्ग में जा रहा है। सांख्य के स्तर पर पहुँच कर 'पुरुष' और 'प्रकृति', ये दो नित्य तत्त्व परस्पर विरुद्ध, एक 'चेतन' दूसरा 'जड़', साधक के साथ रह जाते हैं। यह **द्वैतावस्था** है।

सांख्य का वास्तविक स्वरूप

मुक्ति में भी 'पुरुष' को 'प्रकृति' के शुद्ध **'सत्त्वगुण'** से सर्वथा छुटकारा नहीं मिलता। जड़ वस्तु का आरोप अपने ऊपर रहने पर भी, उसे 'पुरुष' नहीं समझता। यह भी 'अविद्या' है। जब तक इसका निर्मूल उच्छेद नहीं होता, तब तक आत्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है? जब तक रजस् का प्रभाव रहेगा, तब तक दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। 'सत् वस्तु का नाश नहीं हो सकता', यह तो सांख्य का सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में साधक को सन्तोष नहीं होता, मन की ग्लानि दूर नहीं होती, जिज्ञासा बनी रहती है। इसलिए सांख्य-दर्शन की मुक्तावस्था के स्वरूप को लेकर जीव अपने मार्ग का पुनः अनुसरण करता है। उसके साथ अब वही **'शुद्ध सत्त्व'** से युक्त **'पुरुष'** है। उसके रहस्य को जानने के लिए वह और आगे बढ़ता है। यही **शांकर वेदान्त** की तथा **अद्वैत-दर्शन** की भूमि है।

'वेदान्त' का अर्थ है—'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है'।[1] साधारण रूप से लोग 'वेद का अन्त', अर्थात् 'उपनिषद्', ऐसा भी अर्थ करते हैं, परन्तु

'वेदान्त' का अर्थ

शास्त्रदृष्टि से यह शुद्ध नहीं है। वेदान्त में जितनी बातें कही गयी हैं, उन सबका मूल उपनिषद् है। इसलिए वे ही वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त माननीय हैं जिनके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों के आधार पर 'शुद्ध सत्त्व' से सम्बद्ध 'पुरुष' के रहस्य के उद्‌घाटन के लिए बादरायण मुनि ने 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना की। इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में है।[2] जैसा पहले कहा गया है—उपनिषद् में सभी दर्शनों के मूल सिद्धान्त हैं। दर्शनों की संख्या अनन्त हो सकती है। एक विशेष दृष्टि का ही नाम तो **'दर्शन'** है। अतएव इस उपस्थित भूमि के उपयुक्त जो उपनिषद्-वाक्य हैं, उन्हीं वाक्यों के आधार पर बादरायण ने सूत्रों की रचना की है। **सांख्य-भूमि** में 'जड़ प्रकृति' का अर्थात् 'शुद्ध सत्त्व' का, 'पुरुष' पर जो आरोप है, उसका विचार कर 'पुरुष' के शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त करना **वेदान्त-भूमि** में इष्ट है।

---

[1] सदानन्द—वेदान्तसार, पृष्ठ ७ जीवानन्दपुत्र संस्करण, कलकत्ता।

[2] उमेश मिश्र—बैक ग्राउण्ड ऑफ बादरायणसूत्र, कल्याण-कल्पतरु, गोरखपुर।

साहित्य

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि वेदान्त-दर्शन का मूल ग्रन्थ उपनिषद् है, अतएव कभी-कभी **'वेदान्त'** शब्द से केवल 'उपनिषद्' का भी ग्रहण होता है। परन्तु उन्हीं मूल वाक्यों के आधार पर बादरायण ने केवल अद्वैत के प्रतिपादन के लिए सूत्र बनाये, अतएव ब्रह्मसूत्र तथा उसके ऊपर लिखे गये ग्रन्थों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्र **'वेदान्त'** समझा जाने लगा।

ब्रह्मसूत्र

पाणिनि ने अष्टाध्यायी[1] में जिस 'भिक्षुसूत्र' का उल्लेख किया है, वह यही 'ब्रह्मसूत्र' है। संन्यासियों को 'भिक्षु' कहते हैं और उन्हीं के पढ़ने योग्य उपनिषदों के आधार पर लिखा गया पाराशर्य, अर्थात् पराशरपुत्र व्यास द्वारा रचित यही 'ब्रह्मसूत्र' है। इस ग्रन्थ में उल्लिखित न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य के जो सिद्धान्त हैं, वे गौतमसूत्र या ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं से बहुत पहले के सिद्धान्त हैं। सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का जो उल्लेख है, वे भी वस्तुतः प्राचीन भारतीय दार्शनिक मत हैं। इनका उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप में उल्लेख है। अतएव यह **'ब्रह्मसूत्र'** बहुत प्राचीन ग्रन्थ है।

यह वेदान्त-दर्शन 'उत्तर-मीमांसा' के नाम से प्रसिद्ध है। जैमिनि की मीमांसा 'पूर्व-मीमांसा' कही जाती है। **'पूर्व-मीमांसा'** जैमिनि ने सूत्र-रूप में बारह अध्यायों में बनायी। कहते हैं कि जैमिनि ने इन अध्यायों के बाद चार अध्यायों में **'संकर्षण-काण्ड' (देवता-काण्ड)** लिखा था जो उपलब्ध नहींहै। इस प्रकार 'पूर्व-मीमांसा' सोलह अध्यायों में समाप्त है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में **उत्तर-मीमांसा** या **ब्रह्मसूत्र** लिखा गया। इन दोनों ग्रन्थों में बहुत-से आचार्यों के नाम आये हैं। इन बातों से ऐसा मालूम होता है कि इन बीस अध्यायों का रचयिता कोई एक था, चाहे वह जैमिनि हों या बादरि या बादरायण। पूर्व-मीमांसा में **'कर्मकाण्ड'** का तथा उत्तर-मीमांसा में **'ज्ञानकाण्ड'** का विचार है। जितने आचार्य उन दिनों थे, वे सभी पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसाओं के विद्वान् थे। इसी लिए 'जैमिनिसूत्र' में जिनके नाम आये हैं, उनके नाम 'ब्रह्मसूत्र' में भी हैं।

---

[1] **पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः—४-३-११०।**

इन प्राचीन आचार्यों में बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि के मतों का उल्लेख मिलता है। इनके ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं है।

वेदान्त की आचार्य-परम्परा

इनके पश्चात् भिन्न-भिन्न दर्शन के ग्रन्थों में भर्तृप्रपञ्च, श्रीवत्सांक, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी, टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्ड्य, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, आदि वेदान्त के आचार्यों के नाम मिलते हैं। इन सबके मतों का उल्लेख मिलता है। परन्तु किसी के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इन आचार्यों में आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा भर्तृप्रपञ्च **'भेदाभेदवादी'** थे। भास्कर **'ब्रह्मपरिणामवादी'** थे।

ब्रह्मसूत्र के ऊपर सबसे प्राचीन टीका, जो आज उपलब्ध है, शंकराचार्य का **भाष्य** है। कहा जाता है कि **शंकराचार्य** का जन्म ७८८ ईस्वी में तथा मृत्यु ८२० ईस्वी में हुई थी। इनके गुरु **'गोविन्दपाद'** तथा परम-गुरु **'गौडपाद'** थे। गौडपाद ने माण्डूक्य उपनिषद् पर एक गम्भीर कारिका-ग्रन्थ लिखा है, जिसमें बौद्धमत का बहुत प्रभाव है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

शंकराचार्य (नवम शतक)

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि शंकराचार्य के समय में बौद्धों का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से दक्षिण में था। वे लोग वैदिक सम्प्रदाय का नाश करने में तत्पर थे। यह देखकर बौद्ध आदि नास्तिकों के मत का खण्डन करने के उद्देश्य से तथा वैदिक सम्प्रदाय को पुनरुज्जीवित करने के लिए शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। यही कारण है कि शांकर वेदान्त के तत्त्वों को समझने के लिए हमें आचार्य के भाष्यों से वह सहायता नहीं मिलती, जो कि उनके छोटे-छोटे ग्रन्थों से तथा स्तोत्रों से।

समस्त संसार में आज भारतीय दर्शन ने **शंकराचार्य** के नाम से जितनी प्रसिद्धि प्राप्त की है, उतनी न किसी आचार्य के नाम से और न किसी ग्रन्थ के नाम से।

शंकराचार्य का समय

इनका सिद्धान्त इतना व्यापक है, तथापि खेद है कि अभी तक इनके प्रादुर्भाव के समय के सम्बन्ध में तथा इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में एकवाक्यता नहीं है। फिर भी नीचे दिये हुए कुछ आभ्यन्तर प्रमाणों के द्वारा यह कहा जाता है कि वह अष्टम शतक के अन्त भाग में उत्पन्न होकर नवम शतक के आदि में ही मर गये। इसी मत को बहुतों ने स्वीकार किया है। इसके लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

(१) शंकराचार्य के चार प्रधान शिष्यों में **सुरेश्वराचार्य** सबसे अधिक मान्य थे। सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थ में प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक **'धर्मकीर्ति'** का उल्लेख किया है। धर्मकीर्ति का समय ६३५ से ६५० ई० माना जाता है। इसलिए शंकर को ६५० के परवर्ती होना चाहिए।

(२) शंकराचार्य ने स्वयं अपने भाष्य[1] में 'धर्मकीर्ति' की एक कारिका[2] के **'सहोपलम्भनियमादभेदः'** अंश को उद्धृत किया है।

(३) **दिङ्नाग** की 'आलम्बनपरीक्षा' से **'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते'** शंकर ने उद्धृत[3] किया है। इसी प्रकार शंकर ने जैनाचार्य **'अकलंक-देव'** के गुरु **'समन्तभद्र'** के मत का भी उल्लेख किया है। 'अकलंक' राष्ट्रकूटराज साहसतुंग के सभा-पण्डित थे। साहसतुंग का समय ७५३ ई० है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर शंकर को आठवीं सदी के अन्त भाग में रखा जाता है।

विद्वानों में यह प्रसिद्ध है कि शंकर पहले शाक्त थे और पश्चात् वैष्णव हुए। अन्त में सबसे विरक्त होकर संन्यासी होकर अद्वैत-वेदान्त के प्रतिपादक हुए।

शंकराचार्य की रचना

शाक्त होकर इन्होंने अनेक शक्ति के स्तोत्र लिखे तथा वैष्णव की भावना से विष्णु के स्तोत्र लिखे। इसी प्रकार शिव के स्तोत्र इन्होंने लिखे। अद्वैत-वेदान्त के सम्बन्ध में अनेक स्तोत्र तथा छोटे-बड़े ग्रन्थ इन्होंने लिखे।

इन ग्रन्थों के आधार पर विचार करने से यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति में शिव, शक्ति तथा विष्णु एवं अन्य देवताओं के भी एक साथ उपासक व्यवहार-भूमि में लोग होते हैं। पारमार्थिक भूमि में तो इन सबमें अभेद-बुद्धि होने के कारण प्रायः अद्वैत तत्त्व के ही उपासक विद्वान् होते हैं। शंकराचार्य ने इसी बात को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न देवताओं के स्तोत्रों की रचना की थी। इनकी रचनाएँ

---

[1] २-२-२८।

[2] **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।**
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये ॥—'प्रमाणविनिश्चय' तथा 'प्रमाण-वार्त्तिक'।

[3] **ब्रह्मसूत्रभाष्य,** २-२-२८।

बहुत हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु परवर्ती शंकराचार्यों ने भी जो ग्रन्थ या स्तोत्र आदि लिखे, सभी में शंकराचार्य का ही नाम दे दिया गया है। अब यह अत्यन्त कठिन समस्या है कि कौन-सी रचना आदि-शंकर की है और कौन-सी परवर्ती शंकराचार्यों की। इसका निर्णय करने के लिए अभी तक कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं हो सका, फिर भी कुछ ग्रन्थ हैं, जिनमें सन्देह नहीं है। जैसे—ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य विष्णुसहस्रनामभाष्य, विवेक-चूड़ामणि, उपदेशसाहस्री, गायत्रीभाष्य, आदि।

जैसा पहले कहा गया है—शांकर वेदान्त के तत्त्वों का ज्ञान विशेष रूप से शंकराचार्य के छोटे-छोटे ग्रन्थों से तथा स्तोत्रों से हो सकता है, उनके भाष्य, (विशेष कर ब्रह्मसूत्रभाष्य) परमत-खण्डन की ही दृष्टि से लिखे गये प्रतीत होते हैं।

शंकराचार्य ने अद्वैतमत को सर्वश्रेष्ठ माना है। ज्ञानमार्ग का चरम लक्ष्य **'अद्वैत'** है। इसका अनुसरण शंकर के अनुयायियों ने भी किया है। शंकर के चार मुख्य शिष्य थे—सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, त्रोटकाचार्य तथा हस्तामलकाचार्य।

शंकराचार्य के शिष्यों के ग्रन्थ

सुरेश्वराचार्य का गृहस्थाश्रम में 'मण्डन मिश्र' नाम था, ऐसी, मिथिला में और अन्यत्र के विद्वानों में भी, प्रसिद्धि है। इन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि, बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्त्तिक, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, दक्षिणामूर्ति-स्तोत्रवार्त्तिक, पञ्चीकरणवार्त्तिक, आदि ग्रन्थ लिखे हैं। **पद्मपादाचार्य** ने पञ्चपादिका, विज्ञानदीपिका (विज्ञानचन्द्रिका) तथा प्रपञ्चसारतन्त्र की टीका लिखी है। अन्य दो शिष्यों की रचनाओं के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

भास्कराचार्य

भास्कराचार्य वैष्णव-सम्प्रदाय के त्रिदण्डीमत के वेदान्ती थे। यह शंकर के समकालीन थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक छोटा-सा भाष्य लिखा है। यह **ब्रह्म-परिणामवादी** हैं। इनका कहना है कि ब्रह्म के शक्ति-विक्षेप से ही सृष्टि और स्थिति का व्यापार निरन्तर चल रहा है। यह 'ज्ञान' और 'कर्म' दोनों से मोक्ष मानते हैं।

सर्वज्ञात्ममुनि—सुरेश्वराचार्य के शिष्य 'सर्वज्ञात्ममुनि' ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर **'संक्षेप-शारीरिक'** नाम की एक पद्यात्मक व्याख्या लिखी।

वृद्ध वाचस्पति मिश्र ने शांकर भाष्य पर **'भामती'** नाम की अति उत्तम व्याख्या लिखी है। इनका **'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा'** नाम का वेदान्तग्रन्थ, जिसका उल्लेख भामती में है, अब प्रायः लुप्त ही हो गया है। इस पुस्तक का पता हमें पुर्निया (बिहार) में अपने एक सम्बन्धी के यहाँ लगा, किन्तु खोज करने पर वह ग्रन्थ नहीं मिला।

वाचस्पति मिश्र (प्रथम)

प्रकाशात्मा—पद्मपाद की 'पञ्चपादिका' पर प्रकाशात्मा ने **'विवरण'** नाम की व्याख्या लिखी। इसी को लेकर **'भामती-प्रस्थान'** से भिन्न **'विवरण-प्रस्थान'** बना है।

अद्वैतानन्द—'रामानन्द तीर्थ' के शिष्य अद्वैतानन्द थे। इन्होंने शारीरक-भाष्य पर **'ब्रह्मविद्याभरण'** नाम की एक उत्तम व्याख्या लिखी है।

चित्सुखाचार्य—'तत्त्वदीपिका' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ चित्सुखाचार्य ने लिखा है। यह 'चित्सुखी' के नाम से जगद्विदित है। यह ग्रन्थ भी उत्तम है।

अमलानन्द—'अनुभवानन्द' के शिष्य अमलानन्द थे। इनका दूसरा नाम **व्यासाश्रम** था। इन्होंने 'भामती' के ऊपर **'कल्पतरु'** नाम की व्याख्या लिखी है। अमलानन्द ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक **'वृत्ति'** भी लिखी है।

अखण्डानन्द—'आनन्दगिरि' के शिष्य अखण्डानन्द थे। इन्होंने 'पञ्चपादिका-विवरण' पर **'तत्त्वदीपन'** नाम का एक सुन्दर व्याख्यान लिखा है।

प्रकाशानन्द—**'दृष्टिसृष्टिवाद'** के प्रचारक प्रकाशानन्द थे। इन्होंने **'वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली'** नाम के ग्रन्थ में इसी मत का विचार किया है।

सोलहवीं शताब्दी के संन्यासियों में मधुसूदन सरस्वती बहुत प्रसिद्ध वेदान्ती हुए। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें **सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतरत्नरक्षण, 'वेदान्त-कल्पलतिका,** आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। परन्तु **'अद्वैतसिद्धि'** तो इनका अमर ग्रन्थ है। इसके समान दूसरा ग्रन्थ प्रायः दर्शन में नहीं है। मधुसूदन के वेदान्त मत में **'भक्ति'** का सम्मिश्रण है।

मधुसूदन सरस्वती

इनके अतिरिक्त श्रीहर्ष, प्रत्यक्-स्वरूपाचार्य, गीर्वाणेन्द्र सरस्वती, नृसिंहाश्रम, नृसिंह सरस्वती, अप्पय्य दीक्षित, सदानन्द यति तथा सदानन्द काश्मीरक, धर्मराजा-ध्वरीन्द्र, गोविन्दानन्द, आदि अनेक उत्तम वेदान्ती हुए हैं, जिनके ग्रन्थों से वेदान्त-साहित्य का भण्डार भरा है।

'ब्रह्मसूत्र' के सम्बन्ध में एक बात कह देना आवश्यक है। उन दिनों जब संस्कृत के ग्रन्थ लिखे जाते थे, तब कामा, फुलस्टाप आदि विरामचिह्नों का प्रयोग नहीं होता था। अतएव अपनी बुद्धि के अनुसार एक विचारधारा को निश्चय कर वेदान्त-मत के विशिष्ट आचार्यों ने 'ब्रह्मसूत्र' पर अपने मत के अनुकूल भाष्य लिखे हैं। सूत्रों का विभाजन भी अपने मतानुकूल ही किया है। यही कारण है कि इस समय ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन करने वाले ग्यारह भाष्य वर्तमान हैं। इनके सूत्रों की संख्या में भी भेद है। इनके नाम और समय नीचे दिये जाते हैं—

१. **शांकरभाष्य** (७८८-८२०), २. **भास्करभाष्य** (नवम शतक), ३. **रामानुजभाष्य** (बारहवीं शताब्दी), ४. **निम्बार्कभाष्य** (तेरहवीं शताब्दी), ५. **माध्वभाष्य** (तेरहवाँ शतक), ६. **श्रीकण्ठभाष्य** (तेरहवाँ शतक), ७. **श्रीकरभाष्य** (चौदहवाँ शतक), ८. **वल्लभभाष्य** (१४७९-१५४४), ९. **विज्ञानभिक्षुभाष्य** (सोलहवाँ शतक), १०. **बलदेवभाष्य** (अठारहवाँ शतक), एवं ११. **शक्तिभाष्य** (बीसवाँ शतक)।

तत्त्वविचार

सांख्य-भूमि के अनन्तर जब साधक आगे की भूमि की तरफ चलता है तो वह उसी भूमि में पहुँचता है जहाँ आत्मा के 'अस्तित्व' तथा उसके 'चित्' स्वभाव के सम्बन्ध में उसे सर्वथा विश्वास रहता है। इनके लिए साधक को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। न्याय-वैशेषिक ने 'आत्मा' की पृथक् **'सत्ता'** को प्रमाणित किया और सांख्य-योग ने उसके **'चित्'** की अभिव्यक्ति की। इस प्रकार चित्-स्वरूप पुरुष का अनुभव साधक को होता है। जैसा पहले कहा गया है कि सांख्य का **मुक्त पुरुष** अभी भी 'सत्त्व' अंश से सर्वथा मुक्त नहीं है। उसे इस भूमि में मुक्त करना है और आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार करना है। साथ ही साथ 'सत्त्व अंश' की परीक्षा भी करनी आवश्यक है। इसके ज्ञान के बिना 'आत्मा' का ज्ञान भी नहीं होगा। ये ही दो बातें इस भूमि में साधक को विशेष रूप से अध्ययन करनी हैं।

उपक्रम

उपर्युक्त बात को ध्यान में रखते हुए साधक तत्त्वों के विचार में प्रवृत्त होता है। इस भूमि में पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र तत्त्व है—**ब्रह्म** या **आत्मा**, जिसका

स्वरूप है **'आनन्द'**।[1] इसके अतिरिक्त जो कुछ देख पड़ता है वह अतत्त्व है, जिसे अवस्तु, अज्ञान, माया, आदि भी कहते हैं। **'अतत्त्व'** को जानना इसलिए आवश्यक है कि **वस्तु** या तत्त्व या आत्मा 'अवस्तु' से पृथक् की जा सके। **अवस्तु** के ज्ञान के बिना 'अवाङ्मनसगोचर' **वस्तु** का ज्ञान साधारण लोगों को नहीं हो सकता।

सत्ता का स्वरूप

यहाँ पर इतना कहना आवश्यक है कि शांकर वेदान्त-दर्शन में **'सत्ता'** तीन प्रकार की है—'पारमार्थिकी', 'प्रातिभासिकी' तथा 'व्यावहारिकी'।

पारमार्थिकी सत्ता—जिस वस्तु का अस्तित्व त्रिकाल में अबाधित हो, वही **पारमार्थिक सत्** है। ऐसी सत्ता एकमात्र **'ब्रह्म'** की है।

प्रातिभासिकी सत्ता—अन्धकार में दूर से घास के पास एक 'वस्तु' को देखकर उसे लोग 'सर्प' समझ लेते हैं और वहाँ से भय के कारण दूर हट जाते हैं। उनके शरीर में भय की चेष्टाएँ होती हैं। इससे स्पष्ट है कि उस मनुष्य को 'सर्प' का भान हुआ है। परन्तु थोड़ी ही देर में एक दूसरा व्यक्ति दीपक लाकर जब उस 'वस्तु' को दिखाता है, तो उस भयभीत व्यक्ति को स्पष्ट मालूम होता है कि वह 'वस्तु' 'सर्प' नहीं है, वह तो एक 'रस्सी' है। इससे पूर्व का उसका 'सर्पज्ञान' बाधित हो जाता है।

इस प्रकरण में 'सर्प' का होना बाधित हो गया और उसका सर्प-'ज्ञान' 'भ्रान्ति' है ऐसा निश्चित हुआ। जितने समय तक सर्प का ज्ञान उसे था, उतनी देर के लिए तो 'सर्प' का अस्तित्व मानना ही पड़ता है, क्योंकि उस ज्ञान के भय आदि चिह्न उस व्यक्ति में देख पड़ते हैं। परन्तु वह बाद को बाधित हो जाता है, उसका भय दूर हो जाता है और वह 'ज्ञान' **मिथ्या** कहा जाता है। वह ज्ञान क्षणिक है, अतएव उससे व्यवहार भी नहीं होता। 'सर्प'-ज्ञान के इस अस्तित्व को **'प्रातिभासिकी सत्ता'** कहते हैं। प्रतिभासमात्र के लिए उसका अस्तित्व है।

व्यावहारिकी सत्ता—जिसके अस्तित्व को संसारदशा में व्यवहार के लिए 'सत्य' मानते हैं, वही **व्यावहारिकी सत्ता** है। इस सत्यभावना का नाश **ब्रह्मज्ञान** होने से होता है, अन्यथा नहीं।

---

[1] **'सच्चिदानन्दं ब्रह्म'; 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्यात्', इत्यादि।**

शांकर वेदान्त में **ब्रह्म** को छोड़कर और सभी पदार्थ 'असत्' हैं। इन पदार्थों का आरोप **ब्रह्म** पर होता है। **'ब्रह्म'** आरोप का 'अधिष्ठान' है। **माया** की विक्षेप-शक्ति के कारण जो सृष्टि होती है, वह मायिक है, भ्रान्ति है। यह आरोप 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा बाधित हो जाता है। ब्रह्म को अधिष्ठान मान कर जितने कार्य जगत् में होते हैं, वे ही नहीं, प्रत्युत समस्त जगत् ही, ब्रह्म का **'विवर्त'** है।

विवर्त का अर्थ—तत्त्व में अतत्त्वों के भान को ही **'विवर्त'** कहते हैं—

'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विवर्त' इत्युदाहृतः ।'

परिणाम या विकार का अर्थ—परिणाम में एक तत्त्व से यथार्थ रूप में दूसरा तत्त्व अभिव्यक्त होता है—

'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विकार' इत्युदीरितः ।'

किन्तु 'विवर्त' में सभी वस्तुएँ जल के ऊपर बुद्बुदों के समान मिथ्या हैं। इसी लिए श्रुति ने भी कहा है—

'वाचारम्भणं विकारो[1] नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'

यह जो 'अवस्तुओं' का वस्तु' में आरोप होता है, यही **'मिथ्या ज्ञान'** है, यही **'आरोप'** है, यही **'अध्यास'** है। जैसे—शरीर को आत्मा मानना, इन्द्रियों को आत्मा मानना, आदि। यहाँ 'आत्मा' में शरीर, इन्द्रिय, आदि का **'अध्यास'** होता है। रज्जु में सर्प को मान लेना भी 'अध्यास' ही है।

अध्यास

'ब्रह्म' निर्विशेष तत्त्व है। यह सर्वव्यापी और चेतन है। वस्तुतः इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, यह स्वयं सिद्ध है, स्वप्रकाश है, तथापि अनादि अज्ञान से मुग्ध जीव इसे नहीं देखता, प्रत्युत इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्ति जीव को घेरे रहती है। इसी लिए इस भ्रान्ति को दूर करना वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है। स्वप्रकाश तत्त्व

ब्रह्म या आत्मा

---

[1] **'विकार' शब्द का 'परिणाम' अर्थ है। पूर्व समय में 'विकार' शब्द भी 'विवर्त' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जैसे—भवभूति ने उत्तररामचरित में किया है—**'आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्' 'विकारान्'—**यहाँ वस्तुतः 'विवर्तान्' के अर्थ में 'विकारान्' प्रयुक्त है।**

को देखने के लिए दीपक का प्रयोजन नहीं है, किन्तु उस अज्ञानरूपी अन्धकार को, जिसने उसे अनादि काल से आच्छन्न कर रखा है, दूर करना है। इसलिए इस अज्ञान के स्वरूप का विवेचन पहले करना आवश्यक है। 'जड़' के सम्पर्क में आने से ही 'चैतन्य' का भान होता है, उसी प्रकार 'जड़' के ज्ञान की प्राप्ति से ही 'चैतन्य' का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं।

अज्ञान और माया

यह **'अज्ञान'** वही 'शुद्ध सत्त्व' है, जो सांख्य की मुक्ति-दशा में भी 'पुरुष' से सम्बद्ध रह जाता है। इसी को **'अविद्या'** और **'माया'** भी कहते हैं। शंकर ने 'अविद्या' और 'माया' में कोई भेद नहीं किया है, किन्तु परवर्ती 'विद्यारण्य' ने इन दोनों में भेद माना है। उनका कहना है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था **'प्रकृति'** है। इसके दो भेद हैं—एक **'माया'** और दूसरी **'अविद्या'**।[1] रजस् और तमस् की मलिनता से रहित, अतएव **विशुद्ध सत्त्व-प्रधाना** प्रकृति को **'माया'** कहते हैं और **मलिन सत्त्व-प्रधाना** प्रकृति को **'अविद्या'** कहते हैं। 'माया' से आच्छन्न ब्रह्म को **'ईश्वर'** तथा 'अविद्या' से आच्छन्न ब्रह्म को **'जीव'** कहते हैं।[2]

अविद्या और माया

इस अज्ञान का अस्तित्व है, इसमें अपना ही साक्षात् अनुभव प्रमाण होता है। जैसे हम कहते हैं—'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं यह नहीं जानता', इत्यादि। श्रुति भी प्रमाण है—**'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्'**[3], अर्थात् 'प्रकृति के कार्य पृथिव्यादि के द्वारा देवात्म-शक्ति आच्छादित है।' यह न 'सत्' है और न 'असत्'। दो ही कोटियाँ सम्भावित होती हैं। यह इन दोनों से विलक्षण है। अतएव इसे **'अनिर्वचनीय'** कहते हैं। **माया** 'ब्रह्म' के समान 'सत्' नहीं है। यह त्रिकाल में अबाधित नहीं है। इसका तत्त्वज्ञान से बोध होता है, जैसे—रज्जु में सर्प-ज्ञान होने के पश्चात् अन्य प्रमाणों से रज्जु का ही होना निश्चित हो जाने पर 'रज्जु' में सर्प का 'ज्ञान' बाधित हो जाता है। इसलिए 'अज्ञान' 'सत्' भी नहीं है। खरहे के सींग की तरह यह 'असत्', अर्थात् तुच्छ भी नहीं है, इसकी

---

[1] **चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिंबसमन्विता।**
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥—पञ्चदशी, १-१५

[2] **सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।**
मायाबिंबो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥—पञ्चदशी, १-१६।

[3] **श्वेताश्वतर, १-३।**

प्रतीति होती है। इस प्रकार बाधित तथा प्रतीयमान, इन दोनों विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण इसे न सत् कह सकते हैं और न असत् ही कह सकते हैं। इसी लिए इसे **'अनिर्वचनीय'** कहा है।

यह त्रिगुणात्मिका है, अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों का स्वरूप है। यह ज्ञान-विरोधी है, अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से इस माया का नाश होता है। भगवान् ने भी गीता में कहा है—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'[1]

परन्तु उपर्युक्त धर्मों के कारण इसे अभावस्वरूप समझना भ्रान्ति है। यह 'भावरूप' है। यह अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है। 'माया है', 'अज्ञान से ज्ञान आवृत होता है', इस प्रकार 'माया' का भान होता है।

माया की शक्ति

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—'आवरण' और 'विक्षेप'। **'आवरण-शक्ति'** से युक्त अज्ञान 'अतितुच्छ' तथा 'परिच्छिन्न', अर्थात् सीमित होने पर भी अपरिच्छिन्न, अलौकिक, स्वप्रकाश एवं सर्वव्यापी 'आत्मा' को आच्छादित करता है, जिससे आत्मा बद्ध की तरह हो जाती है। वस्तुतः यह आत्मा को आच्छादित नहीं करती, किन्तु साधक की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर देती है कि साधक आत्मा को नहीं देख पाता। जिस तरह एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा लोगों की दृष्टि के सामने आकर अनेक योजनविस्तृत सूर्यमण्डल को देखने वाले को देखने नहीं देता।[2]

इसके अतिरिक्त 'अज्ञान' में एक **'विक्षेप-शक्ति'** है। आवरण-शक्ति से 'वस्तु' या 'तत्त्व' तो ढक जाता है, उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसके स्थान पर उस वस्तु के सम्बन्ध में नाना प्रकार की भिन्न वस्तुओं की विचित्र कल्पना की जाती हैं। जैसे—अज्ञान से आच्छादित रज्जु को न देखकर, उसके स्थान में, उस वस्तु के सम्बन्ध में, 'सर्प' की कल्पना करना कि 'यह सर्प है', **विक्षिप्त-शक्ति** के सामर्थ्य का फल है। इसी प्रकार 'आत्मा' को स्वरूप के **आवरणशक्ति-**

---

[1] ७-१४।

[2] घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद् भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥
—हस्तामलकस्तोत्र, १०।

सम्पन्न अज्ञान के प्रभाव से न देखकर, उसके स्थान में उसे आकाश आदि समस्त जगत् समझ लेना भ्रान्ति है। यही **अज्ञान की विक्षेप-शक्ति** है। इसी शक्ति के प्रभाव से निर्विकार, अकर्ता आत्मा को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, आदि कल्पनाओं से हम लोग युक्त समझते हैं। इसी शक्ति के प्रभाव से समस्त विश्व का आरोप इसी आत्मा में होता है। इसी 'शक्ति' के द्वारा 'आब्रह्मस्तम्ब' पर्यन्त जगत् की सृष्टि होती है।[1]

सृष्टि का कारण

इन दोनों शक्तियों से आच्छादित चैतन्य या आत्मा में क्रिया होती है। इसे ध्यान में रखना है कि वस्तुतः आत्मा में क्रिया नहीं होती, क्रिया तो रजोगुण के रहने के कारण माया में ही होती है, किन्तु अज्ञान के प्रभाव से अज्ञान का धर्म आत्मा में आरोपित होता है, जिसके कारण 'आत्मा' भी क्रियाशील मालूम होती है और इसी क्रिया के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है। अर्थात् मायावच्छिन्न 'चैतन्य' जगत् का कारण है।

चैतन्य के दो स्वरूप

इस चैतन्य में दो स्वरूप हैं—एक तो है **चैतन्य**, दूसरा है **मायारूप उपाधि।** इन दोनों से आकाश आदि की सृष्टि होती है। जब इस सृष्टि के लिए प्रधानता उपाधि से युक्त चैतन्य को दी जाती है, तब **'चैतन्य'** सृष्टि का **'निमित्त कारण'** है और जब चैतन्य की माया-रूप उपाधि को प्रधानता दी जाती है, तब मायोपाधिविशिष्ट **'चैतन्य'** सृष्टि का **'उपादान कारण'** है। इससे यह स्पष्ट है कि मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य ही सृष्टि का उपादान कारण है।

यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि सृष्टि क्रमशः होती है। **प्रथम सूक्ष्म,** फिर स्थूल तथा स्थूलतर एवं स्थूलतम इसी क्रम से सृष्टि होती है। यह क्रमिक विकास समस्त ब्रह्माण्ड में होता है। जो विकास एक व्यक्ति में होता है, वही समष्टि में भी होता है और प्रत्येक विकसित अवस्था का अपना-अपना स्वरूप भी भिन्न है। इन सभी अवस्थाओं में मायोपाधि-चैतन्य ही जगत् के विकास का कारण है।

यहाँ एक प्रश्न है कि **माया** एक है या अनेक ? **'अजामेकाम्'**[2] इस श्रुति में तो माया 'एक' कही गयी है, किन्तु **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**[3]—इस श्रुति में माया

---

[1] **विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्—वाक्यसुधा, १४।**

[2] **श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४–५।**

[3] **ऋग्वेद, ६-४७-१८।**

'अनेक' कही गयी है। इन दोनों श्रुतिवाक्यों में किस प्रकार समन्वय हो सकता है और कौन-सा मत ठीक है? इसका विचार आवश्यक है। उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'एक' और 'अनेक', यह भावना हमारी बुद्धि के ऊपर निर्भर है, परन्तु इसे स्मरण रखना चाहिए कि 'माया' एक हो चाहे अनेक, तत्त्व में इससे कोई अन्तर नहीं होता। जैसे—किसी 'वन' में केवल आम के वृक्ष हैं। अब इस 'वन' को जब हम समष्टिरूप में देखते हैं, अर्थात् जितने वृक्ष हैं, उन सबके समूह को एकत्र अपनी बुद्धि का विषय बना कर देखते हैं, तब वह **'एक वन'** देखने में आता है और जब उसी वन के प्रत्येक वृक्ष को पृथक्-पृथक् बुद्धि का विषय बना लेते हैं, तब उसी वन में **'अनेक वृक्ष'** होने का भी बोध होता है। इसी प्रकार अज्ञान के विकास में समूहरूप में एक अज्ञान को बुद्धि का विषय बनाने से **'एक'** और अनेक को पृथक्-पृथक् विषय बनाने से **'अनेक'** का बोध होता है। इनमें केवल बुद्धि के भेद से ही अन्तर है। इसी प्रकार 'माया' 'एक' भी है और 'अनेक' भी है। 'एक' और 'अनेक' का भान तो हमारी बुद्धि पर निर्भर है। इसी बात का पुनः विशेष रूप से नीचे हम विचार करते हैं।

माया एक या अनेक ?

इस माया का एक 'विशुद्ध सत्त्व' स्वरूप है। यह उसकी सूक्ष्मतम अवस्था है। इस अवस्था में 'सत्त्व' प्रधान है और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं। इस माया से अवच्छिन्न चैतन्य में जब क्रिया उत्पन्न होती है, तब उससे पृथक्-पृथक् अनेक स्वरूप बनते हैं। इन सभी स्वरूपों को जब एक दृष्टि का विषय मान कर एक साथ हम देखते हैं, तब ये सभी वस्तुएँ **समष्टिरूप** में हमें भान होती हैं और जब इन्हें भिन्न-भिन्न बुद्धि का विषय हम बनाते हैं, तब ये **व्यष्टिरूप** में भान होती हैं, जैसा ऊपर कहा गया है। दूसरा भी उदाहरण दिया जा सकता है, जैसे—अनेक छोटे-छोटे जलों के समूह को हम 'जलाशय' समझते हैं, किन्तु उन्हीं को भिन्न-भिन्न रूप में देखकर केवल 'जल' कहते हैं। वास्तविक भेद तो कोई नहीं है। भेद है केवल उपाधि का और हमारी बुद्धि का।

समष्टिरूप अज्ञान—उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर जब हम संसार के समस्त जीवों के 'अज्ञानों' को एक ज्ञान का विषय मानकर **समष्टिरूप** में देखते हैं, तो स्पष्ट होता है कि इस चैतन्य की उपाधि 'उत्कृष्ट' है तथा 'विशुद्ध सत्त्व' इसमें प्रधान है। इस उपाधि से घिरा हुआ चैतन्य या आत्मा या ब्रह्म **सविशेष** हो जाता है। इसे **'ईश्वर'** कहते हैं, अर्थात् समस्त अज्ञानों से अवच्छिन्न 'चैतन्य' **'ईश्वर'** है।

ईश्वर

स्थावर और जंगम समस्त प्रपञ्च का साक्षी होने तथा समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण यह 'ईश्वर' **'सर्वज्ञ'** है। सभी जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण यह **'सर्वेश्वर'** है। सभी जीवों को अपने-अपने कर्मों में प्रेरणा देने के कारण यह **'सर्वनियन्ता'** है। प्रमाणों के द्वारा यह जाना नहीं जा सकता, इसी लिए यह **'अव्यक्त'** भी है एवं सभी जीवों के अन्तर्हृदय में स्थित होकर उन्हें नियन्त्रित करने के कारण यह **'अन्तर्यामी'** है तथा समस्त चराचर विश्व का विवर्त-रूप में अधिष्ठान होने के कारण यह **'जगत् का कारण'** भी है।

केवल लीला के लिए सृष्टि

जगत् का कारण होने पर भी **'ईश्वर'** केवल लीला के लिए, बिना किसी प्रयोजन के सृष्टि करता है। जैसे सभी कामनाओं से पूर्ण कोई राजा केवल लीला के लिए ही क्रीड़ा-विहार में प्रवृत्त होता है या जिस प्रकार बाह्य किसी प्रयोजन के न रहने पर भी स्वभाव से ही शरीर में श्वास और प्रश्वास चलते हैं।[1]

आनन्दमय कोष

समस्त विश्व का **कारण-शरीर** 'ईश्वर' है। इस कारणावस्था में प्रकृति और पुरुष (अर्थात् माया और ब्रह्म) के अतिरिक्त न तो कोई स्थूल और न सूक्ष्म कार्य-रूप प्रपञ्च विद्यमान रहता है, इसीलिए यह **'आनन्दमय'** अवस्था है। थैली के रूप में यह 'कारण-शरीर' चैतन्य को घेरे हुए है, इसी लिए यह **'आनन्दमय कोष'** कहा जाता है। इस स्वरूप में समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म उपाधिरूप **'प्रपञ्च'** लय होता है, सभी शान्त रहता है, इसलिए इसे **'सुषुप्ति'** भी कहते हैं।

यह तो **'समष्टि-अज्ञान'** का स्वरूप हुआ।

व्यष्टिरूप अज्ञान—इसी प्रकार समस्त अज्ञान के भिन्न-भिन्न रूप को भिन्न-भिन्न ज्ञान का विषय मानकर, भिन्न-भिन्न रूप में देखने से 'अज्ञान' के **'व्यष्टि-स्वरूप'** का भी विवेचन किया जाता है। इस 'व्यष्टि' में उपाधि 'निकृष्ट' होने के कारण यह 'मलिन सत्त्व'-प्रधान है। इससे आच्छादित चैतन्य **'प्राज्ञ'** कहलाता है, अर्थात् एक अज्ञान से अवच्छिन्न 'चैतन्य' **'प्राज्ञ'** कहलाता है। यह अल्पज्ञ, अनीश्वर, आदि गुणों से सम्पन्न है। यह एक जीव के अहंकार आदि का कारण होने के कारण **'कारणशरीर'** है, अर्थात् सुषुप्तिकाल में अहंकार आदि

प्राज्ञ

---

[1] शांकर भाष्य, २-१-३३।

शरीर के उत्पादक सभी तत्त्व केवल संस्कारमात्र में जीव में रहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्था में न तो इन्द्रियाँ हैं और न इन्द्रियों के विषय हैं, इसलिए शान्ति है, आनन्द का आधिक्य है। व्यष्टि-रूप में भी एक थैली की तरह चैतन्य घिरा हुआ है, इसलिए यह **आनन्दमय कोष** भी कहा जाता है। पञ्चीकृत व्यावहारिक स्थूल शरीर अपने कारण, अपञ्चीकृत शरीर में लय हो जाता है। उसी प्रकार स्वप्नावस्था का प्रपञ्च अपने कारण, अज्ञान में लीन हो जाता है। अतएव इस अवस्था में सभी का लय हो जाने के कारण यह **'सुषुप्ति'** कहा जाता है। इसमें स्थूल तथा सूक्ष्म **'शरीर'** के प्रपञ्च का लय होता है।

आनन्दमय कोष

इन दोनों स्वरूपों में अज्ञानावच्छिन्न 'चैतन्य', अर्थात् 'ईश्वर' और 'प्राज्ञ' चैतन्य से प्रदीप्त अति सूक्ष्म अज्ञानवृत्ति के द्वारा सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का अनुभव करते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में वास्तविक भेद नहीं है। भेद है केवल उपाधि के तारतम्य के कारण। जैसे—स्थूल जलाशय-रूप उपाधि से अवच्छिन्न 'आकाश' और 'तद्गतप्रतिबिम्बाकाश' में वास्तविक भेद नहीं है। उपाधियों के हट जाने से एक ही 'निरवच्छिन्न आकाश' रह जाता है।

'ईश्वर' और 'प्राज्ञ', ये दोनों अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के सूक्ष्मतम रूप की अवस्थाएँ हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखना है कि 'चैतन्य' में तो कोई सूक्ष्म और स्थूल रूप होते नहीं, वह तो नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ 'आत्मा' है। सूक्ष्म और स्थूल रूप होते हैं 'माया' या 'अज्ञान' के। अतएव यह जो सूक्ष्म से स्थूल पर्यन्त क्रमिक विकास देख पड़ता है, वह जड़ 'माया' का ही विकास है, न कि 'चैतन्य' का। वह तो जैसा सूक्ष्म रूप में है, वैसा ही स्थूल रूप में भी रहता है।

इसमें विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है। परन्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस्, ये गुण सतत परिणामी हैं, सतत एक-से नहीं रहते। इसलिए जब तमोगुण का प्राधान्य होता है, तब उसी विक्षेप-शक्ति से सम्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की क्रमशः उत्पत्ति होती है।[1] इन उत्पन्न भूतों में सत्त्व, रजस् और तमस्,

भूतों की सृष्टि

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-१।

ये तीनों गुण अपने-अपने कारण से अपने-अपने 'कार्य' में आ जाते हैं। इन्हीं पाँच भूतों को वेदान्त में 'सूक्ष्म भूत' या 'तन्मात्राएँ' या 'अपञ्चीकृत भूत' कहते हैं। इन्हीं से क्रमशः सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है, जैसा आगे कहा गया है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

आकाश, आदि भूतों में, प्रत्येक में भी, तो तीनों गुण हैं। जब इनमें पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंश का प्राधान्य होता है, तब पृथक्-पृथक् **व्यष्टि**-रूप में आकाश के सात्त्विक अंश से **श्रोत्र** इन्द्रिय, वायु के सात्त्विक अंश से **त्वग्** इन्द्रिय; तेजस् के सात्त्विक अंश से **चक्षु** इन्द्रिय, जल के सात्त्विक अंश से **रसना** इन्द्रिय तथा पृथिवी के सात्त्विक अंश से **घ्राण** इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। ये पाँच **ज्ञानेन्द्रियाँ** हैं। इनके द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का ज्ञान होता है।

अन्तःकरणों की उत्पत्ति

आकाश आदि पाँचों भूतों के **समष्टि** सात्त्विक अंशों से 'निश्चयात्मिका' अन्तःकरण की **'बुद्धि'** नाम की वृत्ति, 'संकल्प-विकल्पात्मिका' अन्तःकरण की **'मन'** नाम की वृत्ति, 'अनुसन्धानात्मिका' अन्तःकरण की **'चित्त'** नाम की वृत्ति तथा 'अभिमानात्मिका' अन्तःकरण की **'अहंकार'** नाम की वृत्ति उत्पन्न होती है। ये वृत्तियाँ प्रकाशस्वरूप हैं, इसी से मालूम होता है कि ये सात्त्विक अंश से उत्पन्न हैं।

विज्ञानमय कोष—इनके उत्पन्न होने के पश्चात् बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन से कोष के समान एक कार्यवस्तु शरीर में उत्पन्न होती है, उसे **'विज्ञानमय कोष'** कहते हैं।

जीव

'**विज्ञानमय कोष**' से घिरा हुआ चैतन्य **'जीव'** कहा जाता है। यही इस लोक से परलोक जाता है। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि जाना, आना आदि क्रियाएँ चैतन्य में नहीं होतीं। चैतन्य तो व्यापक तथा निष्क्रिय है। वह 'विभु' होने के कारण सर्वत्र रहता ही है। अतएव वस्तुतः 'विज्ञानमय कोष' ही चैतन्य की सहायता से इस लोक तथा परलोक में जाता और आता है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को पाकर 'विज्ञानमय कोष' में क्रिया उत्पन्न होती है। यही **जीव** कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी है। यही इस संसार में रह कर भोग करता है। इसी के जन्म और मरण होते हैं। यही वद्ध है। इसी की मुक्ति होती है।

मनोमय कोष—ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर 'मन' शरीर के अन्दर एक कोष के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को घेर लेता है। उसे **'मनोमय कोष'** कहते हैं। यह कोष 'विज्ञानमय कोष' की अपेक्षा अधिक जड़ होता है। इसमें प्रधान रूप से संकल्प-विकल्प-वृत्ति होती है।

आकाश आदि भूतों के रजस् अंश से, पृथक्-पृथक् **व्यष्टि**-रूप में क्रम से, **कर्मेन्द्रियाँ** उत्पन्न होती हैं। अर्थात् रजोगुण-प्रधान आकाश से **'वाग्-इन्द्रिय'**, रजोगुण-प्रधान वायु से **'हाथ'**, रजोगुण-प्रधान अग्नि से **'पैर'**, रजोगुण-प्रधान जल से **'पायु'-इन्द्रिय** तथा रजोगुण-प्रधान पृथिवी से **'उपस्थ-इन्द्रिय'** की उत्पत्ति होती है।

कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति

आकाश आदि भूतों के मिलित, अर्थात् **समष्टि**-रूप में, रजस् अंश से ऊपर की तरफ चलने वाली, नासिका के अग्र भाग में रहने वाली **'प्राण'**, नीचे की तरफ जाने वाली, पायु आदि स्थानों में रहने वाली **'अपान'**, चतुर्दिक् चलने वाली, समस्त शरीर में रहने वाली **'व्यान'**, कण्ठ में रहने वाली, ऊर्ध्वगमनशील, बाहर निकल जाने वाली **'उदान'** तथा खाये-पिये गये पदार्थों को समुचित परिपाक कर रस, रुधिर, आदि धातुओं में परिणत करने वाली **'समान'** नाम की वायु उत्पन्न होती है। इन पाँचों के अतिरिक्त 'नाग', 'कूर्म', 'कृकर', 'देवदत्त' एवं 'धनञ्जय' नाम के वायु के और भी पाँच प्रभेद कुछ लोग मानते हैं, किन्तु विद्वानों का कहना है कि ये उपर्युक्त पाँच वायुओं में ही अन्तर्भूत हैं।

पांच प्राणों की उत्पत्ति

प्राणमय कोष—पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ उपर्युक्त ये पाँच वायुएँ मिलकर एक कोष के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को कोष की तरह आच्छादित किये हैं। इसी को **'प्राणमय कोष'** कहते हैं।[1]

ये ही पाँच कोष हैं जो हमारे शरीर के भीतर भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, जैसे **'विज्ञानमय कोष'** ज्ञानशक्तिमान् होकर 'कर्ता' का कार्य करता है। इसमें **'ज्ञानशक्ति'** प्रधान है। **'मनोमय कोष'** में **'इच्छाशक्ति'** प्रधान है। यह 'करण' का कार्य करता है। **'प्राणमय कोष'** में **'क्रियाशक्ति'** का प्राधान्य है। यह 'कार्य'-रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है।

---

[1] **ये सभी कोष 'माया' के ही विकास हैं। चैतन्य तो सर्वत्र एक ही रूप में रहता है। उपाधि के रूप में ये भिन्न-भिन्न कोष 'चैतन्य' को घेर लेते हैं और चित् के द्वारा प्रतिबिम्बित होकर अपने स्वभाव के अनुकूल क्रिया करते हैं।**

सूक्ष्म शरीर—इन तीनों कोषों के एकत्र होने से एक **'सूक्ष्म शरीर'** बन जाता है। इसमें 'सत्रह अंग' होते हैं—'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ', 'पाँच कर्मेन्द्रियाँ', 'पाँच वायुएँ' तथा 'बुद्धि' और 'मनस्'। इसी शरीर में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति, ये तीनों शक्तियाँ रहती हैं और अपने-अपने अनुरूप कार्य करती हैं।

समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर—यह भी सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न है। यही इसकी **व्यष्टि** अवस्था है, किन्तु समस्त विश्व के सूक्ष्म शरीरों की एक **समष्टि** अवस्था भी होती है। सूक्ष्म शरीरों की इस **समष्टि** से घिरा हुआ चैतन्य **'सूत्रात्मा'** या **'हिरण्यगर्भ** या **'प्राण'** कहा जाता है। इस समस्त विश्व के समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर में 'ज्ञानशक्ति', 'इच्छाशक्ति' तथा 'क्रियाशक्ति', ये तीनों शक्तियाँ रहती हैं। स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा यह सूक्ष्म है, वासनाएँ इसमें अभिव्यक्त रूप में रहती हैं, इसलिए यह 'स्वप्नावस्था' के समान है। इसी लिए 'स्थूल प्रपञ्च का लय-स्थान' भी यह कहा जाता है।

सूत्रात्मा

व्यष्टिरूप सूक्ष्म शरीर—इसी सूक्ष्म शरीर की **व्यष्टि** से आच्छन्न चैतन्य **'तैजस'** कहा जाता है। इसमें भी ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति, ये तीनों शक्तियाँ हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा यह सूक्ष्म है। विज्ञान आदि तीनों कोष इसमें हैं। वासनाएँ इसमें प्रबुद्ध रहती हैं, इसलिए यह 'स्वप्न-अवस्था' के समान है। इसमें 'स्थूल शरीर का लय' हो जाता है।

तैजस

ये दोनों, **सूत्रात्मा** और **तैजस** इस स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म मनोवृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। **सूत्रात्मा** और **तैजस** में भी केवल उपाधियों के कारण भेद है, चैतन्य तो दोनों अवस्थाओं में समान ही है।

पञ्चीकरण—'अपञ्चीकृत' भूतों का स्वरूप सूक्ष्म है। इससे पुनः विकसित होकर जड़ 'प्रकृति' या 'माया' स्थूल स्वरूप को प्राप्त करती है। यह अवस्था **'पञ्चीकृत'** की अवस्था है। भूतों के **'पञ्चीकरण'** की प्रक्रिया नीचे दी जाती है—

पाँच भूतों में प्रत्येक को दो समान भागों में बाँट दिया जाय। इस प्रकार दस भाग होते हैं। उनमें से प्रत्येक के प्रथम भाग का चार समान भागों में विभाग कर, प्रत्येक भाग में अपने से इतर चार भूतों के चार भागों को एक-एक में मिला देने से आधा में तो चार भूत होंगे और आधा में वह भूत स्वयं रहेगा। इस प्रकार

पुन: इनके संघटन से पाँच-पाँच का एक-एक **'संघात'** हो जाता है। ये ही **'पञ्चीकृत'** भूत हैं।[1] इनको समझाने के लिए नीचे एक चित्र दिया जाता है—
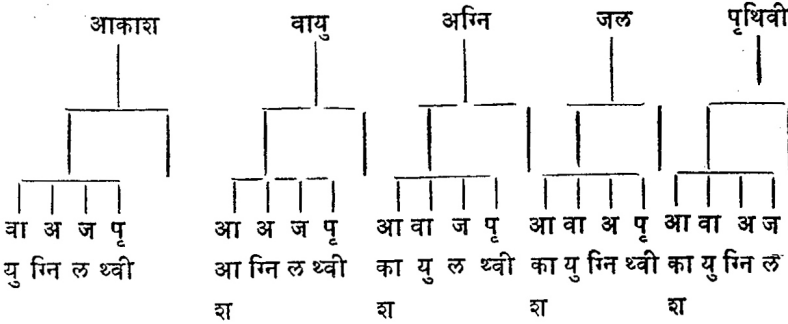
= $\frac{1}{8}$ (वा + अ + ज + पृ) + $\frac{1}{2}$ आकाश = पञ्चीकृत स्थूल आकाश
= $\frac{1}{8}$ (आ + अ + ज + पृ) + $\frac{1}{2}$ वायु = पञ्चीकृत स्थूल वायु
= $\frac{1}{8}$ (आ + वा + ज + पृ) + $\frac{1}{2}$ अग्नि = पञ्जीकृत स्थूल अग्नि
= $\frac{1}{8}$ (आ + वा + अ + पृ) + $\frac{1}{2}$ जल = पञ्जीकृत स्थूल जल
= $\frac{1}{8}$ (आ + वा + अ + ज) + $\frac{1}{2}$ पृथ्वी = पञ्चीकृत स्थूल पृथ्वी

इस प्रकार अभिव्यक्त हुए पञ्चीकृत स्थूल-भूतों में क्रमश: 'आकाश' में **शब्द,** 'वायु' में **शब्द** और **स्पर्श,** 'अग्नि' में **शब्द, स्पर्श** एवं **रूप,** 'जल' में **शब्द, स्पर्श, रूप** और **रस** तथा 'पृथ्वी' में **शब्द, स्पर्श, रूप, रस** तथा **गन्ध** अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं पञ्चीकृत भूतों से क्रमश: स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम कार्यों की अभिव्यक्ति होकर सात ऊपर और सात अधोलोंको को मिलाकर चौदह भुवनों से युक्त **ब्रह्माण्ड** की तथा उसमें रहने वालों के चार प्रकार के शरीरों की एवं उनके भोजनादि के योग्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है।

स्थूल शरीर

स्थूल शरीर—ये चार प्रकार के होते हैं। इनमें जो **'जरायु'** से उत्पन्न हो, वे **'जरायुज'** कहे जाते हैं, जैसे मनुष्य, पशु, आदि। जो **'अण्डों'** से उत्पन्न हों, वे **'अण्डज'** हैं, जैसे पक्षी, पन्नग, आदि। जो **'स्वेद'**, 'गर्मी', 'धर्म', आदि से निकलें, वे **'स्वेदज'** कहे जाते हैं, जैसे मशक, यूका, आदि तथा जो पृथ्वी को फोड़कर निकलें, उन्हें **'उद्भिज्ज'** कहते हैं, जैसे वृक्ष, लता, आदि।

---

[1] **पञ्चदशी, १-२७।**

समष्टि स्थूल प्रपञ्च—इन चारों प्रकार के स्थूल शरीरों के भी व्यष्टि और समष्टि रूप हो सकते हैं। इनकी **समष्टि** से जब चैतन्य घिर जाता है, तो वह **'वैश्वानर'** या **'विराट्'** कहा जाता है। इस स्थूल रूप में विकसित विराट् स्वरूप का यही समष्टिरूप **'स्थूल शरीर'** है। यह 'जाग्रत्' भी कहा जाता है। यही **'अन्नमय कोष'** है।

विराट्

व्यष्टि स्थूल प्रपञ्च—इन स्थूल शरीरों की 'व्यष्टि' से आच्छन्न चैतन्य **'विश्व'** कहा जाता है। इसमें सूक्ष्म शरीर के अभिमान के साथ-साथ स्थूल शरीर की भी भावना रहती है। अन्नमय होने के कारण यह **'अन्नमय कोष'** है। यह प्रकृति का जाग्रत् स्थूल शरीर स्वरूप है। इसमें स्थूल रूप में भोग होता है।

विश्व

विश्व तथा **वैश्वानर** रूप स्थूल शरीरों से आवृत 'चैतन्य' ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरणों के द्वारा स्थूल विषयों का भोग करता है। इन दोनों में भी भेद केवल उपाधियों के द्वारा मालूम होता है। तात्त्विक वस्तु तो दोनों में वही एक 'चैतन्य' है।

जड़ प्रकृति का यह स्थूलतम स्वरूप है। इस प्रकार 'कारण', 'सूक्ष्म' तथा 'स्थूल' प्रपञ्चों के एक-दृष्टि के विषय होने से समष्टि-रूप में एक **'महान् प्रपञ्च'** होता है। इन प्रपञ्चों में रहने वाले 'ईश्वर'-'प्राज्ञ', 'सूत्रात्मा'-'तैजस' तथा 'वैश्वानर'-'विश्व', इन सबमें भी कोई वास्तविक भेद नहीं है। भेद तो है केवल उपाधियों के कारण, जैसे—मसी-पात्र में रहने वाला 'आकाश', घट में रहने वाला 'आकाश' तथा बहुत बड़े हॉल में रहने वाला 'आकाश', इन तीनों में कोई भी भेद नहीं है। 'आकाश' तो समान रूप में सभी में विद्यमान है। देखने में जो भेद है वह केवल उपाधियों के कारण। ये सभी भिन्न-भिन्न उपाधियों से अवच्छिन्न 'चैतन्य' के स्वरूप हैं। साथ ही साथ 'निर्विशेष' एवं सब प्रकार की उपाधियों से रहित **तुरीय चैतन्य** भी है। उसके साथ भी उपाधियों से अवच्छिन्न चैतन्य का 'अभेद' ही है। उपाधियों को हटा देने से 'चैतन्यमात्र' रह जाता है और 'चैतन्य' में तो किसी प्रकार का कोई भी भेद नहीं है।

'महान् प्रपञ्च'

अविद्या के कारण ये सभी स्वरूप भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं। 'आवरण-शक्ति' के कारण 'निर्विशेष' ब्रह्म का ज्ञान होता नहीं, साथ ही साथ उपर्युक्त प्राकृतिक उपाधियों के भेदों का, 'विक्षेप-शक्ति' के प्रभाव से उस अधिष्ठानस्वरूप

अज्ञान से आवृत 'ब्रह्म' में आरोप रहता है। इसी से यह प्रत्येक अवस्था में भिन्न-भिन्न मालूम होता है, परन्तु वस्तुतः सर्वत्र एकमात्र चैतन्य एक ही रूप में विद्यमान है। इसी लिए तो श्रुति कहती है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**।[1]

'वस्तु' या यथार्थ तत्त्व के स्वरूप को माया की 'आवरणशक्ति' के प्रभाव से न देखकर और 'विक्षेपशक्ति' के प्रभाव से उसी 'वस्तु' को भिन्न-भिन्न रूपों में समझना ही **'आरोप'** है। यही **'अध्यास'** भी कहलाता है, जैसा ऊपर कहा गया है।

अध्यास या आरोप

यह जो **अध्यारोप** है, 'आत्मा' में 'अनात्मा' की भावना है, अर्थात् **अध्यास** है, उसे दूर कर, जिस प्रकार सर्प की भावना को दूर कर पुनः रज्जु की ही भावना स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा का साक्षात्कार करने पर, पुनः कूटस्थ, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, स्वप्रकाश, चिदानन्द-स्वरूप 'आत्मा' के ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाना, उस 'अध्यारोप' का **'अपवाद'** है।

अपवाद

वेदान्ती अद्वैत-दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा में तादात्म्य मानते हैं। भेद तो कल्पित है, 'उपाधि' के कारण है। उस 'उपाधि' का नाश होते ही **'जीव'** अपने स्वरूप को प्राप्त होता है और वही स्वरूप तो **'ब्रह्म'** या **'परमात्मा'** है। इसी बात को श्रुति ने अनेक महावाक्यों के द्वारा समझाया है, जैसे—**'तत्त्वमसि'** का अर्थ।

'तत् त्वम् असि'। आचार्य अपने शिष्य को कहते हैं—**'त्वं तत् असि'**—तुम वह हो। सामने बैठा हुआ, शरीरधारी, सीमित ज्ञान वाला, शरीर, इन्द्रिय आदि से युक्त पुरुष (=**तुम**) परोक्ष, सर्वव्यापी, चित्-आनन्द-स्वरूप, वह=तत्=**ब्रह्म** हो।

ये दोनों 'त्वम्' और 'तत्' परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त होते हुए भी अभिन्न कैसे हो सकते हैं? साधक इसको समझने के लिए प्रयत्न करता है। अभ्यास के द्वारा उसे यह विश्वास हो जाता है कि **तुम** बराबर है **'चैतन्य+ऊपर जितने सीमित जीव के गुण कहे गये हैं'** तथा **'वह'** बराबर है **'चैतन्य+ऊपर जितने अपरिच्छिन्न ब्रह्म के गुण कहे गये हैं'**। इन दोनों भावनाओं में 'चैतन्य' तो समान रूप से दोनों में ही है। उसमें कोई भेद या विरोध नहीं है। दोनों के गुणों में परस्पर अत्यन्त भेद है। अतएव जब आचार्य कहते हैं—**'त्वं तत् असि'**, तब उनके कहने का अभिप्राय यही है कि 'त्वं' का **'चैतन्य'** और 'तत्' का **'चैतन्य'** एक ही है। अन्य गुण जो दोनों

---

[1] छान्दोग्य, ३-१४-१।

के सम्बन्ध में कहे जाते हैं, वे तुच्छ हैं। तस्मात् उन भेदक तुच्छ बातों का परित्याग कर एक चैतन्य दूसरे चैतन्य से भिन्न नहीं है, दोनों एक हैं। यह **जहत्-अजहत्-लक्षणा**[1] के द्वारा **'तत्त्वमसि'** इस 'महावाक्य' का वाक्यार्थ-बोध हो जाता है।

इस प्रकार साधक आचार्य के उपदेश के प्रभाव से **'तत्त्वमसि'**, इस 'महावाक्य' के द्वारा अपने को साक्षात् ब्रह्म समझने लगता है। तब उसके मन में भावना होती है— **'सोऽहं ब्रह्म'** तथा पश्चात् **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ)। अर्थात् आचार्य के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, **अध्यारोप** और उसके **अपवाद** 'को अनुभव कर, **'तत्'** और **'त्वम्'** दोनों के अर्थ को साक्षात् अनुभव कर, ब्रह्म का अखण्ड-बोध प्राप्त कर, अपने 'जीव' को नित्य, शुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव का अनुभव करने लगता है। पश्चात् 'ब्रह्म' को विषय बना कर **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ)—इस स्वरूप की, अखण्डाकार आकार वाली, उसकी **'चित्त-वृत्ति'** हो जाती है।

उस अखण्डाकार आकार वाली 'चित्त-वृत्ति' का एकमात्र लक्ष्य विषय तो अब 'ब्रह्म' ही है। अतएव उसी की ओर लक्ष्य कर वह 'वृत्ति' प्रवृत्त होती है। ब्रह्म

---

[1] 'शब्द' की एक प्रकार की 'वृत्ति' है, जिसे 'लक्षणा' कहते हैं। जब 'अभिधा' वृत्ति से किसी वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होता, तब उससे सम्बद्ध एक दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली जो दूसरी वृत्ति होती है, उसे 'लक्षणा' कहते हैं। जैसे—'गंगायां घोषः' गंगा की धारा में अहीरों का एक छोटा-सा गाँव है। इस वाक्य का, अभिधावृत्ति के द्वारा, कोई समन्वित अर्थ नहीं होता, इसलिए 'लक्षणा' से 'गंगा' शब्द का 'गंगा की धारा' अर्थ न करके 'गंगा का तीर' अर्थ किया जाता है। इसमें 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ का परित्याग किया जाता है और यह 'जहत्-लक्षणा' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है), इस वाक्य के मुख्यार्थ से कोई समन्वित अर्थ नहीं निकलता। लाल रंग जड़ है, वह दौड़ नहीं सकता, इसलिए 'लक्षणा' के द्वारा 'लाल रंगवाला घोड़ा दौड़ता है', ऐसा अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'मुख्यार्थ' का भी ग्रहण होता है। अर्थात् 'लाल रंग को साथ लेकर घोड़ा दौड़ता है।' यह 'अजहत्-लक्षणा' कहा जाता है। उस वाक्य में, जिसमें 'छोड़ा' भी जाय और 'न भी छोड़ा जाय'—जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है), विरुद्ध धर्म का परित्याग और समान वस्तु का ग्रहण होता है। इसे ही 'जहत्-अजहत्-लक्षणा' कहते हैं।

के साथ साक्षात्कार होने के पूर्व ही उस **'वृत्ति'** को, ब्रह्म को घेरे हुए **'अज्ञान'** का, सामना करना पड़ता है। उस 'वृत्ति' के साथ चित् का प्रतिबिम्ब भी रहता ही है। उसके प्रभाव से वह **'चित्प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति'** उस अज्ञान का नाश कर देती है।

अज्ञान का नाश

'चित्त' और उसकी 'वृत्ति' भी तो अज्ञान के ही स्वरूप हैं। अतएव **कारण के नाश से कार्य** का नाश होता ही है, इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म को घेरे हुए अज्ञान के नाश के साथ-साथ 'चित्त' और उसकी 'वृत्ति' का भी नाश हो जाता है। इसके पश्चात् वह चित्-प्रतिबिम्ब लौटकर पुनः ब्रह्मस्वरूप का हो जाता है और अन्त में एकमात्र 'ब्रह्म' रह जाता है। यही **'जीव'** और **'ब्रह्म'** का **ऐक्य** है। यही **ब्रह्मसाक्षात्कार** है। यही वेदान्त का परम लक्ष्य है।

चित्तवृत्ति का नाश

ब्रह्मसाक्षात्कार

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योगसाधन का अभ्यास सर्वथा अपेक्षित है। 'श्रवण', 'मनन' और सर्वाङ्गपूर्ण 'निदिध्यासन' से युक्त समाधि के द्वारा ही चित्त-वृत्ति का शोधन हो सकता है और तभी वह चित्त-वृत्ति ब्रह्म-गत अज्ञान का नाश करने में समर्थ हो सकती है। इसलिए साधक को **'अष्टांग योग'** का अभ्यास करना चाहिए।

योगसाधना की आवश्यकता

ऊपर यह कहा गया है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के साथ-साथ समस्त अज्ञान तथा उसके कार्यों का भी नाश हो जाता है। चित्त में जो 'प्रतिबिम्ब' था, वह भी 'ब्रह्मस्वरूप' हो जाता है। पुनः 'ब्रह्म' को छोड़ कर और तो कुछ भी नहीं बचता। जीव और ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। यही तो शांकर वेदान्त की **मुक्ति** है।

मुक्ति

जीव और ब्रह्म के एक हो जाने से तथा उस जीव के लिए माया के विलीन हो जाने से, **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन',**[1] यह श्रुतिवाक्य प्रमाणित हो जाता है। इसके परे तो 'गन्तव्य' पद नहीं रहता। अतएव इसी अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करने पर साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है और दुःख से सर्वदा के लिए छुटकारा भी प्राप्त कर लेता है।

जीव और ब्रह्म का ऐक्य

---

[1] अध्यात्मोपनिषद्, ६३।

तत्त्वज्ञानियों का अनुभव है कि यह 'ब्रह्म' आनन्द-स्वरूप है। श्रुति में भी इसके लिए अनेक प्रमाण हैं—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"[1], 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म'[2], 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'[3], 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[4] इत्यादि। इस आनन्द को पाकर साधक 'आनन्दमय' हो जाता है। न्यायवैशेषिक में 'सत्' रूप की, सांख्य-योग में 'चित्' रूप की तथा वेदान्त में 'आनन्द' रूप की अभिव्यक्ति होती है। यह आनन्द का साक्षात्कार नित्य है। अतएव मुक्तावस्था में सभी उपाधियों से रहित होकर 'जीव' ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता। आनन्द तो है, किन्तु आनन्द का अनुभव करने वाला कोई नहीं है। इसी लिए कहा है कि ब्रह्म 'अवाङ्मनसगोचर' है।

जीवन्मुक्ति

साधक को यह पूर्व से ही मालूम है कि प्रारब्ध कर्म के क्षय के बिना 'मुक्ति' नहीं मिलती। इसलिए शांकर वेदान्त में भी यदि 'संचित' और 'क्रियमाण' कर्म के नाश होने पर जीवितावस्था ही में तत्त्वज्ञान हो जाय, तो वह जीव प्रारब्ध कर्म के क्षय पर्यन्त शरीर को पूर्ववत् धारण किये रहेगा। इस अवस्था को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। अब साधक नवीन कर्म नहीं करेगा, जिससे आगे पुनः उसे कोई नवीन शरीर धारण करना पड़े। 'जीव' ज्ञान के द्वारा सभी 'संचित' और 'क्रियामाण' कर्मोंका नाश कर देगा, तथापि ज्ञानोदय के पूर्व जिस प्रकार का जीवनयापन वह करता था उसी प्रकार से जीवन को अनासक्त हो कर व्यतीत करेगा। प्रारब्ध कर्म' के क्षय होने पर, शरीर का पतन हो जायगा और वह सर्वथा 'मुक्त' हो जायगा।

प्रमाण विचार

वेदान्त में भी एक प्रकार से, व्यावहारिकी सत्ता को ध्यान में रखने से, यह कहा जा सकता है कि 'दो ही तत्त्व' हैं। एक पारमार्थिक तत्त्व—'ब्रह्म' और दूसरा व्यावहारिक तत्त्व—'जगत्' या 'माया'। ब्रह्मके ज्ञान से ही परम पद की प्राप्ति होती है। परम पद तो ब्रह्म ही है, उसका ज्ञान तो श्रुति-प्रमाण से होता है। उसके ज्ञान के

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-४।

[2] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-४।

[3] तैत्तिरीय उपनिषद्, ३-६।

[4] बृहदारण्यक उपनिषद्, ३-९-२८।

लिए तो एकमात्र प्रमाण है—**शब्द**। इसलिए यद्यपि वस्तुतः वेदान्त में अन्य प्रमाणों के विचार की आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु 'ब्रह्म' का ज्ञान बिना 'माया' की सहायता के, साधारण लोगों के लिए, हो नहीं सकता। ज्ञानियों के लिए तो यथार्थ में 'एक' ही 'प्रमाण' है। परन्तु 'माया', अर्थात् प्रपञ्च का ज्ञान तो प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से ही होता है। अतएव यद्यपि ब्रह्म को जानने के लिए लौकिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है, तथापि जगत् की वस्तुओं के ज्ञान के लिए तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का भी वेदान्त में निरूपण किया जाना आवश्यक है, अन्यथा 'प्रपञ्च' का ज्ञान नहीं होगा और 'ब्रह्म' का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा।

प्रमाणों की संख्या

इसी दृष्टि को लेकर वेदान्त में भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि, ये छः प्रमाण माने जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमा का करण 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। वेदान्त में प्रत्यक्ष प्रमा तो 'चैतन्य' ही है। यह ब्रह्म, या चैतन्य, 'अपरोक्ष' है। इसके लिए श्रुति प्रमाण है—**'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'**[1]।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

वेदान्त में भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए सांख्य के समान चित्-प्रतिबिम्ब के सहित 'चित्तवृत्ति' अहंकार और मन को लेकर इन्द्रियों के द्वारा विषय के साथ सम्पर्क में आते ही विषयाकाराकारिता हो जाती है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।[2] विषय जड़ है, अतएव चित्त में प्रतिबिम्बित जो चित् है वह विषय-प्रदेश में जाकर न केवल विषयगत अज्ञान का नाश करता है, किन्तु जड़ विषय को भी प्रकाश में लाता है। तभी उस जड़ विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

जड़ वस्तु का प्रत्यक्ष

'ब्रह्म' के प्रत्यक्ष के लिए, जैसा ऊपर कहा गया है, 'अध्यारोप' और 'अपवाद' के द्वारा अपने में आत्मा का अनुभव करने पर साधक की चित्-प्रतिबिम्बिता चित्तवृत्ति अपने अन्दर विद्यमान पर-ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त होती है। सबसे पहले वह 'चित्तवृत्ति' अज्ञान का नाश कर साथ ही साथ अपना भी नाश करती है। 'ब्रह्म' तो स्वप्रकाश है, उसे

ब्रह्म का प्रत्यक्ष

---

[1] बृहदारण्यक, ३-४-१।

[2] वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

प्रकाश में लाने के लिए किसी अन्य प्रकाश का प्रयोजन नहीं होता। अतएव चित्त का नाश होने पर बिछुड़ा हुआ वह प्रतिबिम्ब बादको स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। यही ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है।

यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक'। इन भेदों के लक्षण न्याय-वैशेषिक के लक्षण के समान हैं। पुनः प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—'जीवासाक्षी' तथा 'ईश्वरसाक्षी'। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'जीव' है और अन्तःकरणरूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य 'जीवसाक्षी' है। एक में अन्तःकरण 'विशेषण' है, जैसे—रूपविशिष्ट घट में 'रूप' विशेषण है और दूसरे में अन्तःकरण उपाधि है, जैसे—कर्णछिद्र से अवच्छिन्न आकाश 'श्रोत्र' है। यहाँ कर्णछिद्र 'उपाधि' है। अन्तःकरण जड़ है। इसके द्वारा घट, पट आदि विषयों का प्रकाश नहीं हो सकता, फिर इनका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। अतएव विषय को अवभासन के लिए चैतन्योपाधि की आवश्यकता होती है। यह **'जीवसाक्षी'** प्रत्येक आत्मा में है, इसलिए यह नाना है।

प्रत्यक्ष के भेद

जीवसाक्षी

मायोपहित चैतन्य को **ईश्वरसाक्षी** कहते हैं। यह एक ही है, क्योंकि उसकी उपाधिभूत माया एक ही है। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**, यहाँ बहुवचन का प्रयोग माया की शक्ति के लिए है, जो अनेक है। यह अनादि है, क्योंकि उसकी उपाधि भूत माया अनादि है। माया से अवच्छिन्न चैतन्य **'परमेश्वर'** है। माया के विशेषणरूप में रहने से **'साक्षित्व'** होता है। यही **'ईश्वरत्व'** और **'साक्षित्व'** में भेद है।[1]

ईश्वरसाक्षी

इस प्रकार **साक्षी** के दो प्रकार होने से प्रत्यक्ष ज्ञान में भी दो भेद हैं—**ज्ञेयगत** और **ज्ञप्तिगत**। 'ज्ञप्ति' तो स्वप्रकाश है, इसलिए 'ज्ञप्तिगत' प्रत्यक्ष का लक्षण है **'चित्त्वम्'**। ज्ञेयगत प्रत्यक्ष का निरूपण ऊपर कहा ही गया है।

पुनः प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—**इन्द्रियजन्य** और **इन्द्रिय से अजन्य**। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पृथक्-पृथक् जो साक्षात् ज्ञान हों, वे सभी **इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष** हैं। **'मन'** वेदान्तमत में इन्द्रिय नहीं है। अतएव सुख, दुःख आदि का जो प्रत्यक्ष है, वह **इन्द्रिय से अजन्य** है।

अद्वैत में मन इन्द्रिय नहीं

---

[1] वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

न्याय-वैशेषिक से भेद

घ्राण, रसना तथा त्वग् इन्द्रियाँ अपने स्थान में स्थित होकर ही ज्ञान उत्पन्न करती हैं, किन्तु चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियाँ स्वयं विषय के पास जाकर उस विषय का ज्ञान उत्पन्न करती हैं। 'श्रोत्र' चक्षु के समान सीमित है, इसलिए वह भी वीणा आदि के पास जाकर शब्द को ग्रहण करती है। यही कारण है कि 'वीणा के शब्द को हम ने सुना', ऐसी प्रतीति होती है। इससे स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिकमत के समान **'वीचीतरंगन्याय'** या **'कदम्बमुकुलन्याय'** से कान तक आने में अनन्त शब्द की उत्पत्ति की कल्पना को वेदान्ती नहीं मानते।[1]

अनुमान

व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान **'अनुमिति'** है, उसके करण को **'अनुमान प्रमाण'** कहते हैं। न्याय-वैशेषिक की तरह ये लोग 'तृतीय लिंग परामर्श' को अनुमान नहीं मानते, क्योंकि वह 'अनुमिति' का हेतु नहीं है। व्याप्ति के स्मरण की भी आवश्यकता इन्हें नहीं है, उसमें गौरव है और मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

इनके मत में केवल **'अन्वयानुमान'** ही होता है। इसमें 'केवलान्वयी' तथा 'व्यतिरेक अनुमान' नहीं हो सकते।[2]

अन्य प्रमाणों में कोई विशेष भेद नहीं है। जिस प्रकार मीमांसकों ने उनका अर्थ किया है उसी प्रकार उन्हीं अर्थों को वेदान्ती लोग भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि **'व्यवहारे तु भाट्टनयः'** वेदान्तियों का सिद्धान्त है। इसलिए उनका विचार यहाँ नहीं किया गया।

आलोचन

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सांख्य के सिद्धान्तों को स्वीकार करके उसके अनन्तर 'वेदान्त-भूमि' का विचार किया जाता है। सांख्य ने 'आत्मा' को 'चित्स्वरूप' माना, उसे वेदान्तियों ने स्वीकार कर लिया।

आनन्द की खोज

किन्तु केवल चैतन्य में कोई आकर्षण नहीं है और जब तक वास्तव में 'ब्रह्म-तत्त्व' सर्वथा अपूर्व न होगा, तब तक इसके लिए लोग इतने व्याकुल क्यों हों? अतएव जिज्ञासा की अपेक्षा होती है कि इस

---

[1] वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

[2] वेदान्तपरिभाषा, अनुमानपरिच्छेद।

चित्स्वरूप में कोई ऐसा स्वरूप होना चाहिए जिसकी अनुभूति से पुनः किसी वस्तु की लालसा न रह जाय। ढूढ़ने पर जिज्ञासु को ज्ञात हो जाता है कि वह स्वरूप **'आनन्द'** है, जिसका पता 'सांख्य-भूमि' तक किसी को नहीं था। यही 'आनन्द' है, जिसके सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।'[1]

इस **आनन्द** को 'शांकरवेदान्त की भूमि' में जिज्ञासु प्राप्त कर आप्तकाम हो जाता है। **'सच्चिदानन्दं ब्रह्म'**[2] की अनुभूति उसे अपने ही शरीर में हो जाती है।

शंकराचार्य और माया

शंकराचार्य का लक्ष्य अद्वैत की स्थापना है। 'ब्रह्म' ही 'अद्वैत तत्त्व' है। यह तो अनादि काल ही से सर्वथा सिद्ध है। केवल अज्ञान से जो वह आच्छादित है, उस आच्छादन को दूर करना आवश्यक है, फिर वह ब्रह्म स्वतः सिद्ध है, स्वप्रकाश है, उसे जानने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। वह आच्छादन ही **'माया'** है। शंकर ने 'माया' को **'न सत् और न असत्'** कहा है। 'ब्रह्म' से सर्वथा विलक्षण होने पर भी 'माया' शशविषाण के समान 'न असत्' है और न ब्रह्म के समान 'सत्' ही है। इसलिए उसे **'अनिर्वचनीया'** कहा है। यह भी सत्य है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी अन्य **'वस्तु'** परमार्थ-रूप में वेदान्तमत में सत्य नहीं है। फिर क्या प्रलय में माया ब्रह्म में लीन हो जाती है? यदि लीन हो जाती है, तो पुनः उससे भिन्न क्यों है? और फिर अत्यन्त विलक्षण ही कैसे है? यदि कहा जाय कि शांकर वेदान्त के अनुसार मोक्षावस्था में **'माया'** नहीं रहती, केवल अद्वितीय **'ब्रह्म'** ही रहता है, तो विवर्तस्वरूप इस माया को तुच्छ और असत् ही क्यों नहीं कह देते? है तो वास्तव में शांकर वेदान्त के अनुसार 'असत्' ही, क्योंकि एकमात्र 'सत्' वस्तु तो **'ब्रह्म'** ही है। परन्तु शंकराचार्य 'माया' को तुच्छ' कह कर परित्याग करने को प्रस्तुत नहीं हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि शांकर वेदान्त को वस्तुतः 'माया' से छुटकारा नहीं है।

---

[1] ३-६।

[2] **द्विपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्, १-३।**

वह ब्रह्म के समान, किसी न किसी रूप में, 'अनिर्वचनीया' ही होकर, रहती है अवश्य। फिर सर्वथा अद्वैत की सिद्धि कहाँ हो सकी ? हाँ, इतना अवश्य है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा शांकर वेदांत की भूमि सूक्ष्म है और यहाँ पहुँच कर जीव और परमात्मा या ब्रह्म के सम्बन्ध में बहुत स्पष्टीकरण हो जाता है। इस भूमि में साधारण लोगों के लिए अद्वैत का प्रतिपादन भी किसी तरह हो जाता है, परन्तु फिर भी 'माया' के सम्बन्ध से सर्वथा मुक्त होने के लिए जिज्ञासु की प्रवृत्ति शांकर वेदान्त में निवृत्त नहीं हो सकी। जिज्ञासु सर्वतो भावेन 'अद्वैत' की खोज में, **'पूर्णता'** की जिज्ञासा में, **'अखण्ड तत्त्व'**[1] को ढूढ़ने में, लगा ही है।

अधिकारी होना

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि वेदान्त को समझने के लिए जिज्ञासु को विधिपूर्वक वेद तथा छः वेदांगों का अध्ययन करना आवश्यक है, अन्ततः इनके तत्त्वों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना तो उचित ही है। उसे काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर नित्य और नैमित्तिक कर्म को करते हुए, प्रायश्चित्त, उपासना, आदि का अनुष्ठान करने से, अन्तःकरण के मलों को दूर करना भी आवश्यक है, जिससे अन्तःकरण स्वच्छ और शुद्ध हो जाय। पश्चात् नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेकज्ञान, इस लोक तथा परलोक में प्राप्त फलों से विरक्त, 'शम', 'दम', 'उपरति', 'तितिक्षा', 'समावान' (समाधि) तथा 'श्रद्धा', इन अष्टांग योगों से मुक्त होना आवश्यक है। अन्त में मुक्ति के लिए इच्छा भी होनी आवश्यक है।

इस प्रकार जो अपने को योग्य बनायेगा, वही वेदान्त के अध्ययन करने का योग्य अधिकारी होगा। वेदान्त के विषय अनुभव करने के लिए हैं। साक्षात् अनुभूति न होने से ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं होगा।

अद्वैतवाद का सिंहावलोकन

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि भारतवर्ष की विचारधारा में अद्वैतवाद का इतिहास बहुत प्राचीन है। उपनिषदों में तो अद्वैतमत की प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ हैं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतवाद की ही मुख्य विचारधारा बहती हुई दिखाई देती हैं। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी अद्वैतमत का समथन दिखाई पड़ता है।

---

[1] **'पूर्णमद्वयमखण्डचेतनम्'-वराहोपनिषद्, ३-८।**

बौद्धदर्शन में विज्ञानवादी तथा शून्यवादी अद्वैतमत के ही प्रतिपादक थे। इसी प्रकार शाक्त और शैवागम में भी अद्वैतमत का ही प्राधान्य है। जैनमत में भी समन्तभद्र[1] ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है। समन्तभद्र शंकराचार्य से प्राचीन थे। 'विवर्त' शब्द का प्रयोग भवभूति ने भी किया है और सम्भव है कि शंकर के पूर्व में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ हो। इन बातों से यह स्पष्ट है कि दर्शनों का वर्गीकरण करने के बाद भी अद्वैतवाद के आदि प्रवर्तक शंकराचार्य नहीं हैं।

परन्तु इन सभी अद्वैतमतों में कुछ न कुछ भेद हैं और यह भेद होना भी स्वाभाविक है। सभी आचार्यों का एक दृष्टिकोण तो है नहीं। 'गौडपाद' शंकर के परम गुरु थे। अपनी माण्डूक्यकारिकाओं में इन्होंने भी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि बौद्ध-अद्वैतवाद का प्रभाव गौडीपाद की कारिकाओं में स्पष्ट है और उसका प्रभाव शंकराचार्य पर भी पड़ा है। परन्तु प्राचीन दार्शनिक विचारधाराओं के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि शंकर के ऊपर बौद्धमत का प्रभाव नहीं पड़ा। शंकर उपनिषदों के पूर्ण ज्ञाता थे। दार्शनिक तत्त्वों की उन्हें साक्षात् अनुभूति अवश्य रही होगी। ऐसी स्थिति में वेद के मन्त्रों से लेकर उपनिषद् पर्यन्त जिस अद्वैतमत का प्रतिपादन है, उसीके आधार पर या उसीसे प्रभावित होकर शंकर ने अद्वैत का प्रतिपादन किया है, यही कहना उचित मालूम होता है। मुझे तो यही विश्वास है कि अन्य अद्वैतवादियों ने भी, चाहे वे बौद्ध हों या बौद्धेतर हों, उपनिषदों ही से प्रभावित होकर अपने-अपने ग्रन्थों में अद्वैतमत का प्रचार किया है। फिर भी कुछ न कुछ अपना-अपना वैलक्षण्य सभी के अद्वैतवाद में है ही।

उपर्युक्त भावनाओं के प्रभाव ही से कुछ विद्वानों ने तो 'शंकर' को प्रच्छन्न बौद्ध[2] भी कहा है। भास्कर ने तो शंकर के प्रति आक्षेप करते हुए कहा है—

> 'विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति'।[3]
>
> 'ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः'॥[4]

---

[1] 'अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते'—आप्तमीमांसा, २४।

[2] मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।

[3] भास्करभाष्य, १-४-२५।

[4] भास्करभाष्य, २-२-२९।

परन्तु यह विचार या आक्षेप आग्रहवश ही है और फिर अपने-अपने दृष्टिकोण से परम तत्त्व का प्रतिपादन करने में सभी स्वतन्त्र हैं।

गौडपाद ने—

> **अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।**
> **चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः ॥**
> **कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।**
> **भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥**[1]

इन कारिकाओं में **'आत्मा'** को 'अस्ति', 'नास्ति', 'अस्ति-नास्ति' तथा 'नास्ति-नास्ति', इन चार कोटियों से अस्पृष्ट कहा है, अर्थात् **'आत्मा'** न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् उभयात्मक है और न सत्-असत् से विलक्षण ही है। इस प्रकार की 'आत्मा' का जिन्होंने **दर्शन** किया है, वे ही 'सर्वदृक्', अर्थात् 'सर्वदर्शी' हैं। यही बात बहुत पहले बौद्ध विद्वान् नागार्जुन ने माध्यमिक-कारिका में कही थी—

> **न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।**
> **चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥**

इनके अतिरिक्त बहुत-से दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द हैं जिनका बौद्ध-दर्शन और शांकर मत, दोनों में एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। इन सभी समानताओं को देखते हुए भी यही कहना उचित है कि **'परमार्थतत्त्व'** के स्वरूप-विचार में दोनों मतों में भेद नहीं है। दोनों मतों ने व्यावहारिक सत्ता से भिन्न पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है। अतएव पारमार्थिक दृष्टि से जब परम तत्त्व का विचार ये दोनों करते हैं, तो अनेक प्रकार की समानता का होना दोनों में स्वाभाविक है। सम्भव है, **गौडपाद** ने बौद्धमत के शब्दों का प्रयोग जान बूझ कर किया हो। ये सभी बातें शंकर से भी छिपी नहीं थीं। शंकर ने भी उसी परम तत्त्व का पारमार्थिक दृष्टि से ही प्रतिपादन किया है। अतएव इन सबमें इस प्रकार की सदृश-भावना का होना कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वेदान्तियों ने बौद्धों से भावों का ग्रहण किया है। **'परम तत्त्व'** के स्वरूप का वास्तविक वर्णन तो

---

[1] कारिका, अलातशान्तिप्रकरण, ८३-८४।

शब्दों के द्वारा किया नहीं जा सकता, फिर भी शब्दों को छोड़कर अन्य कोई साधन भी नहीं है, जिसके द्वारा उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहा जा सके। 'परम तत्त्व' का स्वरूप ही ऐसा है कि जो कोई उसका प्रतिपादन करेगा, वह उसी प्रकार के शब्दों का तथा भावों का प्रयोग करेगा ही। किन्तु इसमें ज्ञानपूर्वक किसी ने दूसरे से ले लिया है, यह कहना उचित नहीं है।

मूल तत्त्व के सम्बन्ध में तो मुझे विश्वास है कि बौद्धों ने तथा शंकर ने उपनिषदों से ही अपनी-अपनी भावना की प्राप्ति की थी। यही गौडपाद के सम्बन्ध में भी कहना उचित है।

त्रयोदश परिच्छेद

काश्मीरीय शैव-दर्शन

अद्वैत भूमि

शांकर वेदान्त की **'माया'** के रहस्य को शांकर वेदान्त-भूमि में साधक नहीं समझ सका। **माया** कहाँ से आयी ? किस प्रकार चैतन्य को अज्ञान ने घेर लिया ? क्यों घेरा ? इत्यादि प्रश्न जिज्ञासु के मन में उदित होते हैं। 'माया' अनादि है। अनादि काल से 'ब्रह्म' उससे आच्छन्न है, 'जीव' और 'ईश्वर' भी अनादि हैं। यह सब समाधान होने पर भी मन में सन्तोष नहीं होता। वेदान्त का 'ब्रह्म' **चैतन्य** और **आनन्द-स्वरूप** है। सांख्य-पुरुष **चैतन्य**-स्वरूप है, परन्तु इस 'चैतन्य' या 'आनन्द' से क्या लाभ ? इनमें यदि **'कर्तृत्व'** ही न हो, तो आकर्षण ही क्या है ? यदि 'ब्रह्म' सर्वशक्तिमान् है, परन्तु उस शक्ति का कुछ भी उपयोग न किया गया या ब्रह्म स्वयं न कर सका, तो उस शक्ति से क्या प्रयोजन ? परन्तु 'कर्तृत्व' तो जड़ में मानते हैं, इसलिए साधक की जिज्ञासा की वेदान्त-भूमि में निवृत्ति न हो सकी। अतएव वह सांख्य के **पुरुष** तथा वेदान्त की **माया** या **ब्रह्म** को विशेष रूप से जानने के लिए अग्रसर होता है। दूसरी भूमि पर पहुँचते ही इन तत्त्वों को साधक बहुत विचित्र रूप में पाता है। वहाँ तो सभी वस्तुएँ **चिन्मय** देख पड़ती हैं। उस 'चिन्मय जगत्' में किसी से कोई भिन्न नहीं है। उस भूमि में एकमात्र तत्त्व है—**परम शिव**। वह 'चित्' है, उससे ही सभी चिन्मय पदार्थ आविर्भूत होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं। 'सृष्टि' तो उनका 'उन्मीलन'मात्र है। इसलिए कहा गया है—

'अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना'[1]

'उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्'[2]

---

[1] **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३२।**

[2] **प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ६।**

इस भूमि को **'शैव-दर्शन'** की भूमि या **प्रत्यभिज्ञा-भूमि** कहते हैं। इसी का संक्षेप में यहाँ विचार किया जाता है।

काश्मीरीय शैव-दर्शन को **'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन'** भी कहते हैं। यह बहुत प्राचीन दर्शन है। इसकी व्यापकता काश्मीर प्रान्त में थी। अतएव उसी नाम से यह प्रसिद्ध भी है।

नामकरण

इसे **'त्रिक-दर्शन'** तथा **'माहेश्वर-दर्शन'** भी प्राचीनों ने कहा है। यह शैवागम है। यह भी एक 'अद्वैत-वाद' है, जो **'ईश्वरा-द्वयवाद'** के नाम से प्रसिद्ध है। आगमाचार्य अभिनवगुप्त इसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में भी अज्ञान है, माया है, किन्तु यह स्वतन्त्र नहीं है। यह परम तत्त्व के अधीन है। उसकी लीला से इस अज्ञान का उदय और लय दोनों

ब्रह्माद्वैत तथा ईश्वराद्वयवाद में भेद

होते हैं। अज्ञान का उदय होने पर भी परम तत्त्व के स्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं होता। 'माया' का खेल तथा उससे सृष्टि, सभी उसी परम शिव की लीला है। वह तो आप्तकाम है, आत्माराम है, उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं। जगत् तो प्रयोजनरहित, उसका क्रीड़ामात्र है।

शांकर-दर्शन में माया या अज्ञान किसी के अधीन नहीं है। इसी में 'कर्तृत्व' है। **'ब्रह्म'** शुद्ध, साक्षी, अधिष्ठानरूप, चैतन्यस्वरूप, अकर्ता है, किन्तु शैव-दर्शन में 'माया' या अज्ञान शिव के अधीन है। **'परम शिव'** स्वतन्त्र, चिन्मय, ज्ञानस्वरूप तथा कर्तृस्वरूप है। शैव-दर्शन में 'विमर्श' ही शिव का स्वभाव है। 'ज्ञान' और 'क्रिया', दोनों ही उसके लिए एक समान हैं। "उसकी क्रिया ही **'ज्ञान'** है, क्योंकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा उसके कर्तृस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही **'क्रिया'** है। इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम **'इच्छा'** है। इसी कारण आत्मा इच्छामय है अथवा इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया, इन तीनों शक्तियों से युक्त स्वातन्त्र्यमय है।"[1]

शैव-दर्शन की 'आत्मा' सर्वदैव और स्वभाव से ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय को करने वाली है, परन्तु शांकर मत के ब्रह्म में ये बातें नहीं हैं। यही एक बहुत बड़ा भेद **ब्रह्माद्वैतवाद** और **ईश्वराद्वयवाद** में है।[2] यही कारण है कि ब्रह्मवाद में आत्मा का स्वस्फुरण उक्त प्रकार का न होने के कारण वह सत्य होते हुए भी असत् के समान है। 'महार्थमंजरी' टीका में महेश्वरानन्द ने कहा है—

---

[1] **महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज, कल्याण (शिवांक), पृष्ठ ८३।**

[2] **प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ २२-२३।**

यद्यपि ब्रह्माद्वैतवाद 'अद्वैत' है, किन्तु वस्तुतः वह 'द्वैत' ही समझा जाना चाहिए। यही बात 'संविदुल्लास' में भी लिखी गयी है।

आगमशास्त्र में **'अद्वैत'** का अर्थ है—'दो का नित्य **सामरस्य'**। तभी तो वह अखण्ड, पूर्ण हो सकता है, किन्तु शांकर वेदान्त में ब्रह्म 'सत्' है, परन्तु माया को शंकर 'सत्' नहीं कह सकते, फिर इन दोनों में 'सामरस्य' तो हो ही नहीं सकता। विमर्शशक्ति के समान 'माया' ब्रह्म की शक्ति नहीं हो सकती। **'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या'** यह तो वस्तुतः अद्वैत नहीं है, यह **द्वैत** या **द्वैताभास** हो सकता है।

दो का नित्य सामरस्य 'अद्वैत' है

इन भेद-द्योतक बातों को मन में रखकर साधक 'शैवागम' की अद्वैत भूमि में प्रवेश करता है।

साहित्य

इस शैव-दर्शन का साहित्य विस्तीर्ण है। इसके साठ-सत्तर **ग्रन्थ जम्मू-काश्मीर संस्कृत सिरीज़ में प्रकाशित** हुए हैं, जिनमें 'शिवसूत्र' तथा उस पर 'वृत्ति' भास्कर का 'वार्तिक', क्षेमराज की 'विमर्शिनी', 'प्रत्यभिज्ञाहृदय', 'तन्त्रालोक', 'तन्त्रसार', 'प्रत्यभिज्ञाकारिका', 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा', आदि बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, अभिनवगुप्त, भास्कर, क्षेमराज, जयरथ, आदि ज्ञानी विद्वान् इस मत के प्रचारक हुए हैं।

तत्त्वविचार

अन्य दर्शनों की तरह शैव-दर्शन का भी अपना एक विशेष क्षेत्र है। इस क्षेत्र में वस्तुतः एकमात्र तत्त्व है **'शिव'**। उसी से अन्य सभी तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। तथापि अभिव्यक्त तत्त्वों को लेकर शैव-दर्शन में निम्नलिखित तत्त्व हैं—सांख्य-दर्शन के स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति तथा पुरुष-तत्त्व पर्यन्त पचीस तत्त्वों को उसी क्रम में शैव-दर्शन भी मानते हैं।

तत्त्व

भेद इतना है कि सांख्य-दर्शन में 'पुरुष' और 'प्रकृति' नित्य हैं, स्वतन्त्र है, किन्तु शैव-दर्शन में ये 'अनित्य' हैं, 'परतन्त्र' हैं। 'प्रकृति'-तत्त्व यहाँ **'माया'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसके साथ पाँच तत्त्व हैं—**'कला'**, **'विद्या'**, **'राग'**, **'काल'** और **'नियति'**। ये पाँच माया के **'कञ्चुक'** हैं। इन पाँच तत्त्वों के अन्तःप्रवेश करने से इनके स्वरूप

का ज्ञान हो जाता है और माया से छुटकारा मिलता है। इसके बाद **'माया'** की अपेक्षा दूसरे सूक्ष्म तत्त्व में साधक प्रवेश करता है और शुद्ध सत्त्व-विशिष्ट **पुरुष 'शुद्ध विद्या'** के रूप में साधक को देख पड़ता है। इसी को **'सद्विद्या'** भी कहते हैं। यह **'सद्विद्या'**-तत्त्व **'ईश्वरतत्त्व'** में लीन हो जाता है और साधक को **'ईश्वरतत्त्व'** में अनुभव करने का अवसर मिलता है। **'ईश्वरतत्त्व' 'सदाशिवतत्त्व'** में, **'सदाशिवतत्त्व' 'शक्तितत्त्व'** में तथा **'शक्तितत्त्व' 'परम-शिवतत्त्व'** में परिणत हो जाता है। वहाँ पहुँचकर साधक शिव-शक्ति के सामरस्य का अनुभव करता है। यही **पूर्णावस्था** है। यही इस दर्शन का अपना परम लक्ष्य है।

इस प्रकार 'माया' से लेकर 'शिवतत्त्व' पर्यन्त ग्यारह तत्त्व नये हैं। सांख्य के पचीस तत्त्वों को मिलाकर शैव-दर्शन में छत्तीस तत्त्व हैं। इनमें से प्रथम पचीस तत्त्वों का विचार सांख्यशास्त्र में हो चुका है। उसे यहाँ दुहराने का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः उन्हें छोड़कर अन्य ग्यारह तत्त्वों का विचार यहाँ किया जाता है।

शिवतत्त्व

प्रत्येक जीव में रहने वाला **शिवतत्त्व** ही **'आत्मतत्त्व'** है। यह चैतन्यरूप है।[1] इसी को 'परा संवित्', 'परमेश्वर', 'शिव' या 'परम शिव' भी कहते हैं। यह तत्त्व न केवल जीव में ही है, प्रत्युत जितनी वस्तुएँ संसार में हैं, जड़ या चेतन, सभी में व्यष्टि तथा समष्टि-रूप से वर्तमान है। यह अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी एक है और एक रूप में सभी वस्तुओं में है। यह देश और काल से अतीत है और फिर भी सभी देशों में तथा सभी कालों में एक रूप में वर्तमान है। यह नित्य और अनन्त है। यह समस्त विश्व में व्यापक रूप में है और 'विश्वातीत' भी है। वस्तुतः, जैसा बाद को कहा जायगा, समस्त विश्व इसी तत्त्व का अभिन्न रूप है। परम शिव स्वयं छत्तीस तत्त्वों के रूप में जगत् में भासित होता है। विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय तथा प्रकाशैकघन इस **शिवतत्त्व** का ही अपने से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व, अभिन्न रूप में, स्फुरण है।[2] इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुतः और कुछ भी 'ग्राह्य' या 'ग्राहक'-रूप में नहीं है। यही परम शिव भट्टारक नाना वैचित्र्यों के रूप में स्वयं स्फुरित होता है।[3] यह इच्छा, ज्ञान तथा क्रियात्मक है एवं पूर्णानन्द स्वभाव का है।

---

[1] **चैतन्यमात्मा,—शिवसूत्र, १, १।**

[2] **'अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति'—प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ८।**

[3] **प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ३, ८; शिवदृष्टि, १–२।**

यह तत्त्व प्रकाशात्मा है, अर्थात् 'विमर्श' ही इसका स्वभाव है। 'सृष्टि-अवस्था' में विश्वाकार होने से, 'स्थिति' में विश्व को प्रकाशन द्वारा तथा 'संहार' में आत्मसात्

विमर्शशक्तितत्त्व

करने से 'शिव' में पूर्ण जो अकृत्रिम अहंभाव है उसी को **'विमर्श'** शक्ति कहते हैं।[1] यदि शिव में 'विमर्श'-शक्ति न हो, तो वह 'अनीश्वर' तथा 'जड़' हो जायँगे। चित्, चैतन्य, परा वाक्, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता, आदि शब्दों से आगमों में **'विमर्श'** का ही वर्णन किया जाता है।

इस शक्ति में अनन्त स्वरूप हैं, किन्तु इनमें पाँच स्वरूप बहुत ही महत्त्व के हैं—

(१) **'चित्-शक्ति'**—यह प्रकाशरूप है।[2] इसी के द्वारा **शिव** अपने को 'स्वप्रकाश' समझते हैं।

(२) **'आनन्द-शक्ति'**—जिसके द्वारा **शिव** 'आनन्दमय' हैं और अपने में आनन्द का साक्षात्कार करते हैं।

(३) **'इच्छा-शक्ति'**—जिसके द्वारा जगत् की सृष्टि, संहार और अन्य सभी कार्य **शिव** करते हैं।

(४) **'ज्ञान-शक्ति'**—जिसके कारण शिव स्वयं 'ज्ञानस्वरूप' हैं।

(५) **'क्रिया-शक्ति'**—जिसके कारण **शिव** सभी स्वरूपों को धारण कर सकते हैं।

शक्ति के इन पाँचों स्वरूपों से सम्पन्न **शिव** अपने आप समस्त विश्व की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः यह जगत् 'शिव' की **शक्ति** का ही विस्तृत रूप है, जिसे परम शिव ने अपने में **(स्वभित्तौ)** स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है। परन्तु इसे ध्यान में रखना है कि बिना 'शक्ति' के 'शिव' एक प्रकार से जड़वत ही हैं। इसी 'शक्ति' के सहारे 'शिव' अपने में 'अहं' का बोध प्राप्त करते हैं। इसी लिए शंकराचार्य ने भी कहा है—

> **"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,**
> **न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।"**[3]

---

[1] **पराप्रावेशिका, पृष्ठ १-२।**

[2] **तन्त्रसार, आह्निक १।**

[3] **आनन्दलहरी, १।**

परन्तु यह भी सत्य है कि बिना **शिव** के 'शक्ति' भी नहीं रह सकती और न कुछ कर ही सकती है। इन दोनों में अभेद है, तादात्म्य है, सामरस्य है। तभी तो परम शिव **'पूर्ण'** हैं।

जब इस शक्ति में 'उन्मेष' होता है, तब 'सृष्टि' होती है और जब वह 'आँख मूंद लेती' है, तब जगत् का 'लय' हो जाता है। यह **उन्मेष** और **निमेष** अनादि और अनन्त हैं। इसी उन्मेष के कारण **'सदाशिवतत्त्व'** की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति-तत्त्व का प्रथम और स्थूल 'उन्मेष' है। इसे **'सादाख्य'** तत्त्व भी कहते हैं। इसे सतत ध्यान में रखना है कि शैव-दर्शन में 'सृष्टि' शक्ति का 'उन्मेष' है, अर्थात् जो वस्तु पहले से थी, उसी की अभिव्यक्ति होती है। कोई नवीन वस्तु, बाहर रहने वाले, की उत्पत्ति नहीं होती। यह **अन्तर्वर्ती निमेष है।**[१] इस अवस्था में 'इच्छाशक्ति' की प्रधानता है, क्योंकि **'अहं'** अंश अस्फुट रहता है और 'अहं' अंश प्रधान रूप में उसे आच्छादित किये रहता है। इसलिए **'मैं हूँ'** इस प्रकार की प्रतीति होती है, अर्थात् जगत् का अव्यक्त रूप में यहाँ भान होता है।

सदाशिवतत्त्व

ईश्वरतत्त्व—जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होती है। **'अहम्'** अंश गौण होता है और **'इदम्'** अंश की प्रधानता यहाँ रहती है।

'इदम् अहम्', इस प्रकार की प्रतीति विमर्शशक्ति में उल्लसित होती है। यहाँ 'ज्ञानशक्ति' की प्रधानता है।

शुद्धविद्या या सद्विद्या—इस भूमि में **'अहम्'** और **'इदम्'** इन दोनों रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। **'मैं=यह हूँ'**, यही भावना इस भूमि में जाग्रत रहती है। इसमें 'क्रियाशक्ति' प्रधान है।

मायातत्त्व—इस भूमि में पूर्वभूमि की ऐक्यप्रतीति पृथक्-पृथक् हो जाती है। **'अहम्'** अंश 'पुरुष'-रूप में तथा 'इदम्' अंश 'प्रकृति'-रूप में यहाँ अभिव्यक्त होते हैं। यहाँ अचित्, अर्थात् जड़ में 'प्रमातृत्व' का आभास होता है। यह कला आदि पाँच भावों का उपादान कारण है।

इस भूमि में **'मायाशक्ति'** के द्वारा परमेश्वर अपने रूप को आच्छादित कर लेता है, तभी वह **'पुरुष'**-तत्त्व होकर पृथक् हो जाता है। माया से मुग्ध कर्मों को अपना बन्धन

---

[१] ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३-१-३।

समझता हुआ यही संसारी **पुरुष** है। परमेश्वर से अभिन्न होता भी, इसका मोह परमेश्वर में नहीं होता।

माया के पाँच कंचुक—**'परम शिव'** सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक असंकुचित शक्तिसंपन्न होते हुए भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर **कला, विद्या,** राग, **काल** तथा **नियति,** माया के इन पाँच कञ्चुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होते हैं।[1]

इन्हीं पाँच कंचुकों के कारण क्रमशः परम शिव के उपर्युक्त गुणों में भी संकोच हो जाता है। इसलिए कुछ करने की सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान **'पुरुष'** को अपने में होने लगता है।

पुरुषतत्त्व—क्रमशः इन्हीं पाँच कञ्चुकों को आवरणरूप में स्वीकार कर **'पुरुष'** संसारी हो जाता है। इन्हीं पाँचों से आवृत चैतन्य **'पुरुषतत्त्व'** है। परम शिव के स्वरूप को आवृत करने के कारण ये **'कञ्चुक'** कहे जाते हैं।

प्रकृतितत्त्व—महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण **प्रकृतितत्त्व** है। यह सत्त्व, रजस् और तमस् की 'साम्यावस्था' है। इस अवस्था में गुणों में प्रधान गौण भाव नहीं होता। ये गुण प्रकृतितत्त्व में परस्पर विभक्त नहीं हैं।

अन्तःकरण

बुद्धितत्त्व—'यह ऐसा है', इस प्रकार निश्चय करने वाली शक्ति **'बुद्धि'** तत्त्व है। यह सत्त्वप्रधान होने के कारण 'स्वच्छ' है। इस तत्त्व में ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की 'योग्यता' है।

अहंकारतत्त्व—'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है', इस प्रकार अभिमान का साधन **'अहंकार'** तत्त्व है।

मनस्तत्त्व—'करूँ या न करूँ', इस प्रकार संकल्प और विकल्प का कारण **'मन'** है। ये तीनों **'अन्तःकरण'-रूप** तत्त्व हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ग्रहण करने वाली, क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण, ये पाँच **ज्ञानेन्द्रियाँ** हैं। **अन्तःकरण के** अनन्तर इनकी अभिव्यक्ति होती है।

---

[1] **देखिए, परिशिष्ट**

पांच कर्मेन्द्रियां—वचन, आदान, विहरण (चलना-फिरना), विसर्ग (मल त्याग), (लौकिक) आनन्द के साधन क्रमश: वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, ये पाँच **कर्मेन्द्रियां** हैं।

पांच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध,ये **पांच समान रूप के हैं**। प्रत्येक में, अपने को छोड़कर, अन्य कुछ भी नहीं रहता। इसीलिए इन्हें **तन्मात्राएँ** कहते हैं।

पंचभूत—अवकाश देने वाला **'आकाश'**, संजीवन **वायु'**, दाहक और पाचक **'अग्नि'**, पिघलनेवाला, भिगोनेवाला **'जल'** तथा धारण करने वाली **'पृथिवी'**, ये पाँच **भूततत्त्व** हैं।

जिस प्रकार वट-बीज में, शक्तिरूप में, बड़ा वटवृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ये सभी तत्त्व,अर्थात् चराचर समस्त विश्व, परम शिव के हृदयरूपी बीज के अन्दर **'शक्ति'**, रूप में वर्तमान रहते हैं। जिस प्रकार घट, सकोरा आदि, मृत्तिका से बने हुए पदार्थों का वास्तविक रूप **'मृत्तिका'** ही है या जल, नीबू-जल, गुलाब-जल तथा अन्य जलीय पदार्थों का वास्तविक रूप साधारण **'जल'** ही है, उसी प्रकार 'पृथिवी' से लेकर व्युत्क्रम रूप में 'माया' पर्यन्त सभी तत्त्व **'सत्'** ही हैं। इस **'सत्'** में से भी धात्वर्थव्यञ्जक प्रत्यय के अंश को छोड़ देने पर केवल **'प्रकृतिरूप'** में **'सकार'** ही रह जाता है। इस 'प्रकृति' के अन्तर्गत इकतीस तत्त्व हैं। इसके ऊपर **'शुद्धविद्या'**, **'ईश्वर'**, **'सदाशिव'**, ये तत्त्व ज्ञान और क्रियाशक्ति-स्वरूप हैं। ये सभी **'औ'**-रूप **शक्तितत्त्व** में अन्तर्भूत हैं। इसके परे **ऊर्ध्व** तथा अधः लोकों के सृष्टिस्वरूप दो **'विसर्जनीय'** ⌒ हैं। इस प्रकार के हृदय-बीज के स्वभावरूप, महामन्त्रस्वरूप, विश्वमय, अर्थात् सर्वाकार एवं विश्वोत्तीर्ण, अर्थात् निराकार, **परम शिव** हैं।

छत्तीस तत्त्वों का यह अति संक्षिप्त विवरण है। यहाँ सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की क्रमिक अभिव्यक्ति का निदर्शन किया गया है।

व्युत्क्रमसृष्टि—इसी बात को अब स्थूल से क्रमश: सूक्ष्म तत्त्व की ओर किस प्रकार साधक जाता है, उसका निरूपण नीचे किया जाता है—

'पृथिवीतत्त्व' से लेकर **'प्रकृतितत्त्व'** पर्यन्त तो सांख्य के समान ही तत्त्वों का विचार है। यही **'प्रकृति'** विशुद्ध होकर **'मायातत्त्व'** में लीन हो जाती है। 'माया' के 'पाँच **कञ्चुक'** परम शिव के सभी गुणों को संकुचित कर देते हैं। इसीलिए **'पुरुष-तत्त्व'** में आकर परमशिव की शक्ति संकुचित हो जाती है।

इन तत्त्वों से परे जब सूक्ष्मतर तत्त्व में साधक प्रवेश करता है, तब 'पुरुष' अपने को सूक्ष्म प्रपञ्च, जो स्थूल प्रकृति का सूक्ष्म रूप है, के बराबर का समझने लगता है। इस अवस्था में **'मैं=यह हूँ'**,इस प्रकार की प्रतीति उल्लसित होती है। इसमें **'मैं'** चैतन्य है और **'यह'** प्रकृति है। यहाँ **'मैं'** और **'यह'** दोनों बराबर महत्त्व के होते हैं। अभी भी **द्वैतभान** स्पष्ट है। इसके अनन्तर, वह 'पुरुष' सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ तादात्म्यबोध करने लगता है और **'यह=मैं हूँ'**, ऐसी प्रतीति उसके विमर्शशक्ति में भासित होने लगती है। इस परिस्थिति में **'यह'** अंश को प्रधानता मिलती है। इस अवस्था को **'ईश्वरतत्त्व'** कहते हैं।

धीरे-धीरे **'यह'** अंश **'मैं'** में लीन हो जाता है और **'मैं हूँ'** इतनी ही प्रतीति रह जाती है। किन्तु फिर भी **द्वैतभान** स्पष्ट है। **'मैं'** और **'हूँ'**, ये दोनों स्वरूप **'विमर्श'** में भासित होते हैं। इस अवस्था को **'सदाशिव'** तत्त्व कहते हैं।

अब इस 'हूँ' को भी दूर करना उचित है। पश्चात् इससे भी सूक्ष्म भूमि में जब साधक प्रवेश करता है तब उसे केवल **'अहं'** की प्रतीति होने लगती है। इसे **'शक्ति-तत्त्व'** कहते हैं। यही **'परम शिव'** की **'उन्मीलनावस्था'** है। इसी अवस्था में साधक **'परम शिव'** के स्वरूप को समझ सकता है। यहीं आत्मा के आनन्द-स्वरूप का प्रथम बार भान होता है। यही **'शक्ति'** और **'शक्तिमान्'** की युगल मूर्ति है। यह अवस्था भी एक प्रकार से 'द्वैत' की ही है, किन्तु वस्तुतः कहना कठिन है कि **'द्वैत है या अद्वैत'**। यह **'द्वैत'** भी है और **'अद्वैत'** भी है। यह अवस्था अन्त में **'परम शिव'** में लीन हो जाती है। यही **'शिवतत्त्व'** है।

चिन्मय सामरस्य की अवस्था—यहाँ पहुँचकर जिज्ञासु अपने अस्तित्व को **परम शिव** में लीन कर देता है। किन्तु परम शिव में लीन होने पर भी कोई तत्त्व अपने स्वरूप को नष्ट नहीं करता। सभी तत्त्व **'परम शिव'** में लीन होकर **'चिन्मय'** हो जाते हैं। यही मनुष्य-जीवन तथा दर्शन का चरम लक्ष्य है। यहाँ **शुद्ध अद्वैत** है। चिन्मय 'शिवतत्त्व' में सभी 'चिन्मय' हो जाते हैं। वस्तुतः **शिवशक्ति** के **'सामरस्य'** की अवस्था तो यही है। अतएव यथार्थ में **'अद्वैत'** तत्त्व का ज्ञान यहीं होता है।

जीवन्मुक्ति

जीवितावस्था में स्थूल शरीर को धारण किये हुए यदि यह ज्ञान होता है, तो उसे **'जीवन्मुक्ति'** कहते हैं। इस अवस्था में भी अविचल रूप में एक 'चित्' ही रहता है। **संविद्रूपा शक्ति** इस अवस्था में भी रहती है, अतएव **चिदानन्द** का लाभ जीवन्मुक्त को भी होता है। शरीर के पतन के पश्चात् वह **'परम शिव'** में ही प्रविष्ट और उसी में लीन हो जाता है।

आलोचन

जैसा ऊपर कहा गया है समस्त विश्व एक ही 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' का उल्लसित रूप है। सभी **चिन्मय** हैं। **परम शिव** सर्वथा स्वतन्त्र होकर बिना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही **'शक्ति'** से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भासित करते हैं और लीला का संवरण भी कर लेते हैं। वस्तुतः यहीं आकर साधक को **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन'**, तथा **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का वास्तविक अनुभव होता है।

यहीं भारतीय दर्शन के **पूर्ण स्वरूप** का अनुभव होता है। चार्वाक-भूमि से आरम्भ कर क्रमशः एक भूमि के अनन्तर दूसरी भूमि पर आकर, परम तत्त्व के आभास का अनुभव करता हुआ, साधक सूक्ष्म जगत् की तरफ अग्रसर होता है और धीरे-धीरे इसी **परम शिवतत्त्व** में पहुँच कर **परम शिव** के साथ एक हो जाता है।

इसी प्रकार स्थूल जगत् से सूक्ष्म जड़ **परमाणु** में, फिर उसी को सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम बनाकर सांख्य में उसे सत्त्व, रजस् तथा तमस् के स्वरूप में साधक देखता है। उन्हें भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर 'माया' के कञ्चुकों के रूप में परिणत पाता है। उसके पश्चात् यह जड़ माया का रूप चैतन्य-रूप **'शुद्धविद्या'** के बराबर का हो जाता है। पश्चात् चैतन्य के प्रतीक **'अहं'** और जड़ के प्रतीक **'इदं'** में गौण-प्रधान तथा प्रधान-गौण-भाव का सम्बन्ध होने लगता है। अन्त में **'इदं'** भाव **'अहं'** में लीन हो जाता है और इसके भी पश्चात् 'अहं' भाव भी 'परम चैतन्य' में लीन होकर सर्वदा के लिए **परम तत्त्व** में विलीन हो जाता है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि वास्तविक **अद्वैत तत्त्व** का स्वरूप काश्मीरीय शैव-दर्शन में ही देखने में आता है, न कि शांकर या अन्य किसी वेदान्त में। अन्त में इसके समर्थन में महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथकविराज ने जो कहा है उसका यहाँ उद्धरण कर इस दर्शन का विचार समाप्त किया जाता है—

ब्रह्म और माया के स्वरूप का विचार

"शंकर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए वाक्य द्वारा जितना ही अद्वैतभाव का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की गयी है, उतना ही **पूर्ण भाव** के प्रकाश में बाधा पड़ी है। वे 'माया' को सत्य नहीं मान सकते, इसी से उनका अद्वैतभाव 'व्यावृत्तिमूलक' (एक्सक्लूसिव), 'संन्यासमूलक' (बेस्ड ऑन रिननसिएशन ऑर एलिमिनेशन') है, 'अनुवृत्ति' किं वा 'ग्रहणमूलक' '(आलइम्ब्रेसिंग) नहीं। 'माया' ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर 'ब्रह्म' सत्य है, परन्तु विचार-

दृष्टि से 'माया' 'सदसद्विलक्षण' है। किन्तु 'माया' को स्वीकार कर उसको ब्रह्म-मयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से 'ब्रह्म' और 'माया' की 'एकरसता' हो जाती है। यह 'एकरसता' माया को त्याग कर या तुच्छ समझकर नहीं, बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने में है।

बादल के द्वारा दृष्टि-शक्ति के ढक जाने पर हम कहते हैं कि 'मेघ' ने सूर्य को ढक लिया है, किन्तु यह 'मेघ' क्या स्वयमेव सूर्य से ही उत्पन्न नहीं है? क्या 'मेघ' सूर्य की महिमा नहीं है? सुतरां जो 'सूर्य' है वही 'मेघ' है, क्योंकि वह उसी की 'शक्ति' है। 'मायामेघ' भी इसी प्रकार 'ब्रह्म' से आविर्भूत होता है, उसी के आश्रय में आत्म-प्रकाश करता है और उसी में विश्राम भी करता है। जो 'माया' है वही 'ब्रह्म' है। **'ब्रह्म'** स्वयं ही, मानो अपने को अपने द्वारा, अर्थात् अपनी शक्ति-माया के द्वारा, ढक लेता है, परन्तु ढकने पर भी पूर्णतः ढक नहीं जाता। क्योंकि वह अनावृत रूप है। अतः कहना पड़ता है कि वही अपना 'आवरक' (ढकने वाला) है और वही अपना 'उन्मीलक' (खोलने वाला) है। उसके अतिरिक्त और है ही क्या? 'ब्रह्म' और 'माया' एक ही वस्तु है। 'ब्रह्म' सत्य, 'माया' मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारान्तर से द्वैताभास आ ही जाता है। जिस अवस्था में 'माया' मिथ्या है, उस अवस्था में 'ब्रह्म' भी मिथ्या है, क्योंकि 'माया' को मिथ्या अनुभव करते ही 'माया' की सत्ता का स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है, और 'माया' को स्वीकार करने से ही उस अवस्था में जो 'ब्रह्म-बोध' होता है, वह 'मायाकल्पित' वस्तु है। यह बात वेदान्ती को भी किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करनी ही पड़ती है। इधर 'माया' को सत्य समझने में 'ब्रह्म' भी सत्य हो जाता है। 'माया' की विचित्रता के अनुसार यह 'ब्रह्मबोध' भी विचित्र ही होगा और वे सभी बोध समानरूप से सत्य होंगे। उस समय जगत् के यावत् पदार्थ ब्रह्मरूप में प्रतिभात होंगे। सभी सत्य है, सभी विस्मय और आनन्दमय है, इस तत्त्व की उपलब्धि होगी। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, यह उपनिषद्वाक्य उस समय सार्थक हो जायगा। 'माया' अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं, वरं उसको साक्षात् 'ब्रह्मशक्ति' और उसके विकासरूप में अनुभव करने से, आलिंगन करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है।

'शक्ति' सत्य है, सुतरां 'जीव' और 'जगत्' भी सत्य हैं—मिथ्या नहीं हैं, इसलिए सभी वस्तुतः 'शिवमय' हैं। यह वैचित्र्य एक का ही विलास है, भेद-अभेद का ही आत्मप्रकाश है, शक्तिरूप किरणराशि शिवरूप सूर्य का अपना ही स्फुरण-मात्र है, अन्य कुछ भी नहीं। भगवान् शंकराचार्य के **'तमःप्रकाशवद्विरुद्धयोः'** पद की

यथार्थता स्वीकार करके भी यह बात कही जा सकती है कि प्रकाश से ही घर्षण के द्वारा अन्धकार का आविर्भाव होता है और अन्धकार ही घर्षण के द्वारा प्रकाश में पर्यवसित होता है। दोनों ही नित्य संयुक्त हैं, स्वरूप में समरसभावापन्न हैं। घर्षण से प्राधान्य का विकास होता है। इस प्राधान्य के अनुसार व्यपदेश होता है। आगमशास्त्र का यही सिद्धान्त है।

'पुरुष' से 'प्रकृति' कि वा 'प्रकृति' से 'पुरुष' एकान्ततः पृथक् नहीं हैं, हो भी नहीं सकते। भेद और अभेद दोनों के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशंका नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों एक के ही दो प्रकार हैं। इसी को **'शिवशक्ति का सामरस्य'** या **'चिदानन्द नी प्राप्ति'** कहते हैं।

यही वास्तविक अद्वैत है। इसी के प्राप्ति के लिए भक्ति, कर्म तथा ज्ञान की अपेक्षा होती है। इसी को पाने पर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। यही भारतीय दर्शन का तथा जीवन का चरम लक्ष्य है।

उपसंहार

इन परिच्छेदों में संक्षेपरूप से भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का स्वरूप उसके अनादि रूप से लेकर अन्त पर्यन्त प्रदर्शित किया गया है। यह धारा अविच्छिन्न रूप में बहती हुई प्रत्येक भूमि का सिञ्चन कर, उसे उर्वरा बनाती हुई अपने **गन्तव्यपद** को प्राप्त करती है। यह बहुत दीर्घ यात्रा है। इसके आद्यन्त स्वरूप को देखने के लिए जो साधक इस मार्ग में आते हैं, उनके लिए अनेक **विश्राम-भूमियाँ** हैं और ये विश्राम-स्थान अनन्त भी हो सकते हैं। साधकों को इसका आदि नहीं मिलता, फिर भी काल्पनिक आदि बनाकर वहीं से वे प्रस्थान करते हैं। मार्ग में अनेक प्रकार की विषम भूमि को पार करते हुए, साधक अन्त में वहीं पहुँच जाता है, जहाँ से वह चला था, क्योंकि वह **पूर्ण** है और **अखण्ड** है।

स्थूलतम जड़ पदार्थ का अनेक प्रकार से संशोधन करने के पश्चात् वही जड़ पदार्थ सूक्ष्मतम रूप में पहुँच कर चिन्मय देख पड़ता है। वस्तुतः **तत्त्व एक** है, दृष्टि के भेद से स्थूल और सूक्ष्म रूप में भिन्न-भिन्न देख पड़ता है। किन्तु समदृष्टि करने से, भेद में अभेद का भान स्पष्ट मालूम होता है। यथार्थ में दो तत्त्व हो नहीं सकते। जगत् का प्रवाह एक ही है। मार्ग भी तो एक ही है। उसी से होकर सभी को चलना है—

'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'

भारतीय दर्शन एक प्रकार से भिन्न-भिन्न स्तर पर, भिन्न-भिन्न भूमि के अनुरूप, एक **व्यावहारिक शास्त्र** है, तथापि यह अनुभव करने का ही विषय है। अनुभव करने के बिना इसके उद्देश्य को लोग नहीं समझ सकते और फिर तदनुरूप इसके ज्ञान से व्यावहारिकता (Practicability) का भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। तत्त्व के साक्षात्कार के बिना इसके स्वरूप का ज्ञान होना असम्भव है। इसका हमारे व्यावहारिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं, प्रत्युत हमारा **'जीवन'** और **'भारतीय दर्शन'** दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं—एक **सैद्धान्तिक** और दूसरा **व्यावहारिक**। भूमि-भेद से व्यवहार में भी भेद है, जिस प्रकार सिद्धान्त में भेद है। परन्तु भेद में अभेद है, उसे ही देखना है, उसी का साक्षात् अनुभव करना है। यह अनुभव या दर्शन शुष्क और नीरस नहीं है। इसमें **आनन्द** है, **स्फुरण** है, **पूर्णता** का ज्ञान है तथा **स्वातन्त्र्य-बोध** है। इसी दृष्टि से भारतीय दर्शन का अध्ययन करने से उसके रहस्य का ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

चार्वाक-दर्शन से आरम्भ कर काश्मीरीय शैव-दर्शन पर्यन्त भिन्न-भिन्न भूमि में तत्त्वों के क्रमिक विकास को इस चित्र में दिखाया गया है—
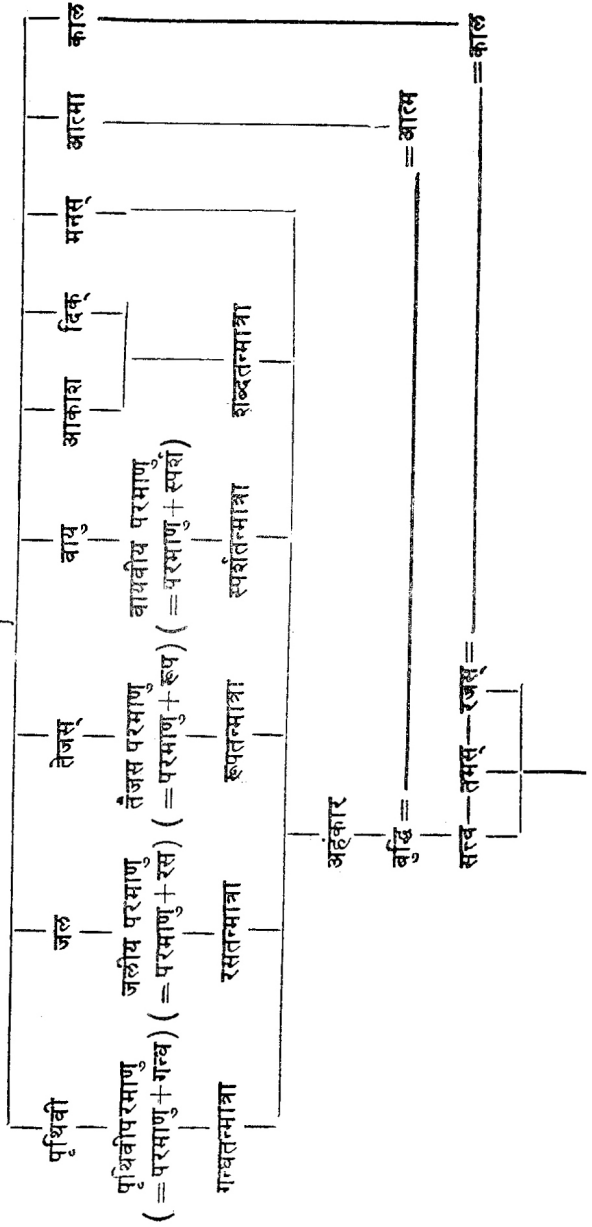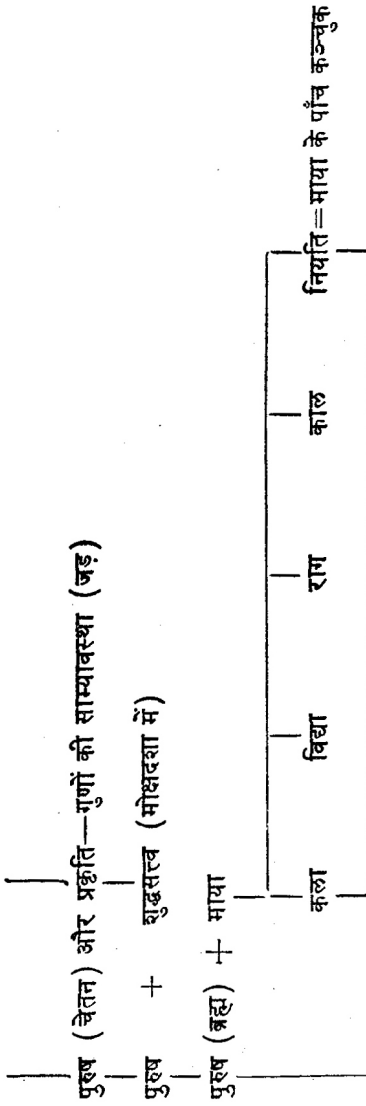
पुरुष (चेतन) और प्रकृति—गुणों की साम्यावस्था (जड़)
पुरुष + शुद्धसत्त्व (मोक्षदशा में)
पुरुष (ब्रह्म) + माया
कला
विद्या
राग
काल
नियति=माया के पाँच कञ्चुक
शुद्धविद्या या सद्विद्या (=मैं=यह हूँ)। इस अवस्था में 'मैं' अंश और 'यह' अंश दोनों बराबर महत्त्व के हैं।
ईश्वरतत्त्व=(यह मैं हूँ)। यहाँ 'यह' अंश प्रधान हो जाता है और 'मैं' अंश गौण रहता है।
सदाशिवतत्त्व='मैं' 'हूँ' (का बोध)
शक्तितत्त्व='मैं' का बोध
परम शिवतत्त्व (शिवशक्ति का सामरस्य) का। यही अखण्ड अद्वैत है।

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव-दर्शन

(वैष्णव-सम्प्रदाय)

भारतीय शास्त्रों के दो प्रधान विभाग हैं—निगम और आगम। वेद तथा वेदमूलक ज्ञान एवं क्रियाप्रधान शास्त्र को **'निगम'** कहते हैं। **'आगम'** से साधारण रूप में सभी शास्त्र लिये जाते हैं, किन्तु जब यह **'निगम'** शब्द के साथ-साथ प्रयुक्त होता है, तब इससे तंत्र-शास्त्र या शक्ति या भक्तिप्रधान शास्त्र ही समझा जाता है। इसी लिए **'आगम'** शब्द का अर्थ करते हुए प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है—

आगम और निगम

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥

इस श्लोक में 'वासुदेवस्य मतं' यह देखकर 'आगम' के साथ वैष्णव-संप्रदाय का सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। इसमें भक्ति की प्रधानता है, और प्रायः यह शास्त्र शिवपार्वती के संवाद-रूप में पूर्व में रहा है, ऐसा मालूम होता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया—ये सब भक्ति के व्याप्य हैं और उसी को पुष्ट करते हैं। नारद ने भी अपने 'भक्ति-सूत्र' में कहा है—

भक्ति का महत्त्व

'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'[१]

अर्थात् कर्म, ज्ञान और योग से भी बढ़ कर **'भक्ति'** है। 'देवीभागवत' में भी कहा गया है—

---

[१] ४.२५।

'मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति कर्हिचित्'[1]

आगम के अनुसार मोक्ष भी 'भक्ति' का व्याप्य ही है, जैसा कि 'नारदपंचरात्र' में कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याः चेटिकावदनुव्रताः ॥

अर्थात् हरि की भक्ति तो महादेवी हैं और मुक्ति, भुक्ति, आदि उनकी चेटियाँ हैं। अतएव मुमुक्षुओं को भक्ति को ही ग्रहण करना चाहिए। इसी लिए नारद ने कहा है—

'तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः'[2]

इनके मत में 'परा भक्ति' ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

भक्ति-शास्त्र के आचार्य

भक्तिशास्त्र के अनेक प्राचीन आचार्य हुए हैं—पाराशर्य, गर्ग, शाण्डिल्य, नारद, कुमार, शुक्र, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, अरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण, काश्यप तथा वादरायण।[3] किन्तु इन सभी आचार्यों ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थ लिखे या नहीं, यह मालूम नहीं। केवल नारद और शाण्डिल्य के भक्ति-सूत्रों से हम परिचित हैं। इसके अतिरिक्त काशी के किसी दाक्षिणात्य विद्वान् के घर से एक और भी भक्तिसूत्र-रूप ग्रन्थ मिला है, जो कि 'सरस्वतीभवन स्टडीज़' में प्रकाशित हुआ है।[4] इसी भक्ति-शास्त्र के बल पर **'पंचरात्र'** और **'भागवत'** संप्रदायों ने अपने-अपने अस्तित्व को स्थिर किया है। ये दोनों सम्प्रदाय यद्यपि इस समय एक ही हो गये हैं, किन्तु पहले दोनों अलग-अलग थे। इस समय ये दोनों ही वैष्णव-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हैं। इन्हीं के अन्तर्गत **'त्रिदण्डी'** सम्प्रदाय भी था। यह बहुत प्राचीन सम्प्रदाय है।

---

[1] ७.३७।

[2] ४.३३।

[3] 'नारदसूत्र', १०–२३; 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र', २.१.२९.३०।

[4] भाग २, पृष्ठ ७४-८१।

'वैष्णव-सम्प्रदाय' प्राचीन काल से चार प्रधान विभागों में विभक्त है—

(१) **श्रीसम्प्रदाय**—इसके प्रधान संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य हुए। बाद में श्रीरामानंदस्वामी ने इसका प्रचार बढ़ाया, इसलिए इसे **'रामानंद-सम्प्रदाय'** और इसके अनुयायी को **'रामानंदी'** भी कहते हैं। इसका दार्शनिक मत **'विशिष्टाद्वैत'** के नाम से प्रसिद्ध है।

(२) **हंससम्प्रदाय**—इसके प्रवर्तक सनकादि और प्रधान संस्थापक निम्बार्काचार्य हुए। अतएव यह **'निम्बार्क-सम्प्रदाय'** भी कहलाता है और बाद को हरिव्यास स्वामी ने इसका प्रचार किया, इसलिए यह **'हरिव्यासी'** भी कहा जाता है। इसका दार्शनिक मत **'द्वैताद्वैत** या **'भेदाभेद'** कहा जाता है।

(३) **ब्रह्मसम्प्रदाय**—इसके प्रधान प्रवर्तक ब्रह्मा और संस्थापक 'मध्वाचार्य' हुए। पश्चात् गौडस्वामी ने इसका विशेष प्रचार किया। इसलिए यह **'मध्वसम्प्रदाय'** और **'गौड़िया सम्प्रदाय'** भी कहलाता है। इसका दार्शनिक सिद्धांत **'द्वैतवाद'** कहा जाता है।

(४) **रुद्रसम्प्रदाय**—रुद्र इसके प्रधान प्रवर्तक और विष्णुस्वामी प्रधान संस्थापक हुए। बाद को वल्लभाचार्य ने इसका विशेष प्रचार किया। इसलिए यह **'विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय'** और **'वल्लभ-सम्प्रदाय'** भी कहलाता है। इसका दार्शनिक मत **'शुद्धाद्वैत'** कहा जाता है।

'शक्तिसंगमतंत्र'[1] के अनुसार गौण और मुख्य भेद से तंत्रोक्त वैष्णव-सम्प्रदायों की संख्या निम्नलिखित दस है —

(१) **वैखानस**—यह 'स्मार्त-वैष्णव' कहा जाता है। इसके अनुयायी वैखानस मुनि के उपदेश के अनुसार दीक्षित होते हैं।

(२) **श्रीराधा-वल्लभी**—वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार तथा व्यवहार का पालन विशेष रूप से इस सम्प्रदाय में नित्य होता है। विष्णुमंत्रों का जप ये लोग सदैव करते रहते हैं। शांतभाव को प्रधान मान कर, संसार की प्रत्येक वस्तु से अपने चित्त को हटा कर, केवल विष्णु की चिंता में लगाना, इनका प्रधान ध्येय है।

---

[1] १–८।

इसके आदि प्रवर्तक एक हरिवंश गोस्वामी थे जिनका जन्म संवत् १५५९ वि० (१५०३ ई०) में आगरा में हुआ था। इनका पैत्रिक स्थान सहारनपुर जिले के 'देववनवास' नामक ग्राम में था। पूर्ण वयस्क होने पर यह वृन्दावन गये, और वहाँ इन्होंने एक नवीन सम्प्रदाय स्थापित किया, जिसे लोग **'राधावल्लभ'** के नाम से कहने लगे। कहा जाता है कि इनके श्वशुर ने इन्हें एक राधावल्लभ की मूर्ति दी थी और उसी के नाम पर यह सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने बड़े खर्च से संवत् १६४१ वि० में राधावल्लभ का एक सुन्दर मन्दिर वृन्दावन में बनवाया। ये लोग वैष्णव-चिह्न शरीर में धारण करते थे।

(३) **गोकुलेश**—इस सम्प्रदाय के लोग नाना प्रकार के आभूषणों का धारण करना, सुगंधित द्रव्यों को शरीर में लगाना तथा गौओं से प्रेम करना, अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। ये लोग कृष्ण के 'केलि-समय' के स्वरूप को धारण करते हैं और अपने शरीर, अर्थ तथा प्राण को कृष्ण को समर्पण करते हैं। ऊपर से ये लोग 'कृष्ण' के उपासक मालूम होते हैं, किन्तु अंतःकरण में ये 'शक्ति' के उपासक हैं। गानविद्या से इनका अधिक प्रेम है। ये अपने शरीर को लताओं से लपेटना पसंद करते हैं। इस सम्प्रदाय को वैष्णवों ने सर्वसिद्धिकर माना है। ये सब स्मार्त और वैष्णव के लौकिक कलह में लगे रहते हैं और शिव और विष्णु के ऐक्य भाव को नहीं मानते।

(४) **वृन्दावनी**—इस सम्प्रदाय के लोगों को किसी बात की आशा नहीं रहती है। ये सब अपने को पूर्ण-काम मानते हैं। ये सर्वदा प्रसन्नचित्त हो कर विष्णु की भक्ति में लीन रहते हैं। स्त्रियों के ध्यान में भी ये लोग रहते हैं और उनके संग से चंचल भी हो जाते हैं। ये वनविहार पसन्द करते हैं और सुगंधित द्रव्य शरीर में लगाते हैं। 'सारूप्य-मोक्ष' का ज्ञान इन्हें रहता है।

(५) **रामानंदी**—**'रा'** से 'शक्ति' तथा **'म'** से 'शिव' समझा जाता है। इन दोनों का सामरस्यप्रयुक्त जो आनन्द है, उसी में ये लोग मग्न रहते हैं। ये शांतचित्त, प्रसन्नात्मा तथा विचारवान् होते हैं और वस्तुमात्र में समान रूप का अनुभव करते हैं। रामानंदस्वामी ने, जिनका जन्मकाल १३०० ई० कहा जाता है, इस सम्प्रदाय को चलाया।

(६) **हरिव्यासी**—पापों का नाश करने में ये तत्पर रहते हैं। ये विष्णुभक्त और जितेन्द्रिय होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—इन अष्टांग योगों का ये पूर्ण अभ्यास करते हैं और परार्थ में ही अपना समय लगाते हैं। ये शिव और शक्ति के स्वरूप को धारण करते हैं।

इस सम्प्रदाय के आदि संस्थापक बुंदेलखंड के निवासी हरिराम शुक्ल थे जिनका जन्म १५१० ई० में हुआ था। इन्हीं का दूसरा नाम हरिव्यासी मुनि था। यह श्रीभट्ट के शिष्य और परशुराम के गुरु थे। निम्बार्काचार्य की बनायी हुई 'दशश्लोकी' की एक टीका भी इन्होंने लिखी है। इन्होंने १५५५ ई० में वृन्दावन जाकर पहले 'राधावल्लभ-सम्प्रदाय' को स्वीकार किया, किन्तु बाद में उसे छोड़ कर एक दूसरा नया सम्प्रदाय अपने नाम पर ही चलाया।

(७) **निम्बार्क**—इस सम्प्रदाय वाले स्वातंत्र्यप्रेमी होते हैं। ये लोग पूजा के बाह्य स्वरूप में ही नियमपूर्वक लगे रहते हैं। ये विष्णु के अनन्य भक्त होते हैं और प्रसन्नचित्त रहते हैं। ये अपने आचरणों को तथा शरीर एवं वस्त्रों को स्वच्छ रखते हैं। ये स्मार्तों के द्रोही होते हैं।

(८) **भागवत**—इस सम्प्रदाय के लोग पूर्ण विष्णुभक्त होते हैं। ये अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए सदैव प्रसन्न रहते हैं। स्मार्तों का गौरव इन्हें रहता है, किन्तु ये शिव के विद्वेषी यहाँ तक होते हैं कि भूल से यदि किसी शैव के साथ इनका संसर्ग हो जाय, तो झट स्नान कर लेते हैं। शरीर को स्वच्छ रखना और सुंदर वेश बनाना इनका कर्तव्य है। ये अरुण वेश धारण करते हैं।

(९) **पांचरात्र**—इस सम्प्रदाय वाले पंचरात्रि-व्रत करते हैं। ये रण्डा को श्रीकृष्ण का प्रसाद कह कर पूजते हैं। ये शिव की निन्दा तो करते ही हैं, वैष्णवों की भी निन्दा करते हैं।

(१०) **वीर वैष्णव**—ये केवल विष्णु-भक्त होते हैं और अन्य सब देवताओं की निंदा करते हैं।

इन वैष्णव-सम्प्रदायों में से कुछ ही ऐसे हैं, जिनमें दार्शनिक विचार हैं, उनका संक्षेप में यहाँ विचार किया जा रहा है।

पञ्चदश परिच्छेद

भेदाभेद-दर्शन

(भास्कर-वेदान्त)

वेदान्तसूत्र में सात प्राचीन वेदान्तियों के मतों की चर्चा है। उनमें से 'आश्मरथ्य' तथा 'औडुलोमी' **भेदाभेदवाद** के पोषक थे। इनके अतिरिक्त 'भर्तृप्रपञ्च' भी **भेदाभेदवादी** थे। साथ ही साथ 'भर्तृप्रपञ्च' तथा 'ब्रह्मदत्त' **ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी** थे। इनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि प्राचीन काल में भी ये मत प्रसिद्ध थे। परवर्ती काल में **'भास्कर'** ने भी **भेदाभेदवाद** तथा **ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद** को स्वीकार किया। उपर्युक्त वेदान्तियों में केवल **'भास्कर'** का ही एकमात्र ग्रन्थ हमें इस समय उपलब्ध है। इनका मत स्वतन्त्र है। शंकराचार्य के समकालीन अथवा ठीक परवर्ती यह थे। इसलिए इनके विचारों का यहाँ उल्लेख करना अनुचित न होगा।

भेदाभेदवाद की परम्परा

नवम शतक के प्रारम्भ में ही **भास्कर** का समय कहा जा सकता है। पद्मपादाचार्य की 'विज्ञानदीपिका' की 'विवृति'[1] में इनका उल्लेख है। दशम शतक के वृद्ध वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में इनके मत की चर्चा नाम लेकर की है।[2] यामुनाचार्य (ग्यारहवीं सदी), चित्सुखाचार्य (तेरहवीं सदी), वर्धमान उपाध्याय (चौदहवीं सदी), आदि लोगों ने इनकी चर्चा की है।

भास्कर, नवम शतक

---

[1] **कारिका १४,।**

[2] **ब्रह्मसूत्र, ३-३-२८-२९।**

वैष्णवसम्प्रदायों में एक 'त्रिदण्डी' सम्प्रदाय भी था। उसी सम्प्रदाय के आचार्य भास्कर थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र पर **'भाष्य'** है। सम्भवतः छान्दोग्य उपनिषद् की व्याख्या भी इन्होंने की थी।[१]

भास्कर का सिद्धान्त

'भास्कर' भी **ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी** थे। इनका कहना है कि केवल 'ज्ञान' से मोक्ष नहीं होता, 'कर्म' की भी आवश्यकता है। 'ज्ञान' की उत्पत्ति श्रवण-मनन-रूप साधन से होती है, 'कर्म' से नहीं। इसी लिए जिस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिए शम, दम, आदि योगांगों का अनुष्ठान जीवन भर करना आवश्यक है, उसी प्रकार आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान भी आवश्यक है, तभी मोक्ष मिलता है, अन्यथा नहीं। कर्म का त्याग किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता। भास्कर का कहना है कि ब्रह्मसूत्रकार का भी यही अभिप्राय है।[२]

इनका दूसरा सिद्धान्त है कि संसारावस्था में 'जीव' परमात्मा से भिन्न है, किन्तु मोक्षावस्था में यह परमात्मा में मिल जाता है। इसलिए जीव और परमात्मा में भेद और अभेद दोनों हैं। वस्तुतः 'जीव' तथा 'परमात्मा' में स्वभाव से ही 'अभेद' है, किन्तु संसाररूपी उपाधि के कारण 'भेद' भी है। यही **'भेदाभेदवाद'** भास्कर का सिद्धान्त है।

ये दो बातें भास्कर-वेदान्त के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इन्हींको ध्यान में रखकर इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है।

तत्त्वविचार

ब्रह्मतत्त्व

भास्कर-मत में एकमात्र तत्त्व **'ब्रह्म'** है। इसी को 'परमात्मा' तथा 'ईश्वर' भी कहते हैं।[३] आगम के ही द्वारा इस तत्त्व का ज्ञान हो सकता है। यह सत् और अद्वितीय है। जगत् का उपादान कारण भी 'ब्रह्म' है। यह 'सत्कार्यवादी' हैं। अतएव **'कारण-ब्रह्म** में ही **कार्य-ब्रह्म** विद्यमान रहता है', यह इनका कथन है।

---

[१] छान्दोग्ये चायमेवार्थोऽस्माभिः प्रदर्शितः—भास्करभाष्य, ३-१-८।

[२] अत्र हि ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्षप्राप्तिः सूत्रकारस्याभिप्रेता—भास्करभाष्य, पृष्ठ २ (काशी संस्करण)।

[३] ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृष्ठ ६-७।

'ब्रह्म' का स्वाभाविक परिणाम भास्कर मानते हैं। इनमें अचिन्त्य शक्ति है और उनकी ही विक्षेप-शक्ति से सृष्टि और उसकी स्थिति निरन्तर चलती रहती है।[1]

ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम

जिस प्रकार स्वभावतः गाय के थन से दूध निकल पड़ता है, उसी प्रकार स्वभाव से ही इनसे सृष्टि रूप में परिणाम होता है। सृष्टि करने में 'जीवात्मा' की तरह इनकी शक्ति क्षीण नहीं होती। इसलिए भाष्य में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है—"**अप्रच्युत-स्वरूपस्य**। एकमात्र इसका दृष्टान्त मकड़ा में मिलता है। जैसे, अप्रच्युतस्वरूप (मकड़े का) तन्तु ही (जालरूप) पटरूप में परिणत होता है और जैसे अप्रच्युत-स्वभाव 'आकाश' से ही वायु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अप्रच्युतस्वभाव 'ब्रह्म' से जगत् परिणमित होता है। परिणाम में **ब्रह्मरूप जगत्** हो जायगा, किन्तु **जगत्-रूप ब्रह्म** नहीं होता।

निरवयव ही होने के कारण **ब्रह्म** का 'परिणाम' होता है। इनके मत में वस्तुतः सावयव वस्तु का 'परिणाम' हो नहीं सकता। **'परिणाम'** तो स्वभाव से

परिणाम का कारण

होता है। सावयव या निरवयव होना परिणाम का प्रयोजक नहीं है। इसी लिए दूध से दधि होता है, न कि जल से, क्योंकि जल का यह स्वभाव नहीं है। यदि परिणाम-शक्ति अवयव में हो, तो अवयव का भी अवयव और फिर उसका भी अवयव है। इस प्रकार कोई व्यवस्था न रह सकेगी।[2] परिणमन-क्रिया में 'ब्रह्म' पृथक् रहता है, 'परिणाम' तो स्वभाव से होता रहता है।[3]

चेतन 'ब्रह्म' से तो चेतन ही पदार्थों का परिणाम उचित है, फिर यह जगत् जड़ क्यों है? इसके उत्तर में भास्कर कहते हैं कि चेतन 'ब्रह्म' का समस्त परिणाम

चिन्मय जगत्

भी 'चेतन' ही है, परन्तु वह चैतन्य सभी वस्तुओं में एक-सा देख नहीं पड़ता। इसीलिए किसी में उसकी अभिव्यक्ति **प्रत्यक्षगोचर** है, जैसे—जीव; किसी में सर्वथा **अगोचर** है, जैसे—पत्थर। यही कारण है कि पत्थर आदि में स्वातन्त्र्य नहीं है।

---

[1] **परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास—भाष्य, १-४-२५; स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणामयन् स्वशक्तयनुसारेण परिणाम-यति—भाष्य, पृष्ठ ९७।**

[2] भाष्य, २-१-१४, पृष्ठ ९६।

[3] भाष्य, २-१-१४, पृष्ठ ९७। न हि सावयवत्वं वस्तुपरिणामे प्रयोजकम्, अपि तु वस्तुगता तादृशी शक्तिरेव—वेदान्तरत्नमञ्जूषा, पृष्ठ ७३।

यद्यपि पूर्ण स्वातन्त्र्य एकमात्र 'ब्रह्म' में ही है, किन्तु किसी रूप में थोड़ी स्वतन्त्रता 'जीव' में भी है। प्रलयकाल में जितने पदार्थ जगत् में हैं, सभी अपने विकृतिरूप का परित्याग कर देते हैं। तब निर्विकार होकर 'ब्रह्म' में लय को प्राप्त करते हैं।

कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में भास्कर का कहना है कि कार्य 'सत्' है। कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त कर कार्य का रूप धारण कर लेता है। एकमात्र तत्त्व 'ब्रह्म' है। वही 'परिणाम' के द्वारा जगत् के रूप में परिणमित हो जाता है। 'प्रपञ्च' 'ब्रह्म' का 'धर्म' या एक 'अवस्था' है। इसलिए ब्रह्म और जगत् की सत्ता में कोई भेद नहीं है। इसलिए कार्य और कारण में कोई भी भेद नहीं है।[1] ये भी **'सत्कार्यवाद'** को स्वीकार करते हैं। ऐसा होने पर भी जब 'कारण' कार्यरूप में परिणत होता है और एक भिन्न आकार धारण कर लेता है, तब दोनों में वस्तुतः किसी तरह का भेद हो ही जाता है। इसी लिए 'घटाकाश' घट के नष्ट हो जाने से, घट से बहिर्भूत आकाश में लीन हो जाता है। **'जीव'** अपनी उपाधि के नष्ट हो जाने से, **ब्रह्म** में एक हो जाता है। यही तो **'भेदाभेदवाद'** है। कार्य से भेदाभेद का पता चलता है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद और भेद, दोनों ही ठीक हैं। शक्तिमान् के एक होने पर भी शक्तिगत भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता है। यही भास्कर ने कहा है—

कार्यकारण-भाव

'तस्मात् सर्वमेकानेकात्मकम्, नात्यन्तं भिन्नमभिन्नं वा'

अवस्था और आकृति के भेद से कार्य और कारण में भेद है, अन्यथा नहीं। **जीव** और **प्रपञ्च,** ये दो शक्तिमान् ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। इसी लिए प्रलयावस्था में 'प्रपञ्च' और मुक्तावस्था में 'जीव' ब्रह्म में लय को प्राप्त करते हैं।

जगत् मिथ्या नहीं है—'प्रपञ्च' ज्ञानी के लिए भी सत्य है, क्योंकि वह उसे ब्रह्म के शक्तिरूप में देखता है और अज्ञानी के लिए तो सत्य है ही। भास्कर का कहना है कि जगत् को मिथ्या तो किसी ने देखा नहीं है।

जीव—'जीव' ब्रह्म की 'भोक्तृशक्ति' है, आकाश आदि उसकी 'भोग्यशक्ति' हैं। अज्ञान और कर्म के कारण 'जीव' बन्धन में पड़ गया। संसारावस्था में ही यह 'जीव' रहता है, मुक्ति में तो परमात्मा में लीन हो जाता है। यह नित्य और

---

[1] भाष्य, २-१-१४।

'अणु' रूप है। 'अणु'-परिमाण का होने के ही कारण मरने पर एक शरीर को छोड़ दूसरे में प्रवेश कर सकता है।[1] 'अणु' होने पर भी 'जीव' को समस्त शरीर का सुख, दुःख, आदि का ज्ञान होता है। परन्तु यह 'अणुत्व' भी औपाधिक और अस्वाभाविक है। जब तक द्वैतभान रहता है, तभी तक यह रहता है, बाद को तो परमात्मा के स्वरूप का हो जाता है। इसी प्रकार 'कर्तृत्व' भी जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं है, अन्यथा जीव को मुक्ति ही नहीं मिलती। मुक्ति में परमात्मा में लीन हो जाने से इसका 'कर्तृत्व' भी जाता रहता है।

जीव अणु है

मुक्ति—उपाधियों से मुक्त होकर जीव के अपने स्वाभाविक स्वरूप धारण करने को **'मुक्ति'** कहते हैं। इसके दो भेद हैं—**'सद्योमुक्ति'** और **'क्रममुक्ति'**। जो साक्षात् कारण-स्वरूप 'ब्रह्म' की उपासना करने पर 'मुक्ति' पाते हैं, वह **'सद्योमुक्ति'** है, क्योंकि यह तत्क्षण में प्राप्ति होती है और जो कार्य-स्वरूप ब्रह्म के द्वारा 'मुक्ति' पाते हैं, उनकी मुक्ति **'क्रममुक्ति'** है। अर्थात् अच्छे कार्य करने से मरने पर देवयानमार्ग से अनेक लोकों में घूमते हुए हिरण्यगर्भ के साथ वे जीव 'मोक्ष' पाते हैं।

मुक्ति के भेद

जीवन्मुक्ति नहीं मानते—शरीर का पतन होने से ही **'मुक्ति'** होती है। अतएव इनके मत में **'जीवन्मुक्ति'** की अवस्था नहीं है।[2]

'मुक्ति' देने वाला **पदार्थ ज्ञान** तो जीवन भर श्रवण, मनन, आदि उपासना तथा कर्मानुष्ठान करने से मिलता है। मोक्ष के लिए चेष्टा करने से मनुष्य को 'मुक्ति' नहीं मिलती, किन्तु **कर्मानुष्ठान** से। यह शम, दम आदि योगानुष्ठान से होता है। इस 'योग' के बारम्बार अभ्यास से 'मुक्ति' मिलती है।

मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया

मुक्तिदशा में 'सम्बोध' या 'ज्ञान' जीव या आत्मा में रहता है। मुक्तजीव मन के द्वारा मुक्ति में आनन्द का अनुभव करता है। परमात्मा में राग से 'मोक्ष' और संसार में राग से 'बन्धन' होता है।

---

[1] भाष्य, १-२-१; १-३-१३; ३-२-२२।

[2] भाष्य, ३-४-२६।

कर्म की आवश्यकता—जिस प्रकार अपवर्ग के लिए यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है, उसी प्रकार जीवन भर आश्रमकर्म करने की अपेक्षा रहती है।[1] जब तक आजीवन कर्म करते न रहा जाय, तब तक दुःख-बीज का नाश नहीं होगा।

विद्या के द्वारा श्रवण आदि के निरन्तर अभ्यास से अज्ञान का नाश होता है। आजीवन कर्म के अभ्यास से ही ज्ञान को पाकर साधक के शरीर का पतन हो जाता है, तभी 'भेद-ज्ञान' का नाश होता है। संसारी तथा पारलौकिक कर्म का भी क्षय हो जाता है और 'जीव' सर्वज्ञत्व आदि को प्राप्त करता है और उसका 'कर्तृत्व-ज्ञान' नष्ट हो जाता है। ज्ञान से, 'प्रारब्ध कर्म' को छोड़ कर, अन्य सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, 'प्रारब्ध' तो भोग से ही नष्ट होता है।[2]

निवृत्तिमार्ग की प्रक्रिया—भास्कर के मत में निवृत्तिमार्ग का क्रम है कि सब से पहले बाह्येन्द्रियों का व्यापार मन में संयमित होता है। मन का व्यापार

योगाभ्यास

ज्ञानामिका बुद्धि में, बुद्धि को महान् आत्मा में या भोक्ता में, स्थापित करना चाहिए। पश्चात् महान् आत्मा को, अर्थात् जीवात्मा को, शान्त, प्रपञ्चातीत, सर्वव्यापी, परमात्मा के साथ संयुक्त कर **'स एवाहमस्मि'**—'वही मैं हूँ' इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। यही योगाभ्यास है। इसमें सिद्धि मिलने से **विष्णुपद** की प्राप्ति होती है।

भास्करमत में 'ब्रह्म' की प्राप्ति के लिए **'चित्त की एकाग्रता'** को **'ध्यान'**,

ध्यान, धारणा एवं समाधि का अर्थ

प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि और मन के **'युगपत्संधान'** को **'धारणा'** तथा श्रद्धा और प्रयत्न के साथ-साथ नित्य **'चिन्ता'** को **'समाधि'** कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में **भास्करमत** का विचार समाप्त हुआ।

---

[1] भाष्य, १-१-४।

[2] भाष्य, ४-१-१५।

षोडश परिच्छेद

विशिष्टाद्वैत-दर्शन

(रामानुज-वेदान्त)

यह मत श्री-सम्प्रदाय[1] के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रधान केन्द्र तामिल प्रान्त कहा जा सकता है।[2] इस प्रान्त के इतिहास से ज्ञात होता है कि वहाँ बहुत पूर्व वैष्णव-धर्म-प्रवर्तक बारह भक्त हुए थे, जिनके नाम हैं—सरोयोगिन्, भूतयोगिन्, महद्योगिन् या भ्रांतयोगिन्, भक्तिसार, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त, गोदा, भक्तांघ्रिरेणु, योगिवाहन और परकाल।[3] इनके बाद छः वैष्णवाचार्य हुए, जिनमें **नाथमुनि**[4] और उनके पौत्र यामुनाचार्य बहुत प्रसिद्ध थे। मध्यवीथिभट्ट और कृष्णपाद भी प्राचीन आचार्य थे।[5] कहा

श्री-सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा

नाथमुनि

---

[1] इसे 'श्री'-सम्प्रदाय इसलिए नहीं कहते कि इसमें 'लक्ष्मी' भी नारायण के साथ-साथ पूज्या हैं, और इसलिए यह एक प्रकार का शाक्त-दर्शन कहा जा सके, किन्तु इस सिद्धान्त में सर्वत्र 'श्री' शब्द का प्रयोग केवल 'आदर' का द्योतक है। ये लोग हर नाम के पहले 'श्री' लगाते हैं, जैसे ब्रह्मसूत्र के ऊपर श्रीरामानुजाचार्य के भाष्य का नाम 'श्री-भाष्य' है। इसी तरह से ये लोग वैष्णव को 'श्री-वैष्णव' कहते हैं, इत्यादि। अर्थात् इनके मत में 'श्री' शब्द का प्रयोग केवल 'आदर' के अर्थ में सर्वत्र किया गया है।

[2] श्रीमद्भागवत, ११-५-३८-४०।

[3] एल् कृष्णस्वामी ऐयंगर,—लाइफ ऐंड टाइम्स इत्यादि, पृष्ठ ३-४।

[4] तत्त्वमुक्ताकलाप के अंत में।

[5] तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ २, ५।

जाता है कि नाथमुनि दसवीं शताब्दी में हुए।[1] यह परकालमुनि के शिष्य थे। 'न्यायतत्त्व' और 'योगरहस्य' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।[2] इनके बाद **यामुनाचार्य** हुए, जिन्होंने वैष्णव-सम्प्रदाय को वैदिक सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया।

यामुनाचार्य

'आगमप्रामाण्य', 'महापुरुषनिर्णय', 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थ-संग्रह', 'चतुःश्लोकी' तथा 'स्तोत्ररत्न' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। यामुनमुनि श्रीरंगम में रहते थे।

यामुनमुनि के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध श्रीरामानुजाचार्य थे। रामानुज का दूसरा नाम लक्ष्मण था। इनका जन्म १०१७ ई० में हुआ। इनके पिता का नाम केशव था,

रामानुजाचार्य

जो रामानुज के जन्म के कुछ ही दिन बाद परलोक सिधारे। बाल्यावस्था में साधारण शिक्षा प्राप्त कर इन्हें वेदान्त पढ़ने की उत्कट इच्छा हुई और यह अपनी मौसी के पुत्र गोविन्द के साथ काञ्ची आकर 'यादवप्रकाश' से वेदान्त पढ़ने लगे। किन्तु यहाँ उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इतने में यामुनमुनि ने रामानुज के गुणों से प्रसन्न होकर इन्हें श्रीरंगम बुलाया। परन्तु रामानुज के श्रीरंगम पहुँचने के पूर्व ही यामुनमुनि का देहान्त हो चुका था। श्रीरंगम पहुँच कर रामानुज ने 'बादरायणसूत्र' के ऊपर एक भाष्य रचने की प्रतिज्ञा की और पुनः काञ्ची लौट कर चले आये। पेरि अनंबि नामक संन्यासी से इन्होंने संन्यास ग्रहण किया, पुनः श्रीरंगम जाकर स्थिर हो गये। इसके पश्चात् अपने एक शिष्य की, जिसे 'बोधायनवृत्ति'[3] कण्ठस्थ थी, सहायता से रामानुज ने **'श्री-भाष्य'** की रचना की और बाद में 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदान्तदीप' तथा 'गीताभाष्य', आदि ग्रन्थों की भी रचना की।

इनके अनुयायियों में 'तत्त्वत्रय' के रचयिता **लोकाचार्य**, 'पंचरात्ररक्षा' आदि ग्रन्थों के कर्ता **वेदान्तदेशिक**, 'यतीन्द्रमतदीपिका' के रचयिता **श्रीनिवासाचार्य** आदि बहुत प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं।

---

[1] सर एस० राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ६६८।

[2] राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ६६८।

[3] कहा जाता है कि बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर एक 'वृत्ति' लिखी थी। किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि इसी 'वृत्ति' में ब्रह्मसूत्र का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट किया गया है।

तत्त्वविचार

रामानुज के अनुसार 'चित्', 'अचित्' और 'ईश्वर', ये ही तीन मूलतत्त्व हैं। इनमें 'ईश्वर' तो प्रधान अंगी है और 'चित्' तथा 'अचित्', इसके दो विशेषण या अंग हैं। इसीलिए यह मत **'विशिष्ट-अद्वैतवाद'** कहलाता है।

१—चित्-तत्त्व

चित्-तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न है। यह स्वप्रकाश, आनन्दरूप या सुखरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार है तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इसका नियामक है, अर्थात् 'ईश्वर' की बुद्धि के अधीन इसका सब व्यापार होता है। 'ईश्वर' ही इसका धारक है और यह 'ईश्वर' का अंगभूत भी है।[1]

जीवात्मा का ज्ञान सर्व-व्यापक है, इसी लिए इसके भोग में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं होता और एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकती है।[2] यही जीव 'ज्ञाता', 'भोक्ता' और 'कर्ता' है। संसारी कार्यों के प्रति आत्मा में स्वाभाविक 'कर्तृत्व' नहीं है।[3] जीव में जो 'स्वातंत्र्य' है, वह 'ईश्वर'-प्रदत्त है। इन दोनों में सेव्य-सेवक-भाव है। जीव जो कुछ करता है, सब ईश्वर-प्रेरित होकर ही करता है।[4]

जीवात्मा के तीन भेद हैं—'बद्ध', 'मुक्त' तथा 'नित्य'।

(१) **बद्ध-जीव**—'बद्ध' उन्हें कहते हैं जिनका सांसारिक जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है। इनके रहने का स्थान चौदहों भुवन है। ब्रह्मा से लेकर अति तुच्छ कीड़े मकोड़े तक सभी जीव **'बद्ध'** हैं।

इन बद्ध जीवों की उत्पत्ति के संबन्ध में कहा गया है कि भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्मा हुए और उनसे रुद्र, सनक, सनन्दन,

---

[1] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ ५, २४।**

[2] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ १३।**

[3] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ १९-२०।**

[4] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ २०-२१।**

सनातन तथा सनत्कुमार; नारद आदि **'देवर्षि'** वशिष्ठ, भृगु, आदि **'ब्रह्मर्षि'** तथा पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष, कश्यप, आदि नौ **'प्रजापति'** उत्पन्न हुए।[1] इनसे देवगण, इन्द्र, वह्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुवेर, ईश, ब्रह्मा तथा अनंत, ये दश **'दिक्पाल'**; विश्वभुक्, विपश्चित्, विभु, प्रभु, शिखि, मनोजव, अद्भुत, त्रिदिव, बलि, इन्द्र, सुशांति, सुकीर्ति, ऋतुधाता तथा दिवस्पति, ये चौदह 'इन्द्र'[2]; स्वयंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि तथा इन्द्रसावर्णि, ये चौदह **'मनु'**; असुर; पितृगण; सिद्ध; गंधर्व; किन्नर; किंपुरुष; विद्याधर आदि; धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास, ये आठ **'वसु'**; अज, एकपात्, अहिर्बुध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंबक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण तथा ईश्वर, ये ग्यारह **'रुद्र'**; विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र तथा उरुक्रम, ये बारह **'आदित्य'**; दोनों अश्विनीकुमार; दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, आदि **'देवयोनि'**; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, आदि **'मनुष्यगण'**; पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीट, आदि **'तिर्यक्-गण'**; वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध तथा तृण, आदि **'स्थावर'**; ये सब क्रमशः उत्पन्न हुए।

इनमें से तिर्यक्-गण, स्थावर, आदि को छोड़ अन्य सब **'शास्त्रवश्य'** कहलाते हैं। इनमें से कुछ तो 'भोग' की इच्छा रखते हैं और कुछ 'मोक्ष' की। भोगियों में भी कुछ तो 'अर्थ' और 'काम' को अपना ध्येय मानते हैं और कुछ केवल 'धर्म' को। धार्मिक बुद्धि वाले 'परलोक' को मानते हैं तथा देवताओं एवं भगवान् में श्रद्धा और भक्ति रखते हैं। मुक्ति की इच्छा रखने वाले कुछ तो केवल ज्ञान द्वारा 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'

---

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३२। यहाँ 'मनुस्मृति' में लिखा है कि ब्रह्मा ने प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिए दश प्रजापति बनाये, जिन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहते हैं। इन के नाम हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद—१-३४-३५।

[2] देवीपुराण, कालव्यवस्थाध्याय।

के 'विवेक' को ही अपना ध्येय समझते हैं, कुछ 'भक्ति' तथा 'प्रपत्ति' के द्वारा भगवान् में लीन हो जाना अपना कर्तव्य समझते हैं।

भक्ति के अधिकारी—इस भक्ति-मार्ग में देवताओं के अतिरिक्त, केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को ही अधिकार है, शूद्र को नहीं। जो सब तरह से दरिद्र हैं तथा जिन्हें भगवान् की शरण छोड़ अन्य उपाय न हो तथा जो अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर दें, वे ही **'प्रपन्न'** कहलाते हैं। इनमें से कोई तो भगवान् द्वारा धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते हैं और कोई केवल 'मोक्ष' को ही अपना चरम उद्देश्य समझते हैं। 'मोक्ष' की इच्छा रखने-वाले संसार से विरक्त होकर, सत्संग से विवेक-बुद्धि को प्राप्त कर, सद्गुरु के समीप जाकर भगवान् के चरणों में अपने को समर्पित कर देते हैं।

इसके अधिकारी सभी होते हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे होते हैं जो प्रारब्ध-कर्म को मानते हुए अपने शरीर के स्वाभाविक अवसान-समय की प्रतीक्षा करते हैं। वे **'दृप्त'** कहलाते हैं और जो इस संसार में अपने को प्रज्वलित अग्नि के मध्य में जलते हुए के समान मानकर शीघ्र इससे छुटकारा चाहते हैं, वे **'आर्त'** कहलाते हैं।

(२) **मुक्त जीव**—इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव हैं जो **'मुक्त'** कहलाते हैं। ये लोग भगवान् की आराधना का उपाय जान कर अपना कर्तव्य समझ कर भगवान् की नित्य तथा नैमित्तिक आज्ञा का, किंकर के समान, पालन करते हैं, भगवान् तथा भगवद्भक्तों के प्रति कोई अपराध भूल से भी न हो, इसका सतत ध्यान रखते हैं। अपने शरीर को छोड़ने के समय, ये अपने सुकृत तथा दुष्कृत के भोग को नाश कर हृदय में परमात्मा का ध्यान करते हुए मुक्ति के द्वारस्वरूप सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर हृदय के साथ-साथ सूर्य की किरणों के सहारे अग्निलोक को चले जाते हैं। मार्ग में दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर के अभिमानी देवता लोग तथा वायु इनका सत्कार करते हैं। इसके बाद 'जीव' सूर्यमण्डल को भेद कर नभोरन्ध्र से होते हुए सूर्यलोक को पहुँच जाते हैं। इसके बाद चन्द्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र तथा प्रजापतियों द्वारा मार्ग दिखाये जाने पर आतिवाहिक गणों

के साथ-साथ चन्द्रादि लोकों से होते हुए 'जीव' वैकुण्ठ की सीमा में विद्यमान 'विरजा' नाम के तीर्थ में पहुँच जाते हैं। यहाँ आकर ये 'जीव' **सूक्ष्म-शरीर** का परित्याग करते हैं।

यहाँ पर 'जीव' अमानुषीय हाथों के स्पर्श के कारण अप्राकृतिक **दिव्य शरीर** को धारण करते हैं। यहाँ पर इनका स्वरूप चतुर्भुज हो जाता है तथा ये ब्रह्म-अलंकारों से युक्त हो जाते हैं। फिर इन्द्र, प्रजापति, आदि नगर-द्वारपालों की आज्ञा से श्रीवैकुण्ठ नाम के दिव्य नगर में ये प्रवेश करते हैं। इसके बाद गरुड़ तथा अनंत से युक्त झंडों से सजाये हुए दीर्घ प्राकारों सहित गोपुरों को पार करते हुए 'ऐरम्मद' नाम के अमृत-सरोवर तथा 'सोमसवन' नाम के अश्वत्थ को देखकर, हाथ में माला लिये हुए पाँच सौ दिव्य अप्सराओं द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए, ब्रह्म-गन्धादियों से अलंकृत होकर, अनंत, गरुड़, विष्वक्सेन आदि को प्रणाम करते हुए तथा उनसे सम्मान पाकर महामणिमण्डप के पास पहुँच कर, पलंग के पास अपने आचार्य को देखते हैं। उन्हें प्रमाण कर 'जीव' पलंग के पास जाते हैं।

वहाँ धर्मादि पीठ के ऊपर अनंत-कमल पर बैठे हुए, हाथ में चामर लिये हुए विमला आदि से सेवित, श्रीभूलीला के साथ, शंख, चक्र, आदि दिव्य आयुधों से युक्त, चमकते हुए किरीट, मकराकृति कुण्डल, गले के हार, केयूर, श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि, मुक्ता, दामोदर-बन्धन, पीताम्बर, काञ्चीगुण, नुपुर, आदि अनेक दिव्य भूषणों से विभूषित, अनंत उदार कल्याण-गुणों के सागर **श्रीभगवान् को देखकर** उनके कमल-चरणों पर अपना सिर रखकर 'जीव' प्रणाम करते हैं। इसके बाद श्रीभगवान् अपनी गोद में बिठा कर प्रत्येक 'जीव' से पूछते हैं—'तुम कौन हो' ? उत्तर में 'जीव' कहता है—'मैं ब्रह्म-प्रकार हूँ', अर्थात् मैं एक प्रकार का 'ब्रह्म' हूँ। फिर भगवान् उसकी तरफ देखते हैं और इसी से 'जीव' को अत्यन्त हर्षानुभव प्राप्त होता है तथा सब तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त, भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह 'जीव' में आविर्भूत हो जाता है और इन सबका अनुभव 'जीव' को होने लगता है। ऐसे जीव **'मुक्त'** कहलाते हैं।

ये **'मुक्त जीव'** ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक हैं तथा सब लोकों में अपनी इच्छा से **विचरण** कर सकते हैं।[१]

(३) **नित्य जीव—'नित्य जीव'** उन्हें कहते हैं जो कभी भी संसार में न आये हों।[२] इनमें ज्ञान का संकोच कभी नहीं रहता। ये भगवान् के विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते। ईश्वर की नित्य इच्छा से ही इनके भिन्न-भिन्न अधिकार अनादि काल से नियत हैं। भगवान् के अवतार के समान इनके भी अवतार स्वेच्छा से ही होते हैं। अनंत, गरुड़, विष्वक्सेन, आदि **'नित्य जीव'** हैं।[३]

आत्मा में **'अचित्' के** संसर्ग से अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती है और अचित् के निवृत्त होने से ही अविद्या आदि की निवृत्ति भी होती है।[४]

इन तीनों प्रकार के चेतनों में जो **'ज्ञान' है**, वह 'आत्मा' के स्वरूप के समान नित्य, द्रव्यात्मक, अजड़ तथा आनंद-स्वरूप है।[५] 'आत्मा' के स्वरूप में संकोच और विकास नहीं है और न अपने को छोड़ वह दूसरे किसी का प्रकाशक ही है। किन्तु 'ज्ञान' संकोच एवं विकास से युक्त है तथा अपने से अतिरिक्त का ही प्रकाशक है।

ज्ञान और आत्मा में भेद

मुक्तावस्था में 'ज्ञान' सभी आत्माओं में पूर्णतया विकसित रहता है। किसी का 'ज्ञान' सदैव व्यापक रहता है, जैसे—देवताओं का, किसी का कभी व्यापक नहीं रहता, जैसे—बद्ध जीवों का तथा किसी का कभी-कभी व्यापक रहता है, जैसे—मुक्त पुरुषों का।[६]

मुक्तावस्था में ज्ञान

२—अचित् तत्त्व

अचित् तत्त्व जड़ तथा विकारवान् है। इसके तीन भेद होते हैं—'शुद्धसत्त्व', 'मिश्रसत्त्व' तथा 'सत्त्वशून्य'।

---

[१] **यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३२-३६।**

[२] **यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३६।**

[३] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ २६।**

[४] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ २६।**

[५] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ ३५।**

[६] **तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ ३५-३६।**

(१) **शुद्धसत्त्व**—शुद्धसत्त्व में रजोगुण तथा तमोगुण नहीं रहते। इसी लिए यह नित्य है। यह ज्ञान एवं आनन्द का जनक है। बिना किसी कर्म के केवल भगवान् की इच्छा से यह 'शुद्ध सत्त्व' **नित्य धाम** के वस्तुमात्र का आकार धारण कर लेता है। इसी से समस्त वैकुण्ठ धाम, विमान, गोपुर, मण्डप, प्रासाद, आदि तथा 'नित्य मुक्त' जीव एवं भगवान् का देह-पर्यंत बना है। यह अपूर्व तेजोमयी वस्तु है, जिसका पता नित्य मुक्तों को तथा ईश्वर को भी नहीं मिलता है। इसके स्वरूप का निर्णय करना अत्यंत कठिन है।[1] कोई इसे जड़ कहते हैं और कोई अजड़। अजड़ कहने वालों के मतानुसार 'नित्यमुक्त' तथा 'ईश्वर' के ज्ञान के बिना ही, यह स्वयं प्रकाशमान् है। संसारियों को इसका अनुभव नहीं होता। 'शुद्धसत्त्व' शरीरादि-रूप में परिणत होता है और बिना किसी विषय के ही इसका भान होता है। शब्द, स्पर्श, आदि इसके धर्म हैं।

(२) **मिश्रतत्त्व**—मिश्रसत्त्व में तीनों गुण मिश्रित रहते हैं। यह बद्ध पुरुषों के ज्ञान तथा आनन्द का आवरणस्वरूप है। इसी के कारण विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यह नित्य तथा ईश्वर की जगत्सृष्टिस्वरूप क्रीडा में 'परिकर', अर्थात् सहायक है। यही विकारों का उत्पादक होने के कारण **'प्रकृति'**, ज्ञान का विरोधी होने के कारण **'अविद्या'** तथा विचित्र सृष्टि करने के निमित्त **'माया'** कहलाता है। शब्दादि पाँच विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार तथा मन इसी के बढ़ते हुए परिणाम हैं।

(३) **सत्त्वशून्य**—सत्त्वशून्य एवं त्रिगुणशून्य तत्त्व **'काल'** है। यह प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थों के परिणाम का हेतु है। यह भी नित्य तथा ईश्वर का क्रीडापरिकर एवं शरीर है। बिना 'काल' के अधीन हुए ईश्वर भी जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता है। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत-प्रलय इसी **'काल'** के अधीन हैं।

शुद्धसत्त्व तथा **मिश्रसत्त्व** से जीवात्मा तथा ईश्वर का भोग्य (विषय), भोगस्थान (चतुर्दश भुवन) तथा भोगसामग्री (चक्षुरादि) बनती है।

---

[1] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ ४१।**

३—ईश्वरतत्त्व

आत्मा (**चित्**) तथा जड़ (**अचित्**) ईश्वराश्रित हैं। चित् और अचित् इनकी देह हैं। इनको छोड़ कर पृथक् स्वरूप में चित् और अचित् नहीं रह सकते। अनन्त ज्ञानवान्, आनंद का एकमात्र स्वरूप, ज्ञान, शक्ति, आदि अच्छे गुणों से विभूषित, समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का देने वाला, विचित्र शरीर धारण करने वाला तथा लक्ष्मी, भू एवं लीला का नायक **'ईश्वर'** है। यह चारों प्रकार के भक्तों का आश्रयदाता है। अज्ञानियों के लिए ज्ञानस्वरूप, अशक्तों के लिए शक्तिस्वरूप, अपराधियों के लिए क्षमास्वरूप, मन्दों के लिए शीलस्वरूप, कुटिलों के लिए सीधा स्वभाव धारण करने वाला, दुष्ट हृदय वालों के लिए सुहृद्-स्वरूप **'ईश्वर'** ही है।

ईश्वर का स्वरूप

'ईश्वर' इतना दयालु है कि दूसरों को दुःख में देखकर आह भरता है तथा उनके कल्याण के मार्ग को ढूँढ़ निकालता है। यही **'ईश्वर'** अपनी इच्छा से सकल जगत् का कारण-स्वरूप है। संसार को उत्पन्न करने का एकमात्र प्रयोजन **'भगवत्-लीला'** है। संसार का संहार करना भी भगवान् की लीला ही है। यही **'ईश्वर'** स्वयं जगत्-रूप में परिणत हो जाता है। **भगवान् की देह** के स्वरूप का वर्णन करते हुए लोकाचार्य ने कहा है[1]—

> "यह उसके अपने स्वरूप तथा गुण के अनुरूप, नित्य, एक-रूप, शुद्धसत्त्वमय, अत्यंत तेजोमय, सुकुमार, सुन्दर, लावण्ययुक्त, सुगंधि-युक्त, यौवनावस्था को धारण करने वाला, दिव्य रूपवान् तथा योगियों का एकमात्र ध्येय है। भगवान् का शरीर उसके असली स्वरूप को जीव की देह के समान कभी भी नहीं छिपा सकता है। भगवान् का शरीर सकल जगत् को मोहने वाला है। इस रूप के दर्शन से सांसारिक समस्त भोग्य पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। भगवान् के रूप का दर्शन तीनों तापों का नाश करने वाला है। 'नित्य मुक्तों' के द्वारा सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान् का स्वरूप है। दिव्य भूषणों से तथा दिव्य अस्त्रों से सदैव यह शरीर युक्त

---

[1] **तत्त्वत्रय, पृष्ठ ११८-११९; तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ ११९-१२१।**

रहता है। यह भक्तों का रक्षक है, धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जीव जगत् में अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।"

ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है—

(१) **'पर'**—यही वासुदेव-स्वरूप कहलाता है। यह स्वरूप काल की गति से परे है। इसका कभी परिणाम नहीं होता है। निरवधि आनन्द से सदा यह विभूषित रहता है। यही **पर स्वरूप** भगवान् का **'षाड्गुण्यविग्रह'**[1] कहलाता है। इसी को वैकुण्ठ में देवता लोग नेत्रों से तथा ज्ञान से देखते रहते हैं।

(२) **'व्यूह'**—यह स्वरूप विश्व की लीला के निमित्त है। यह 'संकर्षण', 'प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध' के स्वरूप में वर्तमान है। संसारियों की रक्षा तथा मुमुक्षु एवं भक्तों के प्रति अनुग्रह दिखाने के लिए यह स्वरूप है। 'पर' स्वरूप में तो ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज, ये छः गुण सदैव वर्तमान हैं, किन्तु 'व्यूह' में केवल दो गुण प्रकट रूप में वर्तमान रहते हैं, अर्थात् ज्ञान तथा बल **संकर्षण** के स्वरूप में प्रकट हैं। **प्रद्युम्न** में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुण एवं **अनिरुद्ध** में शक्ति और तेज रहते हैं।

संकर्षण-स्वरूप के द्वारा शास्त्रप्रवर्तन तथा जगत् का संहार, **प्रद्युम्न**-स्वरूप के द्वारा धर्मोपदेश एवं मनु, चारों वर्ण, आदि शुद्ध वर्गों की सृष्टि तथा **अनिरुद्ध**-स्वरूप के द्वारा रक्षा, तत्त्वज्ञान का प्रदान, कालसृष्टि तथा मिश्रसृष्टि का निर्वाह भगवान् करते हैं।

(३) **विभव**—यह अनंत होने पर भी गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का होता है। **मुख्य विभव** श्रीभगवान् का अंश तथा अप्राकृत देहयुक्त है। यही स्वरूप मुमुक्षुओं के लिए उपास्य है। भगवान् के साक्षात् अवतार को **मुख्य** तथा 'स्वरूपावेश' एवं 'शक्त्यावेश' अवतार को गौण कहते हैं।

---

[1] **ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज से परिपूर्ण भगवान् की देह को 'षाड्गुण्यविग्रह' कहते हैं। तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ १२४।**

अवतार---भगवान् की इच्छा से साधुओं के परित्राण, दुष्कृतों के विनाश तथा धर्म के संस्थापन के लिए अवतार होता है।

(४) **अन्तर्यामी**---इस स्वरूप से भगवान् जीवों के अन्तःकरण में प्रवेश कर जीवों की सकल प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। इसी रूप से भगवान् स्वर्ग, नरक, आदि स्थानों में सभी अवस्थाओं में सभी जीवों की सहायता करते हैं।

(५) **अर्चावतार**---यह भक्त की रुचि के अनुसार मूर्ति में रहने वाली भगवान् की **उपास्य मूर्ति** है।

भगवान् की उपासना

भगवान् की 'उपासना' को ही निदिध्यासन, योग, ज्ञान या भक्ति कहते हैं। ध्यान के द्वारा भक्तिसाधन होता है और उसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इनके मत में बन्धन पारमार्थिक है। अतएव जीव और ब्रह्मसम्बन्धी अभेदबुद्धि के द्वारा उस 'बन्धन' का नाश नहीं हो सकता। बन्धन-निवृत्ति केवल ईश्वर की प्रीति और प्रसन्नता पर निर्भर है। अभेद-ज्ञान एक प्रकार से मिथ्या होने के कारण इससे 'बन्धन' और दृढ़ हो जाता

अभेदज्ञान मिथ्या ज्ञान है

है। जीव 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है तथा ईश्वर इसका 'प्रेरक' है। यह भेद इनके स्वरूप में रहता है और अभेद-ज्ञान इस पारमार्थिकस्वरूप भेद को नष्ट करता है। इसी लिए उसे मिथ्या ज्ञान माना गया है।

रामानुज के मतानुसार **वर्णाश्रमोचित कर्म** करने से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से 'भक्ति' और भक्ति से 'मोक्ष-प्राप्ति' होती है।

ज्ञान-स्वरूप-विचार

प्रसंगवश रामानुज के मत के अनुसार यहाँ ज्ञान के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। **ज्ञान** स्वयंप्रकाश तथा विभु है। 'नित्य जीवों' का तथा 'ईश्वर' का 'ज्ञान' नित्य एवं व्यापक है। 'बद्ध जीव' का 'ज्ञान' तिरोहित रहता है। 'मुक्तों' का 'ज्ञान' पहले तिरोहित रहता है, पश्चात् आविर्भूत होता है। ये लोग भी 'ज्ञान' को 'स्वतःप्रमाण' मानते हैं। संकोच तथा विकास की अवस्था को लेकर ही ज्ञान की उत्पत्ति एवं नाश का प्रयोग होता है।

ज्ञान को रामानुज मतवाले 'द्रव्य' मानते हैं। यद्यपि आत्मा का गुण भी ज्ञान है, तथापि प्रभा के समान यह गुण और द्रव्य दोनों हो सकता है, इसलिए अपने आश्रय

से अन्यत्र भी 'ज्ञान' रह सकता है।[1] मुक्तों का 'ज्ञान' एक ही काल में नेत्र या सूर्य के तेज के समान अनंत देहों के साथ संयुक्त हो सकता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न, ये सब 'ज्ञान' के ही स्वरूप हैं। **'ज्ञान'** मन का सहकारी है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मृति, संशय, विपर्यय, भ्रम, विवेक, व्यवसाय, मोह, राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, धैर्य, चापल्य, दंभ, लोभ, क्रोध, दर्प, स्तंभ, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद, आनन्द, सुमति, दुर्मति, सुप्रीति, तुष्टि, उन्नति, शांति, कांति, विरक्ति, रति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, तितिक्षा, विचारणा, जिगीषा, मुदिता, क्षमा, चिकीर्षा, जुगुप्सा, भावना, कुहना, असूया, जिघांसा, तृष्णा, दुराशा, वासना, दुर्वासना, चर्चा, श्रद्धा, भक्ति, प्रपत्ति, आदि जो जीव के गुण हैं, वे सब 'ज्ञान' के ही अवस्था-विशेष हैं।[2]

आश्रय से अन्यत्र भी ज्ञान है

उक्त सभी गुणों में **भक्ति** तथा **प्रपत्ति** का विशेष स्थान है। इन्हीं दोनों से प्रसन्न होकर 'ईश्वर' मोक्ष देते हैं। ये ही मोक्ष के साधन हैं। कर्मयोग और ज्ञान-योग आदि भी भक्ति के ही द्वारा मोक्ष-साधक हैं, अन्यथा नहीं।[3] इसी **'प्रपत्ति'** को 'शरणागति' भी कहते हैं। इसी के सहारे अर्जुन को श्रीकृष्ण भगवान् ने उपदेश दिया था, जैसा गीता में कहा गया है—

भक्ति तथा प्रपत्ति

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥[4]

प्रमाण-निरूपण

रामानुज के मत में भी समस्त पदार्थ 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के भेद से दो प्रकार के हैं। 'प्रमेय' का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका, अब 'प्रमाण' के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना आवश्यक है। **प्रमा,** अर्थात् यथार्थज्ञान, के करण को **'प्रमाण'** कहते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये प्रमाण के तीन भेद हैं।

---

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ २६।
[2] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ २७।
[3] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ २९।
[4] गीता, अध्याय २, श्लोक ७।

प्रत्यक्ष प्रमाण—हम लोगों की इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् यथार्थज्ञान का जो करण है, वही **'प्रत्यक्ष'** है। इसके 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' दो भेद हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

नीला, पीला, आदि गुण तथा अवयव-सस्थान आदि से **विशिष्ट** प्रथम बार जो विषय का ज्ञान होता है, वही **'निर्विकल्पक'** है। ऊहापोह-सहित गुण तथा अवयव-संस्थान आदि से विशिष्ट दूसरी, तीसरी बार जो वस्तु का ज्ञान होता है, वही **'सविकल्पक'** प्रत्यक्ष है।

न्यायमत से भेद—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दोनों ही भेदों में **विशिष्ट-विषयक** ज्ञान इनके मत में माना गया है, अतएव नैयायिकों के सिद्धांत से यह सर्वथा विलक्षण है। रामानुज के मत में **अविशिष्टग्राही ज्ञान** होता ही नहीं।[1]

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पाँचों इन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ये लोग 'समवाय-सम्बन्ध' के स्थान में एक **आश्रय-संबंध** मानते हैं। ये इन भेदों के अतिरिक्त **अर्वाचीन** और **अनर्वाचीन** और भी ज्ञान के दो भेद मानते हैं। फिर 'अर्वाचीन' के दो भेद हैं—'इन्द्रियसापेक्ष' और 'इन्द्रियानपेक्ष'। **'इन्द्रियानपेक्ष'** भी फिर दो प्रकार का है—'स्वयं-सिद्ध' और 'दिव्य'। योगजन्य प्रत्यक्ष **'स्वयं-सिद्ध'** है तथा भगवत्प्रसाद-जन्य प्रत्यक्ष **'दिव्य'** है। **'अनर्वाचीन'** प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की कोई भी अपेक्षा नहीं रहती, जैसे—नित्य मुक्त जीव तथा ईश्वर का ज्ञान।[2]

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अभाव (जो इनके मत में भाव-स्वरूप है) एवं **ऊह, संशय** तथा **प्रतिभा,** ये सब प्रत्यक्ष-प्रमाण के अंतर्भूत माने जाते हैं।

भ्रम भी यथार्थज्ञान है—ये लोग **'सत्ख्याति वादी'** हैं; इसलिए इनके मत में ज्ञान के सभी विषय सत्य हैं। यथार्थ में **'सर्वं विज्ञानं यथार्थम्'**, इसके अनुसार **'भ्रम'** आदि भी यथार्थ हैं, मिथ्या नहीं। तथापि यदि कोई किसी ज्ञान को भ्रमात्मक कहते हैं, तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस ज्ञान के द्वारा लौकिक व्यवहार में बाधा उत्पन्न होने के कारण से ही वे उसे **भ्रमात्मक** कहते हैं। इसलिए **'स्वप्नज्ञान'** भी इनके मत में सत्य ही है।

---

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३।

[2] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ४।

चैतन्य के भेद—ये तीन प्रकार के **'चैतन्य'** मानते हैं—अन्तःकरणावच्छिन्न, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य। जब ये तीनों चैतन्य एकत्र होते हैं, तभी **'साक्षात्कार'** कहा जाता है।[1]

साक्षात्कार

अनुमान प्रमाण 'व्याप्य' के व्याप्यत्व के अनुसंधान से किसी व्यापक का जो ज्ञान है, उसके 'करण' को **'अनुमान'** और उसके फल को **'अनुमिति'** कहते हैं। व्याप्य और व्यापक में **'उपाधि'**-रहित जो एक नियत सम्बन्ध है, उसे ही **'व्याप्ति'** कहते हैं। **व्याप्ति** का ज्ञान बार-बार दो वस्तुओं को एकत्रित देखने से होता है। **'अन्वय'** और **'व्यतिरेक'** दो प्रकार की 'व्याप्ति' होती है। 'अन्वयव्यतिरेकी' और 'केवलान्वयी', अनुमान के दो भेद, ये लोग मानते हैं। 'केवल-व्यतिरेकी' में साध्य अप्रसिद्ध होने के कारण व्यतिरेक-व्याप्तिदुर्ग्रह है, इसलिए इसे ये लोग नहीं मानते।[2]

अनुमान

अनुमान के अवयव—साधारण रूप से अनुमान के 'प्रतिज्ञा', 'उपनय', 'निगमन', 'हेतु' तथा 'उदाहरण', को ये भी स्वीकार करते हैं; किन्तु **'व्याप्ति'** और **'पक्षधर्मता'**, इन दोनों अनुमान के प्रधान अंगों की सिद्धि केवल 'उदाहरण' तथा 'उपनय' के ही द्वारा होती है, इसलिए कभी तीन और कभी दो ही अवयवों को ये मानते हैं। यथार्थ में इनका कहना है कि जितने अवयवों के द्वारा विपक्षी को अपना सिद्धांत समझाया जा सके, उतने ही अवयवों को मानना चाहिए ।

इनके मत में 'उपमान', 'अर्थापत्ति' और 'तर्क' तथा 'कथा', 'जल्प', 'वितण्डा', 'छल', 'जाति' और 'निग्रहस्थान', ये सब अनुमान के ही अंतर्भूत हैं।

शब्द प्रमाण—अनाप्तों से नहीं कहा गया जो 'वाक्य', उससे उत्पन्न जो उसका 'अर्थ', उसी के ज्ञान को **'शाब्द ज्ञान'** तथा उसके करण को **'शब्द प्रमाण'** कहते हैं।

इनके मत में **वेद** 'अपौरुषेय' और नित्य है। 'शिक्षा' आदि **षडंग** से युक्त **'वेद' प्रमाण** है।

आप्त-रचित **'स्मृति'**, यदि श्रुति से अविरुद्ध हो तथा आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्तादि की प्रतिपादक हो तो, वह भी प्रमाण है।

---

[1] **यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ५ ।**

[2] **यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ८ ।**

वेद-मूलक **पुराण** और **इतिहास** भी प्रमाण हैं। इनमें भी जो विरोध-प्रतिपादक हैं, वे अप्रमाण हैं।

'श्रीपंचरात्रागम' में वेदों से कहीं भी विरोध न होने के कारण, यह सर्वथा प्रमाण है। **'वैखानस-आगम'** और **'धर्म-शास्त्र'** वेदों के अविरुद्ध होने से प्रमाण हैं।

बकुल, आभरण, आदि विद्वानों की उक्तियाँ सभी प्रमाणतर हैं और श्रीरामानुज का **श्रीभाष्य** आदि तो प्रमाणतम ग्रन्थ हैं।

मिश्रसत्त्व में तीनों गुण हैं। इसी को प्रकृति, माया, अविद्या, आदि कहते हैं। यह नित्य है। भगवान् के संकल्प से इसकी साम्यावस्था में वैषम्य उत्पन्न होता है। इसी से यह कार्योन्मुखावस्था को प्राप्त कर **'अव्यक्त'** कहलाता है।

सृष्टि-प्रक्रिया

पहले **'महत्'** की उत्पत्ति होती है। गुण के अनुसार इसके तीन भेद हैं। इससे **'अहंकार'** उत्पन्न होता है। गुणानुरूप इसके भी तीन भेद हैं—**'वैकारिक'**, **'तैजस'** और **'भूतादि'**। वैकारिक और भूतादि से ग्यारह **इंद्रियाँ** उत्पन्न होती हैं। **'मन'** भी इनके मत में ज्ञानेन्द्रिय है, इसलिए छः तो **'ज्ञानेन्द्रियाँ'** और पाँच **'कर्मेन्द्रियाँ'** हैं। इन्द्रिय का परिमाण 'अणु' है। जब 'जीव' योग के बल से दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है और अन्य लोकों में भी भ्रमण करता है, उस समय भी 'इन्द्रियाँ' जीव के साथ रहती हैं। मुक्ति में ये जीव का साथ छोड़ देती हैं और प्रलय-पर्यन्त या तो इसी संसार में रहती हैं या जिनके इन्द्रियाँ नहीं ह, वे इन्हें ग्रहण कर लेते हैं।[1]

---

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ १७।

सप्तदश परिच्छेद

द्वैताद्वैत-दर्शन

(निम्बार्क-वेदान्त)

भगवान् ने हंस के रूप में सबसे पहले इस सम्प्रदाय के सिद्धांतों को सनक आदि को सिखलाया। उन सबने फिर कुमार को सिखाया। कुमार से नारद और नारद से निम्बार्काचार्य को ये उपदेश मिले।[1] इसी लिए यह **'हंस-सम्प्रदाय'** और **'निम्बार्क-सम्प्रदाय'**, दोनों नामों से प्रसिद्ध है। 'निम्बार्क' भगवान् के सुदर्शन-चक्र के अवतार माने जाते हैं। इनके पिता अरुण मुनि और माता जयन्ती देवी थीं। किसी-किसी मत से इनकी माता और पिता के नाम क्रमशः सरस्वती और जगन्नाथ थे। ये निंबापुर या निब या नैंदूर्यपत्तन वाले तैलंगी ब्राह्मण थे। इनका जन्म किसी वैशाख शुक्ल तृतीया में हुआ था। डाक्टर भंडारकर के मतानुसार ये लगभग ११६२ ई० में मरे थे।[2] इसलिए इनका जीवनकाल बारहवीं सदी का प्रथम भाग होना चाहिए।

परिचय

निम्बार्काचार्य बड़े विद्वान् थे। इनमें अलौकिक शक्ति थी। कहा जाता है, एक समय इन्होंने अपनी शक्ति से एक संन्यासी को, नीम के पेड़ पर, अस्त हो जाने पर भी सूर्य का दर्शन कराया था, इसी लिए इनका **'निम्बार्क'** नाम पड़ा।[3]

साहित्य

'वेदान्तपारिजातसौरभ', 'सिद्धान्तरत्न', 'दशश्लोकी', 'श्रीकृष्णस्तव', 'वेदान्त-कौस्तुभ', 'वेदान्तकौस्तुभप्रभा', 'पांचजन्य', 'तत्त्वप्रकाशिका' तथा 'सकलाचार्यमतसंग्रह', आदि ग्रंथ इनके मत के प्रतिपादक हैं।

---

[1] वेदान्तपारिजातसौरभ, १-३-८; केशवस्वामी-रचित गीता की टीका।

[2] वेदान्तपारिजातसौरभ—भूमिका, पृष्ठ ३; डाक्टर आर० जी० भंडारकर—वैष्णविज्म ऐंड शैविज्म, पृष्ठ ६२।

[3] भक्तमाल, सर्ग, २२।

तत्त्व-निरूपण

निम्बार्कमत का दार्शनिक सिद्धान्त **'भेदाभेद'** या **'द्वैताद्वैत'** है। इस मत में **'जीवात्मा'**, **'परमात्मा'** या ईश्वर और जड़, **'प्रकृति'**, ये तीन तत्त्व हैं। ये तीनों आपस में भिन्न-भिन्न हैं। इसी लिए ये **द्वैतवादी** हैं। जीव तथा प्रकृति, ये दोनों परमात्मा के अधीन हैं। परमात्मा ओत-प्रोत-भाव से जीव और जड़ में वर्तमान है। परमात्मा के बिना इन दोनों की स्थिति ही नहीं हो सकती। परमात्मा से उनका इतना ही अंतर है जितना कि समुद्र का उसकी तरंग से।[1] इसलिए एक प्रकार से ये **'अभेदवादी'** भी हैं।

१—जीवात्मा

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि श्रुति के आधार पर ये लोग जीव को 'अणु' मानते हैं।[2] प्रत्येक प्राणी में 'जीव' भिन्न-भिन्न है और इसी से सुख-दुःख के वैचित्र्य का समाधान हो सकता है। यह अनंत और गुणमयी माया से बद्ध है। यह ज्ञान का आश्रय और ज्ञानस्वरूप भी है। इसी लिए इन्द्रियों के विना भी 'जीव' में ज्ञान रहता है।[3]

जीव का स्वरूप

जीव द्रष्टा, भोक्ता, कर्ता और श्रोता, सभी है। यह 'अणु' होने पर भी समस्त शरीर के सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसी से समस्त शरीर में प्रकाश भी है। 'अणु' होने पर भी गुणों के कारण जीव 'विभु' भी है, किन्तु इसमें सर्वगतत्व नहीं है। जीव स्वतंत्र नहीं है। यह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बन्धन, सबके निमित्त **'ईश्वर'** पर निर्भर है। परमात्मा के अनुग्रह से सज्जन लोग जीवात्मा का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं।[4] यह आनन्दमय नहीं हो सकता। अपने किये हुए कर्म का भोग यह स्वयं करता है। यह भी नित्य है।

जीव के भेद—'जीव' दो प्रकार के हैं—**'बद्ध'** और **'मुक्त'**।

---

[1] वेदान्तपारिजातसौरभ, १-२-५-६; २-१-१३।

[2] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १०; वेदान्तपारिजातसौरभ, २-३-१९, २२।

[3] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ ९-११।

[4] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ ११; वेदान्तपारिजातसौरभ, २-३-२३, २४, २५ २८, २९।

बद्ध—अनादि कर्म और वासना के फलस्वरूप देव, मनुष्य तथा तिर्यक्, आदि का शरीर धारण कर उसमें आत्मा या आत्मीय वस्तु का जो दृढ़ अभिमान रखते हैं, वही '**बद्ध**' हैं। ये जीव वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए मरने के बाद अपने कर्मानुसार फल का भोग कर अवशिष्ट भोग के लिए पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने के समय 'जीव' सूक्ष्म भूतों से युक्त रहते हैं।

मुक्त—इनके अतिरिक्त जीव '**मुक्त**' हैं। **मुक्त जीव** भी दो प्रकार के होते हैं—

एक तो '**नित्य मुक्त**', जैसे गरुड़, विष्वक्सेन, भगवान् के विविध आभूषण, जैसे बंशी, आदि।

दूसरे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व-जन्म के कर्मों का भोग संपन्न कर संसार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होने पर ये सब अचिरादि-मार्ग से परज्योतिःस्वरूप को पाकर अपने यथार्थ स्वरूप में आविर्भूत होते हैं और फिर लौटकर इस संसार में नहीं आते। इनमें से कोई तो ईश्वर-सादृश्य को प्राप्त करते हैं और कोई अपनी आत्मा के स्वरूप के ज्ञानमात्र से ही तृप्त हो जाते हैं।

मुक्त जीव भी भोग भोगते हैं। इसके लिए जीव को अपना कोई-शरीर धारण करना आवश्यक नहीं है। स्वप्न के समान भगवत्-सृष्ट-शरीर आदि के द्वारा, कदाचित् भगवान् की लीला के अनुसार केवल संकल्पमात्र से ही शरीर उत्पन्न कर मुक्त जीव भोग प्राप्त करते हैं।[1] इनका ऐश्वर्य जगत् के व्यापार से शून्य है।

मुक्त जीव का भोग

२—जड़ तत्त्व या प्रकृति

जड़ तत्त्व के भेद—जड़ पदार्थ के तीन भेद हैं—

(१) **अप्राकृत**—इसका उपादान सत्त्व, रजस् और तमस् नहीं है।[2] यह प्रकाशस्वरूप है। भगवान् का शरीर, उनके सब आभूषण, नगर,

---

[1] वेदान्तपारिजातसौरभ, ४-४-१३, १५।

[2] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १२।

उपवन आदि सभी वस्तुएँ इसी से बनी हैं और ईश्वर की नित्य-विभूति का स्वरूप भी इसीमें देख पड़ता है।

(२) **प्राकृत**—इस श्रेणी के समस्त पदार्थ 'प्रकृति' से उत्पन्न होते हैं। संसार के सभी जड़ पदार्थ 'प्राकृतिक' हैं।

(३) **काल**—यह तत्त्व 'प्राकृत' और 'अप्राकृत' दोनों से भिन्न है। यह नित्य और विभु है।[1]

उक्त तीनों **जड़ तत्त्व** जीवात्मा के समान नित्य हैं।

३—ईश्वर तत्त्व

तीसरा तत्त्व **ईश्वर** है, जो 'परमात्मा', 'वैश्वानर', '**ब्रह्म**', 'पुरुषोत्तम', 'भगवान्', आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व स्वभाव से ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, इन पाचों दोषों से शून्य है।[2] यह क्षर और अक्षर दोनों से ही उत्कृष्ट है। सर्वज्ञ, सबसे अचिन्त्य और अनन्त शक्ति वाला, ब्रह्मा, ईश और काल, आदि सबका नियंता, स्वतंत्र, यज्ञ, आदि सत्कर्मों का फल देने वाला, विश्व और जन्म आदि, का कारण, एकमात्र 'वेद-प्रमाण' से जानने योग्य, सबसे भिन्न और फिर सबसे अभिन्न भी, विश्वरूप भगवान् ही **ईश्वर-तत्त्व है**।[3] यह स्वयं आनंदमय है और जीवों के आनन्द का कारण भी है। यह पुण्य-पाप से परे है। मुमुक्षु लोग इसी ईश्वर का ध्यान करते हैं। यह जीवात्मा से भिन्न है, इसलिए अहित और अकरणादि दोष इसमें नहीं लगता। यह सबका द्रष्टा है। अमृतत्व और अभयत्व इसी में है।

ईश्वर के गुण—अनन्यशरण उपासकों के ऊपर अनुग्रह दिखाने के लिए भगवान् उनके इच्छानुरूप स्वरूप धारण करता है। निरतिशय सुखस्वरूप भी यही है। तीनों काल में रहने वाला तथा कार्यमात्र का और आकाश का धारक 'ईश्वर' ही है। भूत और भविष्य का स्वामी तथा नित्य आविर्भूत-स्वरूप यही है। इसमें स्वाभाविक आनन्द, ज्ञान, बल और क्रिया है। 'ईश्वर' सभी शक्तियों

---

[1] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १२।

[2] योगशास्त्र में भी 'ईश्वर' का यही लक्षण है।

[3] वेदान्तपारिजातसौरभ, १-१-२, ४, १०, १२।

से संपन्न है और सब कुछ कर सकता है। 'वासुदेव' 'संकर्षण', 'प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध', ये चारों स्वरूप इसी के अंग हैं।[1] मुमुक्षु लोग गोपियों के सहित वृषभानुकन्या के साथ वैकुंठ में बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् की ही उपासना करते हैं। केवल प्रपत्ति से ही इसका अनुग्रह होता है। यही संसार का उपादान तथा निमित्त कारण है। सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा अपने को जगत् के आकार में परिणत कर, अव्याकृत-स्वरूप, शक्ति और कृति से युक्त होकर, परिणत होता है, अर्थात् जिस प्रकार दूध कार्यरूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अपनी असाधारण शक्ति से युक्त परमात्मा भी जगत् के आकार में परिणत होता है।[2] प्रलयावस्था में जीवात्मा और जगत् दोनों ही सूक्ष्म रूप में भगवान् में ही लीन होकर रहते हैं। यह सब भूतों की अंतरात्मा है, इसलिए जगत् की वस्तुमात्र, चर और अचर, सब **ब्रह्मस्वरूप** ही है। अतएव यथार्थ वस्तु का ज्ञान भी यथार्थ है। मिथ्या ज्ञान इनके मत में नहीं हो सकता।[3] **'मन'** अपनी नानाविध वृत्ति से जीव का उपकार करता है।

जगत् परमात्मा का परिणाम है

जगत् ब्रह्म-स्वरूप है

सृष्टिप्रक्रिया—त्रिवृत्करण-प्रक्रिया के अनुसार शरीर की सृष्टि इस मत में मानी जाती है। इसलिए पृथ्वी से विष्ठा, मांस और मन, जल से मूत्र, शोणित और प्राण और तेजस् से हड्डी, मज्जा और वाक् शरीर में उत्पन्न होते हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि **'मन'** पार्थिव वस्तु है।[4]

सृष्टि-निरूपण

प्राण—अवस्थान्तर-प्राप्त वायु ही **'प्राण'** है। महाभूतों के समान यह भी उत्पन्न होता है। यह जीव का उपकरण है। देह और इन्द्रियों का 'विधारण' 'प्राण' का असाधारण कार्य है। यह 'अणु'-परिमाण का है।[5]

---

[1] वेदांतपारिजातसौरभ, १-१-१२, १५, २१, २२; १-२-२, ५, ६, ८, १०, १३, २५, २७, ३०; १-३, ९, १०, १९, २४, २७; २-१-२१, २९।

[2] दशश्लोकी, ५, ८-९; वेदांतपारिजातसौरभ, १-४-३६; २-१-२३।

[3] वेदांतपारिजातसौरभ, १-१-२; १-२-१९।

[4] वेदांतपारिजातसौरभ, २-४-१२, २०।

[5] वेदांतपारिजातसौरभ, २-४-७, ९, १०, ११, १३, १७।

यथार्थ में जाग्रत जीव के वैराग्य के निमित्त ही संसार की गति मानी जाती है। 'सृष्टि' भाव-पदार्थ से होती है। **इन्द्रियाँ** भी एक प्रकार का तत्त्व हैं। **जीव** के साथ इनका स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध है। विषय का ग्रहण करना इनका काम है। ये ग्यारह हैं।

स्थूल देह में जो गर्मी है, वह **'सूक्ष्म शरीर'** का धर्म है। पापियों को चन्द्रगति नहीं मिलती। 'दक्षिणायन' में भी मरने पर विद्वानों को ब्रह्म-प्राप्ति होती है। यमालय में जो जाते हैं, उन्हें दुःख का अनुभव होता है। **शूद्रों** को **ब्रह्म-विद्या** का अधिकार नहीं है। **वेद** नित्य है। 'विश्व' चित् और अचित् रूप, अचिंत्य, विचित्र-संस्थान-संपन्न तथा असंख्येय नाम और रूप, आदि विशेषों का आश्रय है।

इस प्रकार के सिद्धान्तों को मानते हुए निम्बार्काचार्य ने अपना देश छोड़ कर वृन्दावन आकर वैष्णव-मत का प्रचार किया। रामानुज ने **लक्ष्मी-नारायण** को

रामानुज और निम्बार्क-मत में भेद

प्राधान्य दिया और निम्बार्क ने **राधा-कृष्ण** को। रामानुज ने भक्ति और प्रपत्ति में भेद माना, किंतु निम्बार्क ने **भक्ति** को भी प्रपत्ति में ही मिला दिया। रामानुज ने चित् और अचित् मानते हुए भी विशिष्ट ईश्वर की प्रधानता स्वीकार कर **अद्वैत-वाद** को माना, परन्तु निम्बार्क ने द्वैत और अद्वैत दोनों में एक ही प्रकार की प्रधानता मानी, अतएव **द्वैताद्वैत-सिद्धान्त** की ही स्थापना की। इन प्रधान भेदों के अतिरिक्त अन्य गौण बातों में इन दोनों मतों में प्रायः समानता मालूम होती है।[1]

---

[1] विशेष ज्ञान के लिए, महामहोपाध्याय डाक्टर उमेश मिश्र द्वारा अंग्रेजी में रचित 'निम्बार्क स्कूल आफ वेदान्त' देखिए।

अष्टादश परिच्छेद

द्वैत-दर्शन

(माध्व-वेदान्त)

इस दर्शन का प्रचार मध्वाचार्य ने किया। यह वायु देवता के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म ११११९ ई० में कन्नड़ प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम 'मध्वदेव' और माता का 'देवता' था। इनका प्रसिद्ध नाम 'आनंदतीर्थ' और '**पूर्णप्रज्ञ**' था, किन्तु पिता इन्हें 'वासुदेव' कहा करते थे। जन्म से ही इनमें कुछ वैलक्षण्य था। इन्होंने बहुत ही अल्प वयस में संन्यास ग्रहण करने की उत्कट इच्छा प्रकट की, किन्तु माता-पिता के अनुरोध से इनकी इच्छा उस समय पूरी न हो सकी। कुछ दिन बाद जब इनकी माता को दूसरा पुत्र हुआ, तब इन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और तब से '**पूर्णप्रज्ञ**' के नाम से यह प्रसिद्ध हुए।

परिचय

इसके बाद यह भारत-भ्रमण के लिए निकले और हरिद्वार पहुँचे। यहाँ कुछ दिन रह कर बदरिकाश्रम की तरफ चले गये और किसी एकांत स्थान में इन्होंने योगाभ्यास और तपस्या की। कहा जाता है कि तपस्या के अंत में व्यासदेव ने इन्हें दर्शन दिया और वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए तथा 'वादरायणसूत्र' के ऊपर एक भाष्य-रचना करने की आज्ञा दी। इन्होंने 'वादरायणसूत्र', 'उपनिषद्' तथा 'गीता' की अपने मतानुसार टीका की। इनके अनेक प्रसिद्ध शिष्य हुए, जिन्होंने इनके मत के समथन में ग्रन्थों की रचना की। 'अनु-व्याख्यान', 'न्यायसुधा', 'पदार्थ-संग्रह', 'मध्वसिद्धान्त-सार', आदि ग्रन्थ इनके सम्प्रदाय के बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका दार्शनिक सिद्धान्त '**द्वैतवाद**' है।

तत्त्वविचार

पदार्थनिरूपण—पूर्णप्रज्ञ के अनुसार पदार्थ दस हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

द्रव्य-निरूपण

दो विवादशील वस्तुओं में जो द्रवण अर्थात् गमन-प्राप्य हो वही **'द्रव्य'** है। उपादान-कारण को भी **'द्रव्य'** कहते हैं, अर्थात् जिसका परिणाम हो या जिस रूप में परिणाम हो, दोनों ही **'द्रव्य'** हैं। **उपादान** भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो 'परिणाम' और दूसरा 'अभिव्यक्ति'।[1]

द्रव्य का लक्षण

'द्रव्य' के पुनः बीस भेद हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल, तथा प्रतिबिंब।[2] इनमें परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश तथा वर्ण की तो अभिव्यक्ति होती है और शेष का परिणाम होता है।[3] इन द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय देना उचित है—

द्रव्य के भेद

(१) **परमात्मा**—यह अनंत गुणों से पूर्ण है। लक्ष्मी आदि की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनंत-गुण अधिक है। इसमें श्रुत, अश्रुत, विरुद्ध, ये सभी गुण नित्य वर्तमान हैं। इसका ज्ञान महाशुद्ध, चितिस्वरूप, समस्त विशेषों का स्पष्ट रूप से दर्शनात्मक, नित्य, एक ही प्रकार का, सूर्य-प्रभा के समान निरन्तर वस्तुमात्र का प्रकाशक, अभिमान और दोषों से रहित तथा सदैव विकारहीन है।[4]

लक्ष्मी में भी प्रायः ये सभी गुण हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि **'परमात्मा'** में जो विशेष है, वह **'लक्ष्मी'** में नहीं। यह सभी अत्यन्त सूक्ष्म विशेषों के साथ अपने को तथा दूसरों को भी देखता है।

सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, अज्ञान, बोधन, बंध तथा मोक्ष, इन कार्यों को परमात्मा निरन्तर करता है। दूसरा कोई भी इन्हें नहीं कर सकता। अतएव परमात्मा **'एकराट्'** कहलाता है। बिना सर्वज्ञ हुए ये कार्य नहीं किये जा सकते, इसलिए वह 'सर्वज्ञ' है।[5] प्रकृत्यादि जड़

---

[1] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ २३ (क)।**

[2] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १(ख)।**

[3] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २३ (क)।**

[4] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २३(क)।**

[5] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २४(क)।**

पदार्थ, ब्रह्मादि जीव तथा महालक्ष्मी, सबसे यह अत्यंत भिन्न है। शरीर के बिना परमात्मा भी सृष्टि आदि नहीं कर सकता, इसलिए परमात्मा का भी शरीर है। यह शरीर नित्य, ज्ञानात्मक, आनंदात्मक तथा अप्राकृतिक है। इसका प्रत्येक अंग आनंदमय और चित्स्वरूप है। यह सर्वस्वतंत्र और एक ही है। इसके समान या इससे परे कोई भी नहीं है। कोई भी मुक्त पुरुष इसका साम्य-लाभ नहीं कर सकता है, ऐक्य तो दूर है।

जीव के प्रत्येक रूप में परमात्मा परिपूर्ण रूप से वर्तमान है। इसलिए सभी अवतारों में भगवान् पूर्ण रूप से वर्तमान रहता है। **अवतारों** के संबन्ध में बन्धन और युक्ति का प्रश्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि ये अजर, अमर और चिदानन्दमय हैं। इनमें परस्पर किसी प्रकार का भेद नहीं है। भगवान् का अपना रूप तथा आविर्भूत रूप, कोई भी देश, काल तथा गुण से परिच्छिन्न नहीं है।

सृष्टि, प्रलय, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, जीव का बंधन, अर्थात् ईश्वरेच्छा, अविद्या, कामकर्म, लिंगशरीर, त्रिगुणात्मक मन, स्थूल शरीर तथा मोक्ष, ये सब परमात्मा के अधीन हैं।[1] परमात्मा वैकुंठ में सब प्रकार का भोग करता है। लक्ष्मी आदि के साथ ब्रह्मा आदि मुक्त जीव वैकुण्ठ में परमात्मा को पूजते हैं। लक्ष्मी के स्वरूप के अपराजित 'विमिता' नाम के चिन्मय सुवर्ण के बने हुए परम दिव्य पलंग पर भगवान् शयन करता है। अविद्या, विद्या, सत्त्वादि तीनों गुण, देहोत्पत्ति, सुख-दुःख, ये सब परमात्मा के अधीन हैं, इसलिए यह नित्य बंध और मोक्ष से रहित है और **'नित्य मुक्त'** है।

'मुक्त जीव' अपनी इच्छा से शुद्धसत्त्वमय देह धारण कर उसके द्वारा यथेष्ठ भोग का अनुभव कर पुनः स्वेच्छा से उसे त्याग देते हैं। इस शरीर में रजोगुण तथा तमोगुण के न रहने के कारण उनमें शरीर-धारण-जन्य बन्धन नहीं रहता। इसे ही **'लीला-विग्रह'** कहते हैं। फिर भी यह **'प्राकृत शरीर'** ही है।[2] किसी-किसी के मत में मुक्त

---

[1] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १४७ (ख)।**

[2] **श्रीसंप्रदाय के अनुसार शुद्धसत्त्वमय लीला-विग्रह 'अप्राकृत' देह है।**

जीव पाञ्चभौतिक शरीर के द्वारा भी भोग कर सकता है। किन्तु यह कर्म से उत्पन्न नहीं है, इसलिए इस शरीर में इसे हम लोगों की तरह सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता और न उससे किसी प्रकार का बंधन ही उसे प्राप्त होता है। यह शरीर उसका स्वेच्छा-स्वीकृत शरीर कहलाता है।[1]

(२) **लक्ष्मी**—यह परमात्मा से भिन्न किन्तु केवल उसी के अधीन हैं। ब्रह्मा आदि जीव 'लक्ष्मी' के पुत्र हैं और प्रलय में ये सब 'लक्ष्मी' में ही लीन हो जाते हैं। परमात्मा की कृपा से बलवती 'लक्ष्मी' एक क्षण में विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय, महाविभूति, वृत्तिप्रकाश, नियमावृत्ति, बंधन तथा मोक्ष को संपादन करती हैं। हिरण्यगर्भादि जीवों की अपेक्षा, भगवान् की प्रीति, भक्ति और ज्ञान में 'लक्ष्मी' कोटि-गुण अधिक हैं।

परमात्मा के समान **'लक्ष्मी'** भी नित्य मुक्त और आप्तकाम हैं। ऐसा होने पर भी यह विष्णु की सदैव उपासना करती हैं। लक्ष्मी और विष्णु का सम्बन्ध अनादि है, इसलिए ये दोनों अनादि-नित्य, अनादि-युक्त, अनादि-मुक्त तथा अनादि-कृत हैं। ये परमात्मा की पत्नी हैं। ये दोनों नित्य मुक्त हैं, अतएव इनके परस्पर संयोग से सुख की अभिव्यक्ति तो हो ही नहीं सकती, फिर भी इनमें पति-पत्नी का सम्बन्ध मानने का कारण यह है कि भगवान् **'आत्मरमण'** होने पर भी 'लक्ष्मी' के प्रति अनुग्रह-पूर्वक 'लक्ष्मी' में स्वस्त्री-रूप में प्रवेश कर दूसरे रूप में क्रीड़ा करते हैं, अर्थात् 'लक्ष्मी' में वर्तमान अपने ही रूप के साथ भगवान् क्रीड़ा करते हैं। **लक्ष्मी** भी चिद्रूप और अनंत हैं।

लक्ष्मी की मूर्तियाँ—श्री, भू, दुर्गा, नृणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयंती, सत्या, रुक्मिणी, आदि सभी लक्ष्मी की **मूर्तियाँ** हैं। ये भगवान् के उरःस्थल में रहती हैं और इस अवस्था में **'यज्ञ'** नाम को धारण करती हैं। **'दक्षिणा'** मूर्ति के साथ भगवान् को अत्यंत सुख होता है। यह भी अप्राकृत शरीर है। यह देश और काल से ही

---

[1] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ३६ (ख), ३७(क) ।**

पूर्ण है, न कि गुण से, और यही परमात्मा और लक्ष्मी के आनंत्य का भेदक है।

(३) **जीव**—संसारी जीव अज्ञान, दुःख, भय, मोह, आदि दोषों से युक्त है। ब्रह्मा और वायु में भी ये दोष हैं। 'अज्ञान' ने चार बार और 'भय' तथा 'शोक' ने दो बार ब्रह्मा पर आक्रमण किया था। विष्णु के वश में रहने वाली, उन्हीं की सूक्ष्म प्रकृति श्री, भू तथा दुर्गा 'ब्रह्मा' आदि को भय देती हैं, किंतु 'रुद्र' आदि में जिस प्रकार भय आदि स्थिर होते हैं, उस प्रकार 'ब्रह्मा' में नहीं। अज्ञान भी 'ब्रह्मा' के शरीर को स्पर्शमात्र कर बाहर चला जाता है। ब्रह्मा का मोह मिथ्या ज्ञान-रूप नहीं है, किंतु नियत अपरोक्ष-ज्ञान का अभावरूप है। 'ब्रह्मा' का भी शरीर पाञ्चभौतिक है और और बन्धन में पड़ा है। वह भी मोक्ष चाहते हैं।

ऐसे **'जीव'** असंख्य हैं। ये इतने सूक्ष्म हैं कि एक परमाणु-प्रदेश में भी अनंत जीव रहते हैं। यह आनंत्य केवल व्यक्तिगत ही नहीं है, किन्तु गणगत भी है, जैसे—ऋजुगण, असुरगण, इत्यादि।

जीव के भेद—जीव के तीन भेद हैं—मुक्तियोग्य, तमोयोग्य तथा नित्यसंसारी।

मुक्तियोग्य पुनः पाँच प्रकार के हैं—**'देव'**, जैसे—ब्रह्मा, वायु, आदि; **'ऋषि'**, जैसे—नारदादि; **'पितृ'**, जैसे—विश्वामित्र आदि; **'चक्रवर्ती'**, जैसे—रघु, अंबरीष आदि तथा **'मनुष्योत्तम'**। इन जीवों में अनेक तारतम्य हैं।

तमोयोग्य पुनः दो प्रकार के हैं—'चतुर्गुणोपासक' और 'एक-गुणोपासक'। जो सत्, चित्, आनंद और आत्मा-रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं, वे तो **'चतुर्गुणोपासक'** हैं और जो केवल आत्मा को ही परम देव भगवान् समझ कर उसकी उपासना करते हैं, वे **'एक-गुणोपासक'** हैं। इस उपासना के द्वारा कोई-कोई इसी शरीर में रहते ही मुक्ति पाते हैं और इनका आक्रमण नहीं होता, जैसे—तृणजीव, स्तंब, इत्यादि।

वे पुनः चार प्रकार के हैं—दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य।

नित्य संसारी—ये जीव सदैव सुख-दुःख भोगते हैं। ये मध्यम मनुष्य ही होते हैं और अनंत हैं। ये सदैव स्वर्ग, नरक तथा पृथ्वी में घूमते रहते हैं।

जीव के स्वरूप में भेद—**रामानुज** के मत में ब्रह्मादि जीवों में केवल संसार-दशा में ही अंतर है। मुक्त होने पर ये सभी जीव समान हैं और परमात्मा के साथ भी इनका साम्य मोक्ष में हो जाता है। **तार्किकों** के अनुसार भी मुक्ति-दशा में एक तरह से सभी जीव समान हैं। परन्तु मुक्त जीव और परमात्मा में फिर भी भेद है, क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वकर्ता और सर्वोत्तम है। **मायावाद** में भी सभी जीव परमात्मा से अभिन्न हैं। भेद तो केवल भ्रम है।

परन्तु **माध्वमत** में संसार तथा मोक्ष, दोनों ही अवस्थाओं में जीवों में भी परस्पर भेद है। परमात्मा इन सबसे भिन्न है।[1] इसी कारण मुक्त जीवों में परस्पर उनके काम, संकल्प तथा आनन्द में भी अंतर है और इसी से ये मुक्त जीव भी शुभ कर्म करते हैं।

इसी प्रकार परमानंद को पाये हुए आविर्भूत-स्वरूप योगियों में भी परस्पर भेद है। फिर भी जो मुक्त जीवों में साम्य कहा जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि उनमें दुःखाभाव, परानन्द तथा लिंगभेद एक ही सदृश हैं और ज्ञान के भेद से परमानंद के आस्वादन में भी भेद है।

(४) **अव्याकृत आकाश**—इसे एक प्रकार से **'दिक्'** ही समझना चाहिए। सृष्टि-काल में इसमें न तो कोई विकार और न प्रलय-काल में इसका नाश होता है। इसी लिए इसे **'अव्याकृत'** कहते हैं। इसे गगन, साक्षिगोचर तथा प्रदेश भी कहते हैं। यह नित्य है और अहंकार के तामस अंश से उत्पन्न **'भूताकाश'** से भिन्न है। यह एक, व्याप्त और स्वगत है। पूर्व, दक्षिण, आदि विभाग इसके स्वाभाविक अवयव हैं। इसी कारण जिस स्थान में सूर्यादि नहीं भी होते, जैसे वैकुंठ में, वहाँ भी पूर्व आदि दिशाओं का ज्ञान होता है।

---

[1] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ३२(क)।**

'भूताकाश' से यह भिन्न है, क्योंकि **'अव्याकृत आकाश'** रूपरहित, कूटस्थ, साक्षिसिद्ध, विभु और क्रिया-रहित है, किंतु **'भूताकाश'** रूपयुक्त, देहाकार में विकारशील, तामस तथा अहंकार का कार्यरूप, एक और अविभु एवं गतिशील है। **लक्ष्मी** इसकी अभिमानिनी देवी हैं। इन्हीं के अधीन यह है।[1]

(५) **प्रकृति**—साक्षात्, जैसे—काल और तीनों गुणों का या परम्परा, जैसे—महदादि का उपादान **'प्रकृति'** है। इसी से यह द्रव्य भी है। यह जड़ा, परिणामिनी, तीनों गुणों से अतिरिक्त, अव्यक्त और नानारूपा है। महाप्रलय के अनंतर नवीन सृष्टि का उपादान कारण होने से, यह 'नित्य' है। क्षण, लव, आदि काल के विभागों का भी कारण यह है, इसी से व्यापक भी है। इसकी अभिमानिनी देवी **'रमा'** हैं। जीवों के **'लिंग-शरीर'** की समष्टिरूप **'प्रकृति'** ही है। महाप्रलय में यह अकेली रहती है।

(६) **गुणत्रय**—'सत्त्व', 'रजस्' और 'तमस्' इन तीनों गुणों के समुदाय को **'गुणत्रय'** कहते हैं। भगवान् ने सृष्टिकाल में **'मूला प्रकृति'** से सत्त्वराशि, रजोराशि तथा तमोराशि को उत्पन्न किया। इसी से महदादि सृष्टि होती है। सृष्टि के लिए इन तीनों गुणों में निम्नलिखित परिमाण रहता है—

तमस् से दो गुना रजस् और रजस् से दो गुना सत्त्व। तमोगुण महत्तत्त्व से दस गुना अधिक परिमाण का है। महत्तत्त्व के चारों ओर यह दशगुणित तमोगुण घिरा हुआ है।

प्रकृति से पहले केवल **शुद्ध सत्त्व** उत्पन्न होता है। सत्त्व और तमोगुण के मिश्रण से **रजोगुण** तथा सत्त्व एवं रजोगुण के मिश्रण से **तमोगुण** होता है। रजोगुण में १ भाग रजस्, १०० भाग सत्त्व और १।१०० भाग तमस् है। तमोगुण में १ भाग तमस्, १० भाग सत्त्व और १।१० रजस् है। गुणों के इसी वैषम्य को **'सृष्टि'** कहते हैं।

---

[1] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ३३ (क), ३५ (ख)।**

सृष्टिकाल में सत्त्वगुण कभी मिश्रित नहीं रहता है, यह सर्वदा शुद्ध ही रहता है। गुणों की साम्यावस्था को ही **'प्रलय'** कहते हैं।

रजोगुण से जगत् की 'सृष्टि', रजोगुण में विद्यमान सत्त्व गुण से 'स्थिति' तथा तमोगुण से 'संहार' होता है। सत्त्व की अभिमानिनी **'श्री'**, रजस् की अभिमानिनी **'भू'** तथा तमस् की अभिमानिनी **दुर्गा** एवं **रमा** हैं। **ब्रह्मा,** आदि भी गुणत्रय के अभिमानी देवता हैं।

(७) **महत्तत्त्व**—इसका उपादान साक्षात् गुणत्रय का अंश है। सभी गुण महत्तत्त्व-रूप में नहीं परिणत होते, कारण, महत्तत्त्व की अपेक्षा मूला प्रकृति दशगुण अधिक है। प्रलय-काल में महत्तत्त्व गुणत्रय में लीन हो जाता है। उस समय महत्तत्त्व बारह भागों में विभक्त होता है। उससे दस भाग शुद्ध सत्त्व में, एक भाग रजस् में तथा एक भाग तमस् में प्रवेश करता है और फिर सृष्टिकाल में शुद्ध सत्त्व का दस भाग तथा रजस् का एक भाग तमोगुण के साथ मिल जाता है। तब **महत्तत्त्व** की उत्पत्ति होती है। इसमें तीन भाग रजस् है और एक भाग तमस् है। इस प्रकार चारों भागों से युक्त **महत्तत्त्व** की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व में विद्यमान रजोगुण में सत्त्व गुण का भी कुछ अंश है; इसलिए महत्तत्त्व में भी सत्त्व गुण का अंश रहता ही है। इस महत्तत्त्व का परिमाण तमोगुण की अपेक्षा दशगुण न्यून है। ब्रह्मा तथा वायु अपनी स्त्रियों सहित महत्तत्त्व के अभिमानी देवता हैं।

(८) **अहंकारतत्त्व**—महत्तत्त्वगत तमोगुण के भाग से **'अहंकार'** की उत्पत्ति होती है। इस में दस भाग 'सत्त्व गुण', एक अंश 'रजस्' तथा सजस् का दसवाँ हिस्सा 'तमस्' है। यह महत्तत्त्व से दशांश न्यून है। गरुड़, शेष, रुद्र, आदि इसके अभिमानी देवता हैं।

अहंकार के भेद—इसके तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस तथा तामस।

(९) **बुद्धितत्त्व**—महत्तत्त्व से **'बुद्धितत्त्व'** की उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार का है—**तत्त्वरूप** तथा **ज्ञानरूप**। इनमें ज्ञानरूप बुद्धि गुण-विशेष है। यह तत्त्व नहीं माना जाता है। तैजस अहंकार के द्वारा यह उपचित होता है। ब्रह्मा से लेकर उमा पर्यन्त इसके अभिमानी देवता हैं।

(१०) **मनस्तत्त्व**—यह भी दो प्रकार का है—**तत्त्वरूप और उससे भिन्न**। **'वैकारिक'** अहंकार से **मनस्तत्त्व** की उत्पत्ति होती है। रुद्र, गरुड़, शेष, काम, इन्द्र, अनिरुद्ध, ब्रह्मा, सरस्वती, वायु और चंद्रमा, ये इसके अभिमानी देवता हैं।

तत्त्वभिन्न 'मन' इन्द्रिय है। यह भी दो प्रकार की है—नित्य और अनित्य।

नित्य मनोरूप इन्द्रिय—'परमात्मा', लक्ष्मी, **ब्रह्मा**, आदि सभी जीवों के स्वरूप-भूत हैं। यह साक्षी कहलाती है। इसी लिए यह चैतन्य-स्वरूप है। **बद्ध जीवों** का मन 'चेतन' और 'अचेतन', दोनों है। किन्तु **मुक्तों** का मन केवल 'चेतन' ही है। भगवान् यद्यपि अपने स्वरूप से ही सब भोगों को भोग सकता है, तथापि जीव की देह में रह कर वह जीव की इन्द्रियों के द्वारा ही भोग भोगता है।

अनित्य मनोरूप इन्द्रिय ब्रह्मादि सब जीवों में है और यह बाह्य पदार्थ है। यह पाँच प्रकार की है—मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त तथा चेतना। **'मन'** संकल्प-विकल्पात्मक है। निश्चयात्मिका **'बुद्धि'** है। अपने रूप से भिन्न में अपने रूप की मति को ही **'अहंकार'** कहते हैं। **'चित्त'** स्मरण का हेतु है। कार्य करने की शक्ति स्वरूप-चैतन्य ही **'चेतना'** है।

(११) **इन्द्रियतत्त्व**—अपने-अपने विषयों के प्रति गमन की शक्ति जिसमें हो वह **'इन्द्रिय'** है। यह भी दो प्रकार की है—**तत्त्वभूत** एवं **तत्त्वभिन्न** और भी इसके दो भेद हैं—**'ज्ञानेन्द्रिय'** और **'कर्मेन्द्रिय'**। फिर भी ये 'नित्य' और 'अनित्य' भेद से दो प्रकार की हैं। इनमें **तत्त्वरूप** और अनित्य **ज्ञानेन्द्रियाँ** एवं **कर्मेन्द्रियाँ** तो तैजस अहंकार से उत्पन्न ह, किन्तु तत्त्वभिन्न और नित्य **'ज्ञानेन्द्रियाँ'** तथा **'कर्मन्द्रियाँ'** परमात्मा, लक्ष्मी, आदि सब जीवों की **स्वरूप-भूत** हैं। ये **साक्षी** कहलाती हैं।

परमात्मा और लक्ष्मी की दस इंद्रियाँ प्रत्येक गंध आदि सब पदार्थों की ग्राहक हैं, परन्तु मुक्त तथा बद्ध जीवों की इन्द्रियाँ केवल अपने ही विषय की ग्राहक हैं। **ब्रह्मादि सब** जीवों की इन्द्रियाँ अनित्य एवं तत्त्वभिन्न हैं। ब्रह्मादि की भी स्थूल इन्द्रियाँ हैं और इनकी उत्पत्ति के

सम्बन्ध में कारण यह कहा गया है कि ब्रह्माण्डान्त पंचभत सृष्टि **के** अनंतर **ब्रह्मादिगत सूक्ष्म इन्द्रियाँ** ही पांचों भूतों से तथा अहंकार से **वृद्धि को प्राप्त** होती हैं। ये ही **बाद को** स्थूल इन्द्रियाँ हो जाती ह।[1] **अतएव ये प्राकृत इन्द्रियाँ** हैं। **ब्रह्मा** आदि तथा सूर्य आदि इन इन्द्रियों **के** अभिमानी देव हैं।

स्वरूपभूत इन्द्रियाँ 'साक्षी' कही जाती हैं। मुक्तावस्था में **इनके द्वारा** साक्षात् सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। संसारावस्था में भी **साक्षी-स्वरूप इन्द्रियों** के आत्मा, मन, मनोधर्म, सुख-दुःख आदि, अविद्या, काल एवं अव्याकृताकाश साक्षात् विषय हैं। **बाह्यन्द्रियों** के द्वारा शब्द आदि भी **'साक्षिगोचर'** हैं। ज्ञातभाव से या अज्ञात भाव से सभी अतीन्द्रिय पदार्थ **साक्षिगोचर** हैं।

(१२) **तन्मात्रातत्त्व**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध, ये पाँच विषय **'मात्रा'** (अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जानने के योग्य) कहलाते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं—तत्त्वरूप तथा उससे भिन्न। **तत्त्वरूप** तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं तथा इन्हें **'पंचतन्मात्रा'** कहते हैं। ये द्रव्य हैं। **इनसे भिन्न** आकाशादि के गुण जो शब्दादि हैं, वे न तो तत्त्व हैं और न द्रव्य ही हैं। उमा, सुपर्णी, वारुणी, बृहस्पति, आदि इनके अभिमान रखने वाले देव हैं।

(१३) **भूततत्त्व**—इन सब तन्मात्राओं द्वारा तामस अहंकार से आकाश आदि पाँचों भूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से 'आकाश' की उत्पत्ति होती है। इसके अभिमान रखने वाले देवता विनायक हैं। अहंकार से दशगुण न्यून 'आकाश' है।

(१४) **ब्रह्माण्डतत्त्व**—महत् से लेकर पृथिवी-पर्यन्त **'प्राकृत'**-पदार्थ हैं। **ब्रह्माण्ड** तो **विकृत** पदार्थ है। महदादि की उत्पत्ति अलग-अलग एकमात्र उपादान से होती है, किन्तु ब्रह्माण्ड तो चौबीसों उपादानों से उत्पन्न होता है। इसी लिए कहा गया है कि इन चौबीस तत्त्वों के द्वारा विष्णु बीज-रूप में होकर अपने स्वरूप को ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत करते हैं। यह पचास कोटि योजन-विस्तीर्ण है।

---

[1] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ४२(क)।**

यह **ब्रह्माण्ड** एक ही है और घड़े के दो कपालों के समान इसके दो टुकड़े हैं। ऊपर का हिस्सा तो सोने का है और नीचे वाला चाँदी का। सोने वाला भाग 'द्यौः' (आकाश) कहलाता है और चाँदी वाला 'पृथ्वी'।[1] इस ब्रह्माण्ड को भगवान् कूर्मरूप में तथा वायुरूप में धारण किये हुए है। यही सभी प्राणियों का तथा चौदहों भुवन का आवासस्थान है। संधि-स्थल में क्षुर की धार के समान सूक्ष्म छिद्रों से युक्त है।[2] इसके अभिमान रखने वाले देव चतुर्मुख, शक्र, शेष, सुपर्ण, आदि हैं।[3]

ब्रह्माण्ड के अंतर्गत सृष्टि करने के लिए भगवान् ने महत् आदि तत्त्वों के अंश को अपने उदर में रख कर ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश किया। इसके पश्चात् जलशायी भगवान् के उदर के भीतर वर्तमान जलरूप उपादान कारण से नाभि के द्वारा कमल उत्पन्न हुआ।[4] उससे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। इसके बाद फिर ब्रह्माण्ड के भीतर देवताओं की, मन की तथा आकाश आदि पंचभूतों की क्रमशः उत्पत्ति हुई।[5]

(१५) **अविद्यातत्त्व**—'पंचभूत' की सृष्टि के बाद चतुर्मुख ने **'अविद्या'** की उत्पत्ति की। यथार्थ में 'अविद्या' या 'माया' अनादि है। अतएव इसकी उत्पत्ति नहीं होती, फिर इसकी उत्पत्ति हुई, इस कथन से यह जानना चाहिए कि सूक्ष्म रूप से तो **'अविद्या'** सर्वदैव है, फिर भी सृष्टि के लिए इसका स्थूल रूप आवश्यक है। अतएव ब्रह्माण्ड के बाहर ही **अविद्या** के स्थूल रूप को उत्पन्न कर परमात्मा ने ब्रह्माण्ड के मध्य में रहने वाले चतुर्मुख में उसे रखा और ब्रह्मा ने उसे अपने शरीर से बाहर निकाला। इसी से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है।[6] पंचभूतों के तमोगुण ही इसके उपादान हैं।[7]

---

[1] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५३ (ख)।**

[2] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५४ (क-ख)।**

[3] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५४ (ख)।**

[4] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५५ (क)।**

[5] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५५ (क)।**

[6] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५६ (क-ख)।**

[7] **तात्पर्य, तृतीय स्कन्ध।**

अविद्या की श्रेणियाँ—इसकी पाँच श्रेणियाँ होती हैं, जिन्हें क्रमश: मोह, महामोह, तामिस्र, अंधतामिस्र तथा तम कहते हैं। विपर्यय, आग्रह, क्रोध, मरण तथा शार्वर इनके क्रमिक नामांतर हैं।[1]

अविद्या के अन्य भेद—इसके 'जीवाच्छादिका', 'परमाच्छादिका', 'शैवला' तथा 'माया', ये भी चार भेद होते हैं।[2] 'अविद्या' के ये भेद सभी प्रकार जीव के ही आश्रित रहते हैं। प्रत्येक जीव के लिए भिन्न-भिन्न अज्ञान है। इसकी अभिमानिनी देवी दुर्गा हैं।[3]

(१६) **वर्णतत्त्व**—अकारादि **'वर्ण'** के ५१ भेद होते हैं। इन्हीं वर्णों से लौकिक तथा वैदिक सभी शब्द बने हुए हैं। इन वर्णों में प्रत्येक **वर्ण** देश और काल की अपेक्षा आकाश के समान व्यापक, अनादि तथा नित्य है।[4] **'वर्ण'** नित्य द्रव्य होने के कारण किसी में समवाय-संबन्ध से नहीं रहता।

(१७) **अंधकारतत्त्व—अंधकार** भी एक 'द्रव्य' है। यह तेज का अभाव नहीं है। यह प्रकाश का नाशक है। यदि यह अभाव-स्वरूप होता, तो 'नील रंग' का अंधकार इधर-उधर जाता है', ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। नील-रूप तथा चलन-रूप क्रिया का आश्रय होने के कारण 'अंधकार' का मूर्त द्रव्य होना सिद्ध होता है।[5]

'अंधकार' जड़ा प्रकृतिरूप उपादान से ही उत्पन्न होता है और वह इतना घनीभूत हो जाता है[6] कि दूसरे कठोर द्रव्य के समान वह भी हथियार से काटा जाता है।[7] महाभारत के युद्ध में जब सूर्य चमक रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण भगवान् ने इसे उत्पन्न किया था।[8]

---

[1] **तात्पर्य, तृतीय स्कन्ध।**
[2] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५६ (ख)।**
[3] **तात्पर्य, एकादश स्कन्ध।**
[4] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५९ (ख)।**
[5] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६० (ख)।**
[6] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६१ (क)।**
[7] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६१ (क)।**
[8] **निर्णय।**

भावरूप द्रव्य होने के ही कारण ब्रह्मा ने इसका पान किया था। स्वतंत्र रूप से इसकी उपलब्धि लोगों को होती है और यह अन्य वस्तुओं को ढँक देता है, इसलिए इसका 'भावरूप' होना निश्चित है।[1]

(१८) **वासनातत्त्व**—स्वप्न में देखी जाने वाली बातों के उपादान कारण को '**वासना**' कहते हैं।[2]

स्वप्नविचार—माध्व के मत में '**स्वप्न**' में अनुभूत बातें सभी सत्य मानी जाती हैं। 'स्वप्न' शुभदायक और अशुभदायक भी होता है। यदि 'स्वप्न' मिथ्या ही होता, तो इसके सम्बन्ध में शुभ और अशुभ का प्रयोग ही नहीं होता।[3]

जाग्रत् अवस्था में 'स्वप्न' की बातें नहीं दीख पड़तीं। इसका कारण यह है कि ईश्वर से प्रेरित होकर वे विद्युत् के समान स्वप्नावस्था में ही उत्पन्न होती हैं और नष्ट भी हो जाती हैं।[4]

स्वप्न की उत्पत्ति—जाग्रत् अवस्था में जिन बातो का अनुभव होता है, उन्हीं अनुभवों से अन्तःकरण के सहारे ये **वासनाएँ** उत्पन्न होती हैं। अंतःकरण ही इनका आश्रय है। ये अनुभव अनादिकाल से चले आ रहे हैं और प्रत्येक जीव के मन में संस्कार-रूप से वर्तमान रहते हैं। अपनी इच्छा से ये ही मनोगत संस्कार जीव को दिखाई देते हैं और यही दिखाई देना '**स्वप्न**' कहलाता है।

मनोरथ तथा स्वप्न—**मनोरथ** तथा **ध्यान** में भी तो संस्कार से उत्पन्न विषय का अनुभव मन के द्वारा होता है और **स्वप्न** में भी ऐसा ही होता है, फिर '**मनोरथ**' तथा '**स्वप्न**' के अनुभवों में भेद इतना ही है कि 'मनोरथ की सृष्टि' मनुष्य के प्रयत्न से होती है, किन्तु 'स्वप्न की सृष्टि' अदृष्ट के सहारे ईश्वर के अधीन है।[5]

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६१ (क)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६१ (ख)।

[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६१ (ख)।

[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६२ (क)।

[5] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६२ (क-ख)।

ध्यान और वासना—इसी प्रकार **ध्यान** या **उपासना** में भी जो भगवान् के सदृश आकार दिखाई देता है, वह भी वासनामय है, क्योंकि भगवान् साक्षात् ध्यान-विषय तो है नहीं। चित्त का प्रतिबिंब ही उस समय दिखाई देता है। अतएव श्रवण तथा दर्शन, आदि से उत्पन्न मानसिक वासनामय वस्तु का अवलोकन करने को ही आचार्यों ने '**ध्यान**' कहा है।[1]

(१९) **कालतत्त्व**—आयु का व्यवस्थापक '**काल**' कहलाता है। क्षण, लव, त्रुटि, इत्यादि इसके अनेक रूप हैं। नैयायिकों की तरह माध्व ने 'काल' को नित्य नहीं माना है। इनके मत में 'काल' प्रकृति से उत्पन्न होता है और उसी में लय भी होता है।[2] प्रलय-काल में भी काल की उत्पत्ति मानी जाती है और इसी लिए काल का आठवाँ हिस्सा '**प्रलय-काल**' कहलाता है।[3] काल में भी काल होता है, जैसे—'**इदानीं प्रातः कालः**'। यहाँ 'इदानीं' भी तो कालवाचक ही है।[4] 'काल' सबका आधार है। अनित्य होने पर भी 'काल' का **प्रवाह** नित्य है। यह सब कार्यों की उत्पत्ति का कारण भी है।[5]

(२०) **प्रतिबिंबतत्त्व**—'बिंब' से अलग न रहने वाला और उसके सदृश ही तत्त्व '**प्रतिबिंब**' है।[6] बिंब के ही अधीन इसकी सत्ता और क्रिया होने से यह क्रियावान् कहलाता है।[7] स्वयं प्रतिबिंब में क्रिया नहीं है।[8] बिंब और प्रतिबिंब में कहीं ज्ञान, आनंद, आदि गुणों से तथा कहीं चैतन्य, हाथ, पैर, आदि के होने से सादृश्य है। इसी लिए परमात्मा का प्रतिबिंब दैत्यों में भी है।[9]

---

[1] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६२(क-ख)।
[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६३(क)।
[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६३(ख)।
[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६५(क)।
[5] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६५(क)।
[6] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६५(ख)।
[7] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६५(ख)।
[8] गीताभाष्य।
[9] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६५(ख)।

प्रतिबिंब के भेद—यह 'प्रतिबिंब' नित्य और अनित्य, दोनों है। परमात्मा[1] से अतिरिक्त जितने चेतन हैं, सभी परमात्मा के 'प्रतिबिंब' हैं और ये 'प्रतिबिंब' सभी नित्य हैं, क्योंकि परमात्मा-रूप बिंब का तथा अन्य चेतनों का अथवा उनकी सन्निधि का नाश कभी नहीं होता। दर्पण में जो मुख का प्रतिबिंब है, वह बिंब-स्वरूप मुख के नाश से अथवा दर्पण-रूप उपाधि के नाश से या उनकी सन्निधि के नाश से, नष्ट होता है। अतएव ये सब अनित्य प्रतिबिंब हैं। छाया, परिवेष, इन्द्रचाप, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिक का लौहित्य, इत्यादि भी प्रतिबिंब कह-लाते हैं।[2]

गुण-निरूपण

द्रव्य के बाद **'गुण'** दूसरा तत्त्व है। माधव ने 'गुण' का 'दोष' से भिन्न अर्थ में प्रयोग किया है। इनके मत में रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग.

गुण के भेद　विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गांभीर्य, सौंदर्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, औदार्य, सौभाग्य, आदि अनेक **गुण** माने गये हैं।

इन गुणों में रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द पृथ्वी में **'पाकज'** तथा **'अपाकज'**, दोनों हैं, किन्तु अन्य द्रव्यों में केवल अपाकज ही हैं। माध्वमत में **'पीलुपाकवाद'** नहीं मानते, क्योंकि यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

कर्म-निरूपण

कर्म का लक्षण—साक्षात् या परंपरा से पुण्य और पाप का जो असाधारण कारण है, वही 'कर्म' है। **'कर्म'** के तीन भेद हैं—'विहित', निषिद्ध' तथा 'उदासीन'।

(१) **विहित कर्म**—विधिपूर्वक की गयी यज्ञादि क्रिया **'विहितकर्म'** है।

---

[1] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६६(क)** ।

[2] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ९८(क)** ।

इसके काम्य और अकाम्य दो भेद हैं। फल की इच्छा से किया गया कर्म **'काम्य'** है और ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया गया कर्म **'अकाम्य'** है। ये दोनों प्रकार के 'कर्म' ब्रह्मा से लेकर छोटे से छोटे जीव तक सभी करते हैं।

'प्रारब्ध कर्म' भी काम्य ही है। इसमें भी पूर्वतन काम्य कम दो प्रकार का है—'प्रारब्ध' और 'अप्रारब्ध'। **प्रारब्ध** का नाश नहीं होता। **अप्रारब्ध** फिर दो प्रकार का है—**इष्ट** और **अनिष्ट**। 'इष्ट' का भी नाश नहीं होता।

सत्यलोक के आधिपत्य तथा जगत् के सर्जन आदि से भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मा जो कर्म करते हैं, वही उनका **काम्य कर्म** है। लक्ष्मी-नारायण के जो तपस्यादि कर्म हैं, वे लीला के लिए या शत्रुओं को मोहने के लिए होते हैं। ये 'काम्य' नहीं कहलाते।

(२) **निषिद्ध कर्म**—मन, वाणी और शरीर से अपने से बडों का अपराध करना ही **'निषिद्ध कर्म'** है। इसके अतिरिक्त जिन कर्मों का वेद या तन्मूलक शास्त्र में निषेध है, वे भी **'निषिद्ध कर्म'** हैं, जैसे—'**न कलञ्जं भक्षयेत्**'—कलंज को न खाना चाहिए।

(३) **उदासीन कर्म**—'विधि' और 'निषेध' से भिन्न कर्म **'उदासीन'** कहलाते हैं।

उदासीन कर्म अनेक प्रकार के हैं—'उत्क्षेपण'—ऊपर फेंकना, 'अपक्षेपण'—नीचे फेंकना, 'आकुंचन'—सिकुड़ना, 'प्रसरण'—फैलना, 'गमन'—जाना, 'भ्रमण'—घूमना, 'वमन'—कै करना, 'भोजन'—खाना, 'विदारण'—फाड़ना, इत्यादि। ये कर्म चेतन और अचेतन दोनों में ही रहते हैं।

कर्म के अन्य भेद—कर्म पुनः दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। ईश्वर, जीव, आदि चेतनों के स्वरूप-भूत कर्म **'नित्य'** हैं, जैसे—सृष्टि, संहार तथा गमन, इत्यादि। **'अनित्य'** कर्म शरीर आदि अनित्य वस्तुओं में हैं।

सामान्य-निरूपण—'सामान्य' के दो भेद हैं—'नित्य' और अनित्य'। 'जाति' और 'उपाधि' इसके दो और भी भेद हैं। शास्त्रीय जाति-व्यवहार का जो

विषय है, वही **'जाति'** है, जैसे—ब्राह्मणत्व। इतर निरूपणाधीन निरूपण जिसमें हो, वह **'उपाधि'** है, जैसे—'प्रमेयत्व', 'जीवत्व', 'देवत्व', इत्यादि। जाति, जो 'यावद्वस्तु-भावि' है, वह **'नित्य'** है, किन्तु 'ब्राह्मणत्व', मनुष्यत्व', इत्यादि 'अयावद्वस्तु-भावि' होने के कारण **'अनित्य'** हैं। इसी तरह **'उपाधि'** भी नित्य और अनित्य है। 'सर्वज्ञत्व' परमात्मा में 'नित्य' उपाधि है, किन्तु 'प्रमेयत्व' घट आदि में 'अनित्य' है।

विशेष-निरूपण—देखने में भेद न रहने पर भी भेद के व्यवहार का कारण **'विशेष'** है। यह सभी पदार्थों में है। यह अनंत है। इसी 'विशेष' के कारण गुण और गुणी में भेद किया जाता है, किन्तु विशेषों में भी परस्पर भेद के लिए उस पर अन्य 'विशेष' नहीं माना जाता है। वह स्वयं 'विशेष' का काम कर लेता है। यह भी नित्य और अनित्य है। ईश्वरादि नित्य द्रव्य में तो **नित्य विशेष** है, घटादि अनित्य द्रव्य में **अनित्य विशेष** है। ये **'समवाय'** नहीं मानते।

विशिष्ट-निरूपण—विशेषण के संबंध से विशेष का जो आकार है, वही **'विशिष्ट'** है। नित्य और अनित्य इसके भी दो भेद हैं। सर्वज्ञत्व आदि विशेषणों से विशिष्ट परब्रह्म आदि **'नित्य विशिष्ट'** हैं। दण्ड आदि विशेषणों से विशिष्ट दंडी आदि **'अनित्य विशिष्ट'** हैं।

अंशी-निरूपण—हाथ, वितस्ति, आदि से अतिरिक्त पट, गगन, आदि प्रत्यक्ष-सिद्ध पदार्थ **'अंशी'** हैं। आकाशादि तो **'नित्य अंशी'** हैं, किन्तु पट आदि **'अनित्य अंशी'** हैं।

शक्ति-निरूपण—'शक्ति' के चार भेद हैं—'अचिन्त्य शक्ति', 'सहज शक्ति', 'आधेय शक्ति' और 'पदशक्ति'।

(१) **अचिंत्य शक्ति**—अघटित घटना में पटीयसी शक्ति ही **'अचिंत्य शक्ति'** है। वह परमेश्वर में संपूर्ण रूप से है और लक्ष्मी, ब्रह्मा, आदि की अपेक्षा परमात्मा में अवधिरहित है। बैठे रहने पर भी दूर चला जाना, अणुत्व और महत्त्व, दोनों को एक ही समय में अपने में रखना इत्यादि **अचिन्त्य शक्ति** के उदाहरण हैं। लक्ष्मी में परमात्मा की शक्ति से अनंत अंश न्यून शक्ति है। लक्ष्मी की शक्ति के कोटिगुण न्यून ब्रह्मा तथा वायु की शक्ति है। इस प्रकार तारतम्य सभी द्रव्यों में है।

(२) **सहज शक्ति**—कार्यमात्र के अनुकूल स्वभावरूप शक्ति ही **'सहज शक्ति'** है, जैसे—दण्ड आदि में घट बनाने की अनुकल शक्ति है। यह अतीन्द्रिय है। एक प्रकार से यह कारण धर्म-विशेष ही है। यह सभी पदार्थों में है। यह भी नित्य और अनित्य है—नित्य द्रव्य में **नित्य** और अनित्य द्रव्य में **अनित्य** है।

(३) **आधेय शक्ति**—अन्य वस्तु में आहित, अर्थात् दी हुई शक्ति, **'आधेय शक्ति'** है, जैसे—प्रतिष्ठित प्रतिमा की ही पूजा होती है। उसमें प्रतिष्ठारूप क्रिया के द्वारा प्रतिमा में पूर्व न रहने वाले देवता का सान्निध्य होता है। उसे ही **'आधेय शक्ति'** कहते हैं। इसी प्रकार **'व्रीहीन् प्रोक्षति'** इससे व्रीहि में, कामिनी-चरण के आघात से अशोक-वृक्ष में अकालिक पुष्प की उत्पत्ति तथा औषध-लेपन से काँस के पात्र में दौड़ने की शक्ति, आदि **'आधेय शक्ति'** के उदाहरण हैं।

(४) **पदशक्ति**—पद और उसके अर्थ में जो वाच्य-वाचक-भाव संबंध है, वही **'पदशक्ति'** है। गोपद से गो-अर्थ का ज्ञान जिससे हो, वही 'पदशक्ति' है। यह स्वर, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य में रहती है। 'मुख्या' और 'परम मुख्या' इसके भेद हैं। परमात्मा में सभी शब्दों की **परम मुख्या** शक्ति है, अन्य में केवल **मुख्या**।

सादृश्य-निरूपण—'यह इसके सदृश है', 'वह उसके सदृश है' इन वाक्यों में जिससे परस्पर प्रतियोगी तथा अनुयोगी का अनुभव होता है, वही **'सादृश्य'** है। यह नाना है। यह भी नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य में **नित्य** और अनित्य द्रव्य में **अनित्य** है।

अभाव-निरूपण—प्रथम प्रतिपत्ति, अर्थात् ज्ञान में निषेधात्मक भान ही **'अभाव'** है। 'प्रागभाव', 'प्रध्वंसाभाव', 'अन्योन्याभाव' तथा 'अत्यंताभाव', ये चार इसके भेद हैं।

(१) **प्रागभाव**—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व ही कारण में रहने वाला उस वस्तु का जो अभाव है, वही **'प्रागभाव'** है।

(२) **प्रध्वंसाभाव**—उत्पत्ति के अनंतर ही उस वस्तु का नाश होने पर वस्तु में रहने वाला अभाव **'प्रध्वंस'** है।

(३) **अन्योन्याभाव**—सार्वकालिक परस्पर जो अभाव है, वही **'अन्योन्या-भाव'** है। यह पदार्थ-स्वरूप ही है। यह पुनः नित्य में रहने वाला **'नित्य'** है, जैसे—जीवों के आपस के भेद। अनित्य में रहने वाला **'अनित्य'** है, जैसे—घट-पट में।

(४) **अत्यन्ताभाव**—अप्रामाणिक प्रातियोगिक जो अभाव, अर्थात् असत् प्रातियोगिक जो अभाव है, वही **'अत्यंताभाव'** है, जैसे—शशश्रृंग।

कारण-विचार

'कारण' के दो भेद हैं—'उपादान' तथा 'अपादान'। परिणामी कारण को ही **'उपादान'** कारण और **'अपादान'** को ही **'निमित्त'** कारण भी बताया गया है।

करण के भेद

कार्य सत् और असत् दोनों होता है। उत्पत्ति के पूर्व कारण-रूप में तो 'सत्' है, किन्तु कार्य-रूप में वह 'असत्' है। परन्तु उत्पत्ति के बाद कार्य-रूप में तो 'सत्' है और कारण-रूप में 'असत्' है। उपादान और उपादेय में भेद और अभेद, दोनों ही हैं। द्रव्य के साथ-साथ रहने वाले गुण, क्रिया, जाति, आदि का गुणी, क्रियावान् तथा व्यक्ति के साथ क्रम से अत्यंत अभेद है। द्रव्य के साथ-साथ न रहने वालों में भेद और अभेद, दोनों ही हैं।

ज्ञान-विचार

अंतःकरण का परिणाम **'ज्ञान'** है। इसका उत्पत्ति-क्रम यह है—आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय अपने विषय के साथ संयुक्त होती है। तब अंतःकरण का परिणाम होता है और इसी परिणाम को **'ज्ञान'** कहते हैं। ज्ञान से इच्छा और इच्छा से प्रवृत्ति होती है। अंतःकरण में रहने वाले ज्ञान के साथ बाहर के घट, पट, आदि का संयोग नहीं हो सकता, अतएव इन दोनों में **'विषय-विषयिभाव'** संबंध माना गया है।

ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया

प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रिय और अर्थ का संयोग है। गुण, क्रिया, आदि के साथ भी इन्द्रिय का संयोग ही होता है। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के द्वारा चक्षु आदि छः इन्द्रियाँ ज्ञान को उत्पन्न करती हैं। संस्कार के द्वारा मन **'स्मरण'** का कारण है। इनके मत में **'यथार्थ-स्मृति'** भी प्रमाण है। प्रत्यक्ष आदि जन्य-ज्ञान सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक नहीं।

प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रत्यक्ष के भेद—प्रत्यक्ष के आठ भेद हैं—साक्षि, यथार्थ ज्ञान तथा छः इन्द्रियों से साक्षात् उत्पन्न ज्ञान।

अनुमान के भेद—अनुमान के तीन भेद हैं—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी। अनुमान में उतने ही **अवयव** माने जाते हैं, जितने 'अनुमिति' के लिए आवश्यक हों। पाँच अवयवों का होना आवश्यक नहीं है।

शब्द के भेद—पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से **आगम** दो प्रकार का है। आप्तों[1] से कहे जाने पर ही **'पौरुषेय'** प्रमाण है। **'अपौरुषेय वेदवाक्य'** सभी प्रामाणिक हैं।

वेद के अपौरुषेय होने में एक तो श्रुति (वेद) ही प्रमाण है और दूसरी बात यह है कि यदि **वेद** पौरुषेय होता तो धर्म और अधर्म, आदि की सिद्धि ही नहीं होती।

स्वतः प्रामाण्य—इनके मत में प्रमाणों का **प्रामाण्य** स्वतः होता है। ज्ञान के कारणमात्र से ही ज्ञानगत प्रामाण्य का भी बोध होता है, इसलिए उत्पत्ति में **स्वतस्त्व** है और जहाँ कहीं प्रामाण्यग्रह होता है, वहाँ ज्ञान-ग्राहक साक्षी के ही द्वारा प्रामाण्यग्रह होना नियत है। इस प्रकार **'ज्ञान'** में भी **स्वतस्त्व** है। **'अप्रामाण्य'** तो **'परतः'** होता है और परतः जाना भी जाता है।

सृष्टिप्रक्रिया

सृष्टिक्रम

प्रलय के अन्त में सृष्टि करने की परमात्मा को इच्छा होती है। तब वह प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कर उसे कार्योन्मुख करता है। बाद में तीन गुणों में परस्पर वैषम्य उत्पन्न होता है। इसके बाद महत् से लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त तत्त्वों की तथा उनका अभिमान रखने वाले ब्रह्मा आदि देवताओं की वह सृष्टि करता है। फिर चेतन और अचेतन अंशों को उदर में निःक्षेप कर परमात्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है। तब देवताओं के मान से हजार वर्ष के अन्त में अपनी नाभि से पद्म (कमल) को उत्पन्न करता है। उस पद्म से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और चतुर्मुख ब्रह्मा जगत् की उत्पत्ति के निमित्त हजार दिव्य वर्ष-पर्यन्त तपस्या करते ह। उस तपस्या से प्रसन्न भगवान् अपने शरीर से पंचभूतों की सृष्टि करता है।

---

[1] **पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १००(क)।**

पंचभतों की सहायता से परमात्मा के द्वारा सूक्ष्म रूप में उत्पन्न किये हुए चतुर्दश लोकों को चतुर्मुख के अन्दर प्रवेश कर उन्हीं के नाम को धारण कर स्थूल-रूप में परमात्मा उत्पन्न करता है। बाद को सभी देवता अंड के भीतर से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमशः अवशिष्ट सृष्टि होती है।

जब राजसिक तथा तामसिक प्रकृति के लोग सात्त्विकों पर उपद्रव करने लगे तभी भगवान् के भिन्न-भिन्न **अवतार** हुए। इनमें **श्रीकृष्ण** को छोड़ कर और सभी अवतार परमेश्वर के अंशभूत हैं। किन्तु एकमात्र अवतार **श्रीकृष्ण** स्वयं भगवान् हैं।[1] सबसे पहले **'मत्स्य'** अवतार हुआ। **मत्स्य** अवतार दो बार हुआ। **'कूर्म'** अवतार भी दो बार हुआ, क्योंकि अमृत-मंथन दो बार हुआ था। **'वराह'** अवतार भी दो बार हुआ। **'नृसिंह'** अवतार एक बार हुआ। **'वामन'** अवतार भी दो बार हुआ। **'राम'** अवतार एक ही बार त्रेतायुग में हुआ। **'परशुराम'** अवतार भी एक ही बार हुआ। इसी प्रकार **'कृष्ण'** अवतार भी एक ही बार हुआ। **'बुद्ध'** तथा **'कल्कि'** अवतार भी एक ही बार हुआ। ये दस **अवतार** हैं।

दस अवतार

इनके अतिरिक्त और भी अवतार हुए हैं, जैसे—**'व्यास'** अवतार 'राम' अवतार से पहले हुआ था। 'स्वायंभुव' मनु के समय में **'यज्ञ'** और **'ऋषभ'**, ये दोनों अवतार हुए।[2] इन सभी अवतारों का एकमात्र प्रयोजन दुष्टदमन तथा सज्जनोद्धार है।

भगवान् नाना रूप से जगत् में आकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह तथा तुरीय, इन अवस्थाओं के द्वारा जीवों का पोषण करता है। **'जाग्रत्'-अवस्था** ब्रह्मादि सभी चेतनों में होती है, **'स्वप्नावस्था'** सभी जीवों की होती है। **'सुषुप्ति'** तथा **'मोह'** अवस्थाएँ रुद्रादि सभी जीवों की हैं। **'तुरीयावस्था'** मोक्ष है। **'गर्भावस्था'** में भी भगवान् ही सबका पोषक है।

इसी प्रकार प्रलयरूप **संहार** भी होता है। **प्रलय** दो प्रकार का है—महाप्रलय और अवांतरप्रलय।

महाप्रलय—तीनों गुणों से लेकर ब्रह्मांड-पर्यन्त के अभिमानी ब्रह्मा आदि का नाश **महाप्रलय** में होता है।[3] इस अवसर पर भगवान् सृष्टि के नाश की इच्छा

---

[1] **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' भागवत, प्रथम स्कंध।**

[2] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १११ (क-ख)।**

[3] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ११६ (ख)।**

करते हुए, 'शेष' या 'संकर्षण' के भीतर प्रवेश कर मुख से अग्नि की ज्वाला निकालता है और उससे आवरण-सहित ब्रह्माण्ड जल कर भस्म हो जाता है। सभी कार्य अपने-अपने कारण में लीन होकर केवल **प्रकृतिमात्र** रह जाती है। लक्ष्मी भी जलस्वरूपा हो जाती हैं और उस महान् जल-राशि में लक्ष्मी-स्वरूप एक वट के पत्र पर 'शून्य नाम' के (शून्यनामा) नारायण शयन करते हैं।[1] प्रलय में अन्य कोई आश्रय न होने के कारण सभी **'जीव'** नारायण के उदर में प्रविष्ट होकर रहते हैं। श्वेतद्वीप, अनंत-आसन तथा वैकुंठ में 'श्री' के अंशों का नाश प्रलय में नहीं होता। 'अन्धतमस' का भी नाश नहीं होता। 'रौरव' आदि नरकों का नाश होता है।

संहार

'अवांतर प्रलय' के दो विभाग हैं—'दैनंदिन-प्रलय' तथा 'मनुप्रलय'।

(१) **दैनन्दिन प्रलय**—प्रतिदिन ब्रह्मा की रात्रि आने पर जो नाश होता है, वह 'दैनन्दिन प्रलय' है। इस अवस्था में भूः, भुवः तथा स्वः, इन्हीं तीनों लोकों का नाश होता है। इन्द्र आदि इस समय में महर्लोक को चले जाते हैं।

(२) **मनुप्रलय**—प्रत्येक मनु के भोगकाल की समाप्ति के अवसर पर जो नाश होता है, वही 'मनुप्रलय' है। इसमें भूलोक के मनुष्यादि-मात्र का नाश होता है। अन्य दोनों लोकों के वासी महर्लोक को चले जाते हैं और तब ये तीनों लोक जल से पूर्ण रहते हैं।

सभी **'ज्ञान'** परमात्मा के अधीन हैं। शरीर, स्त्री, आदि का **'ममता-रूप ज्ञान'** तो संसार का कारण होता है और योग्य **'अपरोक्ष-रूप ज्ञान'** मोक्ष का हेतु होता है। चतुर्मुख से लेकर उत्तम श्रेणी के मनुष्य-पर्यंत सज्जीवों को ही **अपरोक्ष ज्ञान** होता है, तमोयोग्यों को नहीं होता। मोक्ष के हेतु **अपरोक्ष-रूप ज्ञान** के साधन निम्नलिखित हैं—

ज्ञान का विचार

नाना प्रकार के सांसारिक दुःख को देख कर संतों की संगति से इहलौकिक तथा पारलौकिक फल में विराग उत्पन्न होना, शम, दम, तितिक्षा, आदि गुणों से युक्त होना, अध्ययन में निरत होना, शरणागति, गुरुकुलवास, गुरु के उपदेश द्वारा सत्-शास्त्रों का श्रवण, उनका मीमांसा आदि के द्वारा मनन, यथायोग्य गुरुभक्ति, परमात्मा में भक्ति, अपने से नीचों के प्रति दया, अपने समानों के प्रति स्नेह, अपने

---

[1] भागवत, तृतीय स्कन्ध।

से उच्चों में भक्ति, ज्ञानपूर्वक निष्काम होना, शास्त्रों में निषिद्ध बातों का त्याग, भगवान् में सबका समर्पण, जीवों में, देवों में तारतम्य को समझना और भगवान् को सबसे ऊँचा जानना, पाँच प्रकार के भेदों का ज्ञान,[1] प्रकृति और पुरुष में विवेक-ज्ञान, अयोग्यों की निन्दा और उपासना। ये ब्रह्मा से लेकर सभी योग्य जीवों के लिए मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हैं। इनका अभ्यास करना आवश्यक है।

'उपासना' के दो भेद हैं—सर्वदा शास्त्र का **अभ्यास** करना तथा **ध्यान** करना। किसी को **अभ्यास** से और किसी को **ध्यान** से **अपरोक्ष-ज्ञान** मिलता है।

उपासना-विचार

ध्यान—अन्य सभी विषयों को हेय दृष्टि से देखते हुए भगवान् के विषय में अखण्ड स्मृति[2] को ही **'ध्यान'** कहते हैं। इसी को 'निदिध्यासन' तथा 'समाधि' भी कहा गया है। यह श्रवण तथा मनन के द्वारा अज्ञान, संशय तथा मिथ्या ज्ञान का नाश होने पर होता है।

गुणोपासना—भगवान् के भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार उपासना में भी अनेक प्रकार होते हैं। कोई आत्मस्वरूप एकमात्र **गुण** को लेकर भगवान् की उपासना करते हैं, वे **एक-गुणोपासक** हैं। उत्तम श्रेणी के मनुष्य सत्, चित्, आनन्द तथा आत्म-स्वरूपवत्त्व, इन चारों **गुणों से विशिष्ट** भगवान् की उपासना करते हैं।

इसी प्रकार देवों में भी **ब्रह्मा** वेद में कहे हुए अनंत गुण और क्रिया से विशिष्ट भगवान् का ध्यान करते हैं। क्रिया-अंश को लेकर सामान्य रूप में भगवान् की उपासना **सरस्वती** करती हैं।

अपने-अपने अधिकार के अनुसार **देवता लोग** भगवान् के भिन्न-भिन्न अंश को लेकर उपासना करते हैं। कोई-कोई **ऋषि** अपनी देह के अंतर्गत **बिंब** की ही उपासना करते हैं। **अप्सराओं** को काम-भक्ति से उपासना करनी चाहिए। **देवताओं की स्त्रियों** को श्वशुरभाव से भगवान् की उपासना करनी चाहिए। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उपासना करने से 'मुक्ति' मिलती है। अन्यथा उपासना का फल अनर्थ को प्राप्त करता है।[3]

---

[1] **जीव-ईश-भेद, जीवों में परस्पर भेद, जड़-ईश-भेद, जड़ों में परस्पर भेद तथा जड़-जीव-भेद।**

[2] **तंत्रसार।**

[3] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४० (ख)।**

उपासना के भेद से दृष्टि में भी भेद है, जैसे—कोई अंतर्दृष्टि, कोई बहिर्दृष्टि, कोई अवतार-दृष्टि और कोई सर्वदृष्टि होते हैं। ऋषि लोग अंतःप्रकाश वाले होते हैं, इसलिए वे **'अंतर्दृष्टि'** कहे जाते हैं। मनुष्य बहिःप्रकाश के होते हैं, अतएव वे **'बहिर्दृष्टि'** होते हैं। देवता सर्वप्रकाश होते हैं अतः वे **'सर्वदृष्टि'** हैं। अतएव मनुष्यों को अग्नि तथा प्रतिमा (मूर्ति) की उपासना करनी चाहिए।[1] उपासना के अनुसार ही ज्ञान भी होता है।[2]

इन साधनाओं के द्वारा **'मोक्ष'** होता है। इनके अतिरिक्त हरि का स्मरण, कीर्तन, जप, अर्चन, द्वादशी-व्रत[3], आदि अनेक साधन हैं, जो भक्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हैं। 'अज्ञान' तथा 'बंधन' परमात्मा के अधीन हैं।

मोक्ष-विचार

मोक्ष भी परमात्मा के अधीन है। उक्त साधनों के द्वारा **अपरोक्ष-ज्ञान** होने के बाद परम भक्ति उत्पन्न होती है। तब भगवान् की अत्यन्त प्रसादप्राप्ति होती है। इससे प्रकृति, अविद्या आदि से **'मोक्ष'** मिलता है।

मोक्ष के भेद—मोक्ष चार प्रकार का है—'कर्मक्षय', 'उत्क्रांतिलय', 'अर्चिरादि-मार्ग' और 'भोग'।

(१) **कर्मक्षय**—अपरोक्ष-ज्ञान होने पर सभी संचित पापों का, अनिष्ट तथा पुण्यों का सब तरह से नाश हो जाना ही **'कर्मक्षय'** कहलाता है।

प्रारब्ध कर्म का नाश भोग से ही होता है। सत्यलोक के आधिपत्य-रूप पुण्यात्मक प्रारब्ध-फल का अनुभव ब्रह्मा को शत ब्रह्म-कल्पपर्यन्त होता है। गरुड़ तथा शेष को पुण्य-पाप-रूप प्रारब्ध का अनुभव पचास ब्रह्मकल्पपर्यन्त होता है। इन्द्र और काम को बीस ब्रह्मकल्पपर्यन्त एव सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं को दस ब्रह्मकल्पपर्यन्त **प्रारब्ध कर्म** का अनुभव होता है। अन्य उत्तम श्रेणी के मनुष्यों को एक ब्रह्मकल्पमात्र अनुभव होता है।

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १४१ (क)।

[2] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४१ (ख)।

[3] द्वादशी तिथि ही हरिवासर है। इसलिए द्वादशी-व्रत हरि की उपासना का अंग कहा गया है।

प्रारब्ध कर्म के भोगफल का अनुभव समाप्त कर सुषुम्नारूपी ब्रह्मनाड़ी के द्वारा देह से निकल कर जीव ऊपर उठता है। यहाँ से कोई वायु द्वारा चतुर्मुख तक पहुँचते हैं और किसी को सीधे परमात्मा की प्राप्ति होती है।

(२-३) **उत्क्रान्तिलय-अर्चिरादिमार्ग**—देवताओं का न तो **उत्क्रमण** होता है और न **अर्चिरादिमार्ग** ही होता है। मनुष्य आदि को ही दोनों प्राप्त होते हैं। किन्तु इससे 'मुक्ति' नहीं होती।

क्रममुक्ति—उत्तम जीवों में देह का लय हो जाने से **क्रमशः मोक्ष** मिलता है। उत्तरोत्तर देहों में क्रमशः लय होते-होते चतुर्मुख की देह में जब जीव प्रविष्ट हो जाता है, तब ब्रह्मा के साथ-साथ विरजा नदी[1] में स्नान करने से लिंग-शरीर का नाश[2] हो जाता है। लिंग-शरीर का नाश हो जाने से जीव-संबंध का, अर्थात् जीवत्व का नाश समझा जाता है।

(४) **भोगमोक्ष**—अन्त में **सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य** तथा **सायुज्य**—चार प्रकार से मुक्ति में भी जीव **भोग** प्राप्त करता है। इन सभी अवस्थाओं में तारतम्य है। अपनी-अपनी उपासना के अनुसार सभी ईर्ष्या, असूया, आदि से रहित हो कर आनद में मग्न रहते हैं। ये मुक्त जीव संसार में फिर नहीं आते। ब्रह्मा आदि जीव जब मुक्त हो जाते हैं, तब उनमें सृष्टि करने का व्यापार नहीं रहता।

---

[1] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १५९ (क-ख)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १५९ (ख)।

एकोनविंश परिच्छेद

शुद्धाद्वैत-दर्शन

(वल्लभ-वेदान्त)

शुद्धाद्वैत-संप्रदाय का विशेष प्रचार वल्लभाचार्य ने किया। इन्होंने अपने मत को **'शुद्धाद्वैत'** के नाम से ही चलाया। इनके मत में **ब्रह्म** ही एकमात्र तत्त्व माना गया है। अन्य सभी वस्तुएँ ब्रह्म से अभिन्न हैं और इसलिए नित्य भी हैं।[1] यथार्थ में **जगत्** अक्षय और नित्य है, किन्तु **विष्णु की माया** से इसका आविर्भाव और तिरोभाव या उत्पत्ति और नाश होता है।[2]

उपक्रम

व्यवहारदशा में भी सभी वस्तुएँ ब्रह्मस्वरूप मानी जाती हैं। इस संप्रदाय के लोग धर्म और धर्मी में तादात्म्य-संबंध मानते हैं, इसलिए घृत के द्रवत्व-रूप धर्म के समान आगंतुक प्रपंचरूप धर्म को ब्रह्मरूप धर्मी से भिन्न नहीं मानते। **माया** को भगवान् की **शक्ति** मान कर, शक्ति और शक्तिमान् में अभेद मानते हुए, इनके मत में एकमात्र **ब्रह्म** ही **प्रमेय** रह जाता है।[3] निराकार, सच्चिदानंद तथा सर्वभवनसमर्थ (सभी होने के योग्य) ब्रह्म बिना किसी निमित्त के अपने अंश से, धर्मरूप से, क्रियारूप से तथा प्रपंचरूप से देख पड़ता है। **'ब्रह्म'** धर्मरूप से पहले ज्ञान, आनंद, काल, इच्छा, क्रिया, माया तथा प्रकृति के रूप में रहता है। किन्तु सर्वदा ऐसा नहीं रहता। आपादक-हेतुस्वरूप **'काल'** पहले नहीं रहता और उसका आविर्भाव होने पर वही **'काल'** इसका नियामक बन जाता है, इसी लिए उक्त अवस्था सर्वदा एक-सी नहीं रहती है। **'काल'** के साथ-साथ उत्पन्न इच्छा आदि शक्तियों का सदा एक-सा रहना भगवान् ने ही किया, अतएव ये भी नित्य हैं। इसमें **काल** ही क्रियाशक्तिरूप है ।

ब्रह्म ही एक-मात्र प्रमेय

---

[1] पुरुषोत्तम-प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५४।

[2] स्मृतिप्रमाण।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५४।

'इच्छा' तो 'अभिध्यान-स्वरूपा', अर्थात् 'संकल्पात्मिका' है। इसी को 'काम' भी कहते हैं, जैसा कि श्रुति में कहा गया है—**'सोऽकामयत'**। भगवान् तदाकार ही है। संकल्प के दो भेद हैं—'बहु स्याम' (मैं बहुत हो जाऊँ) और 'प्रजायेय'[1] (उत्पन्न हो जाऊँ)।

इन दोनों 'संकल्पों' में पहला तो भेद बतलाता है, इसलिए 'काल' से अतिरिक्त क्रिया, ज्ञान तथा आनंद-रूप सत्, चित् और आनंद-रूप ब्रह्म का धर्म अपने में भेद दिखलाते हुए अपने आश्रय 'ब्रह्म' को भी भिन्न करता है, अर्थात् उसे भी क्रियावान्, ज्ञानी तथा आनंदवान् बनाता है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द-रूप 'ब्रह्म' भी हाथ-पैर वाला होकर साकार रूप धारण कर लेता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार भिन्न होने पर भी अपनी इच्छा से अभिन्न रह कर **ब्रह्म** अखण्ड ही है।

ब्रह्म की शक्ति उसके **सत्-अंश** की 'क्रियारूपा' तथा **चित्-अंश** की 'व्यामोहरूपा' **'माया'** है। यह त्रिगुणात्मिका है। यह संसार की कर्तृरूपा 'माया' का अंश है और

माया

जगत् की उत्पत्ति में आनंदरूप का कारण भी है।[2] किन्तु जगत् का कर्तृत्व भी माया में भगवान् की इच्छा से ही है, वास्तव में मूल कर्तृत्व 'माया' में नहीं है।[3]

भगवान् की शक्तियाँ—ज्ञान और **क्रिया,** ये दोनों भगवान् की **शक्तियाँ** हैं। 'आनन्द' ज्ञानशक्तिमान् तथा क्रियाशक्ति वाला हो जाता है, क्योंकि **आनन्द** तो ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में चिदंश की शक्ति जो 'व्यामोहिका' माया है, (जिसे हम **अविद्या** भी कहते हैं) वह, चिदंश से जब 'ज्ञानरूप-धर्म' पृथक् हो जाता है, तब उसे अज्ञान में डाल देती है।

यद्यपि भगवान् बोधरूप है, तथापि धर्म-रूप ज्ञान के अभाव से मुग्ध हो जाता है और यह समझकर कि आनंद तो अलग है, उसके संबंध से आनंद हो जायगा, इस-

जीव

लिए 'माया' के साथ मिल जाता है। तब व्याकुल होकर आनंद से की गयी सृष्टि में जो **'सूत्रात्मा'** था, जो दशविध प्राणरूप था, उसका अवलंबन लेकर रहता है। इस प्रकार प्राण-धारण का प्रयत्न करते हुए चिदंश

---

[1] **तैत्तिरीय उपनिषद्, २-६।**

[2] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५५।**

[3] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५५।**

को **'जीव'** कहते हैं। **सत्-अंश** क्रियाशक्ति के **अलग** हो जाने पर अव्यक्त और जड़ हो जाता है। इसके पश्चात् मूलभूत **क्रिया-अंश** से 'जीव' शरीरादि-रूप से अभिव्यक्त हो जाता है। जब क्रिया' बाद को उसके धर्म में लीन हो जाती है, तब यह भी तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार चित्-रूप भी ज्ञान-शक्ति के अंश-रूप ज्ञान के द्वारा अभिव्यक्त तथा तिरोहित होता है। इसी तरह आनंद-रूप का भी विभाग होता है।

सृष्टि-प्रक्रिया

भगवान् में संसार के पालन तथा नाश, इन दोनों की इच्छा रहती है। इन दोनों इच्छाओं से सत्, चित् तथा आनंद-रूप से क्रमशः 'सत्-अंश' से जीव के बंधन समूहभूत प्राण आदि जड़, 'चित्-अंश' से जीव, 'आनंद-अंश' से जीव का नियामक तथा अंतर्यामियों का, स्फुलिंगों की तरह, आविर्भाव होता है। बद्ध जीवों को जिन्हें भगवान् उस पूर्णज्ञान-शक्ति को देता है, वे उस मोहिका माया को तथा प्रयत्न को छोड़ देते हैं, केवल अपने स्वरूप चित्-रूप में स्थित रहते हैं, और अपराधीन भी हो जाते हैं। किन्तु उन जीवों में जगत्-कर्तृत्व नहीं होता। वह मायाशक्ति उसमें नहीं रहती। उन जीवों में आनंद के ही उत्कृष्ट होने के कारण और दूसरा कोई उत्कर्ष नहीं रहता। फिर भी हीनता इसमें रहती है। आनंद के साथ मिल जाने से यह भी आनंदरूप हो जाता है। इसे ही वल्लभमत में **'सृष्टिप्रकार'** कहा गया है।[1]

सृष्टि के भेद

'अनेन जीवेनात्मानानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', इस श्रुति के अनुसार **'नामसृष्टि'** और **'रूपसृष्टि'**—दो प्रकार की सृष्टि कही गयी है। **'रूपसृष्टि'** का कारण पंचात्मक भगवान् है, अर्थात् तत्त्व तो एकमात्र ईश्वर है, किन्तु उसके पाँच अंग हैं, जैसा कि भागवत में कहा गया है—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन्न चाऽन्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥[2]

'द्रव्य' से 'माया' समझना चाहिए। पश्चात् इसी से महाभूत आदि भी लिये जाते हैं। **'कर्म'** जगत् का निमित्त-कारण तथा भूतों का संस्काररूप भी है। **'काल'**

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५५।**

[2] **सुबोधिनी, पृष्ठ ६६।**

गुणों का क्षोभक, अर्थात् साम्यावस्था का नाश करने वाला तथा निमित्तरूप भी है। यही 'काल' आधाररूप में सभी जगह दिखाई पड़ता है। **'स्वभाव'** परिणाम का कारण है। **'जीव'** भगवान् का अंश-स्वरूप भोक्ता है।

अवांतर सृष्टि में 'अधिष्ठान', अर्थात् शरीर, 'कर्ता' जीव, 'इन्द्रिय', 'नाना प्रकार की चेष्टाएँ', अर्थात् प्राण के धर्म, 'दैव', अर्थात् भगवान् की इच्छा, ये माने जाते हैं। ये सब तत्त्व **'रूपसृष्टि'** में कहे गये हैं। **'नामसृष्टि'** में एकमात्र सूत्ररूप भगवान् सुषुम्ना के मार्ग से शब्द-ब्रह्मरूप में प्रकाशित होता है। पश्चात् यही शब्द-ब्रह्म नाद, वर्ण, आदि रूप में प्रतीत होता है।

प्रमेय-निरूपण

प्रमेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु एकमात्र **'ब्रह्म'** ही है, जैसा पहले कहा गया है, किन्तु संसारदशा में जब ब्रह्म साकार हो जाता है, तब उसी के अनेक रूप हो जाते हैं।

प्रमेय के भेद

परन्तु ये सब ब्रह्म से सभी दशाओं में अभिन्न रहते हैं। अस्तु, इन प्रमेयों को वल्लभाचार्य ने तीन भागों में विभक्त किया है— 'स्वरूपकोटि', 'कारणकोटि' तथा 'कार्यकोटि'। इनका क्रमशः यहाँ संक्षेप में विवरण दिया जाता है—

स्वरूपकोटि—इसमें कर्म, काल, स्वभाव तथा अक्षर, ये चार तत्त्व हैं। यथार्थ में कर्म, काल और स्वभाव, ये तीनों **अक्षर** के ही रूपांतर हैं।[1] इसलिए इनमें सबसे पहले **'अक्षर'** का विचार किया जाना आवश्यक है।

(१) **'अक्षर'** का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा।
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते॥

'अक्षर' वही रूप है, जिसे अधिष्ठान-रूप में स्वीकार कर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया, अर्थात् अक्षर-ब्रह्म प्रकृति और पुरुष का भी कारण है।[2] यही 'अक्षर' ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५७।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५६।

तथा इन दोनों से विशिष्ट तीनों स्वरूपों का मूलभूत, ज्ञान-प्रधान, गणितानंद, ब्रह्म, कूटस्थ, अव्यक्त, असत्, सत्तम, इत्यादि शब्दों से कहा जाता है। इसी को **'वैकुंठ'** भी कहते हैं।[1]

(२) **काल**—अक्षर का ही स्वरूपांतर **'काल'** है। वस्तुतः 'सच्चिदानंद' काल का स्वरूप है, किन्तु व्यवहार में किंचित् सत्त्व के अंश से प्रकट 'काल' है, यह **काल** का स्वरूप-लक्षण कहा जाता है। यह अतीन्द्रिय है। लौकिक कार्य के अनुसार 'काल' का लक्षण 'नित्यग' तथा सबका आश्रय और सबका उद्भव है। इसी काल से चिर, शीघ्र तथा अतीत, अनागत, आदि व्यवहारों की उत्पत्ति होती है। इसका प्रथम कार्य सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न करना है। सूर्य आदि इस काल के 'आधिभौतिक' रूप हैं, परमाणु[2] से लेकर चतुर्मुख के आयु-पर्यन्त 'आध्यात्मिक' रूप हैं तथा भगवान् स्वयं इसका 'आधिदैविक' रूप है, जैसा कि भगवान् ने कहा है—**'कालोऽस्मि'** (मैं काल हूँ)।

(३) **कर्म**—**'कर्म'** भी अक्षर का ही रूपांतर है। 'विधि' और 'निषेध'-रूप से लौकिक क्रिया के द्वारा प्रदेशतः अभिव्यंजन के योग्य व्यापक क्रिया ही **'कर्म'** का लक्षण है। इसी को अपूर्व, अदृष्ट तथा धर्माधर्म भी कहते हैं। **'अदृष्ट'** आत्मा का गुण नहीं है, यह भी इसी से सिद्ध होता है। 'कर्म' नाना नहीं है। कर्म की अभिव्यक्ति के अनंतर तथा फल-समाप्ति-पर्यन्त इसका प्राकट्य (अर्थात् स्थिति) रहता है और फलभोग की उत्पादक क्रिया के द्वारा क्रमशः यह तिरोभूत होने लगता है। इसका प्रधान कार्य 'जन्म' है, जैसा कहा गया है—

'कर्मणा जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्'

(४) **स्वभाव**—यह परिणाम का हेतु है। 'भगवान् की इच्छा का कारक' इसका स्वरूप है। भगवान् की इच्छा से यह भिन्न है। यह व्यापक होने के कारण सभी को अपने नीचे दबा कर स्वयं प्रकट होता है। कभी-कभी परिणामस्वरूप कार्य से इसका अनुमान भी होता है।

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५६।**

[2] **परमाणु उस 'काल' को कहते हैं जितने समय में सूर्य का रथचक्र परमाणुमात्र प्रदेश को व्याप्त करे।**

कारणकोटि—प्रमेय का दूसरा भाग '**कारणकोटि**' है। इसके अंतर्गत अठाईस तत्त्वों का विचार है। ये भगवान् के भावरूप होने के कारण ही तत्त्व कहलाते हैं। भगवान् की जो असाधारण कारणता है, वह लोक में अठाईस प्रकार से प्रकट होती है। सत्त्व, रजस् तथा तमस्, ये तीन गुण; पुरुष; प्रकृति; महत्तत्त्व; अहंकार; शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध, ये पाँच तन्मात्राएँ; आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी, ये पाँच भूत; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मनस्, '**कारणकोटि**' के अंतर्गत ये अठाईस तत्त्व वल्लभ ने माने हैं। संक्षेप में इनका वर्णन यहाँ दिया जाता है—

तत्त्व

(१) **सत्त्व**—सुख का अनावरक (अर्थात् आवरण न करने वाला), प्रकाशक तथा सुखात्मक एवं सुख और ज्ञान की आसक्ति से जीवों की देहादि के प्रति आसक्ति का कारण 'सत्त्व' गुण है। यह स्फटिक की तरह निर्मल है।[1]

(२) **रजस्**—यह रागस्वरूप है। तृष्णा और प्रीति का जनक है, कर्म की आसक्ति से जीवों की देहादि के प्रति अत्यंत आसक्ति का जनक है।[2]

(३) **तमस्**—यह अज्ञान की आवरण-शक्ति से उत्पन्न है। सब प्राणियों को मोह में डालने वाला है और असावधानता, आलस्य तथा निद्रा से जीवों में अपनी देह के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर उन्हें बन्धन में डालता है।[3]

ये गुण जब भगवान् से ही उत्पन्न होते हैं, तब इन्हें माया, चित्-शक्तिरूप या आनंदशक्तिरूप समझना चाहिए। स्थिति-अवस्था में जब रजस् और तमस् सत्त्व को दबा कर उन्नत होते हैं, तब सत्त्व स्वयं दुर्बल हो जाता है और कार्य-रूप में वर्तमान रजस् एवं तमस् को दबाने के लिए भगवान् की प्रार्थना कर उन्हें अवतार-रूप में संसार में प्रकट करता है। भगवान् तब सत्त्व को ही प्रधान बना कर नाना स्वरूप धारण करता है। सत्त्व के अवयव भी पृथक्-पृथक् रूप धारण

---

[1] गीता, अध्याय १४, श्लोक ६।

[2] गीता, अध्याय १४, श्लोक ७।

[3] गीता अध्याय १४, श्लोक ८।

करते हैं। इस प्रकार सभी युग में अपने अंशभूत धर्म की स्थापना करने के निमित्त तथा सत्त्व की सहायता करने के उद्देश्य से भगवान् अवतार ग्रहण करता है।[१]

जब **'तन्मायाफलरूपेण'** इत्यादि 'भागवत' के वचन के अनुसार माया उभयात्मिका चित्-शक्तिरूपा गुणमयी हो जाती है, तब ये तीनों 'गुण' पुरुष की अनुमति से माया के द्वारा वैषम्य को पाकर प्रकृति के धर्म हो जाते हैं और इनसे हिरण्मय 'महत्तत्त्व' आदि की उत्पत्ति होती है। भगवान् स्वयं निर्गुण होते हुए भी सत्-अंश से सत्त्व को, चित्-अंश से रजस् को तथा आनंद-अंश से तमस् को उत्पन्न करता है। द्वितीय कल्प में सच्चिदानंदात्मक ब्रह्म से माया उत्पन्न होती है और उसके बाद गुणों के वैषम्य रूप तथा महत्तत्त्वादि की उत्पत्ति आदि होती है।

(४) **पुरुष**—'पुरुष' को ही 'आत्मा' भी कहते हैं। देह, इन्द्रिय, आदि को दूसरे के निमित्त जो **'अतति'—'व्याप्नोति'—'अधितिष्ठति',** अर्थात् धारण करती है, वही 'आत्मा' है। यह अनादि, निर्गुण तथा प्रकृति की नियामक है। अहं-रूप ज्ञान से यह जानी जाती है। यह स्वयं-**प्रकाश** है। संसार के गुण तथा दोषों से मुक्त रहते हुए भी, यह सभी वस्तुओं से संसर्ग रखती है। मुक्ति की यह उपकारक है। यह देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा अहंकार से अतिरिक्त है।

इस निर्गुण आत्मा में भी 'कर्तृत्व' आदि गुण जो कहे जाते हैं, वे सृष्टि के अनुकूल भगवान् की इच्छा से तथा प्रकृति आदि के अविवेक से हैं, अर्थात् वे सगुणत्व आत्मा में आगंतुक धर्म हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। अन्यथा इसमें मुक्ति-योग्यता नहीं हो सकती थी और तब मोक्ष-प्रतिपादक सभी श्रुतियाँ व्यर्थ हो जातीं।

पुरुष एक है—पुरुष एक ही है, अनेक नहीं।[२] शास्त्र में कहा गया है कि कालचक्र के कारण प्रकृति-रूपा गुणमयी माया में शक्तिमान्

---

[१] **भागवत, १-१०-२४; गीता, अध्याय ४, श्लोक ७।**

[२] **गीता, अध्याय १०, श्लोक २०।**

भगवान् आत्मस्वरूप पुरुष के द्वारा अपनी शक्ति (वीर्य) को रखता है। इस प्रकार करण-रूप में इस **पुरुष** की अपेक्षा होती है।[1] इसी पुरुष को सांख्यान्तर शास्त्र में (अर्थात् योगशास्त्र में) **'ईश्वर'** कहते हैं। इसी बात को आचार्य ने 'भागवत' की टीका 'सुबोधिनी' में भी कहा है—

> **"पुरुष एक ही है। पुरुष और ईश्वर में कुछ भी विलक्षणता नहीं है, इसलिए इन्हें दो मानना व्यर्थ है।"**

अतएव **जीव** और **ईश्वर** में भी स्वाभाविक भेद नहीं है, वे तो केवल अवस्था के भेद से दो मालूम होते हैं। अतः 'जीव', 'ईश्वर' और 'पुरुष', ये शब्द एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह तो **तत्त्व-कथन** है, किन्तु व्यावहारिक-दशा में **(प्रकृते तु)** **'पुरुष'** द्वारभूत भगवान् का अंश है और **ईश्वर** भगवान् स्वयं है। **'जीव'** पुरुष-तत्त्व से भिन्न है। परन्तु चिद्-रूप होने के कारण एक ही जाति के दोनों हैं अथवा 'पुरुष' का ही अंश **'जीव'** है। किन्तु **'त्वं आत्मना आत्मान अवेहि'** इस श्रुति में **अक्षरांश** और **पुरुषांश** के भेद होने का कारण 'जीव' भी **दो प्रकार का माना जाता है**।[2] लौकिक दशा में 'जीव' से भिन्न 'ईश्वर' को तो मानना ही पड़ेगा, अन्यथा भोग का नियम ठीक से नहीं हो सकता है। 'कर्म' इसी ईश्वर के अधीन है। जैसा श्रुति में भी कहा गया है—**'एष उ एव साधु कर्म कारयति।'** 'प्रकृति' और 'पुरुष' का संयोग भी 'ईश्वर' के बिना नहीं हो सकता। यह संयोग अनादि नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा होने से मोक्ष की चर्चा भी नहीं हो सकती है। इसलिए ईश्वर ही इस संयोग का अधिष्ठाता माना जाता है।

(५) **प्रकृति**—इसे **'प्रधान'** भी कहते हैं। यह भगवान् का मुख्य रूप है। इसे जगत् के उपादानरूप में भगवान् ने बनाया। यह साम्यावस्था में प्राप्त तीनों गुणों का स्वरूप-भूत तत्त्व है। जिस प्रकार सच्चिदानंदरूप ब्रह्म में क्रिया, ज्ञान और आनंदरूप धर्म रहते हैं, उसी प्रकार

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६०।**

[2] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६०।**

इस 'प्रकृति' के त्रिगुणात्मिका होने पर भी उसमें अंशतः उद्गत तीनों गुण भी रहते हैं। अतएव इस मत में प्रकृति और गुणों में **'धर्म-धर्मिभाव'** भी है। तीन प्रकार की सृष्टि करने के लिए भगवान् ने प्रकृति को ये तीन ऐश्वर्य दिये हैं। ये सत्, चित् तथा आनंद के अंश माया-रूपा 'प्रकृति' में रहते हुए प्रकृति को **'प्रधान'** बनाते हैं।

किसी प्रकार काल आदि के द्वारा यह अभिव्यक्त नहीं हो सकता है, अतएव यह **'अव्यक्त'** है। इसी लिए यह नित्य भी है, क्योंकि अभिव्यक्त होने से ही यह अनित्य हो जाता तो पुनः इससे सृष्टि न हो सकती थी। प्रकृति के साथ-साथ काल आदि भी उत्पन्न होते हैं और इसी के साथ इनकी स्थिति तथा लय भी होता है।

यह सत् और असत्-स्वरूपा है। कार्य और कारण में वल्लभ-सम्प्रदाय वाले भेद नहीं मानते। यह 'ज्ञान' का हेतु भी है, अन्यथा संसारी लोग भी विवेक नहीं कर पाते और न मुक्त हो सकते। यह 'वैराग्य' का भी कारण है, क्योंकि यह सभी विशेषों को आत्मा को दिखाकर फिर निवृत्त हो जाती है। 'प्रकृति' और 'पुरुष' में यद्यपि अन्यत्र स्वस्वामिभाव संबंध है, किन्तु यहाँ वीर्याधान के कारण उनमें संयोग-संबंध भी है। 'प्रकृति' और पुरुष' दोनों ही साकार हैं। यह भगवान् के साकार होने से ही सिद्ध होता है। इसलिए इनमें भी शरीर, इन्द्रियाँ आदि होती हैं।[१]

प्रकृति के भेद—'प्रकृति' के भी दो भेद माने गये हैं—'व्यामोहिका माया' और 'मूल प्रकृति', अन्यथा संसार में अवस्था का भेद नहीं हो सकता था। भगवान् की इच्छा से जब **'मायारूप'** प्रबल रहता है, तब तो पुरुष बद्धावस्था को प्राप्त होकर **'जीव'** कहलाता है और जब 'मूल प्रकृति' की अवस्था आती है, तब स्वरूप में ही स्थित होकर आत्मा जगत् का कारण होती है।[२]

---

[१] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६३।

[२] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६०।

(६) **महत्**—यह 'क्षुब्ध' गुणों से उत्पन्न होता है। क्रियाशक्तिमान् प्रथम विकार तो **'अर्थ'** है और ज्ञानशक्तिमान् **'महान्'** है। किन्तु एक सूत्र में बँधे होने के कारण, अर्थात् सर्वथा एक में मिल जाने से, ये दोनों एक ही तत्त्व माने गये हैं। ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण एक ही तत्त्व दो तरह का मालूम होता है। इस महतत्त्व का शरीर हिरण्मय है। कूटस्थ में रहकर अपने आधारभूत विश्व का यह व्यंजक सात्त्विक है। जगत् का यह अंकुर कहलाता है और यह अत्यंत घन है और तमस् का नाशक है। यह भगवान् के आविर्भाव का स्थान है। इसी को **'शुद्ध सत्त्व'** कहते हैं। इसी को **'चित्तत्त्व'** भी कहते हैं।[१] इनके मत में **बुद्धि** और **महान्**, ये दो पृथक् पदार्थ हैं।

(७) **अहंकार**—यह 'महत्' से उत्पन्न होता है। इसे विमोहन, वैकारिक, तैजस, तामस, अहं, त्रिवृत् तथा तन्मात्रा, इन्द्रिय एवं मनस्, इन तीनों का कारण तथा चित्-अचित्-मय कहते हैं। यह 'चित्' का आभास होने से चित् और अचित्, इन दोनों का ग्रंथिरूप है। दिग्, वात, अर्क, प्रचेतस्, अश्विनीकुमार, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र तथा चन्द्र, इनका भी जनक **'अहंकार'** है। 'संकर्षण' रूप का यह अधिष्ठान है। कर्तृत्व, करणत्व तथा कार्यत्व भी इसमें हैं। फिर शांत, घोर और मूढ़ स्वरूप वाला भी यह है। प्राण और बुद्धि इसी के **रूपांतर** हैं, जैसा कि कहा गया है—

'ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः।'[१]

इन्हीं रूपान्तरों के होने से 'अहंकार' में सब इन्द्रियों को बल देने की शक्ति, द्रव्यस्फुरणविज्ञान, इन्द्रियानुग्राहकत्व तथा संशय आदि पाँच वृत्तियाँ हैं।

(८) **तन्मात्रा**—भूतों की सूक्ष्म अवस्था को **'तन्मात्रा'** कहते हैं। इसमें 'विशेष' नहीं रहता। 'अहंकार' से यह उत्पन्न होता है और अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करता है। इसके पाँच भेद हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। ये योगियों को ही दृष्टिगोचर होते हैं। **विशेष**

---

[१] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६४।**

अवस्था में ही ये हम लोगों के दृष्टिगोचर होते हैं, जैसा कि सांख्य-दर्शन में कहा गया है—

'बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेषविषयाणि।'[1]

इस विषय में वल्लभ और सांख्यमत में कोई भेद नहीं है। क्रम से इन पाँच 'तन्मात्राओं' के विशेष लक्षण यहाँ दिये जाते हैं—

(क) **शब्द**—श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य तथा धर्मवान् **'शब्द'** है। शब्द को **'नभस्तन्मात्रं'** अर्थात् आकाश का तन्मात्र[2] तथा द्रष्टा और दृश्य का लिंग[3] भी कहा गया है, जैसे—शब्द सुनकर उसका उच्चारण करने वाले का ज्ञान होता है तथा टंकार आदि शब्द सुनकर 'टंकार-शब्द' उत्पन्न करने वाली वस्तु का ज्ञान होता है।[4] कार्य-अवस्था में 'शब्द' **सविशेष** हो जाता है और यह पाँचों भूतों का गुण है, अर्थात् शब्द सभी भूतों में रहता है।[5] इसलिए भेरी से उत्पन्न 'शब्द' पृथ्वी का गुण है, क्योंकि भेरी पार्थिव वस्तु है और कार्यभूत वस्तु में वर्तमान शब्द विसरणशील तथा सावयव भी है। कार्यवस्तु में रहने वाला शब्द उदात्त आदि वैदिक तथा षड्ज आदि लौकिक स्वर के भेद से अनंत प्रकार का है। 'शब्द' स्पर्शवान् भी है, जैसे—किसी वाद्य से उत्पन्न शब्द-गत स्पर्श का तथा मर्म को छूने वाले शब्द से उत्पन्न स्पर्श का हृदय में त्वचा के द्वारा अनुभव होता है, अतएव वल्लभ ने 'शब्द' में स्पर्शरूप गुण को माना है। इसके बिना **'न कञ्चिन्मर्मणि स्पृशेत्'** (किसी को ममस्थान म न छूना चाहिए) इस प्रकार की स्मृति व्यथ हो जायगी। **'गुणे गुणानंगीकारात्'** (एक गुण में दूसरा गण नहीं माना जाता है)

---

[1] **सांख्यकारिका, ३४।**

[2] **भागवत, तृतीय स्कन्ध।**

[3] **भागवत, द्वितीय स्कन्ध, २५।**

[4] **सुबोधिनी, २-२५।**

[5] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६५।**

नैयायिकों के इस कथन को ये लोक-प्रत्यक्ष-विरुद्ध मान कर टाल देते हैं।[१]

शब्द की नित्यता—'शब्द' के नित्य होने के संबंध में वल्लभाचार्य का कथन है कि 'वेद' को नित्य मानते हुए उसी का अंशभूत 'वर्ण' यथार्थ में नित्य ही है। फिर भी लोक में उसका सुनाई देना, या न देना, यह तो शब्द के आविर्भाव और तिरोभाव-रूप धर्म के कारण होता है। हृदयाकाश में भगवान् या ब्रह्म **'नाद'**-रूप में प्रथम अभिव्यक्त होता है। 'शब्द' पहले तो अव्यक्त रहता है, पश्चात् नानावर्णादि-संकल्पक-मनोमय सूक्ष्म रूप को प्राप्त कर भगवान् के मुख से प्रकट होता हुआ मात्रा, स्वर, वर्ण-रूप में स्थूल भाव से ब्रह्मात्मक वेद-रूप में वही सूक्ष्म शब्द प्रकाशित होता है। वह नाद-व्यापक होने के कारण हम लोगों के अंदर भी प्राण, घोष-रूप में रहता है। श्रोत्र (कान) की वृत्ति का निरोध करने पर भगवान् के ही द्वारा 'जीव' उसे सुनता है, अन्यथा द्वार के बन्द होने के कारण वह सुनाई नहीं देता।

स्फोटविचार—इसी **नाद** को **'स्फोट'** भी कहते हैं। अतएव यही नाद सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा मूलाधार, हृदय, कंठ तथा मुख में परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी-रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार ब्रह्म के सत्, चित् और आनंद नाम हैं, उसी प्रकार शब्द-रूप ब्रह्म के वर्ण, पद और वाक्य नाम हैं। वास्तविक भेद इनमें नहीं है, किन्तु काल्पनिक है। 'शब्द' सर्वगत है, अतएव नाना देश में स्थित वक्ता के प्रयत्न से उन-उन देशों में 'शब्द' सहज में अभिव्यक्त होता है। इसके सर्वगत होने में अबाधित 'प्रत्यभिज्ञा' ही प्रमाण है और इसी लिए सूर्य के समान एक ही समय में अनेक स्थलों से 'शब्द' की स्थिति दिखाई पड़ती है।[२]

---

[१] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६५।

[२] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ २०-२१।

शब्द की उत्पत्ति—'शब्द' की उत्पत्ति में अन्दर और बाहर वायु ही निमित कारण है। इसके समवायी तो पाँचों भूत हैं। विशेषकर **आकाश** और अन्य भूत सामान्य रूप से। जहाँ पर 'ध्वनि' अभिव्यक्त होती है, वहाँ से कुछ दूर तक चारों ओर तो यह स्वभाव से ही स्वयं जाता है, क्योंकि यह **'विसारी'** है। बाद को वायु इसे दूर-दूर ले जाती है। इस तरह स्थानांतर में जाता हुआ 'शब्द' अपना थोड़ा-थोड़ा अंश भिन्न-भिन्न कानों में लीन करता (रखता) जाता है। जब इसके सभी अंश लीन हो जाते हैं, तब वह आगे के लोगों को सुनाई नहीं देता। अंत में स्वभाव से ही या 'काल' आदि के द्वारा उसका नाश हो जाता है। शब्द का अंश-अंश करके नाश होते हुए देख कर इसे निरवयव कहना ठीक नहीं है।[1]

(ख) **स्पर्श**—त्वगिन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य **'स्पर्श'** है। **'वायु-तन्मात्रत्वं'** इसका लक्षण है। कार्य-वस्तु में वर्तमान यह 'सविशेष' होकर चार भूतों का गुण है। मात्रा-रूप में मृदु, कठिन, शीत तथा उष्ण—ये चार इसके भेद हैं।[2] गुणस्वरूप में मृदु, पिच्छिल (फिसलना), जैसे—रेशमी कपड़े में, कठिन, शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत, शीत, लघु, गुरु, संयोग, आदि इसके अनेक भेद होते हैं।

मृदु आदि शब्द वस्तुतः धर्मवाचक होने पर भी अधिक प्रयोग होने के कारण धर्मी के निमित्त भी प्रयुक्त होते हैं। **लघु स्पर्श** वायु, तेजस्, जल तथा भूमि में रहता है, जैसे सूक्ष्म वायु का स्पर्श, ज्वाला का स्पर्श, तूल (रुई) का स्पश। लघु स्पर्श होने के ही कारण तेजस् ऊपर को जाता है। जल का लघु स्पर्श गंगा, यमुना, कूप और नदी के जल को पीन से मुख में स्पष्ट मालूम होता है। इसी प्रकार **गुरु स्पर्श** भी जल,

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ २२-२३, ६५।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६५।

वायु और भूमि में है। अन्य शास्त्र में 'गुरुत्व' स्पर्श से अतिरिक्त गुण माना गया है, किन्तु यहाँ 'स्पर्श' का ही भेद 'गुरुत्व' भी है जो स्पर्श होने के ही कारण तौलने पर मालूम किया जाता है। स्पर्श के बिना जहाँ गुरुत्व का ज्ञान होता है वहाँ अनुमान से होता है, न कि प्रत्यक्ष से।

'संयोग' स्पर्श से अतिरिक्तगुण वल्लभ के मत में नहीं माना जाता है। **संयोगज संयोग** यह नहीं मानते। **संयोग** चक्षु से जाना जाता है और 'स्पर्श' त्वगिन्द्रिय से, इसलिए ये दो भिन्न गुण हैं, ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु में भी त्वगिन्द्रिय तो है ही। इसलिए चक्षु से देखी गयी वस्तु त्वगिन्द्रिय से भी देखी जाती है, यह स्वीकार करना चाहिए। चक्षुरिन्द्रिय में वर्तमान जो 'वायु' है, उसका गुण 'स्पर्श' है, न कि 'चक्षु' का। अतएव मन में भी 'स्पर्श' है।[1] **'श्लेष'** (जुड़ा हुआ होना, जैसे अंगुलियों का) विभाग का अभावरूप है। **'स्नेह'** भी स्पर्श का ही भेद है, क्योंकि यह भी त्वचा से ही जाना जाता है।

(ग) **रूप**—चक्षु से ग्रहण करने योग्य गुण को **'रूप'** कहते हैं। **'तेजस्तन्मात्रत्वं'** इसका लक्षण कहा गया है। जिस द्रव्य में यह रहता है, उसी की आकृति के तुल्य इसकी आकृति होती है।[2] 'तन्मात्र-स्वरूप' में यह एक ही है। 'कार्यस्वरूप' में भास्वर, शुक्ल, नील, पीत, हरित, लोहित, आदि 'रूप' के अनंत भेद हैं। 'चित्ररूप' भी एक अतिरिक्त रूप है। 'भास्वर रूप' दूसरे का भी प्रकाश करता है, इसलिए अपने आश्रय से अधिक देश में रहने वाला होता है। यह विसरणशील होता है।

(घ) **रस**—रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण **'रस'** है। **'जलतन्मात्रत्वं'** इसका लक्षण है। 'तन्मात्रारूप' में यह अव्यक्त मधुर है। 'कार्यवस्तु' में होने से कसैला, मधुर, तिक्त, कड़ुआ, खट्टा, क्षार

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६७।**

[2] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६७।**

(नोना) और मिश्र, य सात इसके भद ह। जल म अव्यक्त मधुर 'रस' है। आधारभूत वस्तु के धर्म के संबंध से 'रस' म भद उत्पन्न होता है।[1]

(ङ) **गंध**—घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य गण '**गंध**' है। यह 'पथिवी-तन्मात्र' कहलाती है। व्यक्त और अव्यक्त के भेद से यह दो प्रकार की है। 'कायरूप' में करंभ (दही-मिश्रित सत की गंध[2] या तरकारी आदि की मिश्र गंध)', पूति (दुगन्ध), सौरम्य (सुगंधि), शांत और उग्र (ये पूति और सौरम्य के ही भेद हैं, कमल की गंध 'शान्त' है और चंपा या लहसुन की गंध 'उग्र' है) तथा 'अम्ल', जैसे—नीबू की गंध और बासी कढ़ी आदि की गंध, ये छः प्रकार की गंध हैं। इनके अतिरिक्त अवांतर भेद तो अनंत हैं, जैसे धूप, धूम आदि की गंध। 'गंध' अपने आश्रय से अधिक देश में रहने वाली होती है, अर्थात् इसका आश्रय-भूत द्रव्य जहाँ नहीं रहता, वहाँ भी उस द्रव्य में रहने वाली गंध रहती है।

नैयायिक आदि के मत में जब किसी फूल की गंध कहीं दूर तक फैलती है तो यह समझा जाता है कि वायु के द्वारा उस फूल का भाग दूर तक चला जाता है और उसी के साथ-साथ उसकी सुगंधि भी जाती है, अर्थात् द्रव्यरूप आश्रय के बिना उसका गुण कहीं नहीं जा सकता है। किन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार द्रव्य को छोड़ कर भी उसका गुण अन्यत्र चला जाता है।[3]

(९) **भूत**—जिन में **सविशेष** शब्द आदि गुण हों, उन्हें '**भूत**' कहते हैं। आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथ्वी, य **पाँच भूत** हैं। क्रमशः इनका वर्णन यहाँ किया जाता है—

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६८।

[2] करंभो दधिसक्तवः—अमरकोश, ९-४८।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६८।

(क) **आकाश**—**'अवकाशदातृत्वं'** (अवकाश देने वाला) या **'बहिरन्तर्व्यवहारविषयत्व'** या **'घ्राणेन्द्रियान्तःकारणाधारत्व'** **'आकाश'** के लक्षण कहे गये हैं। पहला लक्षण 'आधिदैविक' है। दूसरा 'आधिभौतिक' स्वरूप-लक्षण है। यही लक्षण व्यवहार में उपयोगी भी है। आकाश जन्य है, नित्य नहीं, क्योंकि इसमें विकारित्व सिद्ध होता है, जैसे—**'आत्मनः आकाशः संभूतः'** इस श्रुति में भी कहा गया है। आकाश में रूप नहीं है। परम महत् परिमाण वाला होने के ही कारण यह 'नीरूप' भी है। आकाश में नील आदि की प्रतीति भ्रममात्र है। चक्षु अपनी सामर्थ्य से आकाश का ग्राहक नहीं है, किन्तु आकाश ही अपनी सामर्थ्य से गंधर्वनगर अथवा पिशाच के समान अपने स्वरूप को प्रकट करता है। इसका विशेष गुण[1] 'शब्द' है।

(ख) **वायु**—इसका लक्षण इनके मत में **'अरूपित्वे सति चालनव्यूहनद्रव्यशब्दगन्धनयनसर्वेन्द्रियबलदानाख्यकार्यत्वम्'** है। अर्थात् जिसमें रूप न हो और जो डाल आदि को हिलावे, गिरे हुए पत्तों को आंधी में एक जगह मिलावे, द्रव्य, शब्द और गंध को अन्यत्र ले जाने वाली, सभी इन्द्रियों को बल (सामर्थ्य) देने वाली, आदि कार्य करे, वही **'वायु'** है। यही प्राणरूप है। 'स्पर्श' इसका विशेष गुण है। 'शब्द' भी इसमें कारण से आता है। इस प्रकार इसमें दो गुण हैं। मीमांसक के मतानुसार इसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

(ग) **तेजस्**—'तेजस्' में पाचन, प्रकाशन, पान, जैसे—जल आदि का, अदन (भोजन), जैसे—अन्न का, हिम (पाला या शीत) का मर्दन (नाश करना), शोषण (सुखाना), ये छः कार्य होते हैं। यथार्थ में पान और अदन, ये दोनों कार्य जठराग्नि से ही होते हैं। अतएव पाँच ही कर्म **'तेजस्'** के हैं। 'क्षुधा' और 'तृष्णा' भी तेजोरूप हैं। 'रूप' इसका विशेष गुण है। शब्द

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ७१।**

और 'स्पर्श' इसमें कारण से आते हैं। इस प्रकार इसम तीन गुण हैं।[1]

(घ) **जल**—क्लेदन (भिगोना), पिण्डन (इकट्ठा करना), तृप्ति (क्षुधा आदि की निवृत्ति करना—भोजन करने पर भी बिना जल के तृप्ति नहीं होती), प्राणन (जीवन), आप्यायन (प्राण को संतोष देना), प्रेरण (बहा ले जाना), ताप को दूर करना तथा एक स्थान में अधिक होकर रहना, ये आठ कार्य जिसमें हों, वही **'जल'** है। बर्फ आदि में दूसरे भूत के कारण कठोरपन है। जब बहुत ठंडी हवा चलती है, तब जल एकत्रित होकर 'ओला' बन जाता है। 'रस' इसका विशेष गुण है। 'शब्द', 'स्पर्श' तथा 'रूप' इसमें दूसरे से आये हुए गुण हैं। इस प्रकार 'जल' में चार गुण हैं।

(ङ) **पृथ्वी**—साक्षात् समस्त जगत् को धारण करने वाला द्रव्य **'पृथ्वी'** है। वल्लभ **'सत्कार्यवाद'** को ही स्वीकार करते हैं। 'गंध' इसका विशेष गुण है और चार गुण इसमें अन्यत्र से आते हैं। इस प्रकार इसमें पाँच गुण हैं।

(१०) **इन्द्रिय—'तैजसाहंकारोपादेयत्वे सति** (तैजसरूप अहंकार से इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है) **'ज्ञानक्रियान्यतरकरणम्' 'इन्द्रिय'** का लक्षण है। देह से संयुक्त रहकर अपने फल से आत्मा का जो ज्ञान करावे, वही **'इन्द्रिय'** है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के भेद से 'इन्द्रियाँ' दो प्रकार की हैं। श्रोत्र आदि पाँच **'ज्ञानेन्द्रियाँ'** हैं और वाक् आदि पाँच **'कर्मेन्द्रियाँ'** हैं। ये सभी 'अभौतिक' हैं, क्योंकि ये 'अहंकार' से उत्पन्न होती हैं। भगवान् की इच्छा से, गुणों के परिणाम के भेद से तथा शरीर के अंगों के सन्निवेश के भेद से एक ही तैजस अहंकार से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। ये 'इन्द्रियाँ' अणु-परिमाण की हैं और अनित्य भी हैं।

इनमें 'चक्षु' उद्भूत रूप और उद्भूत रूपवान् तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग तथा 'कर्म'

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ७१।**

और इनकी 'जाति' तथा 'समवाय' का ग्राहक है। इसी लिए परमाणु, पिशाच, आदि का चक्षु से ग्रहण नहीं होता। 'रूप' के द्वारा ही 'चक्षु' द्रव्य का भी ग्राहक है। 'त्वगिन्द्रिय' से उक्त संख्या आदि सभी गुण, उद्भूत स्पर्श तथा उद्भूत स्पर्श वालों का, उक्त गुणों की 'जाति' और 'समवाय', इन सबका ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'घ्राणेन्द्रिय' से ग्रहण योग्य उद्भूत गंध और उद्भुत गंध वाला, उनकी 'जाति' और 'समवाय' हैं। इसी तरह 'रसनेन्द्रिय' और 'श्रवणेन्द्रिय' को भी जानना चाहिए।

ये दस इन्द्रियाँ राजस हैं, क्योंकि राजस 'बुद्धि' और 'प्राण' से इनका ग्रहण होता है। इनमें से श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, हाथ और पैर, इनके दो-दो रूप हैं, किन्तु यह प्रत्येक एक ही एक इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वस्तुओं के साथ ही ज्ञानजनक होती हैं।

(११) **मन**—'मन' संकल्प और विकल्पात्मक हैं। इसे उभयात्मक कहते हैं, क्योंकि यह दोनों प्रकार के कार्यों को करता है। इच्छा (काम) की उत्पत्ति इसी के अधीन है। यह भी एक इन्द्रिय है।

मन के गुण—सुख, दुःख, प्रयत्न, द्वेष, अदृष्ट, स्नेह, आदि इसी 'मन' के **गुण** हैं, न कि आत्मा के। यह भी जन्य है, जैसा कि **'तन्मनोऽसृजत्'** इस श्रुति में भी कहा गया है। अणु इसका परिमाण है। इसके दो प्रकार के कार्य होते हैं—आन्तर और बाह्य।

सामान्य—इसका **'आकृति'** और **'व्यक्ति'** में सन्निवेश किया गया है।

ज्ञान

'ज्ञान' ब्रह्मस्वरूप ही है, जैसा श्रुति में भी कहा है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। जब-जब भगवान् सृष्टि की इच्छा करता है, तब-तब उसका अनेक प्रकार से आविर्भाव होता है, इसलिए 'ज्ञान' का अनंत भेद होने पर भी यहाँ केवल दस प्रकार का 'ज्ञान' माना गया है। इनमें चार प्रकार का 'ज्ञान' **नित्य** है।

पहला ज्ञान—सबका आत्मस्वरूप, सबका उपास्य, मुख्य, विकार-रहित आत्मा का अपना ही स्वरूप है, जिसे गीता के दसवें अध्याय के बीसवें श्लोक में कहा गया है—

'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः।'

स्वरूपतः यह **नित्य** है।

दूसरा ज्ञान—यही 'ज्ञान' जब प्रकाश-रूप में आविर्भूत होता है, तब वह भगवान् का गुणस्वरूप कहलाता है, जैसा कहा गया है—

'ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।'

ऐश्वर्य-संपन्न में वह **नित्य** है और जीव तथा भगवान् के पार्षद आदि में उसके देने से प्राप्त होता है।[1] यह दूसरा **ज्ञान** है।

तीसरा ज्ञान—यही 'ज्ञान', अर्थात् धर्मरूप सर्व-विषयक ज्ञान जब सृष्टि के निमित्त भगवान् के मनोमय आदि नाड़ी के द्वारा 'वेदरूप शरीर' धारण करता है, तब वह **'तीसरा ज्ञान'** कहलाता है। जैसा कि श्रुति में है—**'स एष जीवो, विवरप्रसूतिः'**, इत्यादि। वेद-शरीर में भी वह ज्ञान विराट् रूप के समान अनंत है, जैसा 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में इन्द्र और भरद्वाज के संवाद में स्पष्ट कहा गया है—**'अनंता वै वेदाः'** इत्यादि।

चतुर्थ ज्ञान—यही बाद में विशिष्ट शक्ति वाला होकर संसार का **'बीज'** हो जाता है और इसी से सभी विकृत शब्द सृष्टि के आदि में होते हैं। यही भगवान् के आश्रित होने से **'चतुर्थ प्रकार'** का **नित्य** ज्ञान है।

यही वेदरूप शरीर-विशिष्ट ज्ञान समवाय-संबंध से 'प्रमाता' में तथा निमित्त-रूप से 'प्रमेय' में रहता है। पश्यंतीरूप शब्द तो 'प्रमाता' का आश्रयण करता है, जैसा कि 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[2]

अर्थात् इस लोक में (व्यवहार की अवस्था में) ऐसा कोई भी 'ज्ञान' नहीं है, जो 'शब्द' से अनुविद्ध न हो। प्रमेय के अनंत होने से उसका आश्रयण करने वाला शब्द-शरीर-विशिष्ट ज्ञान भी अनंत है। किन्तु वास्तव म वल्लभ के मत म ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय है, इस विचार से यह 'ज्ञान' एक ही है।

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ १।

[2] **वाक्यपदीय, कांड १, कारिका १२४।**

पञ्चम ज्ञान—शब्द और अर्थ तथा शब्द और ज्ञान में नित्य संबंध होने के कारण शब्दविशिष्ट ही 'ज्ञान' प्रमेय का आश्रयण करता है। यही **'पंचम ज्ञान'** है। इस अवस्था में शब्द और अर्थ ज्ञान से अभिभूत हैं, किन्तु पहले उलटा था।

पञ्चम ज्ञान के भेद—प्रमाता में अन्तःकरण और इन्द्रिय का आश्रयण करने वाला 'ज्ञान' **पाँच प्रकार** का है। इन्द्रिय में एक प्रकार का और अंतःकरण में **चार प्रकार** का।

(१) **मन** में संकल्प और विकल्प-रूप से 'ज्ञान' आश्रित है,

(२) विपर्यास, निश्चय, स्मृति, आदि रूप में ज्ञान **'बुद्धि'** का आश्रित है,

(३) 'स्वप्नज्ञान' **अहंकार** का आश्रित है और

(४) 'निर्विषयज्ञान' **चित्त** का आश्रित है।

इस प्रकार ज्ञान **दशविध** है।

कार्यरूप छः प्रकार के 'ज्ञान' मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं; जैसा श्रुति कहती है—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः
ह्रीः धीः भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति।

'ज्ञान' स्थिर होता है, न कि केवल तीन ही क्षण रहता है। उत्पन्न हुए 'ज्ञान' के उद्दीपक शब्द और विषय हैं। बुद्धि, चेतन, आदि इसी 'ज्ञान' के पर्याय हैं।

ज्ञान के अन्य भेद—ज्ञान पुनः सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। **'सात्त्विक ज्ञान'** यथार्थ ज्ञान है और यही **'प्रमा'** कहलाता है। **'राजसिक ज्ञान'** राजस सामग्री से उत्पन्न होता है और यह नाना प्रकार का होता है। यही व्यवहार का उपयोगी ज्ञान है। अतएव परमार्थ-दृष्टि से राजस ज्ञान में प्रामाण्य नहीं है। **'तामस ज्ञान'** भी अप्रमाण ही है। पामर तथा नास्तिकों का ज्ञान 'तामस' है। अच्छे लोग इसकी निन्दा करते हैं, अतएव यह हेय है।

ज्ञान का तीसरा भेद—**'राजस ज्ञान'** 'सविकल्पक' ही होता है, क्योंकि इसी से लोक में व्यवहार चल सकता है। 'ज्ञान' यद्यपि पहले निर्विकल्पक ही होता है, किन्तु उससे लौकिक कार्य नहीं चलता है और यह सात्त्विक रूप में एक ही प्रकार

का है। वल्लभ दोनों प्रकार के ज्ञान, 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक', को स्वीकार करते हैं।

निर्विकल्पक ज्ञान—पहला तो इन्द्रियाश्रित है। है तो यथार्थ में यह 'सात्त्विक', किन्तु 'राजस' में ही यह परिगणित होता है।

सविकल्पक ज्ञान के भेद—संशय, विपर्यास, निश्चय, स्मृति तथा स्वाप, ये पाँच **'सविकल्पक ज्ञान'** के भेद हैं।[1] **'सुषुप्ति'** भी स्वप्न का ही अवांतर भेद है। आत्म-स्फुरण वहाँ स्वयं हो जाता है।[2] **'चिन्ता'** स्मरण के अंतर्गत है। **'प्रत्यभिज्ञा'** तो निश्चय ज्ञान ही है।

कारण

वल्लभ के मत में **'कारण'** दो ही प्रकार के हैं—'समवायी' तथा 'निमित्त'। समवाय और तादात्म्य एक ही वस्तु है।

'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द', ये ही तीन **'प्रमाण'** इन्होंने माने हैं।

'आकाश' और 'काल' के समान 'दिक्' को भी पृथक् रूप में इन्होंने स्वीकार किया है। इसका ग्रहण साक्षात् नहीं होता, किन्तु ग्राह्य अर्थ के विशेषण-रूप से।[3]

आलोचन

इन वैष्णव-दर्शनों के तत्त्वों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इनकी खोज प्रधान रूप से न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य-दर्शन के आधार पर ही आश्रित है। वेदान्त के आध्यात्मिक तत्त्वों का विशेष विचार इनमें नहीं देख पडता। भगवान् के सम्बन्ध में भी जो बहुत-सी बातें कही गयी हैं, वे सभी उसके बहिरंग स्वरूप को ही लेकर हैं। अतएव ये ऊँचे स्तर के दार्शनिक शास्त्र नहीं मालूम होते।

इस प्रकार संक्षेप में उक्त चारों प्राचीन वैष्णव-संप्रदायों का वर्णन यहाँ किया गया है। इनमें से रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य के मत विशेष रूप से आजकल

---

[1] भागवत, तृतीय स्कंध।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ९।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ३७।

भी प्रचलित हैं। इनकी अपेक्षा अन्य दोनों सम्प्रदाय गौणभूत मालूम होते हैं। ये सब भक्ति-मार्ग के उपासक होते हुए भी अपने-अपने उपास्य देवता के भेद के कारण परस्पर भिन्न मालूम होते हैं। इन सबके उपर्युक्त तत्त्वों का विचार करने से बहुत कुछ समान बातें मिलती हैं। फिर भी भेद तो स्पष्ट ही है। तत्त्वदृष्टि से भी व्यवहारावस्था में ऐसा भेद रखना ही पड़ता है। ये भेद न केवल शास्त्रीय बातों में ही देख पड़ते हैं, किन्तु उनके रहन-सहन तथा आचार-विचारों में तो और भी स्पष्ट हैं।

पहले इन मतों के अनुयायियों में परस्पर विद्वेष नहीं था, सभी मत को सब कोई आदर-दृष्टि से देखते थे और अपने मत का भी पालन सुचारु रूप से करते थे, किन्तु बाद में दुराग्रह, आवेश तथा बुद्धि में कलुषता और संकोच इतना अधिक हो गया कि इनमें से एक के अनुयायी दूसरे मत वाले के शत्रु बन गये और उनके प्रति निंदा आदि कुत्सित व्यवहार करने में भी अपने वैष्णवत्व की ही रक्षा समझने लगे। इससे यह स्पष्ट है कि इन लोगों में पश्चात् भक्ति के उच्च आदर्श का ज्ञान भी नहीं रहा और मुझे तो यही अनुमान होता है कि ये सभी वैष्णव बहिरंग तत्त्वों में ही लिप्त हो गये हैं, वैष्णव-सम्प्रदाय की अंतरंग बातों की ओर न तो इनका ध्यान है और न ये लोग उसे समझने की चेष्टा ही करते हैं। इसी कारण कहीं-कहीं इनके व्यवहार भी लौकिक दृष्टि से निंदनीय समझे जाते हैं। इनका आदर्श कितना उच्च था और किस प्रकार इनके दिव्य दृष्टि वाले आचार्यों ने भक्ति की पराकाष्ठा का स्वयं अनुभव कर सांसारिकों के लिए भी दयावश सम्प्रदाय को चलाया और योग्य भक्तों को सन्मार्ग दिखाया! किन्तु कैसा अधःपतन अब है! इनके यथार्थ तत्त्वों से लोग इस प्रकार अनभिज्ञ हो गये हैं।कि भक्ति को **'भुक्तिप्रद'** न समझकर **'मुक्तिप्रद'** समझते हैं और **'अंधेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः'** इस कहावत को प्रत्यह चरितार्थ कर रहे हैं। यही एक मात्र हेतु है कि **ज्ञानमार्ग** को ही अब भी लोग निरुपद्रव, कल्याणप्रद तथा मुक्ति देने वाला समझते हैं।

———:०:———

शब्दानुक्रमणिका

आ

इ

ई

ख

ग

ट

त

द

ध

न

फ

ब

भ

म

ष

स

ह

परिशिष्ट

पृष्ठ ६७ देखिए

इसके शान्तिपर्व के मोक्षधर्मपर्व में २३६ अध्याय में बारह प्रकार के योगों का निरूपण है। ये देशयोग, कर्मयोग, अनुरागयोग, अर्थयोग, उपाययोग, 'अपाययोग, निश्चययोग, चक्षुर्योग, आहारयोग, संहारयोग, मनोयोग तथा दर्शनयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा वैराग्य तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पृष्ठ ३८५ देखिए

इनमें क्रमशः निम्नलिखित विषयों का निरूपण है—

१. **देशयोग**—समतल तथा पवित्र भूमि पर आसन लगाना।
२. **कर्मयोग**—आहार-विहार, चेष्टा, सोना-जागना परिमित हो।
३. **अनुरागयोग**—परमात्मा एवं उसकी प्राप्ति में तीव्र अनुराग हो।
४. **अर्थयोग**—केवल अत्यन्त आवश्यक सामग्री अपने पास रखनी चाहिए। अनावश्यक वस्तु को दूर करना चाहिए।
५. **उपाययोग**—ध्यान में उपयोगी आसन पर बैठाना चाहिए जैसे कुशासन आदि।
६. **अपाययोग**—सांसारिक विषयों से तथा कुटुम्ब वर्ग से आसक्ति को हटाना।
७. **निश्चययोग**—गुरु तथा वेद-शास्त्र में विश्वास रखना।
८. **चक्षुर्योग**—नेत्रों को नासाग्रवर्ती स्थिति में रखना।
९. **आहारयोग**—पवित्र तथा सात्त्विक आहार करना।
१०. **संहारयोग**—मन और इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटाना।
११. **मनोयोग**—मन को संकल्प-विकल्प से रहित करना।
१२. **दर्शनयोग**—दुःख तथा दोषों को वैराग्यपूर्वक देखना।

कला—परम शिव की **सर्वकर्तृत्व शक्ति** को आच्छादित करनेवाली उपाधि **'कला'** है। इसके द्वारा आच्छादित हो जाने के कारण सर्वशक्तिमान् शिव भी अल्पशक्तिमान् हो जाता है। इसी अवस्था को जीव या पुरुष कहते हैं।

विद्या—परम शिव की सर्वज्ञता को आच्छादन करनेवाली उपाधि **'विद्या'** है। इसके द्वारा आच्छादित हो जाने पर सर्वज्ञता के स्थान पर अल्पज्ञता भासित होने लगती है और वही जीव या पुरुष कहे जाते हैं।

राग—यह कञ्चुक परम शिव के **नित्यतृप्तत्व** शक्ति को आच्छादित कर देता है और इसके कारण नित्य तृप्त परम शिव विषयानुरक्त जीव हो जाता है।

काल—परम शिव तत्त्व की **नित्यत्वशक्ति** को आवृत करने वाला 'कालतत्त्व' है। इस तत्त्व से आच्छादित हो जाने पर परम शिव का नित्य स्वरूप देहादि सम्बन्ध से युक्त होकर जीवस्वरूप में अपने को अनित्य समझने लगता है।

नियति—परम शिव की **स्वातन्त्र्यशक्ति** को आच्छादित करने वाला नियति-तत्त्व है। इसी तत्त्व के प्रभाव से परम शिव अपने को बन्धन में डालकर जीवस्वरूप में परिणत हो जाता है।

यही पाँच कञ्चुक मायातत्त्व के अन्तर्गत हैं।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

दर्शनशास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
चार्वाक दर्शन	आचार्य आनन्द झा	१५०.००
निगण्ट ज्ञातपुत्र	ज्ञानचन्द्र जैन	८.००
योग दर्शन	डॉ० सम्पूर्णानन्द	८६.००
प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णानन्द वर्मा	१५०.००
पतन की परिभाषा	डॉ० परिपूर्णानन्द वर्मा	८५.००
पश्चिमी दर्शन	डॉ० दीवान चन्द्र	७५.००
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	रमाकान्त त्रिपाठी	४०.००
सौन्दर्यशास्त्र एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	१००.००
समकालीन भारतीय दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	१५०.००
ललित विस्तर	मू० भगवान बुद्ध की वाणी अनु० प्रो० शान्ति भिक्षु शास्त्री	१३५.००
एच०एफ० ब्रेडले का दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	२७.००
कांट का दर्शन	प्रो० सभाजीत मिश्र	१२०.००
नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	६६.००
भारतीय दर्शन	डॉ० देवराज	१२०.००
समकालीन पाश्चात्य दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	१३०.००

सम्पर्क सूत्र
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ-२२६००१

ISBN : 978-93-82175-24-7

मूल्य : रु. १६०=००